आत्मकथा

[महात्मा गांधी की मूल गुजराती 'आत्मकथा' का अनुवाद]

अनुवादक

श्री हरिभाऊ उपाध्याय

सस्ता साहित्य मण्डल

दिल्ली :: लखनऊ

प्रकाशक

मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री,

सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली।

सस्करण

जून १९२८ ३०००

दिसम्बर १९२८ · ५०००

दिसम्बर १९२९ १२०००

फरवरी १९३१ · ६०००

जून १९३२ ७०००

सस्ता सस्करण

२ अक्टूबर १९३९ . ६०००

दाम

एक रुपया

मोटे कागज पर छपी सजिल्द पुस्तक का

डेढ़ रुपया

मुद्रक,

एस एन. भारती

हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस,

नई दिल्ली।

दो शब्द

यह मेरा अहोभाग्य है कि महात्माजी की आत्मकथा के हिन्दी अनुवाद का अवसर मुझे मिला। 'नवजीवन' में आत्म-कथा के प्रकाशित होने के पहले ही मैं, 'हिन्दी-नवजीवन' को छोड़कर, महात्माजी की आज्ञा से, राजस्थान में काम करने के लिए आ चुका था। मेरे बाद कई भाईयो के हाथों में 'हिन्दी-नवजीवन' का काम रहा और आत्मकथा का अनुवाद भी उसमें कई मित्रो द्वारा हुआ। अतएव उसमें भाषा-शैली का एक-सा न रहना स्वाभाविक था; परन्तु उसे पुस्तक-रूप में प्रकाशित करने के लिए यह आवश्यक समझा गया कि अनुवाद किसी एक व्यक्ति से कराया जाय। यह निर्णय होते ही मैंने भूखे भिखारी की तरह, झपटकर, अनुवाद का भार अपने सिर पर ले लिया। सचमुच, वह दिन मेरे बडे सद्‌भाग्य का दिन था।

अनुवाद मैंने गुजराती से किया है। मूल कथा महात्माजी गुजराती में ही लिख रहे है। अंग्रेजी अनुवाद में बहुत स्वतन्त्रता ली गई है। अतएव अंग्रेजी से हिंदी उल्था करने में हिंदी अनुवाद मूल गुजराती से बहुत दूर जा पडता। महात्माजी गुजराती में बडे थोडे में, और बहुत खूबी से, अपने हृदय के गूढ भावों को व्यक्त कर देते है। उनका अनुवाद करना, कई बार, बडा कठिन हो जाता है। भाव को विशद करने जाते है तो भाषा-सौन्दर्य नहीं निभ पाता और भाषा-सौन्दर्य पर ध्यान देने लगते है तो भाव में गड़बडी पड़ने लगती है। अत मैंने कहीं-कहीं भाषा के किंचित् अटपटेपन को स्वीकार करके भी महात्माजी की मार्मिक वाक्य-रचना को क़ायम रखने की कोशिश की है। पाठक महात्माजी के ऐसे वाक्यो को

'आर्य' वाक्य ही समझ ले। दूसरे, हिन्दी-भाषा ज्यों-ज्यों राष्ट्र भाषा की योग्यता और श्रेष्ठता को पहुंचती जायगी, त्यों-त्यों उसका 'परदे की बीबी' बनी रहना असम्भव होता जायगा। उसे गुजराती, मराठी, बंगला आदि के सुन्दर और मार्मिक शब्द-प्रयोगों को अपनाकर अपना भण्डार भरे बिना गुजर नहीं। इस दृष्टि से तो इस अनुवाद के ऐसे शब्द प्रयोग मेरी राय में केवल क्षम्य ही नहीं, स्वागत-योग्य भी हैं।

रहा अनुवाद। सो इसकी अच्छाई-बुराई के बारे में मुझे कुछ भी कहने का अधिकार नहीं। मूल वस्तु की अद्वितीयता से तो कोई इन्कार नहीं कर सकता। अनुवाद में यदि मूल की उत्तमता से पाठक को वंचित रहना पड़े तो अपनी इस असमर्थता का दोष-भागी मैं अवश्य हूं।

जबसे मैंने अनुवाद को हाथ में लिया है, मैं मुश्किल से एक जगह ठहरने पाया हूं—जहां ठहरने भी पाया हूं, तहां अन्यान्य कामों में भी लगा रहना पड़ा है। अतएव जितनी जल्दी मैं चाहता था, इस अनुवाद को पूरा न कर सका। इसका मुझे बड़ा दुःख है। पाठकों की बढ़ी हुई उत्सुकता को यदि यह अनुवाद पसन्द हुआ तो मेरा दुःख कम हो जायगा। अभी तो यह भाव, कि मैं महात्माजी के इस प्रसाद को हिन्दी पाठकों के सामने पुस्तक-रूप में रखने का निमित्त-भागी बना हूं, उस दुःख को कम कर रहा है। और जब मेरी दृष्टि इस अनुवाद के भावी कार्य की ओर जाती है, तब तो मुझे अपने इस सौभाग्य पर गर्व होने लगता है। मुझे विश्वास है कि महात्माजी की यह उज्ज्वल आत्मकथा भूमण्डल के आत्मार्थियों के लिए एक दिव्य प्रकाश-पथ का काम देगी और उन्हें आशा तथा आत्मा का अमर सन्देश सुनावेगी।

उज्जैन,
फाल्गुण शुक्ल ८, सं० १९८४ —हरिभाऊ उपाध्याय

प्रस्तावना

चार-पाँच साल पहले, अपने नजदीकी साथियो के आग्रह से, मैंने आत्मकथा लिखना मजूर किया था और शुरुआत भी कर दी थी, परन्तु एक पृष्ठ भी न लिख सका था कि बम्बई में दगा होगया, और आगे का काम जहाँ-का-तहाँ रह गया। उसके बाद तो मैं इतने कामो में उलझता गया कि अन्त को मुझे यरवडा मे जाकर शाति मिली। यहाँ श्री जयरामदास भी थे। उन्होने चाहा कि मैं, अपने दूसरे तमाम कामो को एक ओर रखकर, सबसे पहले आत्मकथा लिख डालूँ। मैंने उन्हे कहलाया कि मेरे अध्ययन का क्रम बन चुका है, और उसके पूरा होने के पहले मैं आत्मकथा शुरू न कर सकूँगा। यदि मुझे पूरे छ साल यरवडा में रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ होता तो मैं अवश्य वहीं आत्मकथा लिख डालता, पर अध्ययन-क्रम को पूरा होने में अभी एक साल बाकी था और उसके पहले मैं किसी तरह लिखना शुरू न कर सकता था। इस कारण वहाँ भी वह रह गई। अब स्वामी आनन्द ने फिर वही बात उठाई है। इधर मैं भी दक्षिण अफ्रिका के सत्याग्रह का इतिहास पूरा कर चुका हूँ, इसलिए आत्मकथा लिखने को मन हो रहा है। स्वामी तो यह चाहते थे कि पहले मैं सारी कथा लिख डालूँ और फिर वह पुस्तकाकार प्रकाशित हो, पर मेरे पास एकसाथ इतना समय नहीं। हाँ, 'नवजीवन' के लिए तो रफ्ता-रफ्ता लिख सकता हूँ। इधर 'नवजीवन' के लिए भी हर हफ्ता मुझे कुछ-न-कुछ लिखना ही पडता है, तो फिर आत्मकथा ही क्यो न लिखूँ? स्वामी ने इस निर्णय को स्वीकार किया, और अब जाकर आत्मकथा लिखने की बारी आई।

पर मैं यह निर्णय कर ही रहा था—यह सोमवार का मेरा मौन-दिन था—कि एक निर्मल-हृदय साथी ने आकर कहा—

"आप आत्मकथा लिखकर क्या करेंगे? यह तो पश्चिम की प्रथा

हमारे पूर्व में तो शायद ही किसीने आत्मकथा लिखी हो। और फिर
। लिखेंगे भी क्या? आज आप जिस बात को सिद्धान्त के तौर पर
नते है, कल उसे न मानने लगें तो? अथवा उस सिद्धान्त के अनुसार
काम आप आज करते है उनमें बाद को परिवर्तन करना पड़े तो?
पके लेखो को बहुत लोग प्रमाण मानकर अपना जीवन बनाते हैं।
न्हे यदि ग़लत रास्ता मिला तो? इसलिए अभी आत्मकथा के रूप
कुछ लिखने की जल्दी न करें तो ठीक होगा।"

इस दलील का थोड़ा-बहुत असर मुझपर हुआ; पर मैं आत्मकथा
हाँ लिख रहा हूँ? मैं तो आत्मकथा के बहाने अपने उन प्रयोगो की
था लिखना चाहता हूँ, जो मैंने सत्य के लिए समय-समय पर किये हैं।
ाँ, यह बात नही है कि मेरा सारा जीवन ऐसे ही प्रयोगो से भरा हुआ
है। इसलिए यह कथा एक जीवन-वृत्तान्त का रूप धारण कर लेगी;
पर यदि इसका एक-एक पृष्ठ मेरे प्रयोगो के वर्णन से ही भरा हो तो
इस कथा को मै स्वय निर्दोष मानूंगा। यह मानता हूँ—अथवा यो
कहिए, मुझे ऐसा मोह है—कि मेरे तमाम प्रयोग यदि लोगो के सामने
आ जावें, तो उनसे उन्हे लाभ ही होगा। राजनैतिक क्षेत्र के मेरे प्रयोगो
को तो भारतवर्ष जानता है—यही नही, उन्नत मानी जानेवाली दुनिया
भी, थोड़ा बहुत, जानती है, पर मेरी दृष्टि में उसका मूल्य बहुत कम
है और चूँकि इन्हीं प्रयोगो के कारण मुझे 'महात्मा' पद मिला है, इसलिए
मेरे नज़दीक तो उनका मूल्य बहुत ही कम है। अपने जीवन में बहुत
बार इस विशेषण से मुझे बड़ा दुःख पहुँचा है। मुझे एक भी ऐसा क्षण
याद नहीं पड़ता, जब इस विशेषण से मैं मन में फूल उठा होऊँ, पर
हाँ, अपने उन आध्यात्मिक प्रयोगो का वर्णन अवश्य मुझे प्रिय होगा,
जिन्हे सिर्फ मैं ही जान सकता हूँ और जिनकी बदौलत मेरी
राजनैतिक-क्षेत्र-सम्बन्धी शक्ति उत्पन्न हुई है। और यदि वे प्रयोग
सचमुच आध्यात्मिक हों, तो फिर उनमें फूलने के लिए जगह ही कहाँ
है? उनके वर्णन का फल तो नम्रता की वृद्धि ही हो सकती है। ज्यों-
ज्यों मैं विचार करता जाता हूँ, अपने भूतकाल के जीवन पर दृष्टि

डालता जाता हूँ, त्यो-त्यो मुझे अपनी अल्पता साफ-साफ दिखाई देती है। जो बात मुझे करनी है, आज ३० साल से जिसके लिए मै उद्योग कर रहा हूँ, वह तो है—आत्म-दर्शन, ईश्वर का साक्षात्कार, मोक्ष। मेरे जीवन की प्रत्येक क्रिया इसी दृष्टि से होती है। मै जो-कुछ लिखता हूँ, वह भी इसी उद्देश से, और राजनैतिक क्षेत्र में जो मै कूदा सो भी इसी बात को सामने रखकर।

परन्तु शुरू ही से मेरी यह राय रही है कि जिस बात को एक आदमी कर सकता है उसे सब लोग कर सकते है। इसलिए मेरे प्रयोग खानगी तौर पर नही हुए और न वैसे रहे ही। इस बात से कि सब लोग उन्हे देख सकते है, उनकी आध्यात्मिकता कम होती होगी, यह मै नही मानता। हाँ, कितनी ही बाते ऐसी जरूर होती है जिन्हे हमारी आत्मा ही जानती है, जो हमारी आत्मा में ही समाई रहती है। परन्तु ऐसी बात तो मेरी पहुँच के बाहर की बात हुई। मेरे प्रयोग में तो आध्यात्मिक शब्द का अर्थ है नैतिक, धर्म का अर्थ है नीति, और जिस नीति का पालन आत्मिक दृष्टि से किया हो वही धर्म है, इसलिए इस कथा में उन्हीं बातो का समावेश रहेगा, जिनका निर्णय बालक, युवा, वृद्ध करते है और कर सकते है। ऐसी कथा को यदि मै तटस्थ भाव से, निरभिमान रहकर, लिख सका, तो उससे अन्य प्रयोग करनेवालो को अपनी सहायता के लिए कुछ मसाला अवश्य मिलेगा।

मै यह नही कहता कि मेरे ये प्रयोग सब तरह सम्पूर्ण है। मै तो इतना ही कहता हूँ कि जिस प्रकार एक विज्ञान-शास्त्री अपने प्रयोग को अतिशय नियम और विचार-पूर्वक सूक्ष्मता के साथ करते हुए भी उत्पन्न परिणामो को अन्तिम नही बताता, अथवा जिस प्रकार उनकी सत्यता के विषय में यदि सशक नही तो तटस्थ रहता है, उसी प्रकार मेरे प्रयोगो को समझना चाहिए। मैंने भरसक खूब आत्म-निरीक्षण किया है, अपने मन के एक-एक भाव की छानबीन की है, उनका विश्लेषण किया है। फिर भी मै यह दावा हरगिज नही करना चाहता कि उनके परिणाम सबके लिए अन्तिम है, वे सत्य ही है, अथवा वही सत्य है। हाँ, एक

दावा अवश्य करता हूँ कि वे मेरी दृष्टि से सच्चे हैं और इस समय तक तो मुझे अंतिम जैसे मालूम होते हैं। यदि ये ऐसे न मालूम होते हों तो फिर इनके आधार पर मुझे कोई काम उठा लेने का अधिकार नहीं; पर मैं तो जितनी चीजें सामने आती हैं उनके, क़दम-क़दम पर, दो भाग करता जाता हूँ—ग्राह्य और त्याज्य। और जिस बात को ग्राह्य समझता हूँ उसके अनुसार अपने आचरण को बनाता हूँ, एवं जबतक ऐसा आचरण मुझे—अर्थात् मेरी बुद्धि को और आत्मा को—सन्तोष देता है तबतक उसके शुभ परिणामों पर मुझे अवश्य अटल विश्वास रहता है।

यदि मैं केवल सिद्धान्तों का अर्थात् तत्वों का ही वर्णन करना चाहता होता, तो मैं आत्म-कथा न लिखता, परन्तु मैं तो उनके आधार पर उठाये गये कार्यों का इतिहास देना चाहता हूँ, और इसलिए मैंने इस प्रयत्न का पहला नाम रक्खा है 'सत्य के प्रयोग'। इसमें यद्यपि अहिंसा, ब्रह्मचर्य आ तो जायँगे, परन्तु मेरे निकट तो सत्य ही सर्वोपरि है, और उसमें अगणित वस्तुओं का समावेश हो जाता है। यह सत्य स्थूल अर्थात् वाचिक सत्य नहीं है। यह तो वाचा की तरह विचार का भी सत्य है। यह सत्य केवल हमारा कल्पनाजन्य सत्य ही नहीं, बल्कि स्वतन्त्र चिरस्थायी सत्य, अर्थात् स्वयं परमेश्वर ही है।

परमेश्वर की व्याख्यायें अगणित हैं; क्योंकि उसकी विभूतियाँ भी अगणित हैं। विभूतियाँ मुझे आश्चर्य-चकित तो करती हैं, मुझे क्षण-भर के लिए मुग्ध भी करती हैं, पर मैं तो पुजारी हूँ सत्य-रूपी परमेश्वर का ही। मेरी दृष्टि में वही एकमात्र सत्य है, दूसरा सब कुछ मिथ्या है; पर यह सत्य अबतक मेरे हाथ नहीं लगा है, अभीतक मैं तो उसका शोधक-मात्र हूँ। हाँ, उसकी शोध के लिए मैं अपनी प्रिय-से-प्रिय वस्तु को भी छोड़ देने के लिए तैयार हूँ, और इस शोध-रूपी यज्ञ में अपने शरीर को भी होम देने की तैयारी रखता हूँ। मुझे विश्वास है कि इतनी शक्ति मुझमें है; परन्तु जबतक इस सत्य का साक्षात्कार नहीं हो जाता, तबतक मेरी अन्तरात्मा जिसे सत्य समझती है उसी काल्पनिक

सत्य को अपना, आधार मानकर, दीप-स्तम्भ समझकर, उसके सहारे मैं अपना जीवन व्यतीत करता हूँ।

यह मार्ग यद्यपि तलवार की धार पर चलने-जैसा दुर्गम है, तथापि मुझे तो अनुभव से अत्यन्त सरल मालूम हुआ है। इस रास्ते जाते हुए अपनी भयकर भूलें भी मेरे लिए मामूली हो गई है, क्योकि इन भूलो को करते हुए भी मैं खाइयो और खन्दको से बच गया हूँ और अपनी समझ के अनुसार तो आगे भी बढा हूँ, पर यहीतक बस नही, हाँ, दूर-दूर से विशुद्ध सत्य की—ईश्वर की—झलक भी देख रहा हूँ। मेरा यह विश्वास दिन-दिन बढता जाता है कि सृष्टि मे एक-मात्र सत्य की ही सत्ता है और उसके सिवा दूसरा कोई नही है। यह विश्वास 'किस तरह बढता गया है, यह बात मेरे जगत् अर्थात् 'नवजीवन' इत्यादि के पाठक चाहें तो शौक से मेरे प्रयोगो में हिस्सेदार बनें तथा उस सत्य-परमात्मा की झलक भी मेरे साथ-साथ देखें। फिर मैं यह बात अधिकाधिक मानता जाता हूँ कि जितनी बातें मैं कर सकता हूँ, उतनी एक बालक भी कर सकता है। और इसके लिए मेरे पास सबल कारण है। सत्य की शोध के कारण जितने कठिन दिखाई देते हैं, उतने ही सरल है। अभिमानी को जो बात अशक्य मालूम होती है वही एक भोले-भाले शिशु को बिलकुल सरल मालूम होती है। सत्य के शोधक को एक रज-कण से भी नीचे रहना पडता है। सारी दुनिया रज-कण को-पैरो तले रौंदती है, पर सत्य का पुजारी तो जबतक इतना छोटा नही बन जाता कि रज-कण भी उसे कुचल सके, तबतक स्वतन्त्र सत्य की झलक भी होना दुर्लभ है। यह बात वशिष्ठ-विश्वामित्र के आख्यान मे अच्छी तरह स्पष्ट करके बताई गई है। ईसाई-धर्म और इस्लाम भी इसी बात को साबित करते है।

आगे जो प्रकरण क्रमश. लिखे जायँगे उनमे यदि पाठक को मेरे अभिमान का भास हो तो अवश्य समझना चाहिए कि मेरी शोध मे कमी है और मेरी वे पुस्तकें मृग-जल के सदृश है। मैं तो चाहता हूँ कि चाहे मुझ-जैसे अनेको का क्षय होजाय, पर सत्य की सदा जय हो। अल्पात्मा को नापने के लिए सत्य का गज कभी छोटा न बने।

मैं चाहता हूँ, मेरी विनय है, कि मेरे लेखो को कोई प्रमाणभूत न मानें। उनमें प्रदर्शित प्रयोगो को उदाहरण-रूप मानकर सब अपने-अपने प्रयोग यथाशक्ति और यथामति करें, इतनी ही मेरी इच्छा है। मुझे विश्वास है कि इस सकुचित क्षेत्र में, आत्मा-सम्बन्धी मेरे लेखो से बहुत कुछ सहायता मिल सकेगी, क्योंकि एक भी ऐसी बात जो कहने लायक है, छिपाऊगा नही। पाठको को अपने दोषो का परिचय मैं पूरा-पूरा कराने की आशा रखता हूँ, क्योकि मुझे तो सत्य के वैज्ञानिक प्रयोगो का वर्णन करना है। यह दिखाने की कि मैं कैसा अच्छा हूँ मुझे तिल-मात्र इच्छा नही है। जिस नाप से मैं अपने को नापना चाहता हूँ और जो नाप हम सबको अपने लिए रखना चाहिए, उसे देखते हुए तो मैं अवश्य कहूँगा—

> मो सम कौन कुटिल खल कामी।
> जिन तनु दियो ताहि बिसरायो ऐसो निमकहरामी॥

क्योकि जिसे मैं सोलहो आने विश्वास के साथ अपने श्वासोच्छ्वास का स्वामी मानता हूँ, जिसे मैं अपने नमक का देनेवाला मानता हूँ, उससे मैं अभीतक दूर हूँ और यह बात मुझे प्रतिक्षण कांटे की तरह चुभ रही है। इसके कारण-रूप अपने विकारो को मैं देख तो सकता हूँ, पर अब भी उन्हें निर्मूल नही कर पाया हूँ।

पर अब इसे समाप्त करता हूँ। प्रस्तावना से हटकर यहाँ प्रयोगो की कथा में प्रवेश नही कर सकता। यह तो कथा-प्रकरणो में ही पाठको को मिलेगी।

सत्याग्रहाश्रम, साबरमती,
मार्गशीर्ष शुक्ल ११, स० १९८२ —मोहनदास करमचन्द गांधी

विषय-सूची

तीसरा भाग

चौथा भाग

पाँचवाँ भाग

आत्म-कथा

[पहला भाग]

: १ :

जन्म

गांधी परिवार, ऐसा मालूम होता है पहले पसारी[1] का काम करता था। परन्तु मेरे दादा से लेकर तीन पुश्त तक वह, कठियावाड के भिन्न-भिन्न राज्यो में, दीवानगीरी करता आया है। ऐसा जान पडता है कि उत्तमचन्द गांधी, उर्फ ओता गाधी, बडे टेक रखने वाले थे। उन्हे एक राज-दरबारी साजिश के कारण, पोरबन्दर छोडकर जूनागढ-राज्य मे जाकर आश्रय लेना पडा था। वहाँ जाकर उन्होने बायें हाथ से नवाब को सलाम किया। लोगो को यह अविनय-सा दिखाई दिया। जब एक ने इसका कारण पूछा, तो उत्तर मिला—"दाहिना हाथ तो पोरबन्दर के सुपुर्द हो चुका है।"

ओता गांधी ने एक-एक करके अपने दो विवाह किये थे। पहली पत्नी से चार लडके हुए थे और दूसरी से दो। अपना बचपन याद करते हुए मुझे यह खयाल बिलकुल नही आता कि ये भाई सौतेले लगते थे। उनमें पाँचवे करमचन्द गाधी, उर्फ कबा गांधी और अन्तिम तुलसीदास गांधी थे। दोनो भाई, एक-एक करके पोरबन्दर में दीवान रहे थे। कबा गांधी मेरे पिताजी थे। पोरबन्दर का दीवानपद छोडने के बाद वह 'राजस्थानी कोर्ट' के सभासद रहे थे। इसके पश्चात् राजकोट में और फिर कुछ समय वाकानेर में दीवान रहे। मृत्यु के समय वह राजकोट-दरबार के पेन्शनर थे।

कबा गांधी के भी एक-एक करके चार विवाह हुए थे। पहली दो पत्नियो से दो लडकियाँ थी, अन्तिम पुतलीबाई से एक कन्या और तीन पुत्र हुए, जिनमे सबसे छोटा मैं हूँ।

मेरे पिताजी कुटुम्ब-प्रेमी, सत्यप्रिय, शूर और उदार परन्तु साथ ही क्रोधी थे। मेरा खयाल है, कुछ विषयासक्त भी होंगे। उनका अन्तिम

१ गुजरात-काठियावाड़ में पसारी को गाधी कहते हैं।—अनुवादक

विवाह चालीस वर्ष की अवस्था के बाद हुआ था। वह रिश्वत से सदा दूर भागते थे, और इसी कारण अच्छा न्याय करते थे, ऐसी प्रसिद्धि उनकी हमारे कुटुम्ब में तथा बाहर भी थी। वह राज्य के बड़े वफादार थे। एक बार असिस्टेण्ट पोलिटिकल एजेण्ट ने राजकोट के ठाकुरसाहब का अपमान किया तो उन्होंने उसका सामना किया। फलतः साहब बिगड़ पड़े और कबा गांधी ने कहा, माफी मांगो। उन्होंने साफ इन्कार कर दिया। इससे कुछ घण्टे के लिए उन्हें हवालात में भी रहना पड़ा। पर वह टस-से-मस न हुए। तब साहब को उन्हें छोड़ देने का हुक्म देना पड़ा।

पिताजी को धन जोड़ने का लोभ न था। इससे हम भाइयों के लिए वह बहुत थोड़ी सम्पत्ति छोड़ गये थे।

पिताजी ने शिक्षा केवल अनुभव से प्राप्त की थी। वह उतनी ही शिक्षा पाये होंगे, जिसे आज हम अपर प्राइमरी कहते हैं। इतिहास, भूगोल का ज्ञान तो बिलकुल न था। इतना होते हुए भी व्यावहारिक ज्ञान इतने ऊंचे दरजे का था कि सूक्ष्म-से-सूक्ष्म प्रश्नों को हल करने में अथवा हजार आदमियों से काम लेने में उन्हें कठिनाई पेश न आती थी। धार्मिक-शिक्षा नहीं के बराबर थी। परन्तु मन्दिरों में जाने से, कथा-पुराण सुनने से, जो धर्म-ज्ञान असंख्य हिन्दुओं को सहज ही मिलता रहता है, वह उन्हें मिलता था। अपने अन्तिम दिनों में एक विद्वान् ब्राह्मण की सलाह से, जोकि हमारे कुटुम्ब के मित्र थे, उन्होंने गीता-पाठ शुरू किया था, और नित्य कुछ श्लोक पूजा के समय ऊंचे स्वर से पाठ किया करते थे।

माताजी साध्वी स्त्री थी, ऐसी छाप मेरे दिल पर पड़ी है। वह बहुत भावुक थी। पूजा-पाठ किये बिना कभी भोजन न करतीं, हमेशा हवेली—वैष्णव मन्दिर—जाया करतीं। जब मैंने होश सम्हाला, मुझे याद नहीं पड़ता कि उन्होंने कभी चातुर्मास छोड़ा हो। कठिन-से-कठिन व्रत वह धारण करतीं और उन्हें निर्विघ्न पूरा करतीं। बीमार पड़ जाने पर भी वह व्रत न छोड़तीं। ऐसा एक समय मुझे याद है, जब उन्होंने चान्द्रायणव्रत किया था। बीच में बीमार पड़ गईं, पर व्रत न छोड़ा। चातुर्मास में एक बार भोजन करना तो उनके लिए मामूली बात थी। इतने से सन्तोष न पाकर

एक बार, चातुर्मास में उन्होने हर तीसरे दिन उपवास किया। दो-तीन उपवास उसके लिए एक नगण्य बात थी। एक चातुर्मास में उन्होने ऐसा व्रत लिया कि सूर्यनारायण के दर्शन होने पर ही भोजन किया जाय। इस चौमासे में हम लडके लोग आसमान की तरफ देखा करते कि कब सूरज दिखाई पडे और कब माँ खाना खाय। इस बात को तो सब लोग जानते है कि चौमासे में बहुत बार सूर्य-दर्शन मुश्किल से होते है। मुझे ऐसे दिन याद है, जबकि हमने सूर्य को निकला हुआ देखकर पुकारा है—"माँ-माँ, वह सूरज निकला" और जबतक माँ जल्दी-जल्दी दौडकर आती है, सूरज छिप जाता था। माँ यह कहती हुई वापस जाती कि 'खैर, कोई बात नही, ईश्वर नही चाहता कि आज खाना खाऊँ' और अपने कामो में मशगूल होजाती।

माता व्यवहार-कुशल थी। राज-दरबार की सब बाते जानती थी। रनवास में उनकी बुद्धिमत्ता ठीक आँकी जाती थी। जब मै बच्चा था, मुझे दरबारगढ में कभी-कभी वह साथ ले जाती और 'बा-माँ साहेब' (ठाकुर साहब की विधवा माता) के साथ के उनके कितने ही सवाद मुझे अब भी याद है।

इन माता-पिता के यहाँ आश्विन वदी १२ सवत् १९२५ अर्थात् १ अक्तूबर १८६९ ईसवी को पोरबन्दर अथवा सुदामापुरी में मेरा जन्म हुआ।

मेरा बचपन पोरबन्दर में ही बीता। ऐसा याद पडता है कि किसी पाठशाला मे मै पढने बैठाया गया था। मुश्किल से कुछ पहाडे पढा होऊँगा। उस समय मैने और लडको के साथ मेहताजी—मास्टर साहब—को सिर्फ गाली देना सीखा, इतना याद पडता है, और कोई बात याद नही आती। इससे यह अनुमान करता हूँ कि मेरी बुद्धि मद रही होगी और स्मरणशक्ति उन पक्तियो के कच्चे पापड की तरह होगी जोकि हम लडके गाया करते थे—

> एकडे एक, पापड शेक,
> पापड कच्चो,—मारो—

पहली खाली जगह मास्टर साहब का नाम रहता था। उन्हें मैं अमर करना नहीं चाहता। दूसरी खाली जगह में, जो छोड़ दी गई है, गाली रहती उनकी पूर्ति करने की आवश्यकता नहीं।

: २ :

बचपन

पोरबन्दर से पिताजी 'राजस्थानी कोर्ट' के सभ्य होकर जब राजकोट गये तब मेरी उम्र कोई ७ साल की होगी। राजकोट की पाठशाला में मैं भरती कराया गया। इस पाठशाला के दिन मुझे अच्छी तरह याद हैं। मास्टरों के नाम-ठाम भी याद हैं। पोरबन्दर की तरह वहाँ की पढ़ाई के सम्बन्ध में कोई खास बात जानने लायक नहीं। मैं मुश्किल से मामूली दरजे का विद्यार्थी माना जाता होऊँगा। पाठशाला से ऊपर के स्कूल में और वहाँ से हाईस्कूल में गया। यहाँतक पहुँचते हुए मेरा बारहवाँ साल पूरा होगया। मुझे याद नहीं पड़ता कि अबतक मैंने किसी भी शिक्षक से झूठ बोला हो, और किसी से मित्रता जोड़ी हो। मैं बहुत झेंपू लड़का था, मदरसे में अपने काम से काम रखता। घण्टी लगते समय पहुँच जाता और स्कूल बन्द होते ही घर भाग आता। 'भाग आता' शब्द का प्रयोग मैंने जान-बूझ कर किया है, क्योंकि मुझे किसी के साथ बातें करना न सुहाता था—मुझे यह डर भी बना रहता कि 'कोई मेरी दिल्लगी उड़ावेगे तो?'

हाईस्कूल के प्रथम ही वर्ष की परीक्षा के समय की एक घटना लिखने योग्य है। शिक्षा-विभाग के इन्स्पेक्टर, जाइल्स साहब, निरीक्षण करने आये। उन्होंने पहली कक्षा के विद्यार्थियों को पाँच शब्द लिखवाये। उनमें एक शब्द था केटल (Kettle)। उसे मैंने ग़लत लिखा। मास्टरसाहब ने मुझे अपने बूट से ठोकर देकर चेताया। पर मैं क्यों चेतने लगा? मेरे दिमाग में यह बात न आई कि मास्टरसाहब मुझे आगे के लड़के की स्लेट देखकर सही लिखने का इशारा कर रहे हैं। मैं यह मान रहा था कि मास्टरसाहब ने मेरी 'मूर्खता' बताई, परन्तु उनकी अक्ल

का कुछ असर मेरे दिल पर न हुआ। दूसरो को देख-देख कर लिखना मुझसे न सधा।

ऐसा होते हुए भी मास्टर के प्रति नम्रता का परिचय देने में मुझसे गलती न हुई। बडे-बूढो के ऐब न देखने का गुण मुझमे स्वाभाविक तौर पर था। बाद को तो इन मास्टरसाहब के दूसरे ऐब भी मेरी नजर में आये। फिर भी उनके प्रति मेरा आदर-भाव कायम ही रहा। मै इतना जानता था कि बडे-बूढो की आज्ञा का पालन करना चाहिए, जैसा वे कहे करना चाहिए, पर वे जो, कुछ करे, उसके काजी हमें न बनना चाहिए।

इसी समय दूसरी दो घटनायें हुईं, जो मुझे सदा याद रही हैं। मामूली तौर पर मुझे कोर्स की पुस्तको के अलावा कुछ भी पढने का शौक न था। इस खयाल से कि पाठ याद करना चाहिए, उलाहना सहन न होगा, मास्टरसाहब को धोखा न दिया जायगा, मैं पाठ याद करता पर मन न लगा करता। इससे सबक कई बार कच्चा रह जाता। ऐसी हालत में दूसरी पुस्तके पढने को जी कैसे चाहता? परन्तु पिताजी की खरीदी एक पुस्तक 'श्रवण-पितृ-भक्ति' नाटक पर मेरी नजर पडी। इसे पढने को दिल चाहा। बडे अनुराग और चाव से मैंने उसे पढा। इन्ही दिनो शीशे में तसवीर दिखाने वाले लोग भी घर आया करते। उनमे मैंने यह दृश्य भी देखा कि श्रवण अपने माता-पिता को कावड में बैठाकर तीर्थयात्रा के लिए ले जा रहा है। ये दोनो दृश्य मेरे अन्तस्थल पर अंकित हो गये। मेरे मन में यह बात उठा करती कि मैं भी श्रवण की तरह बनूँ। श्रवण जब मरने लगा तो उस समय उसके माता-पिता का विलाप अब भी याद है। उस ललित छन्द को मैं बाजे पर बजाया भी करता। बाजा सीखने का मुझे शौक था और पिताजी ने एक बाजा खरीद भी दिया था।

इसी अरसे मे एक नाटक-कम्पनी आई और मुझे उसका नाटक देखने की इजाजत मिली। हरिश्चन्द्र का खेल किया गया। इस नाटक को देखते मैं अघाता न था, बार-बार उसे देखने को मन हुआ करता। पर यों बार-

वार जाने कौन देने लगा ? जो हो, अपने मन में मैंने इस नाटक को सैकडो वार खेला होगा। हरिश्चन्द्र के सपने आते। यही धुन लगी कि 'हरिश्चन्द्र की तरह सत्यवादी सब क्यो न हो ?' यही धारणा होती कि हरिश्चन्द्र के जैसी विपत्तियाँ भोगना और सत्य का पालन करना ही सच्चा सत्य है। मैंने तो यही मान रक्खा था कि नाटक मे जैसी विपत्तियाँ हरिश्चन्द्र पर पडी है, वैसी ही वास्तव में उसपर पडी होगी। हरिश्चन्द्र के दु खो को देख कर, उन्हे याद कर-कर, मैं खूब रोया हूँ। आज मेरी बुद्धि कहती है कि सम्भव है हरिश्चन्द्र कोई ऐतिहासिक व्यक्ति न हो। पर मेरे हृदय मे तो हरिश्चन्द्र और श्रवण आज भी जीवित है। मै मानता हूँ कि आज भी यदि मैं उन नाटको को पढूँ तो आँसू आये विना न रहें।

: ३ :

बाल-विवाह

जी चाहता है कि यह प्रकरण मुझे न लिखना पडे तो अच्छा, परन्तु इस कथा में मुझे ऐसी कितनी ही कडवी घूँटे पीनी पडेंगी। सत्य के पुजारी होने का दावा करके मै इससे कैसे बच सकता हूँ।

यह लिखते हुए मेरे हृदय को बडी व्यथा होती है कि १२ वर्ष की उम्र में मेरा विवाह हुआ। आज मैं अपनी आँखो के सामने १२-१३ वर्ष के बच्चो को देखता हूँ, और जब मुझे मेरे विवाह का स्मरण हो आता है, तब मुझे अपने पर दया आने लगती है; और उन बच्चो को इस बात के लिए बधाई देने की इच्छा होती है कि वे मेरी हालत से अबतक बचे हुए हैं, तेरह साल की उम्र मे हुए मेरे विवाह के समर्थन में एक भी नैतिक दलील मेरे दिमाग में नही समा सकती।

पाठक यह न समझें कि मैं सगाई की बात लिख रहा हूँ। सगाई का तो अर्थ होता है दो लडके-लडकियो के विवाह का इकरार, जिसे माँ-बाप आपस में ही कर लेते हैं। सगाई टूट सकती है। सगाई हो जाने पर यदि लडका मर जाय तो कन्या विधवा नही हो सकती। सगाई के मामले में

वर-कन्या के पडने का प्रयोजन नही होता । दोनो को खवर हुए विना भी सगाई हो सकती है । मेरी एक-एक करके तीन सगाइयाँ हुई । मुझे कुछ भी पता नही कि ये सगाइयाँ कब हो गई । जब मुझसे कहा गया कि एक-एक करके दो कन्याये मर गईं, तव से मैं जानने लगा हूँ कि मेरी तीन सगाइयाँ हुईं । कुछ ऐसा याद पडता है कि तीसरी सगाई सातेक साल की उम्र में हुई होगी । पर मुझे कुछ याद नही आता कि सगाई के समय मुझे उसकी खवर की गई हो । विवाह में तो वर कन्या की उपस्थिति की आवश्यकता होती है, उसमें धार्मिक विधि-विधान होते हैं । यहाँ मैं सगाई की नही, विवाह की ही बात कर रहा हूँ । विवाह का स्मरण तो मुझे पूरी तौर पर है ।

पाठक जान ही गये हैं कि हम तीन भाई थे । सवसे वडे की शादी हो चुकी थी । मँझले भाई मुझसे दो-तीन वर्ष वडे थे । मेरे पिताजी ने तीन विवाह एक-साथ करने का निश्चय किया—एक तो मँझले भाई का, दूसरे मेरे चचेरे भाई का, जिनकी उम्र मुझसे शायद एकाध साल ज्यादा हो, और तीसरा मेरा । इसमे हमारे कल्याण की कोई वात न थी, हमारी इच्छा की तो वात ही क्या ? यह तो केवल माता-पिता की सुविधा और खर्च-वर्च के खयाल का विषय था ।

हिन्दू-ससार मे विवाह कोई ऐसी-वैसी चीज नही । वर-कन्या के माँ-बाप विवाह के पीछे वरवाद हो जाते हैं । धन भी लुटाते हैं और समय भी वरवाद करते हैं । महीनो पहले से तैयारियाँ होने लगती है,तरह-तरह के कपडे तैयार होते है, जेवर वनते है, जाति-भोजो का तखमीना वनाया जाता है, खाने की चीजो की वाजियाँ-सी लगती हैं । स्त्रियाँ, सुर हो या वे-सुर, गीत गा-गा कर अपना गला वैठा लेती हैं, वीमार भी पड जाती है और पडोसियो की शाति भग करती है सो अलग । पडोसी भी तो जव उनके यहाँ अवसर आता है तव ऐसा ही करते हैं, इसलिए इस सारे शोर गुल को तथा भोजो की जूठन आदि गदगी को सव लोग चुपचाप सहन कर लेते हैं ।

यह इतना झझट तीन वार अलग-अलग करने के वजाय एक ही वार कर डालना क्या अच्छा नही ? 'कम खर्च वाला नशीन' । क्योकि तीन

विवाह एकसाथ होने से खर्च भी खुले हाथ किया जा सकता था। पिताजी और चाचाजी वृद्ध थे। हम लोग थे उनके सबसे छोटे लड़के। इसलिए हमारे विवाह-सम्बन्धी अपनी लालसा को तृप्त करने का भाव भी उनके मन में था ही। इन कारणो से तीन विवाह एकसाथ करने का निश्चय हुआ और उसके लिए, जैसाकि मैं लिख चुका हूँ, महीनों पहले से तैया-रियाँ होती रही और सामग्रियाँ जुटती रही।

हम भाइयो ने तो सिर्फ तैयारियो से ही जाना कि विवाह होनेवाले है। मुझे तो इस समय इन मनसूबो के अलावा कि अच्छे-अच्छे कपड़े पह-नेंगे, बाजे बजते देखेंगे, तरह-तरह का भोजन, मिठाई मिलेगी, एक नई लड़की के साथ हँसी-खेल करेंगे, और किसी विशेष भाव का रहना याद नही आता। विषय-भोग करने का भाव तो पीछे से उत्पन्न हुआ। यह किस प्रकार हुआ, सो मैं बता तो सकता हूँ परन्तु इसकी जिज्ञासा पाठक न रक्खें। अपनी इस शर्म पर मैं परदा पड़ा रखना चाहता हूँ। जो बातें जानने योग्य हैं, वे सब आगे आ जायँगी—वे भी इसलिए कि जो मध्य बिन्दु मैंने अपनी दृष्टि के सामने रक्खा है, उसका कुछ सम्बन्ध उनके ब्योरे के साथ है।

हम दो भाइयो को राजकोट से पोरबन्दर ले गये। वहाँ हलदी लगाने इत्यादि की जो विधियाँ हुईं वे रोचक तो है, पर उनका वर्णन छोड़ देने ही लायक है।

पिताजी दीवान थे तो क्या हुआ, थे तो आखिर नौकर ही न। फिर राजप्रिय थे, इसलिए और भी पराधीन। ठाकुर साहब ने आखिरी वक्त तक उन्हें जाने न दिया। फिर जब इजाजत भी दी तो दो दिन पहले, जबकि सवारी का जगह-जगह इन्तजाम करना पड़ा। पर दैव ने कुछ और ही सोच रक्खा था। राजकोट से पोरबन्दर ६० कोस। बैलगाड़ी से ५ दिन का रास्ता था। पिताजी तीन दिन में आये। आखिरी मंजिल पर ताँगा उलट गया। पिताजी को सख्त चोट आई। हाथ-पाँव और बदन में पट्टियाँ बाँधे घर आये। हमारे लिए और उनके लिए भी विवाह का आनन्द आधा रह गया। परन्तु इससे विवाह थोड़े ही रुक सकते थे?

मुहूर्त कही टल सकता था ? मैं तो विवाह के बाल-उल्लास में पिताजी की चोट को भूल ही गया।

मैं जितना पितृ-भक्त था उतना ही विषय-भक्त भी। यहाँ विषय से मतलब इन्द्रियो के विषय से नही बल्कि भोग-मात्र से है। यह होश तो अभी आना बाकी था कि माता-पिता की भक्ति के लिए पुत्र को अपने सब सुख छोड देने चाहिएँ। ऐसा होते हुए भी, मानो इस भोगेच्छा की सजा मुझे मिलनी हो, मेरी जिन्दगी मे एक ऐसी दुर्घटना हुई, जो मुझे आज भी कॉंटे की तरह चुभती है। जब-जब निष्कुलानन्द की यह पक्ति

'त्याग न टके रे वैराग बिना, करिये कोटि उपाय जी'

गाता अथवा सुनता हूँ, तब यह दुर्घटना और कटु-प्रसंग मुझे याद आता है और शर्मिन्दा करता रहता है।

पिताजी ने मानो थप्पड मार कर मुँह लाल रक्खा। शरीर में चोट और पीडा के रहते हुए भी विवाह-कार्य में पूरा-पूरा योग दिया। पिताजी किस अवसर पर कहाँ-कहाँ बैठे थे, यह सब मुझे ज्यो-का-त्यो याद है। बाल-विवाह पर विचार करते हुए पिताजी के कार्य पर जो टीका-टिप्पणी आज मैं कर रहा हूँ, उसका स्वप्न भी उस समय न आया था। उस समय तो मुझे सब बाते अच्छी और उचित मालूम होती थी। क्योकि विवाह की उत्सुकता थी और पिताजी जो-कुछ करते थे सब ठीक ही जान पडता था। उस समय की स्मृति आज भी मेरे मन में ताजी है।

कैसे पाणि-ग्रहण हुआ, सप्तपदी में किस प्रकार वर-वधू साथ बैठे, किस तरह दोनो ने एक-दूसरे को कसार[1] खिलाया, और किस प्रकार हम दोनो एक साथ रहने लगे, इसका चित्र आज भी मेरी आँखो के सामने खडा हो जाता है। ओह, वह पहली रात ! दो अबोध बालक बिना जाने, बिना समझे, ससार-सागर में कूद पडे ! ! भाभी ने सिखाया कि पहली रात को मुझे क्या-क्या करना चाहिए। यह याद नही पडता कि मैंने धर्म-पत्नी से यह पूछा हो कि उन्हे किसने सिखाया था। अब भी पूछा जा सकता

१ कसार गेहूँ की लपसी-जैसा पदार्थ होता है, जिसे विधि समाप्त होने पर वर-वधू खाते हैं। —अनुवादक

है, पर अब तो इसकी इच्छा तक नही होती। पाठक इतना ही जान ले कि कुछ-कुछ ऐसा याद पडता है कि हम दोनो एक-दूसरे से डरते और शरमाते थे। मैं क्या जानता कि बातें कैसे करे, क्या-क्या करे? सिखाई बाते भी कहाँतक मदद कर सकती है? पर ऐसे मामलो मे किसी के सिखाने की जरूरत नही रहती। जहाँ सस्कार प्रबल है, वहाँ सिखाना फिजूल हो जाता है। धीरे-धीरे परिचय बढता गया, आजादी के साथ एक-दूसरे से बोलने-बतलाने लगे। हम दोनो हम-उम्र थे। मैं शीघ्र पतिदेव बन बैठा।

: ४ :

पतिदेव

जिन दिनो मेरा विवाह हुआ, छोटे-छोटे निबन्ध—पैसे-पैसे या पाई-पाई के, सो याद नही पडता—छपा और बिका करते। इनमें दाम्पत्य प्रेम, मितव्ययता, बालविवाह इत्यादि विषयो की चर्चा रहा करती। इनमें से कोई-कोई निबन्ध मेरे हाथ पडता और उसे मैं पढ जाता। यह मेरी आदत थी कि जो बात अच्छी नही लगती उसे भूल जाता, और जो अच्छी लगती उसके अनुसार आचरण करता। यह पढा कि एक पत्नीव्रत का पालन करना पति का धर्म है। बस यह मेरे हृदय मे अकित हो गया। सत्य की लगन तो थी ही। इसलिए पत्नी को धोखा देने का अवसर न था। और यह भी समझ चुका था कि दूसरी स्त्री से सम्बन्ध जोडना पाप है। फिर कोमल वय में एक पत्नी-व्रत के भग होने का अवसर भी कम ही रहता है।

परन्तु इन सद्विचारो का एक बुरा परिणाम निकला। 'यदि मैं एक-पत्नी-व्रत का पालन करता हूँ, तो पत्नी को भी एक-पति-व्रत का पालन करना चाहिए।' इस विचार से मैं असहिष्णु-ईर्षालु पति बन गया। 'पालन करना चाहिए।' में से 'पालन करवाना चाहिए' इस नतीजे पर जा पहुँचे। और यदि पालन करवाना हो तो फिर मुझे चौकीदारी करनी चाहिए। पत्नी की पवित्रता पर तो सन्देह करने का कोई कारण न था, परन्तु ईर्ष्या

कहीं कारण देखने जाती है ? मेरी पत्नी हमेशा कहाँ-कहाँ जाती है, यह जानना मेरे लिए जरूरी है, 'मेरी इजाजत लिये बगैर कहीं नहीं जा सकती।' यह भाव मेरे और उनके बीच दुःखद झगड़े का मूल बन बैठा। बिना इजाजत के कहीं न जा पाना तो एक तरह की कैद ही हो गई। परन्तु कस्तूरबाई ऐसी मिट्टी की न बनी थी, जो ऐसी कैद को बरदाश्त करती। जहाँ जी चाहे, मुझसे बिना पूछे जरूर चली जाती। ज्यों-ज्यों मैं दबाता त्यों-त्यों वह अधिक आजादी लेती, और त्योंही मैं और बिगड़ता। इस कारण हम बाल-दम्पत्ति में अबोला रहना एक मामूली बात हो गई। कस्तूरबाई जो आजादी लिया करती उसे मैं निर्दोष मानता हूँ। एक बालिका जिसके मनमें कोई पाप नहीं है, देव-दर्शन को जाने के लिए अथवा किसी से मिलने जाने के लिए क्यों ऐसा दबाव सहन करने लगी ? 'यदि मैं उसपर दबाव रक्खूँ तो फिर वह मुझपर क्यों न रक्खे ?'—पर यह बात तो अब समझ में आती है। उस समय तो मुझे पतिदेव की सत्ता सिद्ध करनी थी।

पर इससे पाठक यह न समझें कि हमारे इस गार्हस्थ्य-जीवन में कहीं मिठास थी ही नहीं। मेरी वक्रता का मूल था प्रेम। मैं अपनी पत्नी को आदर्श स्त्री बनाना चाहता था। मेरे मन में एकमात्र यही भाव रहता था कि पत्नी स्वच्छ हो, स्वच्छ रहे, मैं सीखूँ सो सीखे, मैं पढ़ूँ सो पढ़े, और दोनों एक-मन दो-तन बनकर रहें।

मुझे खयाल नहीं पड़ता कि कस्तूरबाई के भी मन में ऐसा भाव रहा हो। वह निरक्षर थी। स्वभाव उनका सरल और स्वतन्त्र था। वह परि-श्रमी भी थी, पर मेरे साथ कम बोला करती। अपने अज्ञान पर उन्हें असन्तोष न था। अपने बचपन में मैंने कभी उनकी ऐसी इच्छा नहीं देखी कि वह पढ़ते हैं तो मैं भी पढ़ूँ। इससे मैं मानता हूँ कि मेरी भावना एक-तर्फा थी। मेरा विषय-सुख एक ही स्त्री पर अवलम्बित था और मैं उस सुख की प्रतिध्वनि की आशा लगाये रहता था। अस्तु। प्रेम यदि एक पक्षीय भी हो तो वहाँ सर्वांश में दुःख नहीं हो सकता।

मुझे कहना चाहिए कि—मैं अपनी पत्नी से जहाँतक सम्बन्ध है,

विषयासक्त था। स्कूल में भी उसका ध्यान आता,और यह विचार मन में चला ही करता, कि कब रात हो और कब हम मिलें। वियोग असह्य होता था। कितनी ही ऊट-पटाग बातें कह-कह कर मैं कस्तूरबाई को देर तक सोने न देता। इस आसक्ति के साथ ही यदि मुझमें कर्त्तव्यपरायणता न होती तो, मैं समझता हूँ या तो किसी बुरी बीमारी में फँस कर अकाल ही कालकवलित हो जाता अथवा अपने और दुनिया के लिए भारभूत होकर वृथा जीवन व्यतीत करता होता। 'सुबह होते ही नित्यकर्म तो हर हालत में करने चाहिएँ, झूठ तो बोल ही नही सकते,' आदि अपने इन विचारो की बदौलत मैं कई सकटो से बच गया हूँ।

मैं ऊपर कह आया हूँ कि कस्तूरबाई निरक्षर थी। उन्हे पढाने की मुझे बडी चाह थी। पर मेरी विषय-वासना मुझे कैसे पढाने देती ? एक तो मुझे जबरदस्ती पढाना था, फिर रात मे ही मौका मिल सकता था। माता-पितादि के सामने तो पत्नी की तरफ देख तक नही सकते—बात करना तो दूर रहा! उस समय काठियावाड में घूँघट निकालने का निरर्थक और जगली रिवाज था, आज भी थोडा-बहुत बाकी है। इस कारण पढाने के अवसर भी मेरे प्रतिकूल थे। इसलिए, मुझे स्वीकार करना चाहिए कि, युवावस्था में पढाने की जितनी कोशिशें मैंने की वे सब प्राय बेकार गई, और जब मैं विषय-निद्रा से जगा तब तो सार्वजनिक-जीवन में पड चुका था, इस कारण अधिक समय मेरे पास न रह गया था। शिक्षक रखकर पढाने के मेरे यत्न भी विफल हुए। इसके फलस्वरूप आज कस्तूरबाई मामूली गुजराती लिखने-पढने से अधिक साक्षर न होने पाईं। यदि मेरा प्रेम विषय से दूषित न हुआ होता तो, मैं मानता हूँ आज वह विदुषी हो गई होती। उनके पढने के आलस्य पर मैं विजय प्राप्त कर पाता। क्योकि मैं जानता हूँ कि शुद्ध प्रेम के लिए दुनिया में कोई बात असम्भव नही।

इस तरह अपनी पत्नी के साथ विषय-रत रहते हुए भी मैं कैसे बहुत-कुछ बच गया, इसका एक कारण मैंने ऊपर बताया। इस सिलसिले में एक और बात का उल्लेख करने योग्य है। सैकड़ो अनुभवो से मैंने ऊपर यह निचोड निकाला है कि जिसकी निष्ठा सच्ची है, उसे खुद परमेश्वर ही बचा

लेता है। हिन्दू-ससार मे जहाँ बालविवाह की घातक प्रथा है, वहाँ उसके साथ ही उसमें से कुछ मुक्ति दिलानेवाला भी एक रिवाज है। बालक वर-वधू को माँ-बाप बहुत समय तक एकसाथ नही रहने देते। बाल पत्नी का आधे से ज्यादा समय मायके में जाता है। हमारे साथ भी ऐसा ही हुआ। अर्थात् हम १३ और १८ साल की उम्र के दरमियान थोडा-थोडा करके तीन साल से अधिक साथ न रह सके होगे। छ आठ महीने रहना हुआ नही कि पत्नी के माँ-बाप का बुलौवा आया नही। उस समय तो वे बुलौवे बडे नागवार मालूम होते। परन्तु सच पूछिए तो उन्ही के बदौलत हम दोनो बहुत बच गये। फिर १८ साल की अवस्था मे मैं विलायत गया—खासे लम्बे और उम्दा वियोग का अवसर आया। विलायत से लौटने पर भी हम एकसाथ तो छ महीने मुश्किल से रहे होगे, क्योंकि मुझे राजकोट-बम्बई बार-बार आना-जाना पडता था। इतने ही में दक्षिण अफ्रीका का निमन्त्रण आ पहुँचा—और इस बीच तो मेरी आँखें बहुत-कुछ खुल भी चुकी थी।

: ५ :

हाई स्कूल में

मैं पहले लिख चुका हूँ कि जब मेरा विवाह हुआ तब मैं हाई स्कूल में पढता था। उस समय हम तीनो भाई एक ही स्कूल में पढते थे। बडे भाई बहुत ऊपर के दरजे मे थे और जिन भाई का विवाह मेरे साथ हुआ वह मुझसे एक दरजा आगे थे। विवाह का परिणाम यह हुआ कि हम दोनो भाइयो का एक साल बेकार गया। मेरे भाई को तो और भी बुरा परिणाम भोगना पडा। विवाह के पश्चात् वह विद्यालय में रही न सके। परमात्मा जानते है, विवाह के कारण कितने नवयुवको को ऐसे अनिष्ट परिणाम भोगने पडते है! विद्याध्ययन और विवाह ये दोनो बाते हिन्दू-समाज में ही एक-साथ हो सकती है।

मेरा अध्ययन चलता रहा। हाई स्कूल में मैं मूर्ख नही माना जाता था। शिक्षको का प्रेम सम्पादन हमेशा करता रहता। हर साल माँ-बाप

को विद्यार्थी की पढाई तथा चाल-चलन के सम्बन्ध में प्रमाण-पत्र भेजे जाते । उनमें किसी दिन मेरी पढाई या चाल-चलन की शिकायत नहीं की गई । दूसरे दरजे के बाद तो इनाम भी पाये और पाँचवे तथा छठे दरजे में तो क्रमश ४) और १०) मासिक की छात्रवृत्तियाँ भी मिली थी । छात्र-वृत्ति मिलने में मेरी योग्यता की अपेक्षा तकदीर ने ज्यादा मदद की । ये छात्रवृत्तियाँ सब लडको के लिए नही थी, और उस समय चालीस-पचास विद्यार्थियो की कक्षा में सोरठ प्रान्त के विद्यार्थी बहुत नही हो सकते थे ।

अपनी तरफ से तो मुझे याद पडता है कि मै अपने को बहुत योग्य न समझता था । इनाम अथवा छात्रवृत्ति मिलती तो मुझे आश्चर्य होता, परन्तु हाँ, अपने आचरण का मुझे बडा खयाल रहता था । सदाचार में यदि चूक होती तो मुझे रोना आ जाता । यदि मुझमे कोई ऐसा काम बन पडता कि जिसके लिए शिक्षक को उलाहना देना पडे, अथवा उनका ऐसा खयाल भी हो जाय, तो यह मेरे लिए असह्य हो जाता । मुझे याद है कि कई बार मै पिटा भी था । मुझे इस बात पर तो दु ख न हुआ कि पिटा, परन्तु इस बात का महादु ख हुआ कि मै दण्ड का पात्र समझा गया । मै फूट-फूट कर रोया । यह घटना पहली अथवा दूसरी कक्षा की है । उस समय दोराबजी एदलजी गीमी हेड मास्टर थे । वह विद्यार्थी प्रिय थे । क्योंकि वह नियमो का पालन करवाते, विधिपूर्वक काम करते और काम लेते तथा पढाई अच्छी करते । उन्होंने ऊँचे दरजे के विद्यार्थियों के लिए कसरत-क्रिकेट लाजिमी करदी थी । मेरा मन उसमें न लगता था । लाजिमी होने के पहले तो मै कसरत, क्रिकेट या फुटबाल में कभी न जाता था । न जाने में मेरा झेंपूपन भी एक कारण था । अब मै देखता हूँ कि कसरत की वह अरुचि मेरी भूल थी । उस समय मेरे ऐसे गलत विचार थे कि कसरत का शिक्षा के साथ कोई सम्बन्ध नही । पीछे जाकर मैने समझा कि व्यायाम अर्थात् शारीरिक शिक्षा के लिए भी विद्याध्ययन में उतना ही स्थान होना चाहिए जितना मानसिक शिक्षा को है ।

फिर भी मुझे कहना चाहिए कि कसरत में न जाने से मुझे कोई नुक़-सान न हुआ । इसका कारण है । पुस्तको में मैने पढा था कि खुली हवा

में घूमना अच्छा होता है। यह मुझे पसन्द आया और तभी से घूमने जाने की आदत मुझे पड़ गई थी, जो अबतक है। घूमना भी एक प्रकार का व्यायाम है। और इस कारण मेरा शरीर थोड़ा-बहुत सुसगठित होगया।

अरुचि का दूसरा कारण था पिताजी की सेवा-शुश्रूषा करने की तीव्र इच्छा। स्कूल बन्द होते ही तुरन्त घर पहुँचकर उनकी सेवा में जुट जाता। जब कसरत लाजिमी करदी गई तब इस सेवा मे विघ्न उपस्थित होने लगा। मैंने अनुरोध किया कि पिताजी की सेवा करने के लिए कसरत से माफी मिलनी चाहिए, परन्तु गीमी साहब क्योंकर माफी देने लगे? एक शनिवार को सुबह का स्कूल था। शाम को ४ बजे कसरत में जाना था। मेरे पास घड़ी न थी। आकाश में बादल छा रहे थे, इस कारण समय का पता न रहा। बादलो से मुझे धोखा हुआ। जबतक कसरत के लिए पहुँचता हूँ तबतक तो सब लोग चले गये थे। दूसरे दिन गीमी साहब ने हाजिरी देखी तो मुझे गैरहाजिर पाया। मुझसे कारण पूछा। कारण तो जो था, सो ही मैंने बतलाया। उन्होने उसे सच न माना और मुझपर एक या दो आना (ठीक याद नही कितना) जुर्माना हो गया। मुझे इस बात से अत्यन्त दु ख हुआ कि मैं झूठा समझा गया। मैं यह कैसे साबित करता कि मैं झूठ नही बोला। पर कोई उपाय न रहा था। मन मसोस कर रह जाना पड़ा। मैं रोया और समझा कि सच बोलनेवाले और सच करनेवाले को गाफिल भी न रहना चाहिए। अपनी पढाई के दरमियान मुझसे ऐसी गफलत वह पहली और आखिरी थी। मुझे कुछ-कुछ स्मरण है कि अन्त को मैं वह जुर्माना माफ करा पाया था।

'अन्त को कसरत से छुट्टी मिल गई। पिताजी की चिट्ठी जब हेड-मास्टर को मिली कि मैं अपनी सेवा-सुश्रूषा के लिए स्कूल के बाद इसे अपने पास चाहता हूँ, तब जाकर उससे छुटकारा मिला।

व्यायाम की जगह मैंने घूमना जारी रक्खा। इस कारण शरीर से मिहनत न लेने की भूल के लिए शायद मुझे सजा न भोगनी पड़ी हो, परन्तु एक दूसरी भूल की सजा मैं आजतक पा रहा हूँ। पढाई मे खुशखत होने की जरूरत नही, यह कुबुद्धि मेरे मन में जाने कहाँ से आ

गई थी, जो ठेठ विलायत जाने तक रही। फिर, और खासकर दक्षिण अफ्रिका में जहाँ वकीलो के और दक्षिण अफ्रिका मे जन्मे और पढे नवयुवको के मोती के दाने की तरह अक्षर देखे, तब तो मैं बहुत लजाया और पछताया। मैंने देखा कि खत का खराब होना अधूरी शिक्षा की निशानी है। मैंने पीछे से अपना खत सुधारने की कोशिश भी की, परन्तु पक्के घडे मिट्टी चढ सकती है? जिस बात की अवहेलना मैंने जवानी में की उसे मै फिर आजतक न सुधार सका। हरेक नवयुवक और युवती मेरे उदाहरण को देखकर चेते और समझे कि अच्छा खत विद्या का आवश्यक अग है। खत सुधारने के लिए लेखन-कला आवश्यक है। मै तो अपनी यह राय बना रहा हूँ कि बालको को आलेखन-कला पहले सीखनी चाहिए। जिस प्रकार पक्षियो और वस्तुओ आदि को देखकर बालक उन्हें याद रखता और आसानी से पहचान लेता है उसी प्रकार अक्षरो को भी पहचानने लगता है और जब आलेखन-कला सीखकर चित्र इत्यादि निकालना सीख जाता है तब यदि अक्षर लिखना सीखे तो उसके अक्षर छापे की तरह हो जावे।

इस समय के मेरे विद्यार्थी-जीवन की दो बातें उल्लेख करने योग्य है। विवाह के बदौलत जो मेरा एक साल टूट गया था उसकी कसर दूसरी कक्षा में पूरी कराने की प्रेरणा मास्टर साहब ने की। परिश्रमी विद्यार्थियो को ऐसा करने की इजाजत उन दिनो तो मिलती थी। एतएव मैं छ महीने तीसरे दरजे में रहा और गर्मियो की छुट्टी के पहले वाली परीक्षा के बाद चौथे दरजे में ले लिया गया। इस कक्षा मे कुछ विषयों की शिक्षा अग्रेजी में दी जाती है, पर अग्रेजी में कुछ न समझ पाता। भूमिति रेखागणित चौथे दरजे मे शुरू होता है। एक तो मैं उनमें पीछे था, और फिर समझ में भी कुछ न आता था। भूमिति-शिक्षक समझाते तो अच्छा थे, पर मेरी कुछ समझ ही में न आता था। मैं बहुत बार निराश हो जाता; कभी-कभी यह भी दिल मे आता कि दो दरजो की पढाई एक साथ करने से तो अच्छा हो कि मै तीसरी कक्षा ही में फिर चला जाऊँ। पर ऐसा करने से मेरी बात बिगड़ती और जिन शिक्षक ने मेरी मिहनत

पर विश्वास रखकर दरजा चढाने की सिफारिश की थी उनकी भी वात विगडती। इस भय से नीचे उतरने का विचार तो वन्द ही रखना पडा। परिश्रम करते जब 'युक्लिड' के तेरहवे प्रमेय तक पहुँचा तब मुझे एकाएक लगा कि भूमिति तो सवसे सहज विषय है। जिस वात मे केवल वुद्धि का सीधा और सरल उपयोग करना है उसमे मुश्किल क्या है ? उसके वाद से भूमिति मेरे लिए सहज और सरल विषय होगया।

सस्कृत मुझे रेखागणित मे भी अधिक मुश्किल मालूम पडी। रेखागणित में तो रटने की कोई वात न थी, परन्तु सस्कृत मे मेरी दृष्टि से, सव रटना था। यह विषय भी चौथी कक्षा से शुरू होता था। छठी कक्षा में जाकर तो मेरा दिल वैठ गया। सस्कृत-शिक्षक वडे सख्त आदमी थे। विद्यार्थियो को वहुतेरा पढा देने का लोभ उन्हे रहा करता। सस्कृत-वर्ग और फारसी-वर्ग में एक प्रकार की प्रतिस्पर्धा रहती। फारसी के मौलवी साहव नरम आदमी थे। विद्यार्थी लोग आपस मे वाते करते कि फारसी वड़ी सरल है, और मौलवी साहव भी भले आदमी है। विद्यार्थी जितना याद करता है, उतने ही पर वह निभा लेते है। सहज होने की वात से मैं ललचाया और एक दिन फारसी के दरजे में जाकर वैठा। सस्कृत-शिक्षक को इससे दु ख हुआ। उन्होंने मुझे वुलाया। "यह तो सोचो कि तुम किसके लडके हो ? अपने धर्म की भाषा तुम नही पढना चाहते ? तुमको जो कठिनाई हो सो मुझे वताओ। मैं तो सारे विद्यार्थियो को अच्छी सस्कृत पढाना चाहता हूँ। आगे चलकर तो उसमे रस की घूँटें मिलेंगी। तुमको इस तरह निराश न होना चाहिए। तुम फिर मेरी कक्षा में आकर वैठो।" मैं शरमिन्दा हुआ। शिक्षक के प्रेम की अवहेलना न कर सका। आज मेरी आत्मा कृष्णशकर मास्टर का उपकार मानती है, क्योंकि जितनी सस्कृत मैंने उस समय पढी थी, यदि उतनी भी न पढा होता तो आज मैं सस्कृत-शास्त्रो का जो आनन्द ले रहा हूँ वह न ले पाता। वल्कि मुझे तो इस वात का पश्चात्ताप रहता है कि मैं अधिक सस्कृत न पढ सका। क्योंकि आगे चलकर मैंने समझा कि किसी भी हिन्दू-वालक को सस्कृत का अच्छा अध्ययन किये विना न रहना चाहिए।

अब तो मैं यह मानता हूं कि भारतवर्ष के उच्च शिक्षण-क्रम में मातृभाषा के उपरान्त राष्ट्र-भाषा हिन्दी, संस्कृत, फ़ारसी, अरबी और अंग्रेजी के लिए भी स्थान होना चाहिए। इतनी भाषाओं की गिनती से किसी को डर जाने की जरूरत नहीं, यदि विधि-पूर्वक भाषायें पढ़ाई जायें और सब विषयों का अध्ययन अंग्रेजी के द्वारा करने का बोझ हम पर न हो तो पूर्वोक्त भाषायें भार-रूप न मालूम हों, बल्कि उनमें बड़ा रस आने लगे। फिर जो एक भाषा को विधि-पूर्वक सीख लेता है उसे दूसरी भाषाओं का ज्ञान सुगमता से होजाता है। सच पूछिए तो हिन्दी, गुजराती, संस्कृत इन्हें एक ही भाषा मानना चाहिए। यही फ़ारसी और अरबी के लिए कह सकते हैं। फ़ारसी यद्यपि संस्कृत से जैसी है, और अरबी हिब्रू से जैसी, तथापि दोनों भाषायें इस्लाम के प्रादुर्भाव के पश्चात् फली-फूली हैं। इसलिए दोनों में निकट सम्बन्ध है। उर्दू को मैंने पृथक भाषा नहीं माना, क्योंकि उसके व्याकरण का समावेश हिन्दी में होता है। उसके शब्द फारसी और अरबी ही हैं। ऊंचे दरजे की उर्दू जानने वाले के लिए अरबी और फ़ारसी जानना आवश्यक होता है, जैसा कि उच्चकोटि की गुजराती, हिन्दी, बंगला, मराठी जाननेवाले के लिए संस्कृत जानना जरूरी है।

: ६ :

दुःखद प्रसंग

१

मैं पहले कह गया हूं कि हाईस्कूल में मेरी बहुत कम लोगों से अभिन्न मित्रता थी। घनिष्ट मित्र तो मेरे दो ही थे, सो भी जुदा-जुदा समय पर। एक की मित्रता अधिक समय तक न निभी, हालांकि मैंने अपनी तरफ़ से उसे नहीं तोड़ा। दूसरे से मित्रता के कारण पहले मित्र ने मेरा साथ छोड़ दिया। पर वह दूसरी मित्रता मेरे जीवन का एक दुःखद प्रकरण है। यह मित्रता बहुत दिनों तक चली। एक सुधारक की दृष्टि रखकर मैंने यह मित्रता की थी। उस व्यक्ति की मित्रता पहले मेरे मंझले भाई के साथ

थी। वह उनका सहपाठी था। मै उसके कई ऐबो को जानता था, परन्तु मैंने उसे अपना वफादार साथी मान लिया था। मेरी माताजी, बडे भाई और धर्मपत्नी तीनो को उनकी सोहबत बुरी मालूम पडती थी। पत्नी की चेतावनी पर तो मै—अभिमानी पति—क्यो ध्यान देने लगा ? हाँ, माता के वचन को तोडना मेरे लिए कठिन होता था। बडे भाई की बात भी मै सुन लेता। परन्तु मैंने उन्हे यो समझा दिया—"आप जो उसकी बुराइयाँ बताते है, उन्हे तो मै जानता हूँ। पर उसके गुणो को आप नही जानते। मुझे वह खराब रास्ते नही ले जा सकता, क्योंकि मैंने उसके साथ जो सम्बन्ध बाँधा है, वह केवल उसे सुधारने के लिए बाँधा है। मुझे विश्वास है कि यदि वह सुधर गया तो बडा अच्छा आदमी साबित होगा। मै चाहता हूँ कि आप मेरी तरफ से बिलकुल नि शक रहें।" मै नही समझता कि इस बात से उन्हें सन्तोष हुआ हो, पर इतना जरूर हुआ कि उन्होने मुझपर विश्वास रक्खा और मुझे अपने रास्ते जाने दिया।

पीछे जाकर मैंने देखा कि मेरा अनुमान ठीक न था। सुधार करने के लिए भी मनुष्य को गहरे पानी में न पैठना चाहिए। जिनका सुधार हमें करना हो उनके साथ मित्रता नही हो सकती। मित्रता में अद्वैत-भाव होता है। ऐसी मित्रता ससार में बहुत थोडी देखी जाती है। समान गुण और शील वालो में ही मित्रता शोभती और निभती है। मित्र एक-दूसरे पर अपना असर छोडे बिना नही रह सकते। कारण, मित्रता में सुधार के लिए बहुत-कम गुजाइश होती है। मेरा मत यह है कि अभिन्न-मित्रता अनिष्ट है, क्योकि मनुष्य दोष को झट ग्रहण कर लेता है। गुण ग्रहण करने के लिए प्रयास की जरूरत है। जिसे आत्मा की—ईश्वर—की मित्रता की जरूरत है उसे एकाकी ही रहना उचित है, या फिर सारे जगत् के साथ मित्रता करनी उचित है। ये विचार चाहे उचित हो या अनुचित, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि मेरा अभिन्न-मित्रता जोडने और बढाने का प्रयत्न विफल साबित हुआ।

जिन दिनो इन महाशय से मेरा सम्पर्क हुआ, राजकोट में सुधार की लहर ऊँची उठ रही थी। इन मित्र ने खबर दी कि बहुतेरे हिन्दू-शिक्षक

छिपे-छिपे मांसाहार और मद्यपान करते हैं ! राजकोट के दूसरे प्रसिद्ध व्यक्तियों के नाम भी लिये। हाईस्कूल के कितने ही विद्यार्थियों के नाम भी मेरे पास आये। यह देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ और साथ ही दुःख भी। जब मैंने इसका कारण पूछा तो यह बताया गया—"हम मांस नहीं खाते, इसीलिए कमजोर हो गये हैं। अंग्रेज जो हमपर हुकूमत कर रहे हैं इसका कारण है उनका मांसाहार। तुम जानते ही हो कि मैं कितना हट्टा-कट्टा और मजबूत हूँ और कितना दौड़ सकता हूँ। इसका कारण मेरा मांसाहार ही है। मांसाहारी को फोड़े-फुन्सी नहीं होते, हों भी तो जल्दी अच्छे हो जाते हैं। देखो, हमारे शिक्षक लोग मांस खाते हैं, इतने भले-भले आदमी खाते हैं, सो क्या बिना सोचे-समझे ही ? तुमको भी खाना चाहिए। खाकर तो देखो कि तुम्हारे बदन में कितनी ताकत आ जाती है।"

ये दलीलें एक ही दिन में नहीं पेश हुई। अनेक उदाहरणों से सजा-कर कई बार पेश की गई। मेरे मँझले भाई तो उनके जाल में फँस ही चुके थे। उन्होंने भी इस बात का समर्थन किया। इन मित्र के और अपने भाई के मुकाबले में मैं दुबला-पतला और कमजोर था। उनके शरीर ज्यादा सुगठित थे। उनका शरीर-बल मुझसे बहुत ज्यादा था। वे निर्भय थे। इन मित्र के पराक्रम मुझे मुग्ध कर लेते। वे जितना चाहें दौड़ सकते। गति भी बहुत तेज थी। बहुत लम्बा और ऊँचा कूद सकते थे। मार सहने की शक्ति भी वैसी ही थी। इस शक्ति का प्रदर्शन भी वह समय-समय पर करते। अपने अन्दर जो सामर्थ्य नहीं होता उसे दूसरे में देखकर मनुष्य को आश्चर्य होता ही है। वैसा ही मुझे हुआ। आश्चर्य से मोह पैदा हुआ। मुझमें दौड़ने-कूदने की शक्ति नहीं के बराबर थी। मेरे मन ने कहा, 'इन मित्र के समान बलवान मैं भी क्यों न बनूँ ?'

फिर मैं बड़ा डरपोक भी था। चोर, भूत, सांप आदि के भय से सदा घिरा हुआ रहता। उन भयों से मुझे कष्ट भी बहुत होता। रात में कहीं अकेला जाने की हिम्मत न होती। अंधेरे में तो कहीं न जाता। बिना दिये के सोना प्रायः असम्भव था। कहीं यहां से भूत-पिशाच निकल कर न आ

जायें, वहाँ से चोर और उधर से साँप न आ घुसे—यह डर बना रहता, इसलिए रोशनी जरूर रखता। इधर अपनी पत्नी के सामने भी, जोकि पास ही सोती और अब कुछ-कुछ युवती हो चली थी, ये भय की बातें करते हुए सकोच होता था। क्योंकि मैं इतना जान चुका था कि वह मुझसे अधिक हिम्मत वाली है, इस कारण मैं उससे और शरमाता था। उसे साँप वगैरे का भय तो कहीं छू तक नहीं गया था अँधेरे में अकेली चली जाती। मेरी इन कमजोरियों का हाल उन मित्र को मालूम था। वह तो मुझसे कहा करता कि मैं जीते साँपों को हाथ से पकड़ लेता हूँ। चोर से तो वह डरता ही न था, न भूत-प्रेतों को ही मानता था। उसने यह बात मेरे मन में जमा दी कि यह सब मासाहार का प्रताप है।

इन दिनों नर्मद कवि की यह कविता स्कूल में गाई जाती—

अंग्रेजो राज करे, देशी रहे दबाई,
देशी रहे दबाई, जोने वेना शरीर भाई
पेलो पाँच हाथ पूरो, पूरो मास सेवे।[1]

इन सबका मेरे दिल पर बड़ा असर हुआ। मैं मास खाने के लिए राजी होगया। मैं मानने लगा कि मासाहार अच्छी चीज है। उससे मैं बलवान् और निर्भर बनूँगा। सारा देश यदि मास खाने लगे तो अंग्रेजों को हरा सकता है।

मासाहार के आरम्भ का दिन निश्चित हुआ।

इस निश्चित—इस प्रारम्भ—का अर्थ सब पाठक न समझ सकेंगे। गाँधी-परिवार वैष्णव-सम्प्रदाय का अनुयायी था। माता-पिता कट्टर वैष्णव माने जाते थे। हवेली में हमेशा जाते। कितने ही मंदिर तो हमारे कुटुम्ब के गिने जाते। फिर गुजरात में जैन-सम्प्रदाय का भी बहुत जोर था। उसका असर हर जगह और हर काम में देखा जाता था। इसलिए मासाहार के प्रति, जो विरोध, तिरस्कार गुजरात में और श्रावकों तथा वैष्णवों

१. भाव यह है कि अंग्रेज इसी कारण हट्टे-कट्टे हैं और हम पर राज्य करते हैं कि वे मास खाते हैं, और हिन्दुस्तानी इसीलिए मुर्दा बने हुए हैं कि वे मासाहार नहीं करते।—अनुवादक

में दिखाई पडता है, वह हिन्दुस्तान में या सारी दुनिया में नहीं दिखाई पडता। ये थे मेरे सस्कार।

फिर माता-पिता का मै परम भक्त ठहरा। मै मानता था कि यदि उन्हे मेरे मासाहार का पता लग जायगा तो वे तो बे-मौत के प्राण छोड देंगे। जान-अनजान में सत्य का भी सेवक तो मै था ही। पर यह नहीं कह सकता कि यह ज्ञान मुझे उस समय नहीं था कि यदि मास खाने लगा तो माता-पिता के सामने झूठ बोलना पडेगा।

ऐसी स्थिति में मेरा मास खाने का निश्चय, मेरे लिए बडी गम्भीर और भयकर बात थी।

परन्तु मै तो सुधार करना चाहता था। मास शौक के लिए नही खाना चाहता था। स्वाद के लिए मासाहार का श्रीगणेश नही करना था। मै तो बलवान्, निर्भय, साहसी, होना चाहता। दूसरो को ऐसा बनने की प्रेरणा करना चाहता था और फिर अग्रेजो को हरा कर भारतवर्ष को स्वतन्त्र करना चाहता था। 'स्वराज्य' का शब्द उस समय नही सुना था। कहना चाहिए इस सुधार की उमग में मेरी अक्ल बौरिया गई थी।

: ७ :

दुःखद-प्रसंग

२

नियत दिन आया। उस समय की मेरी दशा का हूबहू वर्णन करना कठिन है। एक ओर सुधार का उत्साह, जीवन में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन करने का आश्चर्य और दूसरी ओर चोर की तरह लुक-छिप कर काम करने की शरम। नहीं कह सकता इनमें किस भाव की प्रधानता थी। हम एकान्त जगह की तलाश में नदी की तरफ़ चले। दूर जाकर एक ऐसी जगह मिली जहाँ कोई सहसा न देख सके, और जहाँ मैंने जीवन में पहली बार पका हुआ मास देखा। साथ में भटियारे के यहाँ की डबल रोटी भी थी। दो में से एक भी चीज़ न भाई। मास चमडे की तरह

लगा। खाना असम्भव होगया। मुझे कै-सी होने लगी। खाना यों ही छोडना पडा।

मेरे लिए यह रात बहुत भारी साबित हुई। नींद किसी तरह न आती। ऐसा मालूम होता मानो बकरा मेरे शरीर के अन्दर जीवित है और सपने में मानो वह बें-बें चिल्लाता है। मैं चौंक उठता, पछताता, पर फिर सोचता कि मांसाहार के बिना तो गति ही नहीं, यों हिम्मत न हारनी चाहिए। मित्र भी पिंड छोडनेवाले न थे। उन्होंने अब मांस तरह-तरह से पकाना और सुस्वादु बनाना तथा ढककर रखना शुरू किया। नदी किनारे ले जाने के बजाय राज्य के एक भवन में वहाँ के बवर्ची से इन्तजाम करके छिपे-छिपे जाने की तजवीज की, और वहाँ मेज कुर्सी इत्यादि सामग्रियों के ठाट-बाट ने मुझे लुभाया। इसका अभीष्ट असर मेरे दिल पर हुआ, बकरों की ममता छूटी और मांस का तो नहीं कह सकता, पर मांस वाले पदार्थों का स्वाद लग गया। इस तरह एक साल गया होगा और इस बीच पाँच छ: बार मांस खाने को मिला होगा। क्योंकि एक तो बार-बार राज्य का भवन न मिलता, और दूसरे मांस के सुस्वादु पदार्थ हमेशा तैयार न हो पाते। फिर ऐसे भोजनों के लिए खर्च भी करना पडता। मेरे पास कानी कौडी भी न थी। मैं देता क्या? खर्च का इन्तजाम सोचना उस मित्र के जिम्मे रहा था। मुझे आजतक खबर नहीं कि उसने क्या इन्तजाम किया था। उसका इरादा तो था मुझे मांस की चाट लगा देना, मुझे भ्रष्ट कर देना। इसलिए खर्च का भार वह खुद ही उठाता था। पर उसके पास अटूट खजाना तो था नहीं, इस कारण ऐसे भोजनों के अवसर कभी-कभी ही आते।

जब-जब ऐसे भोजनों में शरीक होता तब-तब घर खाना न खाया जाता। जब माँ खाने को बुलाती तो बहाना करना पडता, आज भूख नहीं, खाना पचा नहीं। जब-जब ये बहाने बनाने पडते तब-तब मेरे दिल को सख्त चोट पहुँचती। इतनी झूठ बात, फिर माँ के सामने! फिर यदि माँ-बाप जान जायँ कि लडके मांस खाने लग गये हैं, तब तो उनपर बिजली-सी टूट पडेगी। ये विचार मेरे हृदय को हरदम नोचते रहते। इस कारण

मैंने निश्चय किया कि, मास खाना तो आवश्यक है, उसका प्रचार करके हिन्दुस्तान को सुधारना भी आवश्यक है, पर माता-पिता को धोखा देना और झूठ बोलना मास न खाने से भी ज्यादा बुरा है। इसलिए माता-पिता के जीतेजी मास न खाना चाहिए। उनकी मृत्यु के बाद, स्वतन्त्र हो जाने पर खुल्लम-खुल्ला खाना चाहिए, और जबतक वह समय न आवे मास के रास्ते न जाना चाहिए। यह निश्चय मैंने अपने मित्र पर प्रकट कर दिया। उस दिन से जो मासाहार छूटा सो छूटा ही। माता-पिता ने कभी न जाना कि उनके दो पुत्र मासाहार कर चुके हैं।

माता-पिता को धोखा न देने के शुभ विचार से मैंने मासाहार छोडा, परन्तु मित्र की मित्रता न छोडी। मैं जो दूसरो को सुधारने के लिए आगे बढा था सो खुद ही बिगड गया और सो भी ऐसा कि बिगड जाने का भान तक न रहा।

उसीकी मित्रता के कारण मैं व्यभिचार मे भी फँस जाता, परन्तु बाल-बाल बच गया। एक बार यही महाशय मुझे चकले में ले गये वहाँ एक बाई के मकान में जरूरी बातें समझाकर, भेजा। पैसे देना-दिवाना मुझे कुछ न था। वह सब पहले ही हो चुका था। मेरे लिए तो सिर्फ पापाचार करना बाकी था।

मैं मकान में दाखिल तो हुआ, पर ईश्वर जिसे बचाना चाहता है वह गिरने की इच्छा करते हुए भी बच जाता है। उस कमरे में जाकर मैं तो मानो अन्धा और गूँगा बन गया। कुछ बोलने का ही औसान न रहा। मारे शरम के गूँगा बनकर उस बाई की खटिया पर बैठ गया। एक लफ्ज तक ज़बान से न निकला। बाई झल्लाई और मुझे दो-चार बुरी-भली सुना कर सीधा दरवाज़े का रास्ता दिखलाया।

इस समय तो मेरे मन में लगा, मानो यह मर्दानगी को लाँछन लग गया, और धरती फट जाय तो मैं उसमें समा जाऊँ। परन्तु बाद को, इससे मुझे उबार लेने पर, मैंने ईश्वर का सदा उपकार माना है। मेरे जीवन में ऐसे ही दो-चार प्रसग और आये हैं। बहुतो से मैं बिना प्रयत्न के, दैव-योग से, बच गया हूँ। विशुद्ध और सूक्ष्म दृष्टि से तो मैं गिर ही चुका

था, क्योंकि विषय की इच्छा करते ही मैं उसका भोग तो कर चुका। फिर भी लौकिक दृष्टि से हम उस आदमी को बचा हुआ ही मानते हैं जो इच्छा करते हुए भी प्रत्यक्ष कर्म से बच जाता है। और मैं इन अवसरों पर इसी तरह इतने ही अंश तक, बचा हुआ समझा जा सकता हूँ। फिर कितने ही काम ऐसे हैं, जिनके करने से बचना व्यक्ति के तथा उसके सम्पर्क में आने वालों के लिए बहुत लाभदायक साबित होता है। और जब विचार-शुद्धि हो जाती है तब उस कर्म से बच जाने को वह ईश्वर का अनुग्रह मानता है। जिस प्रकार हम यह अनुभव करते हैं कि न गिरने का यत्न करते हुए भी मनुष्य गिर ही जाता है उसी प्रकार पतन की इच्छा हो जाने पर भी अनेक सहयोगों के कारण मनुष्य बच जाता है। इसमें कहाँ पुरुषार्थ के लिए स्थान है, कहाँ दैव के लिए, अथवा किन नियमों के वशवर्ती होकर मनुष्य गिरता है, या बचता है, ये प्रश्न गूढ हैं। ये आजतक हल नहीं हो सके हैं और यह कहना कठिन है कि इनका अन्तिम निर्णय हो सकेगा या नहीं। पर हम आगे चलें।

मुझे अबतक इस बात का भान न हुआ कि इस मित्र की मित्रता अनिष्ट है। अभी और कडुए अनुभव होना बाकी थे। यह तो मुझे तभी मालूम हुआ, जब मैं उसके ऐसे दोषों का प्रत्यक्ष अनुभव किया, जिसकी मुझे कभी कल्पना तक नहीं हुई थी। पर मैं जहाँतक हो, समयानुक्रम से अपने अनुभव लिख रहा हूँ, इसलिए वे बातें आगे समय पर आ जावेंगी।

एक बात इसी समय की है, वह कहनी पडेगी। हम दम्पति में जो कितनी ही बार मतभेद और मनमुटाव हो जाया करता, उसका कारण यह मित्रता भी थी। मैं पहले कह चुका हूँ कि मैं जैसा प्रेमी था वैसा वहमी पति भी था। यह मित्रता मेरे वहम को बढाती रहती थी, क्योंकि मित्र की सच्चाई पर मुझे अविश्वास बिलकुल न था। इस मित्र की बातें मानकर मैंने अपनी धर्मपत्नी को कई बार दु:ख दिया है। इस हिंसा के लिए मैंने कभी अपने को माफ नहीं किया। हिन्दू स्त्री ही ऐसे दु:खों को सहन कर सकती होगी। और इसलिए मैंने स्त्री को हमेशा सहनशीलता की मूर्ति माना है। नौकर-चाकर पर यदि झूठा वहम आने लगे तो वे

नौकरी छोड कर चले जाते है, पुत्र पर ऐसी बीते तो बाप का घर छोड कर चला जाता, मित्रो में वहम पड जाय तो मित्रता टूट जाती है, पत्नी को यदि पति पर शक हो तो बेचारी मन मसोस कर रह जाती है, पर यदि पति के मन में पत्नी के लिए शक पड जाय तो बेचारी को भोग भोगे ही छुटकारा। वह कहाँ जाय ? उच्च-वर्ण की हिन्दू स्त्री अदालत मे जाकर तलाक भी नही दे सकती। ऐसा एक-पक्षी न्याय उसके लिए रक्खा गया है। यही न्याय मैंने उसके साथ बरता, इस दु ख को मै कभी नही भूल सकता। इस वहम का सर्वथा नाश तो तभी हुआ, जब मुझे अहिंसा का सूक्ष्म ज्ञान हुआ। अर्थात् जब मै ब्रह्मचर्य की महिमा को समझा और समझा कि पत्नी पति की दासी नही वरन् सहचारिणी है, दोनो एक-दूसरे के सुख-दुख के समान भागी है और पति को अच्छा-बुरा करने की जितनी स्वतन्त्रता है उतनी ही पत्नी को भी है। इस वहम के समय की जब याद आती है तब मुझे अपनी मूर्खता और विषयान्ध निर्दयता पर क्रोध आता है और मित्रता विषयक अपनी मूर्च्छा—मूढता पर दया उपजती है।

: ८ :

चोरी और प्रायश्चित्त

मांसाहार के समय के और उसके पहले के अपने कुछ दूषणों का वर्णन करना अभी बाकी है। ये या तो विवाह के पहले के हैं या तुरन्त उसके बाद के।

अपने एक रिश्तेदार के साथ मुझे सिगरेट पीने का चस्का लग गया। पैसे तो हमारे पास थे ही नहीं। दो में से किसी को भी यह तो नहीं मालूम होता था कि सिगरेट पीने में कुछ फायदा है या उसकी गन्ध में कुछ स्वाद है, पर इतना जरूर मालूम हुआ कि केवल धुंआ फूंकने में ही कुछ आनन्द है। मेरे चाचाजी को सिगरेट पीने की आदत थी। और उनको तथा औरो को धुंआ उड़ाते देखकर हमें भी फूंक लगाने की इच्छा

हुआ करती। पैसे थे ही नही, इसलिए चाचाजी की पी हुई सिगरेटो की जूठन चुरा-चुरा कर हम लोग पीने लगे।

परन्तु यह जूठन भी हर वक्त नही मिल सकती थी, और उसमें बहुत धुँआँ भी नहीं निकलता था। इसलिए हम नौकर के पैसो में से एक-एक दो-दो पैसे चुराने और पीने लगे। पर यह दिक्कत थी कि उन्हे रक्खें कहाँ? यह तो जानते ही कि बडे-बूढो के सामने सिगरेट नही पी सकते। ज्यो-त्यो करके दो-चार पैसे चुराकर कुछ सप्ताह काम चलाया। इसी बीच सुना कि एक किस्म के पौधे (उसका नाम भूल गया) की टहनी बीडी की तरह सुलगती है, और पी सकते हैं। हम उन्हे ला-लाकर पीने लगे।

पर हमें सतोष न हुआ। यह पराधीनता हमें खलने लगी। बडे-बूढो की आज्ञा के बिना कुछ भी नही कर सकते, यह दिन-दिन नागवार होने लगा। अन्त को उकताकर हमने आत्म-हत्या करने का निश्चय किया।

परन्तु आत्म-हत्या करे किस तरह? जहर लावे कहाँ से? हमने सुना था कि धतूरे के बीज खाने से आदमी मर जाता है। जँगल मे घूम-फिरकर बीज लाये। शाम का समय ठीक किया। केदारजी के मन्दिर में जाकर दीपक में घी डाला, दर्शन किया, और एकान्त ढूँढा, पर जहर खाने की हिम्मत न होती थी। 'तुरन्त ही मृत्यु न हो तो? मरने से आखिर क्या लाभ? पराधीनता ही में क्यो न पडे रहे?' ये विचार मन में आने लगे। फिर दो-चार बीज खा ही डाले। ज्यादा खाने की हिम्मत न चली। दोनो मौत से डर गये, और यह तय किया कि रामजी के मन्दिर में जाकर दर्शन करके खामोश हो रहे और आत्म-हत्या के खयाल को दिल से निकाल डाले।

तब मैं समझा कि आत्म-हत्या का विचार करना तो सहल है, पर आत्म-हत्या करना सहल नही। अतएव जब कोई आत्म-हत्या करने की धमकी देता है, तब मुझपर उसका बहुत-कम असर होता है, अथवा यह कहूं कि बिलकुल ही नही होता।

आत्म-हत्या के विचार का एक परिणाम यह निकला कि हमारी

सिगरेट की जूठन पीने की, नौकर के पैसे चुराने की और उसकी सिगरेट लाकर पीने की टेव छूट गई। बडा होने पर तो मुझे कभी सिगरेट पीने की इच्छा तक न हुई। और मै सदा इस टेव को जगली, हानिकारक और गन्दी मानता हूँ। पर अबतक मै यह नही समझ पाया कि सिगरेट पीने का इतना जबर्दस्त शौक दुनिया को क्यो है ? रेल के जिस डिब्बे में बहुतेरी बीडियाँ फूँकी जाती हो, वहाँ बैठना मेरे लिए मुश्किल हो पडता है और उसके धुँए से दम घुटने लगता है।

सिगरेट की जूठन चुराने तथा उसके लिए नौकर के पैसे चुराने से बढकर चोरी का एक दोष मुझसे हुआ है, और उसे मै इससे बहुत बुरा समझता हूँ। सिगरेट का चस्का तब लगा जब मेरी उम्र १२-१३ साल की होगी। शायद इससे भी कम हो। दूसरी चोरी के समय १५ वर्ष की रही होगी। यह चोरी थी मेरे मांसाहारी भाई के सोने के कडे की। उन्होने २५) के लगभग कर्जा कर रक्खा था। हम दोनो भाई इस सोच में पडे कि यह चुकावे किस तरह। मेरे भाई के हाथ में सोने का ठोस कडा था। उसमें से एक तोला सोना काटना कठिन न था।

कड़ा कटा। कर्ज चुका, पर मेरे लिए यह घटना असह्य होगई। आगे से चोरी न करने का मैंने निश्चय किया। मन में आया कि पिताजी के सामने जाकर चोरी कबूल कर लूं। पर उनके सामने मुंह खुलना मुश्किल था। यह डर तो न था कि पिताजी खुद मुझे पीटने लगेंगे, क्योंकि मुझे नही याद पडता कि उन्होंने हम भाइयो मे से किसीको पीटा हो। पर यह खटका जरूर था कि वह खुद बडा सताप करेंगे, शायद अपना सिर भी पीट ले। तथापि मैंने मन में कहा—'यह जोखिम उठाकर भी अपनी बुराई कबूल कर लेनी चाहिए, इसके बिना शुद्धि नहीं होसकती।'

अन्त में यह निश्चय किया कि चिट्ठी लिखकर अपना दोष स्वीकार कर लूँ। मैंने चिट्ठी लिखकर खुद ही उन्हें दी। चिट्ठी में सारा दोष कबूल किया था और सजा चाही थी। आजिजी के साथ यह प्रार्थना की थी कि आप किसी तरह अपने को दुखी न बनावें और प्रतिज्ञा की थी कि आगे में कभी ऐसा न करूँगा।

पिताजी को चिट्ठी देते हुए मेरे हाथ-पाँव काँप रहे थे। उस समय वह भगन्दर की बीमारी से पीड़ित थे। लकडी के तख्तो पर उनका बिछौना रहता था। उनके सामने जाकर बैठ गया।

उन्होने चिट्ठी पढी। आँखो से मोती के बूँद टपकने लगे। चिट्ठी भीग गई। थोडी देर के लिए उन्होने आँखें मूँद ली। चिट्ठी फाड डाली। चिट्ठी पढने को जो वह उठ बैठे थे सो फिर लेट गये।

मै भी रोया। पिताजी के दुःख को अनुभव किया। यदि मै चितेरा होता तो आज भी उस चित्र को हूबहू खीच सकता। मेरी आँखो के सामने आज भी वह दृश्य ज्यो-का-त्यो दिखाई दे रहा है।

इस मोती-बिन्दु के प्रेमबाण ने मुझे बीध डाला। मै बद्ध होगया। इस प्रेम को तो वही परख सकता है, जिसे उसका अनुभव हुआ है—

रामबाण वाग्या रे होय ते जाणे[1]

मेरे लिए यह अहिसा का पदार्थ-पाठ था। उस समय तो मुझे इसमें पितृ-वात्सल्य से अधिक कुछ न दिखाई दिया, पर आज मै इसे शुद्ध अहिसा के नाम से पहचानता हूँ। ऐसी अहिसा जब व्यापक रूप ग्रहण करती है तब उसके स्पर्श से कौन अलिप्त रह सकता है ? ऐसी व्यापक अहिसा के बल को नापना असम्भव है।

ऐसी शान्तिमय क्षमा पिताजी के प्रतिकूल थी। मैने तो यह अन्दाज़ किया था कि वह गुस्सा होगे, सख्त-सुस्त कहेगे, शायद अपना सिर भी पीट ले। पर उन्होने तो असीम शान्ति का परिचय दिया। मै मानता हूँ कि यह दोष की शुद्ध हृदय से की गई स्वीकृति का परिणाम था। जो मनुष्य अधिकारी व्यक्ति के सामने स्वेच्छापूर्वक अपने दोष शुद्ध हृदय से कह देता है और फिर कभी न करने की प्रतिज्ञा करता है, वह मानो शुद्धतम प्रायश्चित्त करता है। मै जानता हूँ कि मेरी इस दोष-स्वीकृति से पिताजी मेरे सम्बन्ध मे नि शक हो गये और उनका महाप्रेम मेरे प्रति और भी बढ गया।

१ प्रेम-बाण से जो बिंधा हो वही उसके प्रभाव को जानता है।—अनु०

: ९ :

पिताजी की मृत्यु और मेरी शर्म

यह जिक्र मेरे सोलहवें साल का है। पाठक जानते हैं कि पिताजी भगन्दर की बीमारी से बिलकुल बिछौने पर ही लेटे रहते थे। उनकी सेवा-शुश्रूषा अधिकांश में माताजी, एक पुराने नौकर और मेरे जिम्मे थी। मैं 'नर्स'—परिचारक का काम करता था। घाव को धोना, उसमें दवा डालना, जरूरत हो तब मरहम लगाना, दवा पिलाना, और जरूरत हो तब घर पर दवा तैयार करना, यह मेरा खास काम था। रात को हमेशा उनके पैर दबाना और जब वह कहें तब, अथवा उनके सो जाने के बाद, जाकर सोना मेरा नियम था। यह सेवा मुझे अतिशय प्रिय थी। मुझे नहीं याद पड़ता कि किसी दिन मैंने इसमें गफलत की हो। ये दिन मेरे हाईस्कूल के थे। इस कारण भोजन-पान से जो समय बचता वह या तो स्कूल में या पिताजी की सेवा-शुश्रूषा में जाता। जब वह कहते, अथवा उनकी तबीयत के अनुकूल होता, तब शाम को घूमने चला जाता। इसी वर्ष पत्नी गर्भवती हुई। आज मुझे इसमें दुहरी शर्म मालूम होती है। एक तो यह कि विद्यार्थी-जीवन होते हुए मैं संयम न रख सका, और दूसरे यह कि यद्यपि मैं स्कूल की पढ़ाई पढ़ने का और इससे भी बढ़कर माता-पिता की भक्ति को धर्म मानता था—यहां तक कि इस सम्बन्ध में बाल्यावस्था से ही श्रवण मेरा आदर्श रहा था—तथापि विषय-वासना मुझ पर हावी हो सकी थी। यद्यपि मैं रात को पिताजी के पांव दबाया करता, तथापि मन शयन-गृह की तरफ दौड़ा करता और वह भी ऐसे समय कि जब स्त्री-संग धर्म-शास्त्र, वैद्यक-शास्त्र और व्यवहार-शास्त्र तीनों के अनुसार त्याज्य था। जब उनकी सेवा-शुश्रूषा से मुझे छुट्टी मिलती तब मुझे खुशी होती और पिताजी के पैर छूकर मैं सीधा शयन-गृह में चला जाता। पिताजी की बीमारी बढ़ती जाती थी। वैद्यों ने अपने अपने लेप आजमाए,

हकीमो ने मरहम पट्टियाँ आजमाईं, मामूली हाजमे आदि की घरेलू दवायें की, अंग्रेज डाक्टर ने भी अपनी अक्ल अजमा देखी। अंग्रेज डाक्टर ने कहा, नश्तर लगाने के सिवा दूसरा रास्ता नही। हमारे कुटुम्ब के मित्र वैद्य बीच में पड़े और ढलती उमर मे ऐसा नश्तर लगवाने की सलाह उन्होने नही दी। दवाओ की बीसो बोतलें खपी पर व्यर्थ गईं और नश्तर भी नही लगाया गया। वैद्यराज काबिल और नामांकित थे। मेरा खयाल है कि यदि उन्होने नश्तर लगाने दिया होता तो घाव के अच्छा होने मे कोई दिक्कत न आती। आपरेशन बम्बई के तत्कालीन प्रसिद्ध सार्जन के मार्फत होनेवाला था। पर अन्त नजदीक आ गया था, इसलिए ठीक बात उस समय कैसे सूझ सकती थी? पिताजी बम्बई से बिना नश्तर लगाये वापस लौटे। और नश्तर-सम्बन्धी खरीदा हुआ सामान साथ लेते आये। उन्होने अधिक जीने की आशा छोड़ दी थी। कमजोरी बढ़ती गई और हर क्रिया बिछौने मे ही करने की नौबत आ गई। परन्तु उन्होने उसे स्वीकार न किया और उठने-बैठने का कष्ट उठाना मजूर किया। वैष्णव धर्म का यह कठिन शासन है। बाह्य-शुद्धि आवश्यक है। परन्तु पाश्चात्य वैद्यक-शास्त्र हमें सिखाता है कि मल-त्याग तथा स्नान आदि की समस्त क्रियायें पूरी-पूरी स्वच्छता के साथ बिछौने में हो सकती है और फिर भी रोगी को कष्ट नही उठाना पड़ता। जब देखिए तब बिछौना स्वच्छ ही रहता है ऐसी स्वच्छता को मै तो वैष्णव-धर्म के अनकूल ही मानता हूँ। परन्तु इस समय पिताजी का स्नानादि के लिए बिछौने को छोड़ने का आग्रह देखकर मै तो आश्चर्य-चकित रहता और मन में उनकी स्तुति किया करता।

अवसान की घोर रात्रि नजदीक आई। इस समय मेरे चाचाजी राजकोट में थे। मुझे कुछ ऐसा याद पड़ता है कि पिताजी की बीमारी बढ़ने के समाचार सुनकर वह आ गये थे। दोनो भाइयो में प्रगाढ प्रेम-भाव था। चाचाजी दिन-भर पिताजी के बिछौने के पास ही बैठे रहते और हम सब को सोने के लिए रवाना करके खुद पिताजी के बिछौने के पास सोते। किसी को यह खयालतक न था कि यह रात आखिरी साबित होगी। भय तो सदा रहा ही करता था। रात के साढे दस या ग्यारह बजे होगे। मै पैर दबा

रहा था। चाचाजी ने मुझसे कहा—"अब तुम जाकर सोओ, मैं बैठूँगा।" मैं खुश हुआ और शयन-गृह में चला गया। पत्नी बेचारी गहरी नींद में थी। पर मैं उसे क्यों सोने देने लगा? जगाया। पाँच-सात ही मिनिट हुए होंगे कि नौकर ने दरवाजा खटकाया।

मैं चौंका! उसने कहा—'उठो, पिताजी की हालत बहुत खराब है।' बहुत खराब है, यह तो मैं जानता ही था, इसलिए 'बहुत खराब' का विशेष अर्थ समझ गया। एकबारगी बिछौने से हटकर पूछा—

"कहो तो, बात क्या है?"

"पिताजी गुजर गये!"—उत्तर मिला।

अब पश्चात्ताप किस काम का? मैं बहुत शर्मिंदा हुआ, बड़ा खेद हुआ। पिताजी के कमरे में दौड़ा गया। मैं समझा कि यदि मैं विषयान्ध न होता, तो अन्त समय तक पिताजी के पैर दबाता रहता। अब तो चाचाजी के मुँह से ही सुना, "बापू[1] तो हमें छोड़कर चले गये!" अपने जेठे भाई के परम भक्त चाचाजी उनकी अन्तिम सेवा के सौभाग्य के भागी हुए। पिताजी को अपने अवसान का खयाल पहले हो चुका था। उन्होंने इशारे से लिखने की सामग्री माँगी। कागज पर उन्होंने लिखा, 'तैयारी करो।' इतना लिखकर अपने हाथ पर बँधा तावीज तोड़ फेंका। सोने की कण्ठी पहने हुए थे, उसे भी तोड़ फेंका और एक क्षण में पखेरू उड़ गये।

पिछले प्रकरण में मैंने अपनी जिस शर्म की ओर संकेत किया था वह यही शर्म थी। सेवा के समय में भी विषयेच्छा! इस काले धब्बे को मैं आजतक न पोंछ सका, न भूल सका। और मैंने हमेशा माना है कि कि यद्यपि माता-पिता के प्रति मेरी भक्ति अपार थी, उसके लिए मैं सब-छोड़ सकता था, पर वह उस सेवा में असम्य कमी थी। इसीलिए मैंने अपने को एक पत्नी-व्रत का पालन करनेवाला मानते हुए भी विषयान्ध माना है। इससे छूटने में मुझे बहुत समय लगा है और छूटने के पहले बड़ा धर्म-संकट सहना पड़ा है।

अपनी इस दुहेरी शर्म का प्रकरण पूरा करने के पहले यह भी कह

१ काठियावाड़ में पिता को बापू कहते हैं। —अनु०

देना है कि पत्नी ने जिस बालक को जन्म दिया वह दो-चार दिन सास लेकर चलता हुआ। दूसरा क्या परिणाम हो सकता था ? इस उदाहरण को देखकर जो माँ-बाप अथवा जो दम्पति चेतना चाहें वे चेतें।

: १० :

धर्म की झलक

छ-सात साल की उम्र से लेकर १६ वर्ष तक विद्याध्ययन किया, परन्तु स्कूल में कहीं धर्म-शिक्षा न मिली। जो चीज शिक्षकों के पास से सहज ही मिलनी चाहिए, वह न मिली। फिर भी वायु-मण्डल में से तो कुछ-न-कुछ धर्म-प्रेरणा मिला ही करती थी। यहाँ धर्म का व्यापक अर्थ करना चाहिए। धर्म से मेरा अभिप्राय है आत्म-साक्षात्कार से, आत्म-ज्ञान से।

वैष्णव सम्प्रदाय में जन्म होने के कारण बारबार 'हवेली' जाना होता था। परन्तु उसके प्रति श्रद्धा न उत्पन्न हुई। हवेली का वैभव मुझे पसन्द न आया। हवेलियों में होनेवाले अनाचारों की बातें सुन-सुनकर मेरा मन उनके सम्बन्ध म उदासीन हो गया। वहाँ से मुझे कुछ धर्म-प्रेरणा न मिली।

परन्तु जो चीज मुझे हवेली से न मिली, वह अपनी दाई के पास से मिली। वह हमारे कुटुम्ब में पुरानी नौकरानी थी। उसका प्रेम मुझे आज भी याद आता है। मैं पहले कह चुका हूँ कि मैं भूत-प्रेत से डरा करता था। रम्भा ने मुझे बताया कि इसकी दवा 'राम-नाम' है। राम-नाम की अपेक्षा रम्भा पर मेरी अधिक श्रद्धा थी। इसलिए बचपन में मैंने भूत प्रेतादि से बचने के लिए राम-नाम का जप शुरू किया। यह सिल-सिला यों बहुत दिन तक जारी न रहा; परन्तु बचपन में जो बीजारोपण हुआ वह व्यर्थ न गया। राम-नाम जो आज मेरे लिए अमोघ-शक्ति हो गया है, उसका कारण वह रम्भाबाई का बोया हुआ बीज ही है।

मेरे चचेरे भाई रामायण के भक्त थे। इसी अर्से में उन्होंने हम दो भाइयों को 'राम-रक्षा' का पाठ सिखाने का प्रबन्ध किया। हमने उसे

मुखाग्र करके प्रातःकाल स्नान के बाद पाठ करने का नियम बनाया। जबतक पोरबन्दर में रहे, तबतक तो निभता रहा। राजकोट के वातावरण में उसमें शिथिलता आगई। इस क्रिया पर भी कोई खास श्रद्धा न थी। दो कारणों से 'राम-रक्षा' का पाठ करता था। एक तो मैं बड़े भाई को आदर की दृष्टि से देखता था, दूसरे मुझे गर्व था कि मैं 'राम-रक्षा' का पाठ शुद्ध उच्चारण-सहित करता हूँ।

परन्तु जिस चीज ने मेरे दिल पर गहरा असर डाला, वह तो थी रामायण का परायण। पिताजी की बीमारी का बहुतेरा समय पोरबन्दर में गया। वहाँ वह रामजी के मन्दिर में रोज रात को रामायण सुनते। कथा कहनेवाले थे रामचन्द्रजी के परम-भक्त बीलेश्वर के लाधा महाराज। उनके सम्बन्ध में यह आख्यायिका प्रसिद्ध थी कि उन्हें कोढ़ होगया था। उन्होंने कुछ दवा न की—सिर्फ बीलेश्वर महादेव पर चढ़े हुए बिल्व पत्रों को कोढ़ वाले अंगों पर बाँधते रहे, और राम-नाम का जप करते रहे, अन्त में उनका कोढ़ समूल नष्ट होगया। यह बात चाहे सच हो या झूठ, हम सुननेवालों ने तो सच ही मानी। हाँ, यह जरूर सच है कि लाधा महाराज ने जब कथा आरम्भ की थी, तब उनका शरीर बिल्कुल नीरोग था। लाधा महाराज का स्वर मधुर था। वह दोहा-चौपाई गाते और अर्थ समझाते। खुद उसमें लीन हो जाते और श्रोताओं को भी लीन कर देते। मेरी अवस्था इस समय कोई १३ साल की होगी, पर मुझे याद है कि उनकी कथा में मेरा बड़ा मन लगता था। रामायण पर जो मेरा अत्यन्त प्रेम है, उसका पाया यही रामायण-श्रवण है। आज मैं तुलसीदास की रामायण को भक्ति-मार्ग का सर्वोत्तम ग्रन्थ मानता हूँ।

कुछ महीने बाद हम राजकोट आये। वहाँ ऐसी कथा न होती थी। हाँ, एकादशी को भागवत अलबत्ता पढ़ी जाती थी। कभी-कभी मैं वहाँ जाकर बैठता; परन्तु कथा-पण्डित उसे रोचक न बना पाते थे। आज मैं समझता हूँ कि भागवत ऐसा ग्रन्थ है कि जिसे पढ़कर धर्म-रस उत्पन्न किया जा सकता है। मैंने उसका गुजराती अनुवाद बड़े चाव-भाव से पढ़ा है। परन्तु मेरे इक्कीस दिन के उपवास में जब भारत-भूषण पण्डित मदन

मोहन मालवीयजी के श्रीमुख से मूल संस्कृत के कितने ही अंश सुने तब मुझे ऐसा लगा कि बचपन में यदि उनके सदृश भगवद्भक्त के मुंह से भागवत सुनी होती, तो बचपन में ही मेरी गाढ़-प्रीति उसपर जम जाती। मैं अच्छी तरह इस बात को अनुभव कर रहा हूँ कि बचपन में पड़े शुभ-अशुभ संस्कार बड़े गहरे हो जाते हैं और इसीलिए यह बात अब मुझे बहुत खल रही है कि लड़कपन में कितने ही अच्छे ग्रन्थों का श्रवण-पठन न हो पाया।

राजकोट में मुझे सब सम्प्रदायों के प्रति समानभाव रखने की शिक्षा अनायास मिली। हिन्दू-धर्म के प्रत्येक सम्प्रदाय के प्रति आदर-भाव रखना सीखा, क्योंकि माता-पिता हवेली भी जाते थे, राम-मन्दिर भी जाते थे और हम भाइयों को भी ले जाते अथवा भेज देते थे।

फिर पिताजी के पास एक-न-एक जैनधर्माचार्य अवश्य आया करते। पिताजी भिक्षा देकर उनका आदर-सत्कार भी करते। वे पिताजी के साथ धर्म तथा व्यवहार-चर्चा किया करते। इसके सिवा पिताजी के मुसलमान तथा पारसी मित्र भी थे। बहुत बार वे अपने-अपने धर्म की बातें सुनाया करते और पिताजी आदर और प्रेम-भाव के साथ उनकी बातें सुनते। मैं पिताजी का 'नर्स' था, इसलिए ऐसी चर्चा के समय मैं भी प्रायः उपस्थित रहा करता। इस सारे वायुमण्डल का यह असर हुआ कि मेरे मन में सब धर्मों के प्रति समानभाव पैदा हुआ।

हाँ, ईसाई-धर्म इसमें अपवाद था। उसके प्रति तो जरा अरुचि ही उत्पन्न हो गई। इसका कारण था। उस समय हाईस्कूल के एक कोने में एक ईसाई व्याख्यान दिया करते थे। वह हिन्दू-नेताओं और हिन्दू-धर्म वालों की निन्दा किया करते। यह मुझे सहन न होता मैं। एकाध ही बार इन व्याख्यानों को सुनने के लिए खड़ा रहा हूँगा, पर फिर वहाँ खड़ा होने को जी न चाहा। इसी समय सुना कि एक प्रसिद्ध हिन्दू ईसाई हो गये हैं। गाँव में यह चर्चा फैली हुई थी कि उन्हें जब ईसाई बनाया गया तब गो-मांस खिलाया गया और शराब पिलाई गई। उनका लिबास भी बदल दिया गया और ईसाई होने के बाद वह कोट-पतलून और हैट

लगाने लगे। यह देखकर मुझे व्यथा पहुँची। 'जिस धर्म में जाने के लिए गो-मांस खाना पडता हो, शराब पीनी पडती हो और अपना पहनाव बदलना पडता हो, उसे क्या धर्म कहना चाहिए ?' मेरे मन में यह विचार उत्पन्न हुआ। फिर तो यह भी सुना कि ईसाई हो जाने पर वह महाशय अपने पूर्वजो के धर्म की, रीति रिवाज की, और देश की भर-पेट निन्दा करते फिरते है। इन सब बातो से मेरे मन में ईसाई-धर्म के प्रति अरुचि उत्पन्न हो गई।

इस प्रकार यद्यपि दूसरे धर्मों के प्रति समभाव उत्पन्न हुआ, तो भी यह नही कह सकते कि ईश्वर के प्रति मेरे मन में श्रद्धा थी। इस समय पिताजी के पुस्तक-संग्रह में से मनुस्मृति का भाषान्तर मेरे हाथ पडा। उसमें सृष्टि की उत्पत्ति आदि का वर्णन पढा। उसपर श्रद्धा न जमी। उलटे कुछ नास्तिकता आ गई। मेरे दूसरे चचेरे भाई जो अभी मौजूद है, उनकी बुद्धि पर मुझे विश्वास था। उनके सामने मैंने अपनी शकायें रक्खी। परन्तु वह मेरा समाधान न कर सके। उन्होंने उत्तर दिया— "बडे होने पर इन प्रश्नों का उत्तर तुम्हारी बुद्धि अपने-आप देने लगेगी। ऐसे-ऐसे सवाल बच्चो को न पूछने चाहिएँ।" मैं चुप हो रहा, पर मनको शान्ति न मिली। मनुस्मृति के खाद्याखाद्य-प्रकरण में तथा दूसरे प्रकरणों में भी प्रचलित प्रथा का विरोध दिखाई दिया इस शका का उत्तर भी मुझे प्राय ऊपर लिखे अनुसार ही मिला। तब यह सोचकर मन को समझा लिया कि जिस दिन बुद्धि की शक्ति बढेगी, तब अधिक पठन और मनन करूँगा और समझूँगा।

मनुस्मृति को पढकर मैं उस समय तो उससे अहिंसा की प्रेरणा न पा सका। मांसाहार की बात ऊपर आ ही चुकी है। उसे तो मनुस्मृति का भी सहारा मिल गया। यह भी जँचता था कि सांप-खटमल आदि को मारना नीति-विहित है। इस समय, मुझे याद है, मैंने धर्म समझकर खटमल इत्यादि को मारा है।

पर एक बात ने मेरे दिल पर अच्छी जड जमा ली। सृष्टि नीति के पाये पर खडी है, नीति-मात्र का समावेश सत्य में होना है। पर सत्य की

खोज तो अभी बाकी है। दिन-दिन सत्य की महिमा मेरी दृष्टि में बढ़ती गई, सत्य की व्याख्या विस्तार पाती गई और अब भी पाती जा रही है।

फिर एक नीति-विषयक छप्पय तो हृदय में अंकित हो गया। अपकार का बदला अपकार नहीं, बल्कि उपकार हो सकता है, यह बात जीवन-सूत्र बन बैठी। उसने मुझपर अपनी सत्ता जमानी शुरू की। अपकार करने वाले का भला चाहना और करना मेरे अनुराग का विषय हो चला। उसके अगणित प्रयोग किये। वह चमत्कारी छप्पय यह है—

पाणी आपने पाय, भलुं भोजन तो दीजे;
आवी नमावे शीश, दण्डवत कोडे कीजे।
आपण घासे दाम, काम महोरो नुं करीए;
आप उगारे प्राण ते तणा दुःख मा मरीए।
गुण केडे तो गुण दशगणो; मन वाचा कर्मे करी;
अवगुण केडे जे गुण करे, ते जगमा जीत्यो सही।[1]

: ११ :

विलायत की तैयारी

१८८७ ईसवी में मैट्रिक की परीक्षा पास की। बम्बई और अहमदाबाद दो परीक्षा केन्द्र थे। देश की दरिद्रता और कुटुम्ब की आर्थिक अवस्था के बहुत मामूली होने के कारण, मेरी स्थिति के काठियावाड-निवासी के लिए नजदीकी और सस्ते अहमदाबाद को पसन्द करना स्वाभाविक था। राजकोट से अहमदाबाद की मैंने यह पहली बार अकेले यात्रा की।

१. जल-फल का उपहार पेट भर भोजन दीजे।
समुद नमन के लिए-दण्डवत् प्यारे कीजे॥
कौड़ी पाकर मित्र, मुहर बदले में देना।
होवे कष्ट-सहाय, प्राण उसके हित देना॥
गुण के बदले दस गुना, गुण करना यह धर्म है।
अवगुण बदले गुण करे, सत्य-धर्म का मर्म है॥

घर के बड़े-बूढ़ों की यह इच्छा थी कि अब आगे कालेज की पढ़ाई पढ़ूं। कालेज तो बम्बई में भी था और भावनगर में भी। भावनगर में खर्च कम पड़ता था, इसलिए शामळदास कालेज में पढ़ने का निश्चय हुआ। वहाँ सब-कुछ मुझे मुश्किल दिखने लगा। अध्यापकों के व्याख्यानों में मन न लगता, न समझ ही पड़ती। उसमें अध्यापकों का दोष न था। मेरी पढ़ाई ही कच्ची थी। उस समय के शामळदास कालेज के अध्यापक तो प्रथम पंक्ति के माने जाते थे। पहला साल पूरा करके घर आया।

हमारे कुटुम्ब के पुराने मित्र और सलाहकार एक विद्वान् व्यवहार-कुशल ब्राह्मण—मावजी दवे थे। पिताजी के स्वर्गवास के बाद भी उन्होंने हमारे कुटुम्ब के साथ सम्बन्ध क़ायम रक्खा था। छुट्टियों के दिनों में वह घर आये। माताजी और बड़े भाई के साथ बातें करते हुए मेरी पढ़ाई के विषय में पूछताछ की। यह सुनकर कि मैं शामळदास कालेज में पढ़ता हूँ, उन्होंने कहा—"अब जमाना बदल गया है। तुम भाइयों में से यदि कोई कबा गाँधी की गद्दी कायम रखना चाहो तो यह बिना पढ़ाई के नहीं हो सकता। यह अभी पढ़ रहा है। इसलिए उस गद्दी को कायम रखने का भार इसपर डालना चाहिए। इसे अभी ४-५ साल बी० ए० होने में लगेंगे। इसके बाद भी ५०)–६०) की नौकरी भले ही मिले, दीवान-पद नहीं मिल सकता। फिर अगर उसके बाद मेरे लड़के की तरह वकील बनाओगे तो कुछ और साल लगेंगे, और तबतक तो दीवानगिरी के लिए कितने ही वकील तैयार हो जायँगे। आपको चाहिए कि इसे विलायत पढ़ने भेजें। केवलराम (मावजी दवे का पुत्र) कहता है कि वहाँ पढ़ाई आसान है। तीन साल में पढ़कर लौट आवेगा। खर्च भी ४-५ हजार से ज्यादा न लगेगा। देखो न, वह नया बैरिस्टर आया है। कैसे ठाट-बाट से रहता है। वह यदि चाहे तो आज दीवान बन सकता है। मेरी सलाह तो यह है कि मोहनदास को आप इसी साल विलायत भेज दें। विलायत में केवलराम के बहुतेरे मित्र हैं। वह परिचय-पत्र दे देगा तो इसे वहाँ कोई कठिनाई न होगी।"

जोशीजी ने (मावजी दवे को हम इसी नाम से पुकारा करते थे) मानो

उन्हें अपनी सलाह के मंजूर हो जाने का कुछ भी सन्देह न हो, मेरी ओर मुखातिब होकर पूछा—

"क्यो, तुम्हे विलायत जाना पसन्द है या यही पढना ?"

मेरे लिए यह 'नेकी और पूछ-पूछ' वाली मसल होगई। मै कालेज की कठिनाइयो से तग तो आ ही गया था। मैंने कहा—"विलालयत भेजें तो बहुत ही अच्छा। कालेज में जल्दी-जल्दी पास हो जाने की आशा नही मालूम होती। पर मुझे डाक्टरी के लिए क्यो नही भेजते ?"

मेरे भाई बीच में बोले—"बापू को यह पसन्द न था। तुम्हारी बात जब निकलती तो कहते हम तो वैष्णव हैं। हाड-मास नोचने का काम हम कैसे करे ? बापू तो तुमको वकील बनाना चाहते थे।"

जोशीजी ने बीच ही में हाँ मे हाँ मिलाई—"मुझे गाँधीजी की तरह डाक्टरी से नफरत नही। हमारे शास्त्रों ने इसका तिरस्कार नही किया है। परन्तु डाक्टरी पास करके तुम दीवान नही बन सकते। मैं तुमको दीवान और इससे भी बढकर देखना चाहता हूँ। तभी तुम्हारे विशाल कुटुम्ब का काम चल सकता है। जमाना दिन-दिन बदलता जाता है और मुश्किल होता जाता है इसलिए बैरिस्टर बनना ही बुद्धिमानी है।"

माताजी की ओर देखकर कहा—"आज तो मै जाता हूँ। मेरी बात पर विचार कीजिएगा। वापस आने पर मै विलायत जाने की तैयारी के समाचार सुनने की आशा रक्खूगाँ। कोई दिक्कत हो तो मुझे खबर कीजिएगा।"

जोशीजी गये। इधर मैंने हवाई किले बाँधना शुरू किये।

बडे भाई शशोपज में पड गये। रुपये का क्या इन्तजाम करे ? फिर इस उम्र में इतनी दूर कैसे भेज दें ?

माताजी भी बडी दुविधा में पड गई। दूर भेजने की बात तो उन्हे अच्छी न लगी। परन्तु शुरू में तो उन्होंने यही कहा—"हमारे कुटुम्ब में तो अब चाचाजी ही बडे बूढे है। इसलिए पहले तो उन्हीकी सलाह लेनी चाहिए। यदि वह इजाजत दे दे तो फिर सोचेगे।"

बड़े भाई को एक और विचार सूझा—"पोरबन्दर राज्य पर हमारा

हक है। लैली साहब ऐडमिनिस्ट्रेटर है। हमारे परिवार के सम्बन्ध में उनका अच्छा मत है। चाचाजी पर उनकी खास मेहरबानी है। शायद वह राज्य की ओर से तुम्हारी थोडी-बहुत मदद भी कर दें।"

मुझे यह सब पसन्द आया। मैं पोरबन्दर जाने के लिए तैयार हुआ। उस समय रेल न थी। बैल-गाडियाँ चलती थी। ५ दिन का रास्ता था। मैं डरपोक था, यह तो ऊपर कह चुका हूँ। पर इस समय मेरा डर न जाने कहाँ चला गया। विलायत जाने की धुन सवार हुई। मैंने धोराजी तक की गाडी की। धोराजी से एक दिन पहले पहुँचने के इरादे से ऊँट किया। ऊँट की सवारी का यह पहला अनुभव था।

पोरबन्दर पहुँचा। चाचाजी को साष्टांग प्रणाम किया। सारा किस्सा उनसे कहा। उन्होंने विचार करके उत्तर दिया—

"विलायत जाकर अपना धर्म कायम रख सकोगे कि नही, यह मैं नही जानता। सारी बाते सुनकर तो मुझे सन्देह ही होता है। देखो न, बडे-बडे बैरिस्टरो से मिलने का मुझे मौका मिलता है। मैं देखता हूँ कि उनकी और साहब लोगों की रहन-सहन में कोई फर्क नहीं। उन्हें खान-पान का कोई परहेज नही होता। सिगार तो मुँह से अलग ही नहीं होती। पहनाव भी देखो तो नगा। यह सब अपने कुटुम्ब को शोभा नहीं देगा। पर मैं तुम्हारे साहस में विघ्न डालना नहीं चाहता। मैं थोडे ही दिनों में तीर्थयात्रा को जानेवाला हूँ। मेरी जिन्दगी के अब थोडे ही दिन बाकी हैं। सो मैं, जोकि जिन्दगी के किनारे तक पहुँच गया हूँ, तुम्हें विलायत जाने की, समुद्र-यात्रा करने की इजाजत कैसे दूं? पर मैं तुम्हारा रास्ता न रोकूँगा। असली इजाजत तो तुम्हारी माताजी की है। अगर वह तुम्हें इजाजत दे दें तो तुम शौक से जाओ। उनसे कहना कि मैं तुम्हें न रोकूँगा। मेरी आशीष तो तुम्हें है ही।"

"इससे ज्यादा की आशा मैं आपसे नहीं कर सकता। अब मुझे माताजी को राजी कर लेना है। परन्तु लैली साहब के नाम आप चिट्ठी तो देंगे न?" मैंने कहा।

चाचाजी बोले, "वह तो मुझसे कैसे हो सकता है? पर साहब भले

आदमी है। तुम चिट्ठी लिखो। अपने कुटुम्ब की याद दिलाना तो वह जरूर मिलने का समय देंगे, और उन्हें जचा तो मदद भी कर देंगे।"

मुझे खयाल नही आता कि चाचाजी ने साहब के नाम चिट्ठी क्यो न दी ? पर कुछ-कुछ ऐसा अनुमान होता है कि विलायत जाने के धर्म-विरुद्ध कार्य में इतनी सीधी मदद देते हुए उन्हें सकोच हुआ होगा।

मैंने लैली साहब को चिट्ठी लिखी। उन्होने अपने रहने के वगले पर मुझे बुलाया। वगले के जीने पर चढते-चढते साहब मुझसे मिले और यह कहते हुए ऊपर चढ गये कि—"पहले बी० ए० हो लो, फिर मुझसे मिलो, अभी कुछ मदद नही हो सकती।" मै वहुत तैयारी करके, वहुतेरे वाक्यो को रटकर, गया था। वहुत झुककर दोनो हाथो से सलाम किया था, पर मेरी सारी मिहनत फिजूल गई।

अव मेरी नजर अपनी पत्नी के गहनो पर गई। वडे भाई पर मेरी अपार श्रद्धा थी। उनकी उदारता की सीमा न थी। उनका प्रेम पिता की तरह था।

मै पोरवन्दर से विदा हुआ और राजकोट आकर सव वाते सुनाई। जोशीजी से सलाह-मशवरा किया। उन्होने कर्ज करके भी विलायत भेजने की सलाह दी। मैंने सुझाया कि पत्नी के गहने वेच डाले जायँ। गहनो से २-३ हजार से ज्यादा रकम मिलने की आशा न थी। किन्तु भाई साहव ने जिस तरह हो, रुपये का इन्तजाम करने का वीडा उठाया।

पर माताजी क्योकर मानती ? उन्होने विलायत के जीवन के सम्वन्ध में पूछ-ताछ शुरु की। किसीने कहा, नवयुवक विलायत जाकर विगड जाते है। कोई कहता था, वे माँस खाने लग जाते है। किसी ने कहा, वहाँ शराव पिये विना नही चलता। माताजी ने यह सव मुझ-से कहा। मैंने समझाया कि तुम मुझपर विश्वास रक्खो, मै विश्वासघात न करूँगा। मै कसम खाकर कहता हूँ कि मैं, इनमें तीनो वातो से वचूँगा। और अगर ऐसी जोखिम की ही वात होती तो जोशीजी क्यो जाने की सलाह देते ?

माताजी बोली—"मुझे तेरा विश्वास है। पर दूर देश में तेरा कैसे क्या होगा? मेरी तो अकल काम नही करती। मैं बेचरजी स्वामी से पूछूंगी।" बेचरजी स्वामी मोढ वनिये से जैन साधु हुए थे। जोशीजी की तरह हमारे सलाहकार भी थे। उन्होंने मेरी मदद की। उन्होंने कहा कि मै इससे तीनो बातो की प्रतिज्ञा लिवा लूंगा। फिर जाने देने में कोई हर्ज नही। तदनुसार मैंने मांस, मदिरा और स्त्री-सग से दूर रहने की प्रतिज्ञा ली। तब माताजी ने इजाज़त देदी।

मेरे विलायत जाने के उपलक्ष्य में हाई स्कूल में विद्यार्थियों का सम्मेलन हुआ। राजकोट का एक युवक विलायत जा रहा है, इसपर सबको आश्चर्य ही हो रहा था। अपनी विदाई के जवाब में मै कुछ लिखकर ले गया था। पर मै उसे मुश्किल से पढ सका। सिर घूम रहा था, बदन कांप रहा था, इतना मुझे याद है।

बडे-बूढो के आशीर्वाद प्राप्त कर मै बम्बई रवाना हुआ। बम्बई की मेरी यह पहली यात्रा थी, इसलिए बडे भाई साथ आये।

परन्तु अच्छे काम मे सैकडो विघ्न आते है। बम्बई का बन्दर छूटना आसान न था।

: १२ :

जाति-बहिष्कार

माताजी की आज्ञा और आशीर्वाद प्राप्त कर, कुछ महीने का बच्चा पत्नी के साथ छोडकर, मै उमग और उत्कण्ठा के साथ बम्बई पहुँचा। पहुँच तो गया, पर वहाँ मित्रो ने भाई से कहा कि जून-जुलाई में हिन्द महासागर में तूफान रहता है। यह पहली बार समुद्र यात्रा कर रहे है, इसलिए दिवाली बाद अर्थात् नवम्बर मे इनको भेजना चाहिए। इतने ही में किसीने तूफान में किसी जहाज के डूब जाने की बात भी कह डाली। इससे बड़े भाई चिन्तित होगये। उन्होंने मुझे ऐसी जोखिम उठाकर उसी समय भेजने से इन्कार कर दिया, और वहीं अपने एक

मित्र के यहाँ छोडकर खुद अपनी नौकरी पर राजकोट चले गये। अपने एक बहनोई के पास रुपये-पैसे रख गये और कुछ मित्रो मे मेरी मदद करने को भी कहते गये।

बम्बई मे मेरे दिन मुश्किल से कटने लगे। मुझे दिन-रात विलायत के ही सपने आते।

इसी बीच हमारी जाति में खलबली मची। पचायत इकट्ठी हुई। मोढ वनियो में अबतक कोई विलायत नही गया था और उन लोगो का कहना था कि यदि मैं ऐसा साहस करता हूँ तो मुझसे जवाब तलब होना चाहिए। मुझे जाति की पचायत मे हाजिर होने का हुक्म हुआ। मैं गया। ईश्वर जाने मुझे एकाएक यह हिम्मत कहाँ से आई। वहाँ जाते हुए न सकोच हुआ, न डर। जाति के मुखिया के साथ दूर का कुछ रिश्ता भी था, पिताजी के साथ उनका अच्छा सम्बन्ध भी था। उन्होने मुझसे कहा—

"पचो का यह मत है कि तुम्हारा विलायत जाने का विचार ठीक नही है। अपने धर्म में समुद्र-यात्रा मना है। फिर हमने सुना है कि विलायत मे धर्म का पालन नही हो सकता। वहाँ अंग्रेजो के साथ खाना-पीना पडता है।"

मैंने उत्तर दिया, "मैं तो समझता हूँ, विलायत जाना किसी तरह अधर्म नही। मुझे तो वहाँ जाकर सिर्फ विद्याध्ययन ही करना है। फिर जिन वातो का भय आपको है उनसे दूर रहने की प्रतिज्ञा मैंने माताजी के सामने लेली है और मैं उनसे दूर रह सकूँगा।"

"पर हम तुमसे कहते है कि वहाँ धर्म कायम नही रह सकता। तुम जानते हो कि तुम्हारे पिताजी के साथ मेरा कैसा सम्बन्ध था, तुम्हें मेरा कहना मान लेना चाहिए।" मुखिया बोले।

"जी,—आपका सम्बन्ध मुझे याद है। आप मेरे लिए पिता के समान हैं। परन्तु इस बात मे मैं लाचार हूँ। विलायत जाने का निश्चय मैं नही पलट सकता। मेरे पिताजी के मित्र और सलाहकार, जोकि एक विद्वान् ब्राह्मण है, मानते है कि मेरे विलायत जाने मे कोई बुराई

नही। माताजी और भाई साहब ने भी इजाज़त देदी है।" मैंने उत्तर दिया।

"पर पंचो का हुक्म तुम नही मानोगे ?"

"मैं लाचार हूँ, मैं समझता हूँ पंचो को इस मामले में न पडना चाहिए।"

इस जवाब से उस मुखिया को गुस्सा आगया। मुझे दो-चार भली-बुरी सुनाईं। मैं चुप बैठा रहा। उन्होंने हुक्म दिया—

"यह आज से जात बाहर समझे जावे। जो इनकी मदद करेगा अथवा पहुँचाने जायगा वह जाति का गुनहगार होगा और उससे सवा रुपया जुर्माना लिया जावेगा।"

इस प्रस्ताव का मेरे दिल पर कुछ असर न हुआ। मैंने मुखिया से विदा माँगी। अब मुझे यह सोचना था कि प्रस्ताव का असर भाई साहब पर क्या होगा। वह कही डगमगा तो नही जायँगे ? पर सौभाग्य से वह अटल रहे और मुझे उत्तर में लिखा कि जाति में इस प्रस्ताव के होते हुए भी मैं तुमको विलायत जाने से नही रोकूँगा।

इस घटना के बाद मैं अधिक चिन्तातुर हुआ। भाई साहब पर दबाव डाला गया तो ? अथवा कोई और विघ्न खडा हो गया तो ? इस तरह चिन्ता से मैं दिन बिता रहा था कि इतने में खबर मिली कि ४ सितम्बर को छूटने वाले जहाज़ में जूनागढ के एक वकील बैरिस्टर बनने के लिए विलायत जा रहे हैं। मैं भाई साहब के उन मित्रों से मिला, जिनसे वह मेरे लिए कह गये थे। उन्होंने सलाह दी कि इस साथ को नहीं छोडना चाहिए। समय बहुत थोडा था। भाईसाहब से तार द्वारा आज्ञा माँगी। उन्होंने देदी। मैंने बहनोई साहब से रुपये माँगे। उन्होंने पंचों की आज्ञा का ज़िक्र किया। जाति बाहर रहना उन्हे मंज़ूर न हो सकता था। तब अपने कुटुम्ब के एक मित्र के पास मैं पहुँचा, और किराये वगैरा के लिए आवश्यक रकम मुझे देने और फिर भाई साहब से वसूल कर लेने का अनुरोध मैंने किया। उन्होंने न केवल इस बात को स्वीकार ही किया बल्कि मुझे हिम्मत भी बँधाई। मैंने उनका अहसान मानकर रुपये लिये और टिकिट खरीदा।

विलायत-यात्रा का सारा सामान तैयार करना था। एक दूसरे अनुभवी मित्र ने साज-सामान तैयार करवाया। मुझे वह सब बड़ा विचित्र मालूम हुआ। कुछ बातें अच्छी लगी, कुछ नही। नेकटाई तो बिलकुल अच्छी न लगी—हालांकि आगे जाकर मैं उसे बड़े शौक से पहनने लगा था। छोटा-सा जाकेट नंगा पहनावा मालूम हुआ। परन्तु विलायत जाने की धुन में इस नापसन्दी के लिए जगह नही थी। साथ मे खाने का सामान भी काफी बाँध लिया था।

मेरे लिए स्थान भी मित्रो ने त्र्यम्बकराय मजमुदार (जूनागढवाले वकील) की कैबिन में रिजर्व कराया। उनसे मेरे लिए उन्होने कह भी दिया। वह तो थे अधेड, अनुभवी आदमी। मैं ठहरा अठारह बरस का नौजवान, दुनिया के अनुभवो से बेखबर। मजमुदार ने मित्रो को मेरी तरफ से निश्चिन्त रहने का आश्वासन दिया।

इस तरह ४ सितम्बर १८८८ ई० को मैंने बम्बई बन्दर छोड़ा।

: १३ :

आखिर विलायत में

जहाज में समुद्र से मुझे कोई तकलीफ न हुई। पर ज्यो-ज्यो दिन जाते, मैं असमञ्जस में पड़ता चला। स्टुअर्ट के साथ बोलते हुआ झेंपता। अंग्रेजी मे बातचीत करने की आदत न थी। मजमुदार को छोड़-कर बाकी सब यात्री अंग्रेज थे। उनके सामने बोलते न बनता था। वे मुझसे बोलने की चेष्टा करते तो उनकी बाते मेरी समझ में न आती और यदि समझ भी लेता तो यह औसान नही रहता कि जवाब क्या दूं। हर वाक्य बोलने के पहले मन में जमाना पड़ता था। छुरी-काँटे से खाना जानता न था। और यह पूछने की भी जुर्रत न होती कि इसमें बिना मांस की चीजें क्या-क्या हैं? इस कारण मैं भोजन की मेज पर तो कभी गया ही नही। कैबिन—कमरे—में ही खा लेता। अपने साथ मिठाइयाँ वगैरा ले रक्खी थीं—प्रधानत उन्हींपर गुजर करता रहा। मजमुदार

को तो किसी प्रकार का सकोच न था। वह सबके साथ हिल-मिल गये। डेक पर भी जहाँ जी चाहे घूमते फिरते। मै सारा दिन कैबिन में घुसा रहता। डेक पर जब लोगो की भीड कम देखता, तब कही जाकर वहाँ बैठ जाता। मजमुदार मुझे समझाते कि सबके साथ मिला-जुला करो और कहते—वकील जबादराज होना चाहिए। वकील की हैसियत से अपना अनुभव भी सुनाते। कहते—'अंग्रेजी हमारी मातृ-भाषा नही, इसलिए बोलने में भूलें होना स्वाभाविक है। फिर भी बोलने का रूस तो करना ही चाहिए, आदि। परन्तु मेरे लिए अपना दब्बूपन छोडना भारी पडता था।

मुझपर तरस खाकर एक भले अँग्रेज ने मुझसे बातचीत करना शुरू कर दिया, वह मुझसे बडे थे। मैं क्या खाता हूँ, कौन हूँ, कहाँ जा रहा हूँ, क्यो किसीके साथ बात-चीत नही करता, इत्यादि सवाल पूछते। मुझे खाने के लिए मेजपर जाने की प्रेरणा करते। मास न खाने के मेरे आग्रह की बात सुनकर एक रोज हँसे और मुझपर दया प्रदर्शित करते हुए बोले—"यहाँ तो (पोर्टसईद पहुँचे तक) सब ठीक-ठीक है, परन्तु बिस्के के उपसागर में पहुँचने पर तुम्हे अपने विचार बदलने पडेंगे। इग्लैण्ड में तो इतना जाडा पडता है कि मास बिना काम चल ही नही सकता।"

मैंने कहा—"मैंने तो सुना है कि वहाँ लोग बिना मासाहार किये रह सकते है।"

उन्होंने कहा—"यह झूठ है। मेरी जान-पहचानवालो में कोई आदमी ऐसा नही है, जो मास न खाता हो। मै शराब पीने के लिए तुमसे नही कहता, पर मैं समझता हूँ, मास तो तुम्हें अवश्य खाना चाहिए।"

मैंने कहा—"आपकी सलाह के लिए मै आपका आभारी हूँ। पर मैंने अपनी माताजी को वचन दिया है कि मैं मास न खाऊँगा। यदि उसके बिना न रह सकते हो तो मै फिर हिन्दुस्तान को लौट जाऊँगा, पर मास हरगिज न खाऊँगा।"

विस्के का उपसागर आया। वहाँ भी मुझे न तो मास की आवश्यकता मालूम हुई, न मदिरा की ही। घर पर मुझसे कहा गया था कि माँस न खाने के प्रमाण-पत्र सग्रह करते रहना। सो मैंने इन अंग्रेज मित्र से प्रमाणपत्र माँगा। उन्होंने खुशी से दे दिया। बहुत समय तक मैंने उसे धन की तरह सम्हालकर रक्खा। पीछे जाकर मुझे पता चला कि प्रमाण-पत्र तो माँस खाकर भी प्राप्त किये जा सकते है। तब उससे मेरा दिल हट गया। मैंने कहा—यदि मेरी बात पर किसीको विश्वास न हो तो ऐसे मामलो में प्रमाण-पत्र दिखाने से भी मुझे क्या लाभ हो सकता है?

किसी तरह दु ख-सुख उठा, हमारी यात्रा पूरी हुई और साउदेम्पटन बन्दर पर हमारे जहाज ने लगर डाला। मुझे याद पडता है, उस दिन शनिवार था। मैं हजाज पर काले कपडे पहनता था। मित्रो ने मेरे लिए सफेद फलालैन के कोट-पतलून भी बना दिये थे। विलायत में उतरने के पहले मैंने उन्हे धारण किया। यह समझकर कि सफेद कपडे ज्यादा अच्छे मालूम होते हैं, इस लिबास में मैं जहाज से उतरा। सितम्बर के अन्तिम दिन थे। ऐसे लिबास मे मैंने सिर्फ अपने ही को वहाँ पाया। मेरे सन्दूक और उनकी तालियाँ ले गये थे ग्रिण्डले कम्पनी के गुमाश्ते लोग। जैसा और लोग करते है, ऐसा ही मुझे भी करना चाहिए, यह समझकर मैंने तो अपनी तालियाँ भी उन्हे दे दी थी।

मेरे पास चार परिचय-पत्र थे—एक डाक्टर प्राणजीवन मेहता के नाम, दूसरा दलपतराम शुक्ल के नाम, तीसरा प्रिन्स रणजीतसिंहजी के नाम, और चौथा दादाभाई नौरोजी के नाम। मैंने साउदेम्पटन से डाक्टर मेहता को तार कर दिया था। जहाज में किसीने सलाह दी थी कि विक्टोरिया होटल मे ठहरना ठीक होगा, इसलिए मजमुदार और मैं वहाँ गये। मैं तो अपने सफेद कपडो की शर्म मे ही बुरी तरह झेंप रहा था। फिर होटल मे जाकर खबर लगी कि कल रविवार होने के कारण सोमवार तक ग्रिण्डले के यहाँ से सामान न आ पावेगा। इससे मैं बडी दुविधा मे पड गया।

सात-आठ बजे डॉक्टर मेहता आये। उन्होंने प्रेम-भाव से मेरा खूब

मजाक उड़ाया। मैंने अनजान में उनकी रेशमी रोएँवाली टोपी देखने के लिए उठाई और उसपर उल्टी तरह हाथ फेरने लगा। टोपी के रोएँ उठ खड़े हुए। यह डॉक्टर मेहता ने देखा। मुझे तुरन्त रोक दिया, पर क़ुसूर तो हो चुका था। उनकी रोक का फल इतना ही हो पाया कि मैं समझ गया; आगे फिर ऐसी हरकत न होनी चाहिए।

यहाँ से यूरोपियन रस्म-रिवाज का पहला पाठ पढ़ना मैंने शुरू किया। डॉक्टर मेहता हँसते जाते और बहुतेरी बातें समझाते जाते। "किसी की चीज़ को यहाँ छूना न चाहिए। हिन्दुस्तान में परिचय होते ही जो बातें सहज पूछी जा सकती हैं, वे यहाँ न पूछनी चाहिएं। बातें ज़ोर-ज़ोर से न करनी चाहिएँ। हिन्दुस्तान में साहबों के साथ बातें करते हुए 'सर' कहने का जो रिवाज है वह यहाँ अनावश्यक है। 'सर' तो नौकर अपने मालिक को अथवा अपने अफ़सर को कहता है" फिर उन्होंने यह भी कहा कि "होटल में तो खर्चा ज्यादा पड़ेगा, इसलिए किसी कुटुम्ब के साथ रहना ठीक होगा।" इस सम्बन्ध में विचार सोमवार तक मुल्तवी रहा। और भी कितनी ही बातें बताकर डॉक्टर मेहता विदा हुए।

होटल में तो हम दोनों को ऐसा मालूम हुआ मानो कहाँ आ घुसे हों। खर्च भी बहुत पड़ता था। माल्टा से एक सिंधी यात्री सवार हुए थे। मजमुदार की उनके साथ अच्छी जान-पहचान हो गई थी। वह सिंधी यात्री लन्दन के जानकार थे। उन्होंने हमारे लिए दो कमरे ले लेने का जिम्मा अपनी तरफ़ लिया। हम दोनों रजामन्द हुए और सोमवार को ज्योंही सामान मिला, होटल का बिल चुकाकर उन कमरों में दाखिल हुए। मुझे याद है कि होटल का खर्चा लगभग ३ पौंड मेरे हिस्से में आया था। मैं तो भौंचक रह गया। तीन पौंड देकर भी भूखा ही रहा। वहाँ की कोई चीज अच्छी नहीं लगी। एक चीज उठाई, वह न भाई। तब दूसरी ली। पर दाम तो दोनों का देना पड़ता था। मैं अभी तक प्राय. बम्बई से लाये खाद्य-पदार्थों पर ही गुजारा करता रहा।

उस कमरे में तो मैं बड़ा दुखी हुआ। देश खूब याद आने लगा। माता का प्रेम साक्षात् सामने दिखाई पड़ता। रात होते ही रुलाई शुरू

होती। घर की तरह-तरह की बातें याद आती। उस तूफान में नींद भला क्यो आने लगी ? फिर उस दु ख की बात किसीसे कह भी तो नही सकता था। कहने से लाभ ही क्या था ? मैं खुद न जानता था कि मुझे किस इलाज से साहस मिलेगा। लोग निराले, रहन-सहन निराली, मकान भी निराले, और घरो मे रहने का तौर-तरीका भी निराला। फिर यह भी अच्छी तरह नही मालूम कि किस बात के बोल देने से अथवा क्या करने से यहांके शिष्टाचार का अथवा नियम का भग होता है। इसके अलावा खान-पान का परहेज अलग, और जिन चीजो को मैं खा सकता था, वे रूखी-सूखी मालूम होती थी। इस कारण मेरी हालत सांप-छछूंदर जैसी हो गई। विलायत में अच्छा नही लगता था और देश को भी वापस नही लौट सकता था। फिर विलायत आ जाने के बाद तो तीन साल पूरा करके ही लौटने का निश्चय था।

: १४ :

मेरी पसन्दगी

डाक्टर मेहता सोमवार को विक्टोरिया होटल मे मुझसे मिलने गये। वहाँ उन्हें हमारे नये मकान का पता लगा। वह वहाँ आये। मेरी बेवकूफी से जहाज में मुझे दाद हो गई थी। जहाज में खारे पानी से नहाना पडता। उसमें साबुन घुलता नही। इधर मैं साबुन से नहाने में सभ्यता समझता था। इसलिए शरीर साफ होने के बदले उलटा चिकना हो गया और मुझे दाद पैदा हो गई। डाक्टर ने तेजाब-सा एसिटिक-एसिड दिया, जिसने मुझे खूब सताया। डाक्टर मेहता हमारे कमरे आदि को देखकर सिर धुनने लगे—"यह मकान काम का नही। इस देश मे आकर महज पुस्तकें पढने की अपेक्षा यहाँ का अनुभव प्राप्त करना ज्यादा जरूरी है। इसके लिए किसी कुटुम्ब में रहने की जरूरत है। पर फिलहाल कुछ बातें सीखने के लिए बतौर उम्मीदवार' ''''के यहाँ रहना ठीक होगा। मैं तुमको उनके यहाँ ले चलूँगा।"

मैंने सधन्यवाद उनकी बात मान ली। उन मित्र के यहाँ गया। उन्होंने मेरी खातिर-तवज्जो में किसी बात की कसर न रक्खी। मुझे अपने भाई की तरह रक्खा, अंग्रेजी रस्म-रिवाज सिखाये। अंग्रेजी में कुछ बात-चीत करने की टेव भी उन्होंने मुझे डाली।

पर मेरे भोजन का सवाल बड़ा विकट हो पड़ा। बिना नमक, मिर्च, मसाले के साग भाता नहीं था। मालकिन बेचारी मेरे लिए पकाती भी क्या? सुबह ओट-मील की एक किस्म की लपसी बनती, उससे कुछ पेट भर जाता, पर दोपहर को और शाम को हमेशा भूखा रहना। मित्र मांसाहार करने के लिए रोज समझाते। मैं प्रतिज्ञा का नाम लेकर चुप हो रहता। उनकी दलीलों का मुकाबला न कर सकता था। दोपहर को सिर्फ रोटी और साग तथा मुरब्बे पर गुजर करता। यही खाना शाम को भी। मैं देखता था कि रोटी के तो दो ही तीन टुकड़े ले सकते हैं, ज्यादा माँगते हुए शर्म लगती। फिर मेरा आहार भी काफी था। जठराग्नि तेज थी, और काफी आहार भी चाहती थी। दोपहर को या शाम को दूध बिलकुल नहीं मिलता था। मेरी यह हालत देखकर वह मित्र एक दिन झल्लाये और बोले—"देखो, यदि तुम मेरे सगे भाई होते तो मैं तुमको जरूर लौटा देता। निरक्षर माँ को यहाँ की हालत जाने बगैर दिये गए वचन का क्या मूल्य? इसे कौन प्रतिज्ञा कहेगा? मैं तुमसे कहता हूँ कि कानून के अनुसार भी इसे प्रतिज्ञा नहीं कह सकते। ऐसी प्रतिज्ञा के लिए बैठे रहना अन्ध-विश्वास के सिवा कुछ नहीं। और ऐसे अन्ध-विश्वासों का शिकार बने रहकर तुम इस देश से कोई बात अपने देश को नहीं ले जा सकते। तुम तो कहते हो कि मैंने मांस खाया है। मुझे तो वह भाता भी था। अब जहाँ खाने की कोई जरूरत न थी वहाँ तो खा लिया, और जहाँ खास तौर पर उसकी जरूरत है वहाँ उसका त्याग! कितने आश्चर्य की बात है!'

मैं टस से मस न हुआ।

ऐसी दलीलें रोज हुआ करतीं। छत्तीस रोगों की एक दवा 'नन्ना' ही मेरे पास थी। मित्र ज्यों-ज्यों मुझे समझाते त्यों-त्यों मेरी दृढ़ता बढ़ती।

जाती । रोज मै ईश्वर से अपनी रक्षा की याचना करता और रोज़ वह पूरी होती । मैं यह तो नही जानता था कि ईश्वर क्या चीज़ है, पर उस रम्भा की दी हुई श्रद्धा अपना काम कर रही थी ।

एक दिन मित्र ने मेरे सामने बेंथम की पुस्तक पढना शुरू की । उपयोगितावाद का विषय पढा। मै चौंका । भाषा क्लिष्ट । मैं थोडा-बहुत समझा तब उन्होंने उसका विवेचन करके समझाया । मैंने उत्तर दिया, "मुझे इससे माफी दीजिये । मै इतनी सूक्ष्म बाते नही समझ सकता । मै मानता हूँ मांस खाना उचित है, परन्तु प्रतिज्ञा के बन्धन को मै नही तोड सकता । इसके सम्बन्ध में मै वाद-विवाद भी नही करना चाहता । मै जानता हूँ कि बहस मे मैं आपसे नही जीत सकता । पर मुझे मूर्ख समझ कर, अथवा ज़िद्दी ही समझ कर, इस बात में मेरा नाम छोड दीजिए । आपके प्रेम को मैं पहचानता हूँ । मै यह भी देखता हूँ कि आप इसीलिए आग्रह करते है कि आपको मेरी हालत पर दु ख होता है । पर मै लाचार हूँ । प्रतिज्ञा किसी तरह नही टूट सकती ।"

मित्र बेचारे देखते रह गये । उन्होंने पुस्तक बन्द कर दी । "बस अब मै तुमसे इस बात पर बहस न करूगा" कहकर चुप हो रहे । मैं खुश हुआ । इसके बाद उन्होंने बहस करना छोड दिया ।

पर मेरी तरफ से उनकी चिन्ता दूर न हुई । वह सिगरेट पीते, शराब पीते । पर इसमें से एक भी बात के लिए मुझे कभी नही ललचाया । उलटा मना करते । पर उनकी सारी चिन्ता तो यह थी कि मांसाहार के बिना मैं कमजोर हो जाऊँगा और इग्लैण्ड में आज़ादी से न रह सकूँगा ।

इस तरह एक मास तक मैंने नौसिखिये के रूप में उम्मीदवारी की । उन मित्र का स्थान रिचमड में था, इससे लन्दन सप्ताह में एक-दो बार ही जाया जाता । अब डाक्टर मेहता तथा श्री दलपतराम शुक्ल ने यह विचार किया कि मुझे किसी कुटुम्ब में रहना चाहिए । श्री शुक्ल ने वेस्ट केंसिंगटन में एक एंग्लो-इंडियन का घर खोजा, और वहाँ मेरा डेरा लगा। मालकिन विधवा स्त्री थी । उससे मैंने अपने मांस-त्याग की बात कही । बुढिया ने मेरे लिए निरामिष भोजन का प्रबन्ध करना स्वीकार किया ।

मैं वहाँ रहा, पर वहां भी भूखे ही दिन बीतते। घर से मैंने मिठाइयाँ आदि मँगाईं तो थीं, पर वे अभी पहुँच नहीं पाईं थीं।। बुढ़िया के यहाँ का खाना सब बे-स्वाद लगता। बुढ़िया बार-बार पूछती, पर बेचारी करती क्या ? फिर मैं तो अभीतक ज्यों-का-त्यों झेंपू बना ही हुआ था। इससे ज्यादा माँगते हुए शरमाता। बुढ़िया के लड़कियाँ थीं। वे आग्रह करके कुछ रोटी ज्यादा परोस देतीं, पर वे बेचारी क्या जानती थीं कि मेरा पेट तो तभी भर सकता था, जब उनकी सारी रोटियाँ सफा कर जाता।

लेकिन अब मेरे पख फूटने लग गये थे। अभी पढ़ाई तो शुरू हुई भी नहीं। योंही अखबार वगैरा पढ़ने लगा था। वह हुआ शुक्लजी के बदौलत। हिन्दुस्तान में मैंने कभी अखबार नहीं पढ़ा था। परन्तु निरन्तर पढ़ने के अभ्यास से उन्हें पढ़ने का शौक लग गया। 'डेलीन्यूज', 'डेली टेलीग्राफ़' और 'पैलमेल गजट' इतने अखबारों पर नजर डाल लिया करता था। परन्तु शुरू-शुरू में इसमें एक घटे से ज्यादा न लगता था।

मैंने घूमना शुरू कर दिया। मुझे निरामिष अर्थात् अन्न के भोजन वाले भोजन-गृह की तलाश थी। मकान-मालकिन ने भी कहा था कि लन्दन शहर में ऐसे गृह हैं अवश्य। मैं १०–१२ मील रोज घूमता। किसी मामूली भोजनालय में जाकर रोटी तो पेट-भर खा लेता, पर दिल न भरता। इस तरह भटकते हुए एक दिन मैं फॅरिंगटन स्ट्रीट पहुँचा, और 'वेजिटेरियन रेस्टरां' (निरामिष भोजनालय) नाम पढ़ा। बच्चे को मनचाही चीज मिलने से जो आनन्द होता है, वही मुझे हुआ। हर्षोन्मत्त होकर मैं अदर पहुँचा ही नहीं कि दरवाजे के पास, काँच की खिड़की में, पुस्तकें बिकती हुई देखीं। उनमें मैंने सॉल्ट की 'अन्नाहार की हिमायत' नामक पुस्तक देखी। एक शिलिंग देकर खरीदी, और फिर भोजन करने बैठा। विलायत में आने के बाद यही पहला दिन था, जब मैंने पेट-भर खाना खाया। उस दिन ईश्वर ने मेरी भूख बुझाई।

सॉल्ट की पुस्तक पढ़ी। मेरे दिल पर उसकी अच्छी छाप पड़ी। यह पुस्तक पढ़ने के दिन से मैं अपनी इच्छा से, अर्थात् सोच-समझ कर अन्नाहार का कायल हुआ। माताजी के सामने की हुई प्रतिज्ञा अब मुझे

आनन्ददायक जान पड़ी। अबतक जो मैं यह मान रहा था कि सब लोग मांसाहारी हो जायँ तो अच्छा और पहले केवल सत्य की रक्षा के लिए और पीछे से प्रतिज्ञा-पालन के लिए मांसाहार से परहेज करता रहा, और भविष्य में किसी दिन आजादी से खुलेआम मांस खाकर दूसरों को मांस-भोजियों की टोली में शामिल करने का हौसला रखता था, सो अब से, उसके बजाय, खुद अन्नाहारी रहकर औरों को भी ऐसा बनाने की धुन मेरे सिर पर सवार हुई।

: १५ :

'सभ्य' वेश में

अन्नाहार पर मेरी श्रद्धा दिन-दिन बढ़ती गई। साल्ट की पुस्तक ने आहार-विषय पर अधिक पुस्तकें पढ़ने की उत्सुकता तीव्र कर दी। ऐसी जितनी पुस्तकें मुझे मिली उतनी खरीदी और पढ़ी। हावर्ड विलियम्स की 'आहार-नीति' नामक पुस्तक में भिन्न-भिन्न युग के ज्ञानियों, अवतारों, पैगम्बरों के आहार का और उससे सम्बन्ध रखनेवाले उनके विचारों का वर्णन किया गया है। पाइथागोरस, ईसामसीह इत्यादि को उसने महज अन्नाहारी साबित करने की कोशिश की है। डाक्टर मिसेज एना किंग्सफर्ड की 'उत्तम आहार की रीति' नामक पुस्तक भी चित्ताकर्षक थी। फिर आरोग्य-सम्बन्धी डा० एलिन्सन के लेख भी ठीक मददगार साबित हुए। उनमें इस पद्धति का समर्थन किया गया था कि दवा देने के बजाय केवल भोजन में फेरफार करने से रोगी कैसे अच्छे हो जाते हैं। डाक्टर एलिन्सन खुद अन्नाहारी थे और रोगियों को केवल अन्नाहार ही बताते। इन तमाम पुस्तकों के पठन का यह परिणाम हुआ कि मेरी जिन्दगी में भोजन के प्रयोगों ने महत्त्व का स्थान प्राप्त कर लिया। शुरू में, इन प्रयोगों में, आरोग्य की दृष्टि की प्रधानता थी। पीछे चल-कर धार्मिक दृष्टि सर्वोपरि होगई।

अबतक मेरे उन मित्र की चिन्ता मेरी तरफ से दूर न हुई थी। प्रेम

के वशवर्ती होकर वह यह मान बैठे थे कि यदि मैं मांसाहार न करूँगा तो कमजोर हो जाऊँगा, यही नहीं बल्कि बुद्धू बना रह जाऊँगा, क्योंकि अंग्रेज-समाज में मैं मिल-जुल न सकूँगा। उन्हें मेरे अन्नाहार-सम्बन्धी पुस्तकों के पढ़ने की खबर थी। उन्हें यह भय हुआ कि ऐसी पुस्तकों के पढ़ने से मेरा दिमाग खराब हो जायगा, प्रयोगों में मेरी जिन्दगी योंही बरबाद हो जायगी, जो मुझे करना है वह एक तरफ़ रह जायगा और मैं सनकी बनकर बैठ जाऊँगा। इस कारण उन्होंने मुझे सुधारने का आखिरी प्रयत्न किया। मुझे एक नाटक में चलने को बुलाया। वहाँ जाने के पहले उनके साथ हावर्न भोजनालय में भोजन करना था। वह भोजनालय क्या, मेरे लिए खासा एक महल था। विक्टोरिया होटल को छोड़ने के बाद ऐसे भोजनालय में जाने यह पहला अनुभव था। विक्टोरिया होटल का अनुभव तो योंही था; क्योंकि उस समय तो मैं कर्तव्य-मूढ़ था। अस्तु, सैकड़ों लोगों के बीच हम दो मित्रों ने एक मेज पर आसन जमाया। मित्र ने पहला खाना मँगाया। वह 'सूप' या शोरबा होता है। मैं दुविधा में पड़ा। मित्र से क्या पूछता? मैंने परोसनेवाले को नजदीक बुलाया।

मित्र समझ गये। चिढ़कर बोले—

"क्या मामला है?"

मैंने धीमे से संकोच के साथ कहा—

"मैं जानना चाहता हूँ कि इसमें मांस है या नहीं?"

"ऐसा जंगलीपन इस भोजनालय में नहीं चल सकता। यदि तुमको अब भी चख-चख करना हो तो बाहर जाकर किसी ऐरे-गैरे भोजनालय में खा लो और वहीं बाहर मेरी राह देखो।"

मुझे उस प्रस्ताव से बड़ी खुशी हुई, और मैं तुरन्त दूसरे भोजनालय की खोज में चला। पास ही एक अन्नाहार वाला भोजनालय था तो पर वह बंद हो गया था। अब क्या करना चाहिए? कुछ न सूझ पड़ा। अन्त को भूखा ही रहा। हम लोग नाटक देखने गये। पर मित्र ने इस घटना के बारे में एक शब्द तक न कहा। मुझे तो कुछ कहना ही क्या था?

परन्तु हमारे दरमियान यह आखिरी मित्र-युद्ध था। इससे हमारा

सम्बन्ध न तो टूटा, न उसमे कटुता ही आ पाई। मै उनके तमाम प्रयत्नो के मूल में उनके प्रेम को देख रहा था, इससे विचार और आचार की भिन्नता रहते हुए भी मेरा आदर उनके प्रति बढा, घटा रत्तीभर नही।

पर अब मेरे मन में यह आया कि मुझे उनकी भीति दूर कर देनी चाहिए। मैंने निश्चय किया कि मै अपने को जगली न कहलाने दूंगा, सभ्यो के लक्षण प्राप्त करूँगा और दूसरे उपायो से समाज में सम्मिलित होने के योग्य बनकर अपनी अन्नाहार की विचित्रता को ढक लूंगा।

मैंने 'सभ्यता' सीखने का रास्ता इख्तियार तो किया, पर वह था मेरी पहुँच के परे और बहुत सकडा। अस्तु।

मेरे कपडे थे तो विलायती, परन्तु बम्बई की काट के थे। अतएव वे अच्छे अग्रेजी-समाज में न फबेंगे इस विचार से 'आर्मी और नेवी स्टोर' में दूसरे कपडे बनवाये। उन्नीस शिलिंग की (यह दाम उस जमाने में बहुत था) 'चीमनी' टोपी लाया। इससे भी सतोष न हुआ। बाण्ड स्ट्रीट में शौकीन लोगो के कपडे सिये जाते थे। यहाँ शाम के कपडे, दस पौड पर बत्ती रखकर, बनवाये। अपने भोले और दरियादिल बडे भाई से खास तौर पर सोने की चेन बनवाकर मगवाई, जो दोनो जेबो में लटकाई जा सकती थी। बधी-बधाई तैयार टाई पहनने का रिवाज न था। इसलिए टाई बाघने की कला सीखी। देश में तो आइना सिर्फ बाल बनवाने के दिन देखते है, पर यहाँ तो बडे आइने के सामने खडे रहकर टाई ठीक-ठीक बाँधने में और बाल की पट्टियाँ और ठीक-ठीक माग निकालने में रोज दसेक मिनट बरबाद होते। फिर बाल मुलायम न थे। उन्हे ठीक-ठीक सँवारे रखने के लिए ब्रुश (यानी झाडू ही न ?) के साथ रोज लडाई होती। और टोपी देते और उतारते हाथ तो मानो माँग-सँवारे के लिए सिर पर चढे रहते और बीच-बीच में जब कभी समाज में बैठे हो तब माग पर हाथ फेरकर बालों को सँवारते रहने की एक और सभ्य क्रिया होती रहती थी, सो अलग।

परन्तु इतनी तडक-भडक काफी न थी। अकेले सभ्य लिबास पहन लेने से थोडे ही कोई सभ्य हो जाता है ? इसलिए सभ्यता की और भी

कितनी ही ऊपरी बातें मालूम करली थी। अब उनके अनुसार करना बाकी था। सभ्य पुरुष को नाचना आना चाहिए, फिर फ्रेन्च भाषा ठीक-ठीक जानना चाहिए। क्योंकि फ्रेंच एक तो इंग्लैंड के पड़ोसी फ्रान्स की भाषा थी, और दूसरे सारे यूरोप की राष्ट्र-भाषा भी थी। मुझे यूरोप-भ्रमण करने की इच्छा थी। फिर सभ्य पुरुष को व्याख्यान देने की कला में भी निपुण होना चाहिए। मैंने नाचना सीख लेने का निश्चय किया। नाचने के एक विद्यालय में भरती हुआ। एक सत्र की फीस कोई तीनेक पौण्ड दी होगी। कोई तीन सप्ताह में पाच-छ पाठ पढ़े होंगे। पर ठीक-ठीक ताल पर पाव नहीं पड़ता था। पियानो तो बजता था, पर यह न जान पड़ता था कि यह क्या कह रहा है। 'एक, दो, तीन' का क्रम चलता, पर इनके बीच का अन्तर तो वह बाजा ही दिखाता था, सो कुछ समझ न पड़ता ? तो अब ? अब तो बावाजी की लगोटी वाला किस्सा हुआ। लगोटी को चूहों से बचाने के लिए बिल्ली, और बिल्ली के लिए बकरी—इस तरह बावाजी का परिवार बढ़ा। सोचा, वायोलिन बजाना सीख लूं तो सुर और ताल का ज्ञान हो जावेगा। तीन पौंड वायोलिन खरीदने में बिगड़े और उसे सीखने के लिए भी कुछ दक्षिणा दी। व्याख्यान-कला सीखने के लिए एक और शिक्षक का घर खोजा। उसे भी एक गिन्नी भेंट की। उसकी प्रेरणा से 'स्टैण्डर्ड एलो-क्युशनिस्ट' खरीदा। पिट के भाषण से श्रीगणेश हुआ।

पर, इन बेल साहब ने मेरे कान में 'बेल' (घण्टा) बजाया। मैं जगा, सचेत हुआ।

मैंने कहा, "मुझे सारी जिन्दगी तो इंग्लैण्ड में बिताना है नहीं, लच्छेदार व्याख्यान देना सीखकर भी क्या करूंगा ? नाच-नाच कर मैं सभ्य कैसे बनूंगा ? वायोलिन तो देश में भी सीख सकता हूं। फिर मैं तो ठहरा विद्यार्थी। मुझे तो विद्या-धन बढ़ाना चाहिए, मुझे अपने पेशे के लिए आवश्यक तैयारी करनी चाहिए, अपने सद्व्यवहार के द्वारा यदि मैं सभ्य समझा जाऊं तो ठीक है, नहीं तो मुझे यह लोभ छोड़ देना चाहिए।"

इस विचार की धुन में पूर्वोक्त आशय का पत्र मैंने व्याख्यान-शिक्षक

को भेज दिया। उससे मैंने दो या तीन पाठ पढे थे। नाच-शिक्षिका को भी ऐसा ही पत्र लिख दिया। वायोलिन-शिक्षिका के यहाँ वायोलिन लेकर पहुँचा और उसे कह आया कि जो दाम मिले लेकर बेच दो। उससे कुछ मित्रता-सी हो गई थी, इसलिए उससे मैंने अपनी वेवकूफी का जिक्र भी कर दिया। नाच इत्यादि के जजाल से छूट जाने की वात उसे भी पसन्द हुई। खैर।

सभ्य बनने की मेरी यह सनक तो कोई तीन महीने चली होगी। किन्तु कपडो की तडक-भडक बरसो तक चलती रही। पर अब मैं विद्यार्थी बन गया था।

: १६ :

परिवर्त्तन

कोई यह समझे कि नाच आदि के मेरे प्रयोग मेरी उच्छृखलता के युग को सूचित करते हैं। पाठको ने देखा ही होगा कि उसमें कुछ विचार का अश था। परन्तु इस मूर्च्छा के समय मे भी कुछ अश तक मैं सावधान था। एक-एक पाई का हिसाब रखता। खर्च का अन्दाजा था। यह निश्चय कर लिया था कि १५ पौण्ड प्रति मास से अधिक खर्च न हो। मोटर (Buss) किराया और डाकखर्च भी हमेशा लिखता और सोने के पहले हमेशा हिसाब का मेल मिला लेता। यह टेव अन्ततक कायम रही; और मैंने देखा कि उसके बदौलत सार्वजनिक कार्यों में मेरे हाथ से जो लाखो रुपये खर्च हुए उनमें मैं किफायत से काम ले सका हूँ, और जितनी हलचलें मेरी देख-रेख मे चली हैं उनमें मुझे कर्ज नही करना पडा। उलटा हरेक में कुछ-न-कुछ बचत ही रही है। यदि हरेक नवयुवक अपने थोडे रुपयो का भी हिसाब चिन्ता के साथ रक्खेगा, तो उसका लाभ उसे अवश्य मिलेगा, जैसा कि मेरी इस आदत के कारण आगे चलकर मुझे और समाज दोनों को मिला। अपनी रहन-सहन पर मेरी कडी नजर थी। इसलिए मैं देख सकता था कि मुझे कितना खर्च करना चाहिए। अब मैंने खर्च आधा कर

डालने का विचार किया। हिसाब को गौर से देखा तो मालूम हुआ कि गाडी-भाडे का खर्च काफी बैठता था। फिर एक कुटुम्ब के साथ रहने के कारण कुछ-न-कुछ खर्च प्रति सप्ताह लग ही जाता। कुटुम्ब के लोगो को एक-न-एक दिन भोजन के लिए बाहर ले जाने के शिष्टाचार का पालन करना जरूरी था। फिर उनके साथ कई बार दावतो में जाना पडता और उसमें गाडी-भाडा लगता ही। मालकिन की लडकी यदि साथ हो, तो उसको अपना खर्च न देने देकर खुद ही देना उचित था। और दावत में बाहर जाने पर घर का खाना योही रक्खा रहता, उसके भी पैसे देने पडते और बाहर भी खर्च करना पडता। मैंने देखा कि यह खर्च बचाया जा सकता है, और यह भी ध्यान में आया कि लोक-लाज से जो कितना ही खर्च करना पडता है वह भी बच सकता है।

अब कुटुम्ब के साथ रहना छोडकर अलग कमरा लेकर रहने का निश्चय किया, और यह भी तय किया कि काम के अनुसार तथा अनुभव प्राप्त करने के लिए अलग-अलग मुहल्लो में घर लेने चाहिएँ। घर ऐसी जगह पसन्द किया कि जहाँ से काम के स्थान पर पैदल जा सके और गाडी-भाडा बच जाय। इससे पहले जाने के लिए एक तो गाड़ी-भाडा खरचना पडता और दूसरे घूमने जाने के लिए अलग वक्त निकालना पडता। अब ऐसी तजवीज हो गई कि जिससे काम पर जाने के साथ ही घूमना भी हो जाया करता। आठ-दस मील तो मै सहज घूम-फिर डालता। प्रधानत इसी एक आदत के कारण मैं विलायत मे शायद ही बीमार पडा होऊँ। शरीर ठीक-ठीक सुगठित हुआ। कुटुम्ब के साथ रहना छोडकर दो कमरे किराये पर लिये, एक सोने के लिये और एक बैठने के लिये। इस परिवर्त्तन को दूसरा युग कह सकते है। तीसरा परिवर्त्तन अभी आगे आने वाला है।

इस तरह आधा खर्च बचा। पर समय ? मैं जानता था कि बैरिस्टरी की परीक्षा के लिए बहुत पढने की जरूरत नही है। इसलिए मै बेफिकर था। मेरी कच्ची अग्रेजी मुझे खला करती थी। लेली साहब के शब्द 'बी० ए० होकर मेरे पास आना' मुझे चुभा करते थे। इसलिए मैंने सोचा,

बैरिस्टर होने के अतिरिक्त मुझे कुछ और अध्ययन भी करना चाहिए। आक्सफर्ड, केम्ब्रिज में पता लगाया। कितने ही मित्रो से मिला। देखा कि वहाँ जाने से खर्च बहुत पडेगा और पाठ्य-क्रम भी लम्बा है। मै तीन वर्ष से ज्यादा वहाँ रह नही सकता था। किसी मित्र ने कहा, "यदि तुम कोई कठिन परीक्षा ही देना चाहते हो तो लन्दन की प्रवेश-परीक्षा पास कर लो। उसमें परिश्रम काफी करना पडेगा और सामान्य ज्ञान भी बढ जायगा। साथ ही खर्च बिलकुल नही बढेगा।" यह बात मुझे पसन्द हुई। पर परीक्षा के विषय देखकर मेरे कान खडे हुए। लेटिन और एक दूसरी भाषा अनिवार्य थी। अब लेटिन की तैयारी कैसे हो ? एक मित्र ने सुझाया "वकील को लैटिन का बडा काम पडता है। लैटिन जानने वाले को कानून की पुस्तके समझने में सहूलियत होती है। फिर रोमन लॉ की परीक्षा में एक प्रश्न-पत्र तो केवल लैटिन भाषा का ही होता है, और लैटिन जान लेने से अंग्रेजी भाषा पर ज्यादा अधिकार हो जाता है।" इन बातो का असर मेरे दिल पर हुआ। मैंने निश्चय किया। एक खानगी मैट्रिक्युलेशन क्लास खुला था, उसमें भरती हुआ। परीक्षा हर छठे महीने होती। मुझे मुश्किल से पाँच महीने का समय था। यह काम मेरे बूते के बाहर था। किन्तु परिणाम यह हुआ कि सभ्य बनने की धुन में मैं अत्यन्त उद्यमी विद्यार्थी बन गया। टाइम-टेबिल बनाया। एक-एक मिनट बचाया। परन्तु मेरी बुद्धि और स्मरण-शक्ति ऐसी न थी कि दूसरे विषयो के उपरान्त लैटिन और फ्रेंच को भी सम्हाल सकता। परीक्षा दी, पर लैटिन में फेल हुआ। इससे दु ख तो हुआ, पर हिम्मत न हारा। इधर लैटिन का स्वाद लग गया था। सोचा कि फ्रेंच ज्यादा अच्छी हो जायगी और विज्ञान में नया विषय ले लूँगा। रसायनशास्त्र, जिसमें मै अब देखता हूँ कि खूब मन लगना चाहिए, प्रयोगो के अभाव में, मुझे अच्छा ही न लगा। देश में यह विषय मेरे पाठ्यक्रम मे रहा ही था। इसलिए लन्दन-मैट्रिक के लिए भी पहली बार इसीको पसन्द किया। इस बार 'प्रकाश और उष्णता' को लिया। यह विषय आसान समझा जाता था और मुझे भी आसान ही मालूम हुआ।

फिर परीक्षा देने की तैयारी के साथ ही रहन-सहन में और भी सादगी दाखिल करने की कोशिशें की। मुझे लगा कि अभी मेरे जीवन में इतनी सादगी नही आगई है, जो मेरे खानदान की गरीबी को शोभा दे। भाईसाहब की तगदस्ती और उदारता का खयाल आते ही मुझे बडा दु ख होता। जो १५ पौण्ड और ८ पौण्ड प्रति मास खरचते थे उन्हें तो छात्रवृत्तियाँ मिलती थी। मुझसे अधिक सादगी से रहने वालो को भी मैं देखता था। ऐसे गरीब विद्यार्थी काफी तादाद में मेरे सम्पर्क में आते थे। एक विद्यार्थी लन्दन के गरीब मुहल्ले में प्रति सप्ताह दो शिलिंग देकर एक कोठरी में रहता था, और लोकार्ट की सस्ती कोको की दूकान में दो पेनी का कोको और रोटी खाकर गुजारा करता था। उसकी प्रतिस्पर्द्धा करने की तो मेरी हिम्मत न हुई, पर इतना जरूर समझा कि मैं दो की जगह एक ही कमरे से काम चला सकता हूँ और आधी रसोई हाथ से भी पका सकता हूँ। ऐसा करने पर ४ या ५ पौण्ड मासिक पर रह सकता था। सादी रहन-सहन सम्बन्धी पुस्तकें भी पढी थी। दो कमरे छोडकर ८ शिलिंग प्रति सप्ताह का एक कमरा किराये पर लिया। एक स्टोव खरीदा, और सुबह हाथ से पकाने लगा। २० मिनट से अधिक पकाने में नही लगता था। ओट-मील की लपसी और कोको के लिए पानी उबालने में कितना समय जा सकता था? दोपहर को बाहर कही खा लिया करता। इस तरह मैं रोज एक से सवा शिलिंग में भोजन करने लगा। यह मेरा समय अधिक-से-अधिक पढाई का था। जीवन सादा हो जाने से समय ज्यादा बचने लगा। दुबारा परीक्षा दी और उत्तीर्ण हुआ।

पाठक यह न समझें कि सादगी से जीवन नीरस हो गया हो। उलटा इन परिवर्तनो से मेरी आन्तरिक और बाह्य स्थिति में एकता पैदा हुई। कौटुम्बिक स्थिति के साथ मेरी रहन-सहन का मेल मिला। जीवन अधिक सत्यमय बना। मेरे आत्मानन्द का पार न रहा।

: १७ :

भोजन के प्रयोग

जैसे-जैसे मै जीवन के विषय में गहरा विचार करता गया तैसे-तैसे बाहरी और भीतरी आचार में परिवर्त्तन करने की आवश्यकता मालूम होती गई। जिस गति से रहन-सहन में अथवा खर्च-वर्च मे परिवर्त्तन आरम्भ हुआ, उसी गति से अथवा उससे भी अधिक वेग से भोजन में परिवर्त्तन प्रारम्भ हुआ। अन्नाहार-विषय की अंग्रेजी पुस्तको में मैंने देखा कि लेखको ने बडी छान-बीन के साथ विचार किया है। अन्नाहार पर उन्होंने धार्मिक, वैज्ञानिक, व्यावहारिक और वैद्यक की दृष्टि से विचार किया था। नैतिक दृष्टि से उन्होंने यह दिखाया कि मनुष्य को जो सत्ता पशु-पक्षी पर प्राप्त हुई है वह उनको मार खाने के लिए नहीं, बल्कि उनकी रक्षा के लिए है; अथवा जिस प्रकार मनुष्य एक-दूसरे का उपयोग करता है परन्तु एक-दूसरे को खाता नहीं, उसी प्रकार पशु-पक्षी भी उपयोग के लिए है, खा डालने के लिए नहीं। फिर उन्होंने यह भी दिखाया कि खाना भी भोग के लिए नहीं, बल्कि जीने के लिए ही है। इसपर से कुछ लोगो ने भोजन में मास ही नहीं, अण्डे और दूध तक को निषिद्ध बताया। विज्ञान की तथा मनुष्य की शरीर-रचना की दृष्टि से कुछ लोगो ने यह अनुमान निकाला कि मनुष्य को खाना पकाने की बिलकुल आवश्यता नहीं। उसकी सृष्टि तो सिर्फ पेड पर पके फलो को ही खाने के लिए हुई है। दूध वह सिर्फ माता का ही पी सकता है। दाँत निकले के बाद उसे ऐसा ही खाना खाना चाहिए, जो चबाया जा सके। वैद्यक की दृष्टि से उन्होने मिर्च-मसाले को त्याज्य ठहराया और व्यावहारिक तथा आर्थिक दृष्टि से बताया कि सस्ते-से-सस्ता भोजन अन्न ही है। इन चारो दृष्टि-बिन्दुओ का असर मुझपर हुआ और अन्नाहार वाले भोजनालयो में चारो दृष्टि-बिन्दु रखनेवाले लोगो से मुलाकात

बढ़ाने लगा। विलायत में ऐसे विचार रखने वालों की एक संस्था थी। उसकी ओर से एक साप्ताहिक पत्र भी निकलता था। मैं उसका ग्राहक बना और संस्था का भी सभासद हुआ। थोड़े ही समय में मैं उसकी कमेटी में ले लिया गया। यहाँ मेरा उन लोगों से परिचय हुआ, जो अन्नाहारियों के स्तम्भ माने जाते हैं। अब मैं अपने भोजन-संबंधी प्रयोगों में उलझता गया।

घर से जो मिठाई, मसाले आदि मँगाये थे उन्हें मना कर दिया, और अब मन दूसरी ही तरफ दौड़ने लगा। इससे मिर्च-मसाले का शौक मन्द पड़ता गया और जो साग रिचमंड में मसाले बिना फीका मालूम होता था वह अब केवल उबाला हुआ होने पर भी स्वादिष्ट लगने लगा। ऐसे अनेक अनुभवों से मैंने जाना कि स्वाद का सच्चा स्थान जीभ नहीं, बल्कि मन है।

आर्थिक दृष्टि तो मेरे सामने थी ही। उस समय एक ऐसा दल भी था, जो चाय-काफी को हानिकारक मानता और कोको का समर्थन करता। केवल शरीर-व्यापार के लिए किसी चीज का खाना-पीना आवश्यक है, यह मैं समझ चुका था। इसीलिए चाय-काफी मुख्यतः छोड़ दी और कोको को उनका स्थान दिया।

भोजनालय में दो विभाग थे। एक में जितनी चीजें खाते उतने ही दाम देने पड़ते। इसमें एक बार में एक-दो शिलिंग भी खर्च हो जाते। इसमें अच्छी स्थिति के लोग आते। दूसरे विभाग में छः पेनी में तीन चीजें और रोटी का एक अंश मिलता। जब मैंने खूब किफायतशारी इख्तियार की तब ज्यादातर मैं छः पेनी वाले विभाग में भोजन करता।

इन प्रयोगों में उप-प्रयोग तो बहुतेरे हो गये। कभी स्टार्च वाली चीजें छोड़ देना। कभी सिर्फ रोटी और फल पर ही रहना। कभी पनीर, दूध और अंडे ही लेना।

यह आखिरी प्रयोग लिखने लायक है। यह पन्द्रह दिन भी न चला। जो बिना स्टार्च की चीजें खाने का समर्थन करते थे, उन्होंने अंडों की तारीफ के खूब पुल बाँधे थे और यह साबित किया था कि अंडे मांस

नहीं है। हां, इतनी बात तो थी कि जीवित अण्डे खाने से किसी प्राणी को कष्ट नहीं होता था। सो इस दलील के चक्कर में आकर अपनी प्रतिज्ञा के रहते हुए भी मैंने अण्डे खाये। पर मेरी यह मूर्च्छा थोडी ही देर ठहरी। प्रतिज्ञा का नया अर्थ करने का मुझे अधिकार न था। अर्थ तो वही ठीक है, जो प्रतिज्ञा, दिलानेवाला करे। मै जानता था कि जिस समय मां ने मास न खाने की प्रतिज्ञा दिलाई थी, उस समय उसे यह खयाल नही हो सकता था कि अण्डा मास से अलग समझा जा सकेगा। इसलिए ज्योंही प्रतिज्ञा का यह रहस्य मेरे ध्यान में आया मैंने अण्डे छोड दिये और यह प्रयोग बन्द कर दिया।

यह रहस्य सूक्ष्म और ध्यान में रखने योग्य है। विलायत मे मैंने मास की तीन व्याख्यायें पढी थी। एक में मास का अर्थ था पशु-पक्षी का मास। इसलिए इस व्याख्या के कायल लोग उसको तो न छूते, परन्तु मछली खाते और अण्डे खाने में तो कोई बुराई ही न समझते थे। दूसरी व्याख्या के अनुसार जिन्हें आमतौर पर प्राणी या जीव कहते थे उनका मास वर्जित था। इसके अनुसार मछली त्याज्य थी, परन्तु अण्डे ग्राह्य थे। तीसरी व्याख्या में आमतौर पर प्राणीमात्र और उनमें से बननेवाली चीजें निषिद्ध मानी गई थी। इस व्याख्या के अनुसार अण्डे और दूध भी छोड देना लाजिमी था। इसमें यदि पहली व्याख्या को मै मानता तो मै मछली भी खा सकता था। परन्तु मैंने अच्छी तरह समझ लिया था कि मेरे लिए तो माताजी की व्याख्या ही ठीक थी। इसलिए अण्डे छोड दिये, पर इससे कठिनाई में पड गया, क्योंकि बारीकी से जब मैंने खोज की तो पता लगा कि अन्नाहार वाले भोजनालयो में भी बहुत-सी चीजें ऐसी बना करती थी, जिनमें अण्डे पडा करते थे। फलत यह भी परोसने वाले से पूछ-ताछ करना मेरे नसीब में बदा रहा, जबतक कि मैं खूब वाकिफ न हो गया था, क्योंकि बहुतेरे पुडिंग और केक में अण्डे जरूर ही रहते है। इस कारण एक तरह से तो मैं जंजाल से छूट गया, क्योंकि फिर तो मैं बिलकुल सादी और मामूली चीजें ही ले सकता था। हां, दूसरी तरफ दिल को कुछ धक्का अलबत्ता लगा, क्योंकि ऐसी कितनी ही वस्तुयें

छोड़नी पड़ी, जिनका स्वाद जीभ को लग गया था। पर यह धक्का क्षणिक था। प्रतिज्ञा-पालन का स्वच्छ, सूक्ष्म और स्थायी स्वाद मुझे उस क्षणिक स्वाद से अधिक प्रिय मालूम हुआ।

परन्तु सच्ची परीक्षा तो अभी आगे आनेवाली थी, उसका सम्बन्ध था दूसरे व्रत से। परन्तु—

'जाको राखे साइयाँ मार सके ना कोय'

इस प्रकरण को पूरा करने के पहले प्रतिज्ञा के अर्थ के सम्बन्ध में कुछ कहना जरूरी है। मेरी प्रतिज्ञा माता से किया हुआ एक इकरार था। दुनिया में बहुतेरे झगड़े इकरारों के अर्थ की खींचातानी से पैदा होते हैं। आप चाहे कितनी ही स्पष्ट भाषा में इकरारनामा लिखिए, फिर भी अर्थ-शास्त्री उसे तोड़-मरोड़कर अपने मतलब का अर्थ निकाल ही लेंगे। इसमें सभ्यासभ्य का भेद नहीं रहता। स्वार्थ सबको अन्धा बना डालता है। राजा से लेकर रंक तक इकरारों के अर्थ अपने मन के मुआफिक लगाकर दुनिया को, अपने-आपको और ईश्वर को धोखा देते हैं। इस प्रकार जिस शब्द अथवा वाक्य का अर्थ लोग अपने मतलब का लगाते हैं उसे न्यायशास्त्र दुमानी मध्यम पद कहता है। ऐसी दशा में स्वर्ण-न्याय तो यह है कि प्रतिपक्षी ने हमारी बात का जो अर्थ समझा हो वही ठीक समझना चाहिए, हमारे मन में जो अर्थ रहा हो वह झूठा और अधूरा समझना चाहिए। और ऐसा दूसरा स्वर्ण न्याय यह है कि जहाँ दो अर्थ निकलते हों वहाँ वह अर्थ ठीक मानना चाहिए, जिसे कमजोर पक्ष ठीक समझता हो। इन दो स्वर्ण-मार्गों पर न चलने के कारण ही बहुत-कुछ झगड़े होते हैं और अधर्म हुआ करता है। और इस अन्याय की जड़ है असत्य। जो सत्य के ही रास्ते चलना चाहता है, उसे स्वर्ण-मार्ग सहज ही प्राप्त हो जाता है। शास्त्रों की पोथियाँ नहीं उलटनी पड़तीं। माता ने मांस शब्द का जो अर्थ माना था और जो मैं उस समय समझता था, वही मेरे लिए सच्चा अर्थ था। और जो अर्थ मैंने अपनी विद्वत्ता के मद में किया अथवा यह मान लिया कि अधिक अनुभव से सीखा, वह सच्चा न था।

अबतक मेरे प्रयोग आर्थिक और आरोग्य की दृष्टि से होते थे।

विलायत में उन्हे धार्मिक स्वरूप प्राप्त नही हुआ था । धार्मिक दृष्टि से तो कठोर प्रयोग दक्षिण अफ्रिका मे हुए, जिनका जिक्र आगे आयेगा । पर हाँ, यह जरूर कह सकते है कि, उनका बीजारोपण विलायत में हुआ ।

मसल मशहूर है कि 'नया मुसलमान जोर से बाँग देता है ।' अन्नाहार विलायत में एक नया धर्म ही था, और मेरे लिए वह नया था हीं । समझ-बूझकर अन्नाहार तो मैंने विलायत में ही स्वीकार किया था । इसलिए मेरी हालत 'नये मुसलमान' की-सी थी । नवीन धर्म को ग्रहण करनेवाले का उत्साह मुझमे आगया था, अतएव जिस मुहल्ले में मै रहता था वहाँ अन्नाहारी-मण्डल स्थापित करने का प्रस्ताव मैंने किया । मुहल्ले का नाम था 'बेज वाटर' । उसमे सर एडविन एर्नाल्ड रहते थे । उन्हे उपाध्यक्ष बनाने का यत्न किया और वह हो भी गये । डाक्टर ओल्डफील्ड अध्यक्ष बनाये गये, और मन्त्री बना मैं । थोडे समय तो यह सस्था कुछ चली, परन्तु कुछ महीनो के बाद उसका अन्त आगया । क्योकि अपने दस्तूर के मुताबिक उस मुहल्ले को कुछ समय के बाद मैंने छोड दिया । परन्तु, इस छोटे और थोडे समय के अनुभव से मुझे सस्थाओ की रचना और सचालन का कुछ अनुभव प्राप्त हुआ ।

: १८ :

झेंप—मेरी ढाल

अन्नाहारी-मण्डल की कार्य-समिति में चुना तो जरूर गया, उसमें हाजिर भी जरूर होता, परन्तु बोलने को मुँह ही न खुलता था । डाक्टर ओल्डफील्ड कहते—"तुम मेरे साथ तो अच्छी तरह बाते करते हो, परन्तु समिति की बैठक में कभी मुँह नही खोलते । तुम्हे 'नर-मक्खी' क्यो न कहना चाहिए ?" मै इस विनोद का भाव समझा । मक्खियाँ तो निरन्तर काम करती रहती हैं, परन्तु नर-मक्खी कुछ काम नहीं करता—हाँ, खाता-पीता अलबत्ता रहता है । समिति में और लोग तो अपने-अपने मत प्रदर्शित करते, पर मैं मुँह सीकर चुप-चाप बैठा रहूँ—यह

भद्दा मालूम होता था। यह बात नहीं कि बोलने के लिए मेरा दिल न होता, पर समझ ही नहीं पड़ता कि बोलूँ कैसे? सभी सदस्य मुझे अपने से अधिक जाननेवाले दिखाई देते। फिर ऐसा भी होता कि कोई विषय मुझे बोलने योग्य मालूम हुआ और मैं बोलने की हिम्मत करने लगता कि इतने ही में दूसरा विषय चल निकलता। बहुत दिनों तक ऐसा चलता रहा। एक बार समिति में एक गम्भीर विषय निकला। उसमें योग न देना अनुचित या अन्याय था। चुपचाप मत देकर खामोश हो रहना दब्बूपन था। मण्डल के अध्यक्ष 'टेम्स आयर्न वर्क्स' के मालिक मिस्टर हिल्स थे। वह कट्टर नीति-वादी थे। प्राय उन्हींके द्रव्य पर मण्डल चल रहा था। समिति के बहुतेरे लोग उन्हींकी छत्रछाया में निभ रहे थे। इस समिति में डाक्टर एलिन्सन भी थे। इन दिनों सन्तति-निग्रह के लिए कृत्रिम उपाय काम में लाने की हलचल चल रही थी। डा० एलिन्सन कृत्रिम उपायों के हामी थे और मजदूरों में उनका प्रचार करते थे। मि० हिल्स को ये उपाय नीति-नाशक मालूम होते थे। उनके नजदीक अन्नाहारी-मण्डल केवल भोजन-सुधार के ही लिए नहीं था, बल्कि एक नीति-वर्धक मण्डल भी था, और इस कारण उनकी यह राय थी कि डा० एलिन्सन जैसे समाज-घातक विचार रखनेवाले लोग इस मण्डल में न होने चाहिएँ। इसलिए डा० एलिन्सन को समिति से हटाने का प्रस्ताव पेश हुआ। मैं इस चर्चा में दिलचस्पी लेता था। डा० एलिन्सन के कृत्रिम उपायोंवाले विचार मुझे भयंकर मालूम हुए। उनके मुकाबिले में मि० हिल्स के विरोध को मैं शुद्ध नीति मानता था। मि० हिल्स को मैं बहुत मानता था। उनकी उदारता को मैं आदर की दृष्टि से देखता था। परन्तु एक अन्नाहार-वर्धक-मण्डल में से एक ऐसे पुरुष का निकाला जाना जो कि शुद्ध-नीति का कायल न हो, मुझे बिल्कुल अन्याय दिखाई पड़ा। मेरा मन हुआ कि स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध-विषयक हिल्स साहब के विचारों से अन्नाहारी-मण्डल के सिद्धान्त का कोई सम्बन्ध न था, वे उनके अपने विचार थे। मण्डल का उद्देश्य तो था केवल अन्नाहार का प्रचार करना, किसी नीति-नियम का प्रचार नहीं। इसलिए,

मेरा यह मत था कि दूसरे कितने ही नीति-नियमो का अनादर करने-वाले मनुष्य के लिए भी मण्डल में स्थान हो सकता है ।

यद्यपि समिति में और लोग भी मुझ जैसे विचार रखते थे, परन्तु इस बार मुझे अपने विचार प्रदर्शित करने की भीतर-ही-भीतर बडी प्रेरणा हो रही थी । मगर सबसे बडा प्रश्न यह था कि यह हो कैसे ? बोलने की मेरी हिम्मत नही थी । इसलिए मैंने अपने विचार लिखकर अध्यक्ष को दे देने का निश्चय किया । मै अपना वक्तव्य लिखकर ले गया । जहांतक मुझे याद है, उस समय लेख को पढ सुनाने का भी साहस मुझे न हुआ । अध्यक्ष ने दूसरे सदस्य से उसे पढवाया । डा० एलिन्सन का पक्ष हारा । अर्थात् इस तरह के इस पहले युद्ध में मैं हारनेवालों की तरफ था । परन्तु मुझे अपने दिल में पूरा संतोष था । मुझे कुछ ऐसा याद पडता है कि उसके बाद मैंने समिति से इस्तीफा दे दिया था ।

मेरी यह झेंप विलायत में अन्ततक कायम रही । किसीसे यदि मिलने जाता और वहाँ पाँच-सात आदमी इकट्ठे हो जाते, तो वहाँ मेरी जबान न खुलती ।

एक बार मै वेटनर गया । मजमुदार भी साथ थे । वहाँ एक अन्ना-हारी घर था, उसमे हम दोनो रहते । 'एथिक्स आफ डायट' के लेखक इसी बन्दर मे रहते थे । हम उनसे मिले । यहाँ अन्नाहार को उत्तेजन देने के लिए एक सभा हुई । उसमें हम दोनो को बोलने के लिए कहा गया । दोनो ने 'हाँ' कर लिया । मैंने यह जान लिया था कि लिखा हुआ भाषण पढने में कोई आपत्ति न थी । मै देखता था कि अपने विचारो को सिलसिलेवार और थोडे मे प्रकट करने के लिए कितने ही लोग लिखित भाषण पढते थे । मैंने अपना व्याख्यान लिख लिया । बोलने की हिम्मत नही थी, पर जब पढने खडा हुआ तो बिलकुल न पढ सका । आँखो के सामने अँधेरा छा गया और हाथ-पैर काँपने लगे । भाषण मुश्किल से फुल्सकेप का एक पन्ना रहा होगा । उसे मजमुदार ने पढ सुनाया । मजमुदार का भाषण तो बढिया हुआ, श्रोतागण करतल-ध्वनि

में उनके वचनों का स्वागत करते जाते थे। इससे मुझे बड़ी झेंप मालूम हुई और अपने बोलने की असमर्थता पर बड़ा दुःख हुआ।

विलायत में सार्वजनिक रूप मे बोलने का अन्तिम प्रयत्न मुझे तब करना पड़ा, जबकि विलायत छोड़ने का अवसर आया, परन्तु उसमें मेरी बुरी तरह फजीहत हुई। विलायत से विदा होने के पहले अपने अन्नाहारी मित्रो को 'हावर्न भोजनालय' में मैंने भोजन के लिए निमंत्रित किया था। मैंने विचार किया कि अन्नाहारी भोजनालयो में तो अन्नाहार दिया ही जाता है; परन्तु मांसाहारवाले भोजनालयो में अन्नाहार का प्रवेश हो तो अच्छा। यह सोचकर मैंने इस भोजनालय के व्यवस्थापक से खासतौर पर प्रबन्ध करके अन्नाहार की तजवीज की। यह नया प्रयोग अन्नाहारियो को बड़ा अच्छा मालूम हुआ। योतो सभी भोज भोग के ही लिए होते हैं; परन्तु पश्चिम में उसे एक कला का रूप प्राप्त होगया है। भोजन के समय खास सजावट और धूम-धाम होती है। बाजे बजते हैं और भाषण होते हैं सो अलग। इस छोटे-से भोज में भी यह सारा आडम्बर हुआ। खूब सोच-सोचकर बोलने की तैयारी करके गया था। थोड़े ही वाक्य तैयार किये थे, परन्तु पहले ही वाक्य से आगे न बढ सका। एडिसन वाली गत हुई। उनके झेंपूपन का हाल मैं पहले कहीं पढ चुका था। हाउस आफ कामन्स में वह व्याख्यान देने खड़ा हुआ। 'मेरी धारणा है', 'मेरी धारणा है', 'मेरी धारणा है'— यह तीन बार कहा, परन्तु उसके आगे न बढ सका। अंग्रेजी शब्द जिसका अर्थ धारण करना है, 'गर्भ-धारण' के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। इसलिए जब एडिसन आगे न बोल सका तब एक मसखरा सभ्य बोल उठा—'इन साहब ने तीन बार गर्भ धारण किया, पर पैदा कुछ न किया?' इस घटना को मैंने ध्यान में रख छोड़ा था, और एक छोटी-सी विनोदयुक्त वक्तृता देने का विचार किया था। मैंने अपने भाषण का श्रीगणेश इसी कहानी से किया, पर वहीं अटक गया। जो सोचा था सब भूल गया।— और विनोद तथा हास्य-युक्त भाषण करते हुए मैं खुद ही विनोद का पात्र बन गया। "सज्जनो, आपने जो मेरा निमन्त्रण स्वीकार किया

इसके लिए मैं आपका उपकार मानता हूँ।" कहकर मुझे बैठ जाना पड़ा।

यह झेंपूपन जाकर ठेठ दक्षिण अफ्रीका में छूटा। बिलकुल छूट गया हो सो तो अब भी नही कह सकते। अब भी बोलते हुए विचारना तो पडता ही है। नये समाज में बोलते हुए सकुचाता हूँ। बोलने से पीछा छूट सके तो जरूर छुडा लूँ। और यह हालत तो आज भी है कि यदि किसी समाज में बैठा होऊँ तो बाते करके उनको सतुष्ट नही कर सकता, और न ऐसा करने की इच्छा होती है।

परन्तु इस झेंपू स्वभाव के कारण मेरी फजीहत होने के अलावा और कुछ नुकसान न हुआ—कुछ फायदा ही हुआ है। बोलने के सकोच से पहले तो मुझे दुख होता था, परन्तु अब सुख होता है। बडा लाभ तो यह हुआ कि मैंने शब्दो की किफायत-शारी सीखी। अपने विचारो पर कब्जा करने की आदत सहज ही हो गई। अपनेको मैं यह प्रमाण-पत्र आसानी से दे सकता हूँ कि मेरी जबान अथवा कलम से बिना विचारे अथवा बिना तौले शायद ही कोई शब्द निकलता हो। मुझे याद नही पडता कि अपने भाषण या लेख के किसी अश के लिए शरमिन्दा होने या पछताने की आवश्यता मुझे कभी हुई हो। इसके बदौलत अनेक खतरो से मैं बच गया और बहुतेरा समय भी बच गया है—सो यह लाभ अलग है।

अनुभव ने यह भी बताया है कि सत्य के पुजारी को मौन का अवलबन करना उचित है। जान-अनजान में मनुष्य बहुत-बार अत्युक्ति करता है, अथवा कहने योग बात को छिपाता है, या दूसरी तरह से कहता है। ऐसे सकटो से बचने के लिए भी अल्पभाषी होना अवश्यक है। थोडा बोलनेवाला बिना-विचारे नही बोलता, वह अपने हरेक शब्द को तौलेगा। बहुत बार मनुष्य बोलने के लिए अधीर हो जाता है। 'मैं भी बोलना चाहता हूँ' ऐसी चिट किस सभापति को न मिली होगी ? फिर दिया हुआ समय भी उन्हे काफी नही होता, और बोलने की इजाजत चाहते हैं, एव फिर भी बिना इजाजत के बोलते रहते है। इन सबके इतने बोलने से ससार को लाभ होता हुआ तो शायद ही दिखाई देता है। हाँ, यह अलबत्ता हम स्पष्ट देख सकते है कि इतना समय व्यर्थ जा

रहा है। इसलिए यद्यपि आरम्भ में मेरा झेंपूपन मुझे अखरता था, पर आज उसका स्मरण मुझे आनन्द देता है, यह झेंपूपन मेरी ढाल था। उससे मेरे विचारो को परिपक्व होने का अवसर मिला। सत्य की आराधना में उससे मुझे सहायता मिली।

: १६ :

असत्य-रूपी जहर

चालीस साल पहले विलायत जानेवालो की सख्या अबसे कम थी। उनमें ऐसा रिवाज पड गया था कि खुद विवाहित होते हुए भी अपने को अविवाहित बताते। वहाँ हाईस्कूल अथवा कालेज में पढनेवाले सब अविवाहित होते हैं। वहाँ विवाहित के लिए विद्यार्थी-जीवन नही होता। हमारे यहाँ तो प्राचीन समय में विद्यार्थी का नाम ही ब्रह्मचारी था। बाल-विवाह की चाल तो इसी ज़माने में पडी है। बाल-विवाह का नामनिशान विलायत में नही। इस कारण वहाँ के भारतीय नवयुवको को यह शरम मालूम होती है कि हमारा विवाह हो गया है। विवाह की बात छिपाने का दूसरा मतलब यह है कि यदि यह बात मालूम हो जाय तो जिन कुटुम्बो मे वे रहते हैं उनकी युवती लडकियो के साथ घूमने-फिरने और आमोद-प्रमोद करने की स्वतन्त्रता न मिल पावेगी। यह आमोद-प्रमोद बहुताश में निर्दोष होता है और खुद माँ-बाप भी ऐसे स्नेह-सबन्ध को पसन्द करते है। वहाँ युवक और युवतियो में ऐसे सहवास की आवश्यकता भी समझी जाती है, क्योकि वहाँ तो हरेक नवयुवक को अपनी सह-धर्मचारिणी खोज लेनी पडती है। इस कारण जो सबध विलायत मे स्वाभाविक समझा जा सकता है वही यदि हिन्दुस्तान के नवयुवक वहाँ जाकर बाँधने लगें तो परिणाम भयकर हुए बिना नहीं रह सकता। ऐसे कितने ही भीषण परिणाम सुने भी गये हैं। फिर भी इस मोहिनी-माया में हमारे नवयुवक फँसे हुए थे। जो सम्बन्ध अँग्रेजो के लिए चाहे कितना निर्दोष हो, पर जो हमारे नजदीक सर्वथा त्याज्य है, उसके लिए वे असत्याचरण पसंद

करते थे। मैं भी इस जाल में फँस गया। पाँच-छः वर्ष से विवाहित होते हुए और एक लड़के का बाप होते हुए भी मैं अपने को अविवाहित कहते न हिचका। पर उस 'कुआँरेपन' का स्वाद मैं बहुत न चख पाया। मेरे झेंपूपन ने और मौन ने मुझे बहुत बचाया। भला जब मैं बात ही नहीं कर सकता था, तो कौन लड़की ऐसी फाजिल होती, जो मुझसे बात-चीत करने आती? शायद ही कोई लड़की मेरे साथ घूमने निकलती।

मैं जैसा झेंपू था, वैसे ही डरपोक था। वेंटनर में जैसे घर में रहता था वहाँ यह रिवाज था कि घर की लड़की मुझ जैसे अतिथि को साथ घूमने ले जाय। तदनुसार मुझे मकान-मालकिन की लड़की वेंटर के आस-पास की सुन्दर पहाड़ियों पर घूमने ले गई। मेरी चाल यों धीमी न थी, परन्तु उसकी चाल मुझसे भी तेज थी। मैं तो एक तरह उसके पीछे खिंचता-घसिटता जाता था। वह तो रास्ते में बातों के फव्वारे उड़ाती चलती और मेरे मुँह से सिर्फ कभी 'हाँ' और कभी 'ना' की ध्वनि निकल पड़ती। मैं बहुत-से-बहुत बोलता तो इतना ही कि—'वाह कैसा सुन्दर!' वह तो हवा की तरह उड़ती चली जाती और मैं यह सोचता कि कब घर पहुँचेंगे। फिर भी यह कहने की हिम्मत न पड़ती कि चलो वापस लौट चलें। इतने ही में हम एक पहाड़ी की चोटी पर आ खड़े हुए। अब उतरें कैसे? मगर ऊँची एड़ी के बूट होते हुए भी यह २०-२५ वर्ष की रमणी बिजली की तरह नीचे उतर गई और मैं शर्मिन्दा होकर यह सोच ही रहा हूँ कि कैसे उतरूँ! वह नीचे उतरकर कहकहा लगाती है और मुझे हिम्मत दिलाती है। कहती है—'ऊपर आकर हाथ पकड़कर नीचे खींच ले चलूँ?' मैं अपने को ऐसा बोदा कैसे साबित करता? अन्त को सम्हल-सम्हल कर पैर रखता और कहीं-कहीं बैठता हुआ नीचे उतरा। इधर वह मजाक में 'शा   बाश' कहकर मुझ शरमाये हुए को और भी शर्मिंदा करने लगी। मैं मानता हूँ कि इस तरह मजाक में शर्मिन्दा करने का उसे हक था।

परन्तु हर जगह मैं इस तरह कैसे बच सकता था? ईश्वर को मंजूर था कि असत्य का जहर मेरे अन्दर से निकल जाय। वेंटनर की तरह ब्रायटन भी समुद्रतट पर हवाखोरी का मुकाम है। वहाँ मैं एक बार

गया। जिस होटल में मैं ठहरा था, वहाँ एक मामूली दरजे की अच्छी हैसियतवाली विधवा बुढ़िया घूमने आई थी। यह मेरे पहले साल की बात है—वेटनर के पहले की घटना है। यहाँ भोज्य पदार्थों के नाम फ्रेन्च भाषा में लिखे हुए थे। मैं उन्हें नहीं समझ पाया। बुढ़िया और मैं एक ही मेजपर बैठे हुए थे। बुढ़िया ने देखा कि मैं अजनबी और कुछ दुविधा में हूँ। उसने बात छेड़ी, तुम अजनबी मालूम होते हो? किस फिक्र में पड़े हो? तुमने खाने के लिए अबतक कुछ नहीं मँगाया? मैं खाने के पदार्थों की नामावली पढ़ रहा था और परोसने वालों से पूछने का विचार ही कर रहा था। मैंने इस भली देवी को धन्यवाद दिया और कहा—'ये नाम मेरी समझ में नहीं आते। मैं अन्नाहारी हूँ और मैं जानना चाहता हूँ कि इनमें कौन-सी चीजें मेरे काम की है?'

यह देवी बोली—'तो लो, मैं तुम्हारी मदद करती हूँ और तुम्हें बताये देती हूँ कि इनमें से कौन-कौन-सी चीजें ले सकते हो।'

मैंने उसकी सहायता सधन्यवाद स्वीकार की। यहाँसे जो परिचय उसके साथ हुआ, सो मेरे विलायत छोड़ने के बाद भी बरसों क़ायम रहा। उसने लन्दन का अपना पता मुझे दिया और हर रविवार को अपने यहाँ भोजन के लिए निमन्त्रित किया था। इसके सिवा भी जब-जब अवसर आता मुझे बुलाती। चाह कर मेरी शरम तुड़वाती। युवती स्त्रियों से पहचान करवाती और उनके साथ बातें करने के लिए ललचाती। एक बाई उसीके यहाँ रहती थी। उनके साथ बहुत बातें करवाती। कभी-कभी हमें अकेले भी छोड़ देती।

पहले-पहल तो मुझे यह बहुत अटपटा मालूम हुआ। सूझ ही न पड़ता कि बातें क्या करूँ! हँसी-दिल्लगी भी भला क्या करता पर वह बाई मेरा हौसला बढ़ाती। मैं तैयार होने लगा। हर रविवार की राह देखता। अब तो उनकी बातों में भी मन रमने लगा।

इधर बुढ़िया भी मुझे लुभाये जाती। वह हमारे इस मेल-जोल को बड़ी दिलचस्पी से देखती। मैं समझता हूँ उसने तो हम दोनों का भला ही सोचा होगा।

"अब क्या करूँ ? अच्छा होता यदि पहले ही से इस बाई से अपने विवाह की बात कह दी होती। क्योंकि फिर भला वह क्यों मुझ-जैसे के साथ विवाह करना चाहती ? अब भी कुछ बिगड़ा नहीं। समय है, सच कह देने में अधिक संकट में न पड़ूँगा।" यह सोचकर मैंने उसे चिट्ठी लिखी। अपनी स्मृति के अनुसार उसका सार नीचे देता हूँ—

"जबसे ब्रायटन में आपसे भेंट हुई, तबसे आप मुझे स्नेह की दृष्टि से देखती आरही है। माँ जिस प्रकार अपने बेटे की सम्हाल रखती है उसी प्रकार आप मेरी सम्हाल रखती हैं। आपका खयाल है कि मुझे विवाह कर लेना चाहिए और इसलिए आप युवतियों के साथ मेरा परिचय कराती हैं। इसके पहले कि ऐसे सम्बन्ध की सीमा और आगे बढ़े, मुझे आपको यह कह देना चाहिए कि मैं आपके प्रेम के योग्य नहीं। मैं विवाहित हूँ और यह बात मुझे उसी दिन कह देना चाहिए थी, जिस दिन से मैं आपके घर आने-जाने लगा। हिन्दुस्तान के विवाहित विद्यार्थी यहाँ अपने विवाह की बात जाहिर नहीं करते, और इसीलिए, मैं भी उसी ढर्रे पर चल पड़ा; पर अब मैं समझता हूँ कि मुझे अपने विवाह की बात बिलकुल ही न छिपानी चाहिए। मुझे तो आगे बढ़कर यह भी कह देना चाहिए कि मेरी शादी बचपन ही में हो गई थी। मेरे एक लड़का भी है। यह बात जो मैंने आपसे अबतक छिपा रक्खी थी, इसपर मुझे बड़ा पश्चात्ताप होरहा है। परन्तु अब भी ईश्वर ने मुझे सत्य कह देने की हिम्मत देदी, इसके लिए साथ ही मुझे आनन्द भी हो रहा है। आप मुझे माफ तो कर देंगी न ? जिस बहन से आपने मेरा परिचय कराया है, उनके साथ मैंने कोई अनुचित व्यवहार नहीं किया है, इसका मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ। मैं अपनी स्थिति को अच्छी तरह जानता था, अतएव मैं तो ऐसी अनुचित बात कर ही नहीं सकता था, पर आप चूँकि उससे नावाकिफ थीं इसलिए आपकी यह इच्छा होना स्वाभाविक ही है कि मेरा सम्बन्ध किसीके साथ हो जाय। अतएव आपके मन में यह विचार और आगे न बढ़े, इसलिए मुझे सच बात आपपर अवश्य प्रकट कर देनी चाहिए।

"यह पत्र मिलने के बाद यदि आप अपने यहाँ आने के योग्य मुझे न समझें तो मुझे बिलकुल बुरा न मालूम होगा। आपकी इस ममता के लिए तो मैं सदा के लिए आपका ऋणी हो चुका हूँ। इतना होने पर भी यदि आप मुझे अपने से दूर न हटावे, तो बडी प्रसन्नता होगी। यदि अब भी आप मुझे अपने यहाँ आने के योग्य समझेंगी, तो इसे मैं आपके प्रेम का एक नया चिन्ह समझूंगा और उसके योग्य बनने के लिए प्रयत्न करता रहूँगा।"

यह पत्र मैंने चट-पट नही लिख डाला। न जाने कितने मसविदे बने होगे। पर हाँ, यह बात जरूर है कि यह पत्र भेज देने पर मेरे दिल से बडा बोझ उतर गया। लगभग लौटती डाक से उस विधवा मित्र का जवाब आया। उसमें लिखा था—

"तुमने दिल खोलकर जो पत्र लिखा, वह मिल गया। हम दोनो पढकर खुश हुए और खिलखिलाकर हँसे। ऐसा असत्याचरण तो क्षन्तव्य ही हो सकता है। हाँ, यह अच्छा किया जो तुमने अपनी सच्ची कथा लिख दी। मेरे निमन्त्रण को ज्यो-का-त्यो कायम समझना। इस रविवार को हम दोनो तुम्हारी राह अवश्य देखेंगी। तुम्हारे बाल-विवाह की बातें सुनेगी और तुमसे हँसी-दिल्लगी करने का आनन्द प्राप्त करेंगी। विश्वास रक्खो, अपनी मित्रता में फर्क न आने पावेगा।"

इस तरह अपने अन्दर से यह असत्य का जहर निकाला, और, फिर तो, कही भी अपने विवाह इत्यादि की बातें करते हुए मुझे पशोपेश न होता।

: २० :

धार्मिक परिचय

विलायत में रहते हुए कोई एक साल हुआ होगा, इस बीच दो थियोसॉफिस्ट मित्रो से मुलाक़ात हुई। दोनो सगे भाई थे और अविवाहित थे। उन्होने मुझे गीता पढने की प्रेरणा की। उन दिनों वे तो

एड्विन एर्नाल्ड कृत गीता के अंग्रेजी अनुवाद को पढ रहे थे, पर मुझे उन्होंने अपने साथ संस्कृत में गीता पढने के लिए कहा। मैं लज्जित हुआ, क्योंकि मैंने तो गीता संस्कृत में क्या गुजराती में भी नहीं पढी थी। यह बात झेंपते हुए मुझे उनसे कहनी पडी। पर साथ ही यह भी कहा कि "मैं आपके साथ पढने के लिए तैयार हूँ। यो तो मेरा संस्कृत ज्ञान नहीं के बराबर है, फिर भी मैं इतना समझ सकूँगा कि अनुवाद कहीं गडबड होगा तो वह बता सकूँ।" इस तरह इन भाइयो के साथ मेरा गीता-पाठ आरम्भ हुआ। दूसरे अध्याय के अन्तिम श्लोको मे इन श्लोको

ध्यायतो विषयान्पुंस सगस्तेषूपजायते ।
सगात्सजायते कामः कामात्क्रोधोभिजायते ॥
क्रोधाद्भवति संमोह समोहात्स्मृतिविभ्रम ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥[1]

का गहरा असर मेरे दिल पर हुआ। बस, कानो में उनकी ध्वनि दिन-रात गूँजा करती। तब मुझे प्रतीत हुआ कि भगवद्गीता तो अमूल्य ग्रन्थ है। यह धारणा दिन-दिन अधिक दृढ होती गई—और, अब तो तत्त्व-ज्ञान के लिए मैं उसे सर्वोत्तम ग्रन्थ मानता हूँ। निराशा के समय में इस ग्रन्थ ने मेरी अमूल्य सहायता की है। इसके लगभग तमाम अंग्रेजी अनुवाद मैं पढ गया हूँ। सबमे एडविन एर्नाल्ड का अनुवाद श्रेष्ठ मालूम होता है। उन्होने मूल ग्रन्थ के भावो की अच्छी रक्षा की है और फिर भी वह अनुवाद नहीं मालूम होता। फिर भी यह नहीं कह सकते कि इस समय मैंने भगवद्गीता का अच्छा अध्ययन कर लिया हो। उसका रोज-मर्रा पाठ तो वर्षो बाद शुरू हुआ।

इन्ही भाइयो ने मुझे एर्नाल्ड लिखित बुद्ध-चरित पढने की सिफारिश की। अबतक तो मैं सिर्फ यही जानता था कि सिर्फ गीता का ही अनु-

१. विषय का चिन्तन करने से, पहले तो उसके साथ सग पैदा होता है और सग से काम की उत्पत्ति होती है। कामना के पीछे-पीछे क्रोध आता है। फिर क्रोध से समोह, संमोह से स्मृति भ्रम, और स्मृतिभ्रम से बुद्धि का नाश होता है और अन्त में पुरुष खुद ही नष्ट हो जाता है।

बाद एर्नाल्ड ने किया, परन्तु बुद्ध-चरित को मैंने भगवद्गीता से भी अधिक चाव के साथ पढ़ा। पुस्तक जो एक बार हाथ में ली सो खतम करके ही छोड़ सका।

ये भाई मुझे ब्लेवेट्स्की-लाज में भी ले गये। वहाँ मैडम ब्लेवेट्स्की तथा मिसेज बेसेण्ट उन्हीं दिनो थियोसोफिकल सोसायटी में आई थी; और इस विषय की चर्चा अखबारो में चल रही थी। मैं उसे चाव से पढ़ता था। इन भाइयो ने मुझे थियोसोफिकल सोसायटी में आने के लिए कहा। मैंने विनयपूर्वक ना करके कहा—'मुझे अभी किसी धर्म का कुछ भी ज्ञान नहीं, इसलिए मेरा दिल नहीं होता कि अभी किसी सम्प्रदाय में मिल जाऊँ।' मुझे कुछ ऐसा खयाल पड़ता है कि इन्हीं भाइयो के कहने से मैडम ब्लेवेट्स्की रचित 'दि थियोसोफी' पुस्तक भी मैंने पढ़ी। उससे हिन्दू-धर्म-सम्बन्धी पुस्तको के पढ़ने की इच्छा हुई। पादरी लोगो के मुँह से जो यह सुना करता था कि हिन्दू-धर्म तो अन्ध विश्वासो से भरा हुआ है, वह खयाल दिल से निकल गया।

इसी अर्से में एक अन्नाहारी-छात्रालय में मैंचेस्टर के एक भले ईसाई से मुलाकात हुई। उन्होंने ईसाई-धर्म की बात मुझसे छेड़ी। मैंने अपना राजकोट का अनुभव उन्हें सुनाया। उन्हें बहुत दुःख हुआ—कहा—'मैं खुद अन्नाहारी हूँ। शराब तक नहीं पीता। बहुतेरे ईसाई मांस खाते हैं, शराब पीते हैं, यह सच है। पर ईसाई-धर्म में दोनों में से एक चीज भी लाजिमी नहीं। आप बाइबिल पढ़ें तो मालूम होगा'। मैंने उनकी सलाह मानी। उन्होंने एक बाइबिल भी खरीद कर ला दी। मुझे कुछ-कुछ ऐसा आभास होता है कि वह सज्जन खुद ही बाइबिल बेचते थे। उन्होंने जो बाइबिल मुझे दी उसमें कई नक्शे और अनुक्रमणिका इत्यादि थी। पढ़ना शुरू तो किया, परन्तु 'ओल्ड टेस्टामेण्ट' तो पढ़ ही न सका। जेनिसिस—'सृष्टि-उत्पत्ति'—वाले प्रकरण के बाद तो पढ़ते-पढ़ते नींद आने लगती। केवल इसी खयाल से कि यह कह सकूँ कि 'हा बाइबिल पढ़ ली' मैंने बे-मन और बे-समझे आगे के प्रकरणो को बड़े कष्ट से पढ़ा। 'नम्बर्स' नामक प्रकरण तो मुझे बिलकुल ही अच्छा न लगा। पर जब 'न्यू टेस्टामेण्ट' तक

पहुँचा तब तो कुछ और ही असर हुआ। हजरत ईसा के गिरि-प्रवचन का असर बहुत ही अच्छा हुआ। वह तो सीधा ही हृदय पर पैठ गया। बुद्धि ने गीताजी के साथ उसकी तुलना की। 'जो तेरा कुरता मांगे उसे न् अगरखा दे डाल। जो तेरे दाहिने गाल पर थप्पड मारे उसके आगे बाँया गाल कर दे।' यह पढकर मुझे अपार आनन्द हुआ। श्यामल भट्ट का वह छप्पय याद आया। मेरे युवक मन ने गीता, एर्नाल्ड-कृत बुद्ध-चरित्र और ईसा के वचनो का एकीकरण किया। 'त्याग मे धर्म है' यह बात दिल को जँच गई।

इन पुस्तको के पठन से दूसरे धर्माचार्यो के जीवन-चरित्र पढने की इच्छा हुई। किसी मित्र ने सुझाया—कार्लाईल की 'विभूतियाँ और विभूति-पूजा' पढो। उसमें मैंने हजरत मुहम्मद-विषयक अश पढा और मुझे उनकी महत्ता, वीरता और उनकी तपश्चर्या का परिचय मिला।

बस, इतने धार्मिक परिचय से आगे मैं न बढ सका, क्योकि परीक्षा सम्बन्धी पुस्तको के अलावा दूसरी पुस्तके पढने की फुरसत न निकाल सका। मगर मेरे दिल में यह भाव जम गया कि मुझे भी धर्म-पुस्तके अवश्य पढनी चाहिएँ और समस्त मुख्य-मुख्य धर्मो का आवश्यक परिचय प्राप्त कर लेना चाहिए।

भला, यह कैसे सम्भव था कि विलायत में रहकर नास्तिकता के सम्बन्ध में कुछ न जानता? उन दिनो ब्रेडला का नाम समस्त भारत-वासी जानते थे। ब्रेडला नास्तिक माने जाते थे। इस कारण नास्तिकवाद के विषय मे भी एक पुस्तक पढी। नाम इस समय याद नही पडता। मेरे मन पर उसकी कुछ छाप न पडी। क्योकि नास्तिकतारूपी सहारा का रेगिस्तान अब मैं पार कर चुका था। मिसेज़ बेसेण्ट की कीर्त्ति तो उस समय भी बहुत फैली हुई थी। वह नास्तिक से आस्तिक बनी थी, इस बात ने भी मुझे नास्तिकता की ओर से उदासीन बनाया। बेसेण्ट की 'मैं थियो-सोफिस्ट कैसे हुई?' पुस्तिका मै पढ चुका था। इन्ही दिनो ब्रेडला का देहान्त हुआ। उनकी अन्त्येष्टि-क्रिया वोकिंग में हुई थी। मै भी वहाँ गया था। मेरा खयाल है कि शायद ही कोई ऐसा भारतवासी होगा, जो वहाँ

न गया हो। कितने ही पादरी भी उनके सम्मान मे उपस्थित हुए थे। लौटते समय हम सब एक जगह ट्रेन की राह देख रहे थे। वहाँ एक पहलवान नास्तिकता-वादी ने एक पादरी से जिरह करना शुरू की—

"क्यो जी, आप कहते है न कि ईश्वर है?"

उस भले पादरी ने धीमी आवाज में जवाब दिया—"हाँ भाई, कहता तो हूँ।"

पहलवान हँसा, और इस भाव से कि मानो पादरी को पराजित कर दिया हो, बोला—'अच्छा, आप यह तो मानते है न, कि पृथ्वी की परिधि २८००० मील है?

"हाँ, अवश्य।"

"तब बताओ तो देखें, ईश्वर का कद कितना बडा है और वह कहाँ रहता होगा?"

"यदि हम समझें तो वह हम दोनो के हृदय में वास करता है।'

चारो ओर खडे हुए हम लोगो की ओर यह कहकर उसने विजयी की तरह देखकर कहा—"किसी बच्चे को फुसलाइए, किसी बच्चे को।"

पादरी ने नम्रता के साथ मौन धारण कर लिया।

इस सवाद ने नास्तिकवाद की ओर से मेरा मन और भी हटा दिया।

: २१ :

'निर्बल के बल राम'

इस तरह मुझे धर्म-शास्त्रो का तथा दुनिया के और धर्मो का कुछ परिचय तो मिला लेकिन इतना ज्ञान मनुष्य को बचाने के लिए काफी नही होता। आपत्ति के समय जो वस्तु मनुष्य को बचाती है, उसका उसे उस समय न तो भान ही रहता है, न ज्ञान ही। नास्तिक जब बच आता है, तो कहने लगता है कि मै तो अचानक बच गया। आस्तिक ऐसे समय कहेगा कि मुझे ईश्वर ने बचाया। परिणाम के बाद वह ऐसा अनुमान कर लेता है कि धर्मो के अध्ययन से, संयम से, ईश्वर हृदय मे प्रकट होना

है। इस प्रकार का अनुमान करने का उसे अधिकार है। लेकिन बचते समय वह नही जानता कि उसे उसका सयम बचाता है या और कोई। जो अपने सयम-बल का गर्व करता है, उसका किसने अनुभव नही किया कि सयम-भ्रष्ट नही हुआ। ऐसे समय शास्त्र-ज्ञान तो व्यर्थ-सा मालूम होता है।

इस बौद्धिक धर्म-ज्ञान के मिथ्यात्व का अनुभव मुझे विलायत मे हुआ। पहले जो इस प्रकार के भयो से मै बचा, उसका विश्लेषण करना असम्भव है। उस समय मेरी उम्र बहुत कम थी। लेकिन अब तो मै बीस वर्ष का हो गया था। गृहस्थाश्रम का अनुभव खूब प्राप्त कर चुका था।

बहुत करके विलायत में मेरे आखिरी वर्ष मे, अर्थात् १८९० में पोर्ट स्मथ में अन्नाहारियो का एक सम्मेलन हुआ। उसमें मुझे तथा एक और भारतीय मित्र को निमन्त्रण मिला था। हम दोनो वहाँ गये। हम दोनो एक बाई के यहाँ ठहराये गये।

पोर्टस्मथ मल्लाहो का बन्दर कहा जाता है। वहाँ दुराचारिणी स्त्रियो के बहुत से घर हैं। वे स्त्रियाँ वेश्या तो नही कही जा सकती, लेकिन साथ ही उन्हे निर्दोष भी नही कह सकते। ऐसे ही एक घर में हम ठहराये गये थे। कहने का आशय यह नही है कि स्वागत-समिति ने जान-बूझकर ऐसे घर चुने थे। लेकिन पोर्टस्मथ-जैसे बन्दर में जब मुसाफिरो के ठहरने के लिए घर खोजने की जरूरत पडती है, तब यह कहना कठिन हो जाता है कि कौन घर अच्छा और कौन बुरा।

रात हुई। सभा से हम घर लौटे। भोजन के बाद हम ताश खेलने बैठे। विलायत में अच्छे घरो मे भी गृहिणी मेहमानो के साथ इस प्रकार ताश खेला करती है। ताश खेलते समय सब लोग निर्दोष मजाक करते है। यहाँ बीभत्स विनोद शुरू हुआ।

मै नही जानता था कि मेरे साथी इसमें निपुण है। मुझे इस विनोद में दिलचस्पी होने लगी। मै भी सम्मिलित हुआ। विनोद की वाणी के चेष्टा में परिणत होने की नौबत आ गई। ताश एक ओर रखने का अवसर आ गया, पर मेरे साथी के हृदय मे भगवान् जगे। वह बोले, "तुम और

यह कलियुग—यह पाप ? यह तुम्हारा काम नहीं ! भगो यहां से।"

मैं शरमिन्दा हुआ। चेता। हृदय में इस मित्र का उपकार माना। माता से की हुई प्रतिज्ञा याद आई। मैं भगा। कांपता हुआ अपने कमरे में पहुंचा। कलेजा धड़कता था। मानो कातिल के हाथ से शिकार छूटा।

पर-स्त्री-को देखकर विकाराधीन होने का और उसके साथ खेलने की इच्छा होने का यह पहला प्रसग मेरे जीवन मे था। रात-भर मुझे नींद न आई। अनेक तरह से विचारों ने मुझे आघेरा। 'क्या करूं ? घर छोड़ दूं ? यहां से भाग निकलूं ? मैं कहां हूं ?' यदि मैं सावधान न रहूं तो मेरे क्या हाल होंगे ? मैंने खूब सचेत रहकर जीवन विताने का निश्चय किया। सोचा कि घर तो अभी न छोड़ूं; पर पोर्ट्समथ तुरन्त छोड़ देना चाहिए। सम्मेलन दो ही दिन तक होने वाला था। इसलिए जहांतक मुझे याद है, दूसरे ही दिन मैंने पोर्ट्समथ छोड़ दिया, मेरे सा वहां कुछ दिन रहे।

उस समय मैं 'धर्म क्या है, ईश्वर क्या चीज है, वह हमारे अन्द किस तरह काम करता है' ये बातें नहीं जानता था। लौकिक अर्थ में समझा कि ईश्वर ने मुझे बचाया। परन्तु जीवन के विविध क्षेत्रों में भ मुझे ऐसे ही अनुभव हुए हैं। 'ईश्वर ने बचाया' इस वाक्य का अर्थ आज बहुत अच्छी तरह समझता हूं। पर यह भी जानता हूं कि अभी इसकी कीमत मैं ठीक-ठीक नहीं आंक सका हूं। यह तो अनुभव से ही आंकी जा सकती है। पर हां, कितने ही आध्यात्मिक अवसरों पर, वकालत के सिलसिले में, सस्थाओं का सचालन करते हुए, राजनैतिक मामलों में, मैं कह सकता हूं कि 'ईश्वर ने मुझे बचाया है।' मैंने अनुभव किया है कि जब चारों ओर से आशायें छोड़ बैठने का अवसर आ जाता है, हाथ-पांव ढीले पड़ने लगते हैं, तब कहीं-न-कहीं से सहायता अचानक आ पहुंचती है। स्तुति, उपासना, प्रार्थना, अन्धविश्वास नहीं, बल्कि उतनी अथवा उससे भी अधिक सच बातें हैं, जितना कि हम खाते हैं, पीते हैं, चलते हैं, बैठते हैं, ये सच है। बल्कि यों कहने में भी अत्युक्ति नहीं कि यही एकमात्र सच है; दूसरी सब बातें झूठ है, मिथ्या है।

ऐसी उपासना, ऐसी प्रार्थना वाणी का वैभव नही है। उसका मूल कण्ठ नही, बल्कि हृदय है। अतएव यदि हम हृदय को निर्मल बना ले, उसके तारो का सुर मिला ले, तो उसमें से जो सुर निकलता है वह गगन गामी हो जाता है। उसके लिए जीभ की आवश्यकता नही। यह तो स्वभावत ही अद्भुत वस्तु है। विकाररूपी मल की शुद्धि के लिए हार्दिक उपासना एक जीवन-जडी है, इस विषय में मुझे भी सन्देह नही। परन्तु इस प्रसादी को पाने के लिए हमारे अन्दर पूरी-पूरी नम्रता होनी चाहिए।

: २२ :

नारायण हेमचन्द्र

लगभग इसी दरमियान स्वर्गीय नारायण हेमचन्द्र विलायत आये थे। मैं सुन चुका था कि वह एक अच्छे लेखक है। नैशनल इण्डियन एसोसियेशन वाली मिस मैंनिंग के यहाँ उनसे मिला। मिस मैंनिंग जानती थी कि मैं सबसे हिलमिल नही जाता हूँ। जब कभी मैं उनके यहाँ जाता तब चुपचाप बैठा रहता। तभी बोलता, जब कोई बात-चीत छेडता।

उन्होने नारायण हेमचन्द्र से मेरा परिचय कराया।

नारायण हेमचन्द्र अंग्रेजी नही जानते थे। उनका पहनावा विचित्र था। बेढगी पतलून पहने थे। उसपर था एक बादामी रग का मैला-कुचैला-सा पारसी काट का बेडौल कोट। न नेकटाई, न कालर। सिर पर ऊन की गुँथी हुई टोपी और नीचे लम्बी दाढी।

बदन इकहरा, कद नाटा और चेहरा गोल था, और उसपर चेचक के दाग थे। नाक न नोकदार थी, न चपटी। हाथ दाढी पर फिरा करता था।

वहाँ के लाल-गुलाल फैशनेबल लोगो में नारायण हेमचन्द्र अलग छटक जाते थे।

"आपका नाम तो मैंने बहुत सुना है। आपके कुछ लेख भी पढे है। आप मेरे घर क्यो न चलिए?"

नारायण हेमचन्द्र की आवाज़ ज़रा भर्राई हुई थी। उन्होंने हँसते हुए जवाब दिया—

"आप कहाँ रहते हैं ?"

"स्टोर स्ट्रीट में।"

"तब तो हम पड़ोसी हैं। मुझे अंग्रेज़ी सीखना है। आप सिखा देंगे ?"

मैंने जवाब दिया—"यदि मैं किसी प्रकार भी आपकी सहायता कर सकूँ तो मुझे बड़ी ख़ुशी होगी। मैं अपनी शक्ति-भर कोशिश करूँगा। यदि आप चाहें, तो मैं आपके यहाँ भी आ सकता हूँ।"

"जी नहीं, मैं ख़ुद ही आपके पास आऊँगा। मेरे पास पाठमाला भी है। उसे लेता आऊँगा।"

समय निश्चित हुआ। आगे चलकर हम दोनों में बड़ा स्नेह होगया। नारायण हेमचन्द्र व्याकरण ज़रा भी नहीं जानते थे। 'घोड़ा' क्रिया और 'दौड़ना' संज्ञा बन जाती। ऐसे विनोद-पूर्ण उदाहरण तो मुझे कई याद हैं। परन्तु नारायण हेमचन्द्र ऐसे थे, जो मुझे भी हज़म कर जायें। वह मेरे अल्प व्याकरण ज्ञान से अपनेको भुला देनेवाले जीव न थे। व्याकरण न जानने पर वह किसी प्रकार लज्जित न होते थे।

'मैं आपकी तरह किसी पाठशाला में नहीं पढ़ा हूँ। मुझे अपने विचार प्रकट करने में कहीं व्याकरण की सहायता की ज़रूरत नहीं दिखाई दी। आप बंगला जानते हैं ? मैं तो बंगला भी जानता हूँ। मैं बंगाल में भी घूमा हूँ। महर्षि देवेन्द्रनाथ टागोर की पुस्तकों का अनुवाद तो गुजराती जनता को मैंने ही दिया है। अभी कई भाषाओं के सुन्दर ग्रन्थों के अनुवाद करने में भी मैं शब्दार्थ पर नहीं चिपटा रहता। भाव-मात्र दे देने से मुझे संतोष हो जाता है। मेरे बाद दूसरे लोग चाहें भले ही सुन्दर वस्तु दिया करें। मैं तो बिना व्याकरण पढ़े मराठी भी जानता हूँ, हिन्दी भी जानता हूँ और अब अंग्रेज़ी भी जानने लग गया हूँ। मुझे तो सिर्फ़ शब्द-भण्डार की ज़रूरत है। आप यह न समझ लें कि अकेली अंग्रेज़ी जान लेने भर से मुझे संतोष हो जायगा। मुझे तो फ्रांस जाकर फ्रेन्च भी सीख लेनी है। मैं जानता हूँ कि फ्रेन्च साहित्य बहुत विशाल है। मैं

हो सका तो जर्मन जाकर जर्मन भाषा भी सीख लूंगा।

इस तरह नारायण हेमचन्द्र की वाग्धारा बे-रोक बहती रही। देश-देशान्तरो में जाकर भिन्न-भिन्न भाषा सीखने का उन्हे असीम शौक था।

"तब तो आप अमेरिका भी जरूर ही जावेगे ?"

"भला इसमे भी कोई सन्देह हो सकता है ? इस नवीन दुनिया को देखे बिना कही वापस लौट सकता हूँ ?"

"पर आपके पास इतना धन कहाँ है ?"

"मुझे धन की क्या जरूरत पडी है ? मुझे आपकी तरह तडक-भडक तो रखना है ही नही। मेरा खाना कितना और पहनना क्या ? मेरी पुस्तको से कुछ मिल जाता है और थोडा-बहुत मित्र लोग दे दिया करते है। मै तो सर्वत्र तीसरे दर्जे मे ही सफर करता हूँ। अमेरिका तो डैक में जाऊँगा।"

नारायण हेमचन्द्र की सादगी बस उनकी अपनी थी, हृदय भी उनका वैसा ही निर्मल था। अभिमान छू तक नहीं गया था। लेखक के नाते अपनी क्षमता पर उन्हे आवश्यकता से भी अधिक विश्वास था।

हम रोज मिलते। हमारे बीच विचार तथा आचार-साम्य भी काफी था। दोनो अन्नाहारी थे। दोपहर को कई बार साथ ही भोजन करते। यह मेरा वह समय था, जब मै प्रति सप्ताह सत्रह शिलिंग में ही अपना गुजर करता और खाना खुद पकाया करता था। कभी मै उनके मकान पर जाता तो कभी वह मेरे मकान पर आते। मै अंग्रेज़ी तर्ज का खाना पकाता था, उन्हे देसी ढग के बिना संतोष नहीं होता था। दाल जरूरी थी। मै गाजर इत्यादि का रसा बनाता। इसपर उन्हे मुझपर बडी दया आती। कही से वह मूंग ढूंढ लाये थे। एक दिन मेरे लिए मूंग पकाकर लाये, जो मैने बडी रुचिपूर्वक खाये। फिर तो हमारा इस तरह का देने-लेने का व्यवहार बहुत बढ गया। मै अपनी चीजो का नमूना उन्हे चखाता और वह मुझे चखाते।

इस समय कार्डिनल मैनिंग का नाम सबकी जबान पर था। डॉक में मजदूरो ने हडताल करदी थी। जॉन बर्न्स और कार्डिनल मैनिंग के

प्रयत्नो से हड़ताल जल्दी बन्द हो गई। कार्डिनल मैनिंग की सादगी के विषय में जो डिसरैली ने लिखा था, वह मैंने नारायण हेमचन्द्र को सुनाया।

"तब तो मुझे उस साधु पुरुष से जरूर मिलना चाहिए।"

"वह तो बहुत बड़े आदमी हैं, आपसे क्योंकर मिलेंगे?"

"इसका रास्ता मैं बता देता हूं। आप उन्हें मेरे नाम से एक पत्र लिखिए कि मैं एक लेखक हूं। आपके परोपकारी कार्यों पर आपको धन्यवाद देने के लिए प्रत्यक्ष मिलना चाहता हूं। उसमे यह भी लिख दीजिएगा कि मैं अंग्रेजी नहीं जानता, इसलिए—आपका नाम लिखिए—बतौर दुभाषिया के मेरे साथ रहेंगे।"

मैंने इस मजमून का पत्र लिख दिया। दो-तीन दिन में कार्डिनल मैंनिंग का कार्ड आया। उन्होंने मिलने का समय लिख दिया था।

हम दोनो गये। मैंने तो, जैसा कि रिवाज था, मुलाक़ाती कपड़े पहन लिये। नारायण हेमचन्द्र तो ज्यों-के-त्यों, सनातन! वही कोट और वही पतलून। मैंने जरा मजाक किया, पर उन्होंने उसे साफ हंसी में उड़ा दिया और बोले—

"तुम सब सुधरे हुए लोग डरते हो। महापुरुष किसी की पोशाक की तरफ नहीं देखते। वे तो उसके हृदय को देखते हैं।"

कार्डिनल के महल में हमने प्रवेश किया। मकान महल ही था। हम बैठे ही थे कि एक दुबले से ऊंचे क़द वाले वृद्ध पुरुष ने प्रवेश किया। हम दोनो से हाथ मिलाया। उन्होंने नारायण हेमचन्द्र का स्वागत किया।

"मैं आपका अधिक समय लेना नहीं चाहता। मैंने आपकी कीर्ति सुन रक्खी थी। आपने हड़ताल में जो शुभ काम किया है उसके लिए आपका उपकार मानना था। संसार के साधु पुरुषो के दर्शन करने का मेरा अपना रिवाज है। इसलिए आपको आज यह कष्ट दिया है।"

इन वाक्यों का तरजुमा करके उन्हें सुनाने के लिए हेमचन्द्र ने मुझ से कहा।

"आपके आगमन से मैं बड़ा प्रसन्न हुआ हूं। मैं आशा करता हूं कि

आपके लिए यहाँ का निवास सुखकर होगा, और यहाँ के लोगो से आप अधिक परिचय करेंगे। परमात्मा आपका भला करे।' यो कहकर कार्डिनल उठ खड़े हुए।

एक दिन नारायण हेमचन्द्र मेरे यहाँ धोती और कुर्ता पहनकर आये। भली मकान-मालिकन ने दरवाजा खोला और देखा तो डर गई। दौड़कर मेरे पास आई (पाठक यह तो जानते ही हैं कि मैं बार-बार मकान बदलता ही रहता था) और बोली—"एक पागल-सा आदमी आपसे मिलना चाहता है।" मैं दरवाजे पर गया और नारायण हेमचन्द्र को देखकर दंग रह गया। उनके चेहरे पर वही नित्य का हास्य चमक रहा था।

"पर आपको लड़को ने नही सताया ?"

"हाँ, मेरे पीछे पड़े जरूर थे, लेकिन मैंने कोई ध्यान नही दिया, तो वापस लौट गये।"

नारायण हेमचन्द्र कुछ महीने इग्लैण्ड में रहकर पेरिस चले गये। वहाँ फ्रेञ्च का अध्ययन किया और फ्रेञ्च पुस्तको के अनुवाद करना शुरू कर दिया। मैं इतनी फ्रेञ्च जान गया था कि उनके अनुवादों को जाँच लूं। मैंने देखा कि वह तर्जुमा नही, भावार्थ था।

अन्त में उन्होने अमेरिका जाने का अपना निश्चय भी निबाहा। बड़ी मुश्किल से डेक या तीसरे दर्जे का टिकट प्राप्त कर सके थे। अमेरिका में जब वह धोती और कुर्ता पहनकर निकले तो असभ्य पोशाक पहनने का जुर्म लगाकर वह गिरफ्तार कर लिये गये थे। पर जहाँतक मुझे याद है, बाद में वह छूट गये।

: २३ :

महाप्रदर्शिनी

१८९० ई० में पेरिस में एक महाप्रदर्शिनी हुई थी। उसकी तैयारियो की बातें मैं अखबारो में खूब पढ़ता था। इधर पेरिस देखने की तीव्र इच्छा तो थी ही। सोचा कि इस प्रदर्शिनी को देखने के लिए चला जाऊँगा

तो दोनो काम हो जायेंगे। प्रदर्शिनी में एफिल टावर देखने का आकर्षण बहुत भारी था। यह टावर बिलकुल लोहे का बना हुआ है। एक हजार फीट ऊँचा है। इसके पहले लोगो का खयाल था कि इतनी ऊँची इमारत खडी ही नही रह सकती। और भी अनेक बाते प्रदर्शिनी में देखने लायक थीं।

मैंने कही पढा था कि पेरिस में अन्नाहार के लिए एक स्थान है। मैंने उसमें एक कमरा ले लिया। पेरिस तक का सफर गरीबी से किया और वहाँ पहुँचा। सात दिन रहा। बहुत-कुछ तो पैदल ही चलकर देखा। पास में पेरिस और उस प्रदर्शिनी की गाइड तथा नकशा भी रखता था। उसकी सहायता से रास्ते ढूँढकर मुख्य-मुख्य चीजे देख ली।

प्रदर्शिनी की विशालता और विविधता के सिवा अब मुझे उसकी किसी चीज का स्मरण नही है। एफिल टावर पर तो दो-तीन बार चढा था, इसलिए उसकी याद ठीक-ठीक है। पहली मजिल पर खाने-पीने की सुविधा भी थी। इसलिए यह कहने को कि इतनी ऊँचाई पर हमने खाना खाया, मैंने वहाँ भोजन किया और उसके लिए साढे सात शिलिंग को दियासलाई लगाई।

पेरिस के प्राचीन मन्दिरो की याद अबतक कायम है। उनकी भव्यता और भीतर की शाति कभी नही भुलाई जा सकती। नाट्रेडम की कारीगरी और भीतर की चित्रकारी मेरे स्मृति-पट पर ज्यो-की-त्यो अकित है। यह प्रतीत हुआ कि जिन्होने लाखो रुपये ऐसे स्वर्गीय मन्दिरो के बनाने में खर्च किये, उनके हृदय के अतस्तल मे कुछ-न-कुछ ईश्वर-प्रेम जरूर रहा होगा।

पेरिस का फैशन, वहाँ का स्वेच्छाचार और भोग-विलास का वर्णन खूब पढा था और उसकी प्रतीति वहाँ की गली-गली में होती जाती थी। परन्तु ये मन्दिर उन भोग-सामग्रियो से अलग छटक जाते थे। उनके अन्दर जाते ही बाहर की अशाति भूल जाती थी। लोगो का बर्ताव ही बदल जाता था। वे अदब के साथ बरतने लग जाते थे। वहाँ शोर-गुल नही हो सकता। कुमारिका मरियम की मूर्ति के सामने कोई-न-कोई

जरूर प्रार्थना करता हुआ दिखाई देता। यह सब देखकर चित्त पर यही असर पड़ा कि यह सब वहम नहीं, हृदय का भाव है, और यह भाव दिन-ब-दिन बराबर पुष्ट होता गया। कुमारिका की मूर्ति के सामने घुटने टेककर प्रार्थना करनेवाले वे उपासक संगमरमर के पत्थर को नहीं पूज रहे थे; बल्कि उसके अन्दर निवास करनेवाली अपनी मनोमय शक्ति को पूजते थे। मुझे आज भी स्पष्टतया याद है कि उस समय मेरे चित्त पर इस पूजा का ऐसा असर पड़ा कि वे पूजन द्वारा ईश्वर की महिमा को घटाते नहीं, बल्कि बढ़ाते ही हैं।

एफिल टावर के विषय में एक-दो बातें लिख देना जरूरी है। मुझे पता नहीं कि एफिल टॉवर आज किस मतलब को पूरा कर रहा है। प्रदर्शिनी में जाने पर उसके वर्णन तो ज़रूर ही पढ़ने में आते थे। उनमें उसकी स्तुति थी और निन्दा भी थी। मुझे याद है कि निन्दा करनेवालों में टॉलस्टॉय मुख्य थे। उन्होंने लिखा था कि एफिल टॉवर मनुष्य की मूर्खता का चिन्ह है, उसके ज्ञान का परिणाम नहीं। उन्होंने अपने लेखों में बताया था कि संसार के अनेक प्रचलित नशों में तम्बाकू का व्यसन सबसे खराब है। जो कुकर्म करने की हिम्मत शराब के पीने से नहीं होती, वह बीडी पीकर आदमी को हो जाती है। शराब आदमी को पागल बना देती है, परन्तु बीडी से तो उसकी बुद्धि तमाच्छन्न हो जाती है, और वह हवाई किले बांधने लग जाता है। टॉलस्टाय ने अपना यह मत प्रदर्शित किया था कि एफिल टॉवर ऐसे ही व्यसन का परिणाम है।

एफिल टॉवर में तो सौन्दर्य का नाम भी नहीं है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि उससे प्रदर्शिनी की शोभा जरा भी बढ़ गई हो। एक नई भारी-भरकम चीज़ थी। और इसीलिए उसे देखने हज़ारों आदमी गये थे। यह टॉवर प्रदर्शिनी का एक खिलौना था। और वह इस बात को बड़ी अच्छी तरह सिद्ध कर रहा था कि जबतक हम मोहाधीन हैं तबतक हम भी बालक ही हैं। बस, इसे भले ही हम उसकी उपयोगिता कह लें।

: २४ :

बैरिस्टर तो हुए—लेकिन आगे ?

परन्तु जिस काम के लिए, अर्थात् बैरिस्टर बनने के लिए मैं विलायत गया था, उसका क्या हुआ ? मैंने उसका वर्णन आगे पर छोड़ रखा था। पर अब उसके सम्बन्ध में कुछ लिखने का समय आ पहुँचा है।

बैरिस्टर बनने के लिए दो बातें आवश्यक थीं—एक तो 'टर्म' भरना, अर्थात् सत्रों में आवश्यक उपस्थिति का होना, और दूसरी क़ानून की परीक्षा में शरीक होना। वर्ष में चार सत्र होते थे। ऐसे बारह सत्रों में हाज़िर रहना आवश्यक था। सत्र में हाज़िर रहने के मानी हैं 'भोजों में उपस्थित रहना।' हरेक सत्र में लगभग २४ भोज होते थे, जिनमें से छः में हाज़िर रहना ज़रूरी था। भोज में जाने से यह मतलब नहीं कि वहाँ कुछ खाना ही चाहिए, सिर्फ़ निश्चित समय पर वहाँ हाज़िर हो जाना और जबतक चलता रहे वहाँ उपस्थित रहना काफ़ी था। आम-तौर पर तो सभी विद्यार्थी उसमें खाते-पीते हैं। भोजन में अच्छे-अच्छे पक्वान्न होते और पेय में ऊँचे दर्जे की शराब। दाम अलबत्ता देने पड़ते थे। पर यह ढाई या तीन शिलिंग के क़रीब, अर्थात् दो या तीन रुपये से ज्यादा नहीं होता था। यह क़ीमत वहाँ बहुत ही कम समझी जाती थी, क्योंकि बाहर के किसी भी भोजनालय में भोजन करनेवाले को भी सिर्फ़ शराब के लिए ही इतने दाम देने पड़ते थे। भोजन के खर्च की अपेक्षा शराब पीनेवाले को शराब के ही दाम अधिक लगते हैं। हिन्दुस्तान में—अगर हम 'सुधरे' हुए न हों तो—हमें यह बड़ा ही आश्चर्यजनक मालूम होगा। विलायत जाने पर यह बात मालूम करके मेरे दिल को बड़ी चोट पहुँची। मैं यही नहीं समझ सकता था कि शराब के पीछे इतने रुपये खर्च करने को लोगों का जी कैसे होता है। पर पीछे मैं उसका रहस्य समझने लगा। शुरू में तो मैं ऐसे भोजों में कुछ भी नहीं खाता था, क्योंकि मेरे काम की चीज़ तो वहाँ केवल रोटी, उबाले हुए आलू या गोभी ही हो सकती थी।

आरम्भ मे तो वे भी अच्छे न लगते थे, इसलिए मैं नही खाता था। बाद में जब मैं उनके स्वाद को जान सका तब तो मुझे दूसरी वस्तु प्राप्त करने का भी सामर्थ्य प्राप्त हो चुका था।

विद्यार्थियो के लिए एक प्रकार का खाना होता था और बेन्चरो (विद्या-मन्दिरो के अध्यापको) के लिए दूसरे प्रकार का और अच्छा खाना होता था। मेरे साथ एक पारसी विद्यार्थी भी थे। वह भी निरामिष भोजी बन गये थे। हम दोनो ने मिलकर बेन्चरो के भोजन के पदार्थों में से निरामिष भोजियो के खाने योग्य पदार्थ प्राप्त करने के लिए प्रार्थना की। वह मजूर हुई, और हमें बेन्चरो के टेबल से फलादि और दूसरे शाक भी मिलने लगे।

शराब को तो मैं छूता तक न था। चार-चार विद्यार्थियो मे शराब की दो-दो बोतले दी जाती थी। इसलिए ऐसी चौकडियो में मेरी बडी माँग होती थी। क्योकि मैं शराब नही पीता था; इसलिए शेष दो बोतले तीनो के हिस्सो में जो आती थी। फिर इन सत्रो में एक बडी रात (ग्रैण्ड नाइट) भी होती थी। उस दिन 'पोर्ट' और 'शेरी' के अलावा 'शेम्पेन' भी मिलती थी। शेम्पेन का मजा कुछ और ही समझा जाता है। इसलिए इस बडी रात को मेरी कीमत अधिक आँकी जाती थी, और उस रात को हाजिर रहने के लिए मुझे निमत्रण भी दिया जाता।

इस खाने-पीने से बैरिस्टरी की पढाई मे क्या प्रगति हो सकती है, यह मैं न तब समझ सका था और न आज ही समझ सका हूँ। हाँ, ऐसा एक समय अवश्य था कि जब ऐसे भोजो में बहुत ही थोडे विद्यार्थी होते थे। तब उनमें और बेन्चरो में वार्तालाप होता और व्याख्यान भी दिये जाते थे। इसमे उन्हे व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त हो सकता था, भली-बुरी पर एक प्रकार की सभ्यता वे सीख सकते थे और व्याख्यान देने की शक्ति का विकास कर सकते थे। हमारे समय में तो यह सब असम्भव होगया था। बेन्चर तो दूर अछूत होकर बैठते थे। इस पुराने रिवाज का बाद में कुछ भी अर्थ नही रह गया था, फिर भी प्राचीनता-प्रेमी इग्लैण्ड में वह अभीतक चला आ रहा है।

कानून की पढाई बड़ी ही आसान थी। बैरिस्टर विनोद में 'डिनर बैरिस्टर' के नाम से पुकारे जाते थे। सभी जानते थे कि उसकी परीक्षा का मूल्य नहीं के बराबर है। मेरे समय में दो परीक्षायें होती थी। रोमन-लॉ की और इग्लैंण्ड के क़ानूनो की। यह परीक्षा दो बार करके दी जाती थी। परीक्षा के लिए पुस्तके नियत थी, परन्तु उन्हे शायद ही कोई पढता होगा। रोमन लॉ के लिए तो छोटे-छोटे 'नोट्स' लिखे हुए मिलते थे। उन्हे पन्द्रह दिन में पढकर पास होने वालो को भी मैंने देखा है। इग्लैण्ड के कानूनो के विषय में भी यही बात होती थी। उनके 'नोट्स' दो-तीन महीने में पढकर पास होने वाले विद्यार्थियो को भी मैंने देखा है। परीक्षा के प्रश्न आसान और परीक्षक भी उदार। रोमन लॉ में ९५ से ९९ प्रति सैकडा विद्यार्थी पास होते थे, और अन्तिम परीक्षा में ७५ अथवा उससे भी कुछ अधिक। इसलिए अनुत्तीर्ण होने का भय बहुत ही कम रहता था। और परीक्षा भी वर्ष में एक नहीं बल्कि चार बार होती थी। ऐसी सुविधाजनक परीक्षा किसीको भी बोझ नहीं मालूम हो सकती थी।

परन्तु मैंने तो अपने लिए उसे बोझा ही बना लिया था। मैंने सोचा कि मुझे तो मूल पुस्तके सब पढ लेनी चाहिएँ। उन्हें न पढना अपने-आपको धोखा देना प्रतीत हुआ। इसलिए काफ़ी खर्च करके मूल पुस्तकें खरीद ली। रोमन लॉ को लैटिन में पढ जाने का निश्चय किया। विलायत की प्रवेश-परीक्षा में मैंने लैटिन पढी थी। उसका यहाँ अच्छा उपयोग हुआ। यह मिहनत व्यर्थ न गई। दक्षिण अफ्रीका में रोमन-डच लॉ प्रमाणभूत माना जाता है। उसे समझाने में मुझे जस्टीनियन का अध्ययन बडा ही उपयोगी प्रतीत हुआ।

इग्लैण्ड के कानूनो का अध्ययन मैं काफ़ी मिहनत करने पर नौ महीने मे पूरा कर सका था। क्योंकि ब्रुम की 'कॉमन लॉ' नामक बड़ी परन्तु सरल पुस्तक पढ़ने में ही बहुत समय लगा था। स्नेल की 'इक्विटी' में दिल तो लगा, परन्तु समझने में बडी ही मुश्किल मालूम हुई। व्हाइट और टयूडर के मुख्य मुकदमों में जो-जो पढने के थे उन्हें पढने में मुझे

बड़ी दिलचस्पी मालूम हुई और उससे ज्ञान भी मिला। विलियम्स और एडवर्ड्स की स्थावर-सम्पत्ति, सम्बन्धी पुस्तक मैं बड़ी दिलचस्पी के साथ पढ सका था। विलियम्स की पुस्तक तो मुझे उपन्यास के जैसी मालूम हुई। उसे पढते हुए छोडने को जी नही चाहता। कानूनी पुस्तको में हिन्दुस्तान आने के बाद, मैं मेइन का 'हिन्दू लॉ' उतनी ही दिलचस्पी के साथ पढ सका था। परन्तु हिन्दुस्तान के कानूनो की बात करने के लिए यह स्थान नही है।

परीक्षाये पास की। १० जून १८९१ ई० को मैं बैरिस्टर हुआ। ग्यारहवी तारीख को इग्लैण्ड-हाईकोर्ट में ढाई शिलिंग देकर अपना नाम रजिस्टर कराया। बारह जून को हिन्दुस्तान लौट आने के लिए रवाना हुआ।

परन्तु मेरी निराशा और भीति का कुछ ठिकाना न था। कानून मैंने पढ तो लिया, परन्तु मेरा दिल यही कहता था कि अभीतक मुझे कानून का इतना ज्ञान नही हुआ है कि वकालत कर सकूं।

इस व्यथा का वर्णन करने के लिए एक दूसरे अध्याय की आवश्यकता होगी।

: २५ :

मेरी दुविधा

बैरिस्टर कहलाना तो आसान मालूम हुआ, परन्तु बैरिस्टरी करना बड़ा मुश्किल जान पड़ा। कानून की किताबें तो पढ डाली, पर वकालत करना न सीखा। कानून की पुस्तको में कितने ही धर्म-सिद्धान्त मुझे मिले, जोकि मुझे पसन्द हुए। परन्तु यह समझ में न आया कि वकालत के पेशे में उनसे कैसे फायदा उठाया जा सकेगा। 'अपनी चीज का इस्तैमाल इस तरह करो कि जिससे दूसरो की चीज को नुकसान न पहुँचे' यह धर्म-वचन मुझे कानून में मिला। परन्तु यह समझ में न आया कि वकालत करते हुए मुवक्किल के मुकदमे में उनका व्यवहार किस तरह किया

जाता होगा। जिन मुकदमो में इस सिद्धान्त का उपयोग किया गया था, मैंने उनको पढा। परन्तु उनसे इस सिद्धान्त को व्यवहार में लाने की तरकीब हाथ न आई।

दूसरे, जिन कानूनो को मैंने पढा उनमे भारतवर्ष के क़ानूनो का नाम तक न था। न यह जाना कि हिन्दू-शास्त्र तथा इस्लामी कानून क्या चीज हैं। अर्जी-दावा तक लिखना न जानता था। मैं बडी दुविधा में पडा। फीरोजशाह मेहता का नाम मैंने सुना था। वह अदालतो में सिह-गर्जना करते हैं। यह कला वह इग्लैण्ड में किस प्रकार सीखे होगे? उनके जैसी निपुणता इस जन्म में तो नहीं आने की, यह तो दूर की बात है, किन्तु मुझे तो यह भी जबरदस्त शक था कि एक वकील की हैसियत मे मैं पेट पालने तक में भी समर्थ हो सकूँगा या नही।

यह उथल-पुथल तो तभी से चल रही थी जब मैं क़ानून का अध्ययन कर रहा था। मैंने अपनी यह कठिनाई अपने एक-दो मित्रो के सामने रक्खी। एक ने कहा, दादाभाई की सलाह लो। यह पहले ही लिख चुका हूँ कि मेरे पास दादाभाई के नाम एक परिचय-पत्र था। उस पत्र का उपयोग मैंने देर से किया। ऐसे महान् पुरुषो से मिलने जाने का मुझे क्या अधिकार है? कहीं यदि उनका भाषण होता तो मैं सुनने चला जाता और एक कोने में बैठकर आँख-कान को तृप्त करके वापस लौट आता। उन्होंने विद्यार्थियो के सपर्क में आने के लिए एक मण्डल की भी स्थापना की थी। उसमें मैं जाया करता। दादाभाई की विद्यार्थियों के प्रति चिन्ता और दादाभाई के प्रति विद्यार्थियो का आदर-भाव देखकर मुझे बडा आनन्द होता। आखिर हिम्मत बाँधकर एक दिन वह पत्र दादाभाई को दिया। उन्होंने कहा—'तुम जब कभी मिलना चाहो और सलाह मशवरा लेना चाहो, जरूर मिलना।' लेकिन मैंने उन्हें कभी तकलीफ़ न दी। बगैर जरूरी काम के उनका समय लेना मुझे पाप मालूम हुआ। इसलिए उस मित्र की सलाह के अनुसार, दादाभाई के सामने अपनी कठिनाइयों को रखने की मेरी हिम्मत न हुई।

उसी अथवा और किसी मित्र ने मुझे मि० फ्रेडेरिक पिकट से मिलने

की सलाह दी। मि० पिकट कंजरवेटिव दल के थे, लेकिन भारतीयों के प्रति उनका प्रेम निर्मल और निःस्वार्थ था। बहुत-से विद्यार्थी उनसे सलाह लेते। इसलिए मैंने एक पत्र लिखकर मिलने का समय मांगा। उन्होंने मुझे समय दिया। मैं मिला। यह मुलाकात मैं आजतक न भूल सका। एक मित्र की तरह वह मुझसे मिले। मेरी निराशा को तो उन्होंने हँसी में ही उड़ा ही दिया। 'तुम क्यों ऐसा मानते हो कि हर आदमी के लिए फीरोजशाह होना जरूरी है? फीरोजशाह और बदरुद्दीन तो विरले ही होते हैं। यह तो तुम निश्चय जानो कि एक सामान्य वकील बनने के लिए भारी निपुणता की जरूरत नहीं पड़ती। साधारण प्रमाणिकता तथा उद्योगशीलता से मनुष्य वकालत अच्छी तरह कर सकता है। सब-के-सब मुकद्दमे कठिन और उलझे हुए नहीं होते। अच्छा तुम्हारा सामान्य ज्ञान कैसा-क्या है?"

मैंने उसका जब परिचय दिया तब मुझे वह कुछ निराश-से मालूम हुए। किन्तु वह निराशा क्षणिक थी। तुरन्त ही फिर उनके चेहरे पर एक हँसी की रेखा दौड़ गई और बोले—

"तुम्हारी कठिनाई को अब मैं समझ पाया। तुम्हारा सामान्य ज्ञान बहुत ही कम है। तुम्हें दुनिया का ज्ञान नहीं है। इसके बिना वकील का काम नहीं चलता। तुमने तो भारत का इतिहास भी नहीं पढ़ा। वकील को मनुष्य-स्वभाव का परिचय होना चाहिए। उसे तो चेहरा देखकर आदमी को पहचान लेना चाहिए। दूसरे, हर भारतवासी को भारतवर्ष के इतिहास का भी ज्ञान होना जरूरी है। वकालत के साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं है, किन्तु उसका ज्ञान तुम्हें होना चाहिए। मैं देखता हूँ कि तुमने 'के' तथा 'मैलेसन' के लिखे १८५७ के गदर का इतिहास नहीं पढ़ा है। उसे तो जरूर ही पढ़ लेना। मैं दो पुस्तकों के नाम और बतलाता हूँ। उन्हें मनुष्य को पहचानने के लिए जरूर पढ़ डालना।" यह कहकर उन्होंने लैवेटर तथा शेमलपेनिक की 'मुख सामुद्रिक विद्या' (फिजियॉग्नामी) विषयक दो पुस्तकों के नाम लिख दिये।

इन बुजुर्ग मित्र का मैंने खूब अहसान माना। उनके सामने तो एक

क्षण के लिए मेरा डर भाग गया, किन्तु बाहर निकलते ही फिर चिन्ता शुरू हुई। 'चेहरा देखकर आदमी को पहचान लेना' इस वाक्य को रटता-रटता और उन दो पुस्तकों का विचार करता-करता घर पहुँचा। दूसरे ही रोज लॅवेटर की पुस्तक खरीद ली। शेमलपेनिक की किताब उस दुकान पर न मिली। लॅवेटर की पुस्तक पढ़ी तो सही, किन्तु वह तो स्नेल की 'इक्विटी' की अपेक्षा भी कठिन मालूम हुई। दिलचस्पी भी कम थी। शेक्सपियर के चेहरे का अध्ययन किया, लेकिन लन्दन की सड़कों पर घूमते-फिरते शेक्सपियरों को पहचानने की शक्ति न आई।

लॅवेटर की पुस्तक से मुझे ज्ञान नहीं मिला। मि० पिंकट की सलाह की अपेक्षा उनके स्नेह से बहुत लाभ हुआ। उनकी हँसमुख तथा उदार आकृति ने मेरे दिल में जगह करली। उनके इन वचन पर, कि वकालत करने के लिए फ़ीरोज़शाह मेहता के समान निपुणता, स्मरणशक्ति आदि की आवश्यकता नहीं होती तथा श्रमशीलता से काम चल जायगा मेरा विश्वास बैठ गया। इन दो चीज़ों की पूँजी तो मेरे पास काफ़ी थी।

के तथा मैलेसन की पुस्तक को मैं विलायत में न पढ़ पाया। किन्तु मैंने समय मिलते ही पहले उसीको पढ़ डालने का निश्चय कर लिया था। दक्षिण अफ्रीका में जाकर मेरा वह मनोरथ पूरा हुआ।

यों निराशा में आशा का थोड़ा-सा मिश्रण लेकर मैंने काँपते हुए, 'आसाम' स्टीमर से बम्बई बन्दर पर पैर रक्खा। बन्दर पर समुद्र क्षुब्ध था। लान्च में बैठकर किनारे पर पहुँचना था।

भाग पहला समाप्त

दूसरा भाग

: १ :

रायचन्दभाई

पिछले अध्याय में मैं लिख चुका हूँ कि बम्बई-बन्दर पर समुद्र क्षुब्ध था। जून-जुलाई में हिन्द-महासागर मे यह कोई नई बात नही होती। अदन से ही समुद्र का यह हाल था। सब लोग बीमार थे—अकेला मैं मौज मे रहा था। तूफान देखने के लिए डेक पर रहता और भीग भी जाता। सुबह भोजन के समय यात्रियो में हम एक ही दो नजर आते। हमें ओट की पतली लपसी ही रकाबी को गोद में रखकर खाना पडता था, वर्ना हालत ऐसी थी कि लपसी गोद मे ही ढुलक पडती।

यह बाहरी तूफान मेरे लिए तो अन्दर के तूफान का चिन्ह-मात्र था। परन्तु बाहरी तूफान के रहते हुए भी मैं जिस प्रकार अपने को शान्त रख सकता था, वही बात आन्तरिक तूफान के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। जातिवालो का सवाल तो सामने था ही। वकालत की चिन्ता का हाल पहले ही लिख चुका हूँ। फिर मैं ठहरा सुधारक। मन में कितने ही सुधार करने के मनसूबे बाँध रखे थे। उनकी भी चिन्ता थी। एक और अकल्पित चिन्ता खडी हो गई।

माताजी के दर्शन करने के लिए अधीर हो रहा था। जब हम डॉक पर पहुँचे तो मेरे बडे भाई वहाँ मौजूद थे। उन्होंने डाक्टर मेहता तथा उनके बडे भाई से जान-पहचान करली थी। डाक्टर चाहते थे कि मैं उन्हीं के घर ठहरूँ। वह मुझे वहीं लिवा ले गये। इस तरह विलायत में जो सम्बन्ध बाँधा था वह देश में भी कायम रहा। यही नहीं, बल्कि अधिक दृढ होकर दोनो परिवारो में फैला।

माताजी के स्वर्गवास के वारे में मै विलकुल वेखवर था। घर पहुं-चने पर मुझे यह समाचार सुनाया और स्नान कराया गया। यह खव मुझे विलायत में भी दी जा सकती थी; पर मेरे वडे भाई ने वम्बई तव खवर न पहुँचाने का ही निश्चय किया, इस विचार से कि मुझे आघात कम पहुँचे। अपने इस दु ख पर मै परदा डालना चाहता हूँ। पिताजी की मृत्यु से अधिक आघात मुझे इस समाचार को पाकर पहुँचा। मेरे कितने ही मनसूबे मिट्टी में मिल गये। पर मुझे याद है कि इस समाचार को सुनकर मै रोने-पीटने नही लगा था। आँसू तक को प्राय. रोक पाया था। और इस तरह व्यवहार शुरू रक्खा मानो माताजी की मृत्यु हुई ही न हो।

डाक्टर मेहता ने अपने घर के जिन लोगो से परिचय कराया, उनमें से एक का जिक्र यहाँ किये विना नही रह सकता। उनके भाई रेवाशकर जगजीवन के साथ तो जीवन-भर के लिए स्नेह गाँठ वँध गई। परन्तु जिनकी वात मै कहना चाहता हूँ वह तो है कवि रायचन्द अथवा राजचन्द्र। वह डाक्टर साहव के वडे भाई के दामाद थे और रेवाशकर जगजीवन की दूकान के भागीदार तथा कार्यकर्त्ता थे। उनकी अवस्था उस समय २५ वर्ष से अधिक न थी। फिर भी पहली ही मुलाकात में मैंने यह देख लिया कि वह चरित्रवान् और ज्ञानी थे। वह शतावधानी माने जाते थे। डाक्टर मेहता ने कहा कि इनके शतावधान का नमूना देखना। मैंने अपने भापा-ज्ञान का भडार खाली कर दिया और कविजी ने मेरे कहे तमाम शब्दो को उसी नियम से कह सुनाया, जिस नियम से मैंने कहा था। इस सामर्थ्य पर मुझे ईर्ष्या तो हुई, किन्तु उसपर मै मुग्ध न हो पाया। जिस चीज पर मै मुग्ध हुआ उसका परिचय तो मुझे पीछे जाकर हुआ। वह था उनका विशाल शास्त्र-ज्ञान, उनका निर्मल चरित्र और आत्म-दर्शन करने की उनकी भारी उत्कण्ठा। मैंने आगे चलकर जाना कि केवल आत्म-दर्शन करने के लिए वह अपना जीवन व्यतीत कर रहे थे।

हसता रमता प्रगट हरि देखुं रे
मारुं जीव्युं सफळ तव लेखुं रे;

मुक्तानंद नो नाथ विहारी रे
ओधा जीवनदोरी अमारी रे।[1]

मुक्तानन्द का यह वचन उनकी जवान पर तो रहता ही था, पर उनके हृदय में भी अंकित हो रहा था।

खुद हजारो का व्यापार करने, हीरे-मोती की परख करते, व्यापार की गुत्थियाँ सुलझाते, पर वे बाते उनका विषय न थी। उनका विषय—उनका पुरुषार्थ—तो आत्म-साक्षात्कार—हरिदर्शन था। दूकान पर और कोई चीज हो या न हो, एक-न-एक धर्म-पुस्तक और डायरी जरूर रहा करती। व्यापार की बात जहाँ खतम हुई कि धर्म-पुस्तक खुलती अथवा रोजनामचे पर कलम चलने लगती। उनके लेखो का सग्रह गुजराती में प्रकाशित हुआ है, उसका अधिकाश इस रोजनामचे के ही आधार पर लिखा गया है। जो मनुष्य लाखो के सौदे की बात करके तुरन्त आत्म-ज्ञान की गूढ बातें लिखने बैठ जाता है वह व्यापारी की श्रेणी का नही, बल्कि शुद्धि ज्ञानी की कोटि का है। उनके सम्बन्ध में यह अनुभव मुझे एक बार नही अनेक बार हुआ है। मैंने उन्हे कभी मूच्छित—गाफिल—नही पाया। मेरे साथ उनका कुछ स्वार्थ न था। मैं उनके बहुत निकट समागम में आया हूँ। मै उस वक्त एक ठलुआ बैरिस्टर था। पर जब मे उनकी दुकान पर पहुँच जाता तो वह धर्म-वार्ता के सिवा दूसरी बातें न करते। इस समय तक मै अपने जीवन का मार्ग न देख पाया था, यह भी नही कह सकते कि धर्म-वार्त्ताओ में मेरा मन लगता था। फिर भी मै कह सकता हूँ कि रायचन्दभाई की धर्म-वार्ता मै चाव से सुनता था। उसके बाद मैं कितने ही धर्माचार्यों के सम्पर्क में आया हूँ, प्रत्येक धर्म के आचार्यो से मिलने का मैने प्रयत्न भी किया है, पर जो छाप मेरे दिल पर रायचन्दभाई की पडी, वह किसीकी न पड सकी। उनकी कितनी ही बाते मेरे ठेठ अन्तस्तल तक पहुँच जाती। उनकी

१ भावार्थ यह कि मैं अपना जीवन तभी सफल समझूंगा, जब मैं हंसतेखेलते ईश्वर को अपने सामने देखूंगा। निश्चय-पूर्वक वही मुक्तानन्द का जीवन सूत्र है। —अनु०

बुद्धि को मैं आदर की दृष्टि से देखता था। उनकी प्रमाणिकता पर भी मेरा उतना ही आदर-भाव था। और इससे मैं जानता था कि वह जान-बूझकर उल्टे रास्ते नहीं ले जायेंगे एवं मुझे वही बात कहेंगे, जिसे वह अपने जी में ठीक समझते होंगे। इस कारण मैं अपनी आध्यात्मिक कठिनाइयों में उनकी सहायता लेता।

रायचन्दभाई के प्रति इतना आदर-भाव रखते हुए भी मैं उन्हें धर्म-गुरु का स्थान अपने हृदय में न दे सका। धर्म-गुरु की तो खोज मेरी अबतक चल रही है।

हिन्दू-धर्म में गुरुपद को जो महत्व दिया गया है, उसे मैं मानता हूं। 'गुरु बिन होत न ज्ञान' यह वचन बहुतांश में सच है। अक्षर-ज्ञान देने-वाला शिक्षक यदि अधकचरा हो तो एक बार काम चल सकता है, परन्तु आत्म-दर्शन कराने वाले अधूरे शिक्षक से काम हरगिज नहीं चलाया जा सकता। गुरुपद तो पूर्ण ज्ञानी को ही दिया जा सकता है। सफलता गुरु की खोज में ही है, क्योंकि गुरु शिष्य की योग्यता के अनुसार ही मिला करते हैं। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक साधक को योग्यता-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने का पूरा-पूरा अधिकार है। इस प्रयत्न का फल ईश्वरा-धीन है।

इसीलिए रायचन्दभाई को मैं यद्यपि अपने हृदय का स्वामी न बना सका, तथापि हम आगे चलकर देखेंगे कि उनका सहारा मुझे समय-समय पर कैसा मिलता रहा है। यहां तो इतना ही कहना बस होगा कि मेरे जीवन पर गहरा असर डालने वाले तीन आधुनिक मनुष्य हैं। रायचन्द-भाई ने अपने सजीव संसर्ग से, टॉल्स्टाय ने 'स्वर्ग तुम्हारे हृदय में है' नामक पुस्तक द्वारा तथा रस्किन ने 'अनटु दिस लास्ट'—सर्वोदय—नामक पुस्तक से मुझे चकित कर दिया है। इन प्रसंगों का वर्णन अपने-अपने स्थान पर किया जायगा।

: २ :

संसार-प्रवेश

बड़े भाई ने तो मुझपर बहुतेरी आशायें बाँध रक्खी थी। उन्हे धन का, कीर्ति का, और पद का लोभ बहुत था। उनका हृदय बादशाह की तरह था। उदारता उड़ाऊपन तक उन्हे ले जाती। इससे तथा उनके भोलेपन के कारण मित्र करते उन्हे देर न लगती। इन मित्रो के द्वारा उन्होने मेरे लिए मुकदमे लाने की तजवीज कर रक्खी थी। उन्होने यह भी मान लिया था कि मै खूब रुपया कमाने लगूँगा और इस भरोसे पर उन्होंने घर का खर्च भी खूब बढ़ा लिया। मेरे लिए वकालत का क्षेत्र तैयार करने में भी उन्होने कसर न उठा रक्खी थी।

जाति का झगड़ा अभी खड़ा ही था। दो दल हो गये थे। एक दल ने मुझे तुरन्त जाति में ले लिया। दूसरा न लेने के पक्ष में अलग रहा। जाति में ले लेनेवाले दल को सन्तुष्ट करने के लिए, राजकोट पहुँचने के पहले, भाईसाहब मुझे नाशिक ले गये। वहाँ गंगा-स्नान कराया और राजकोट में पहुँचते ही जाति-भोज दिया गया।

यह बात मुझे रुचिकर न हुई। बड़े भाई का मेरे प्रति अगाध प्रेम था। मेरा खयाल है कि मेरी भक्ति भी वैसी ही थी। इसलिए उनकी इच्छा और आज्ञा मानकर मैं यन्त्र की तरह, बिना समझे, उसके अनुसार करता चला गया। जाति की समस्या तो इतना करने से सुलझ गई।

जिस दल से मैं पृथक् रहा, उसमें प्रवेश करने के लिए मैंने कभी कोशिश न की, और न मैं कभी जाति के मुखिया पर मन मे क्रुद्ध ही हुआ। उसमें ऐसे लोग भी थे, जो मुझे तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे। उनसे मैं नम्रता-झुकता रहता। जाति के बहिष्कार-विषयक नियम का पूरा पालन करता। अपने सास-सुसर अथवा बहन के यहाँ पानी तक न पीता। वे छिपे-छिपे मिलाने को तैयार होते थे, पर जि[illegible] आदमियो के सामने नही कर सकने, उसे छिपकर क[illegible] मेरा जी ने चाहता।

मेरे इस व्यवहार का परिणाम यह हुआ कि मुझे याद नहीं आता कि जातिवालों ने कभी कोई उपद्रव मेरे साथ किया हो। यही नहीं, बल्कि मैं आज भी जाति के एक विभाग से नियम के अनुसार बहिष्कृत माना जाता हूँ, फिर भी मैंने अपने प्रति उनकी तरफ से मान और उदारता का ही अनुभव किया है। उन्होंने मुझे मेरे काम में मदद की है, और मुझसे इस बात की जरा भी आशा न रक्खी कि मैं जाति के लिहाज से कोई काम करूँ। मेरी यह धारणा है कि इस मधुर फल का कारण है मेरा अप्रतिकार। यदि मैंने जाति में जाने की कोशिश की होती, अधिक दल-बन्दी करने की चेष्टा की होती, जातिवालों को छेडा और उकसाया होता, तो वे अवश्य मेरे खिलाफ उठ खडे होते और मैं, विलायत से आते ही, उदासीन और अलिप्त रहने के बदले, कुचक्र के फंदे में पड़कर केवल मिथ्यात्व का पोषक बन जाता।

पत्नी के साथ मेरा सम्बन्ध अभी जैसा मैं चाहता था वैसा न हुआ। विलायत जाने पर भी अपने द्वेष-दुष्ट स्वभाव को मैं न छोड़ सका था। हर बात में मेरी दोष देखने की वृत्ति और वहम जारी रहा। इससे मैं अपने मनोरथों को पूरा न कर सका। सोचा था कि पत्नी को लिखना-पढना सिखाऊँगा, परन्तु मेरी विषयासक्ति ने मुझे यह काम बिलकुल न करने दिया और अपनी इस कमी का गुस्सा मैंने पत्नी पर निकाला। एक बार तो यहाँतक नौबत आ पहुँची कि मैंने उसे नैहर भेज दिया और बहुत कष्ट देने के बाद ही फिर साथ रहने देना स्वीकार किया। आगे चलकर मैं देख सका कि यह मेरी नादानी थी।

बालकों की शिक्षा-प्रणाली में भी मुझे बहुत-कुछ सुधार करने थे। बड़े भाई के लड़के-बच्चे तो थे ही। मैं भी एक बच्चा छोड़ गया था, जो कि अब चार साल का होने आया था। सोचा यह था कि इन बच्चों को कसरत कराऊँगा, हट्टा-कट्टा बनाऊँगा और अपने साथ रक्खूँगा। भाई इसमें सहमत थे। इसमें मैं कुछ-न-कुछ सफलता प्राप्त कर सका। लड़कों का समागम मुझे बहुत प्रिय मालूम हुआ। और उनके साथ हँसी-मजाक करने की आदत आजतक बाकी रह गई है। तभी से मेरी यह धारणा

हुई है कि मैं लड़कों के शिक्षक का काम अच्छा कर सकता हूँ।

भोजन-पान में भी सुधार करने की आवश्यकता स्पष्ट थी। घर में चाय-काफी को तो स्थान मिल ही चुका था। बड़े भाई ने सोचा कि भाई के विलायत से घर आने के पहले, घर में विलायत की कुछ-न-कुछ हवा तो घुस ही जानी चाहिए। इस कारण चीनी के बरतन, चाय आदि जो भी चीजें पहले महज दवा दारू के लिए अथवा नई रोशनी के मेहमानों के लिए घर में रहती थीं अब सब के लिए काम आने लगीं। ऐसे वायु-मंडल में मैं अपने 'सुधारों' को लेकर आया। अब ओटमील की पतली लपसी शुरू हुई, चाय-काफी की जगह कोको आया। पर यह परिवर्तन नाममात्र का हुआ, वास्तव में तो चाय-काफी में कोको और आकर शामिल हो गया। बूट और मोजों ने अपना अड्डा पहले से जमा ही रक्खा था। मैंने अब कोट-पतलून से घर को पवित्र कर दिया।

इस तरह खर्च बढ़ा। नवीनतायें बढ़ीं। घर पर सफेद हाथी बँधा पर खर्च आवे कहाँ से? यदि राजकोट में आते ही वकालत शुरू करता तो हँसी होने का डर था, क्योंकि मुझे तो अभी इतना भी ज्ञान न था कि राजकोट में पास हुए वकीलों के सामने खड़ा रह सकता—और तिसपर फीस उससे दस गुनी लेने का दावा! कौन मवक्किल ऐसा बेवकूफ था, जो मुझे अपना वकील बनाता? अथवा यदि कोई ऐसा मूर्ख मिल भी जाता, तो क्या यह उचित था कि मैं अज्ञान में उद्धतता और धोखेबाजी की जोड़ मिलाकर अपने पर संसार का कर्ज बढ़ाता?

मित्रों की यह सलाह हुई कि मैं कुछ समय बम्बई जाकर हाईकोर्ट में अनुभव प्राप्त करूँ और भारत के कानून-कायदों का अध्ययन करूँ। साथ ही मुकदमे मिल जायँ तो वकालत भी करता रहूँ। मैं बम्बई रवाना हुआ।

घर-बार रचा। रसोइया रक्खा। वह तकदीर से मिला मुझ-जैसा ही। ब्राह्मण था। मैंने उसे नौकर की तरह नहीं रक्खा था। वह नहाता तो था, पर धोता न था। धोती मैली, जनेऊ मैला, शास्त्राध्ययन की तो बात ही दूर। और अधिक अच्छा रसोइया लाता कहाँ से?

'क्यों रविशंकर, रसोई बनाना तो जानते हो, पर सन्ध्या वगैरा भी कुछ याद है?'

'सन्ध्या? साहब, सन्ध्या तो है हमारी हल और कुदाली है खटकरम। मैं तो ऐसा ही बिरामण हूँ। आप जैसे हैं, तो निबाह लेते हैं। नहीं तो खेती बनी-बनाई है।'

मैंने उसके सम्बन्ध में अपना कर्तव्य समझा—मुझे रविशंकर का शिक्षक बनना होगा। समय तो बहुत था, आधी रसोई रविशंकर पकाता और आधी मैं। विलायत के अन्न-भोजन के प्रयोग यहाँ शुरू किये। एक स्टोव खरीदा। मैं खुद तो पंक्ति-भेद मानता ही न था। रविशंकर को भी उसमें आपत्ति न थी। सो हमारी जोड़ी खासी मिल गई। सिर्फ इतनी शर्त—अथवा मुसीबत कहिए—थी कि रविशंकर ने मैले-कुचैलेपन से नाता तोड़ने और रसोई साफ रखने की कसम खा रक्खी थी।

पर मैं चार-पांच मास से अधिक बम्बई न रह सकता था। क्योंकि खर्च बढ़ता ही जाता था और आमदनी कुछ न होती थी।

इस तरह जो मैंने संसार में प्रवेश किया तो बैरिस्टरी मुझे खलने लगी। आडम्बर बहुत, आमदनी कम। जिम्मेदारी का खयाल मुझे भीतर-ही-भीतर कुतर-कुतरकर खाने लगा।

: ३ :

पहला मुकदमा

बम्बई में एक ओर क़ानून का अध्ययन शुरू हुआ, दूसरी ओर भोजन के प्रयोग। उसमें मेरे साथ वीरचन्द गांधी सम्मिलित हुए। तीसरी ओर भाईसाहब मेरे लिए मुकदमे खोजने में लगे।

क़ानून पढ़ने का काम ढिलाई में चला। 'सिविल प्रोसीजर कोड' किसी तरह आगे नहीं चल सका। हाँ, क़ानून-शहादत ठीक चला। वीरचन्द गांधी सालिसिटरी की तैयारी करते थे, इसलिए वकीलों की बातें बहुत करते—"फ़ीरोजशाह की योग्यता और निपुणता का कारण है

उनका कानून-विषयक अगाध, ज्ञान । कानून शहादत तो उन्हे बर-जबान है । दफा बत्तीस का एक-एक मुकदमा वह जानते है । बदरुद्दीन तैयबजी की बहस करने और दलीले देने की शक्ति ऐसी अद्भुत है कि जज लोग भी चकित हो जाते हैं ।"

ज्यो-ज्यो मैं ऐसे अतिरथी-महारथियो की बातें सुनता, त्यो-त्यो मेरे छक्के छूटते ।

"बैरिस्टर लोगो का पाँच-सात साल तक अदालतो में मारे-मारे फिरना कोई गैर-मामूली बात नही है । इसीसे मैंने सालिसिटर होना ठीक समझा है । तीन साल के बाद यदि तुम अपने खर्च-भर के लिए पैदा कर सको तो बहुत समझना ।"

खर्च हर महीने लग रहा था । बाहर बैरिस्टर की तख्ती लगी रहती और अन्दर बैरिस्टरी की तैयारी होती रहती । मेरा दिल इन दोनो बातों की संगति किसी प्रकार न लगा सकता था । इस कारण मेरा अध्ययन बडी विकलता के साथ होता । मैं पहले कह चुका हूँ कि कानून-शहादत में कुछ मेरा दिल लगा । मेन का 'हिन्दू लॉ' बडी दिलचस्पी के साथ पढा । परन्तु पैरवी करने की हिम्मत अभी न आई । अपना यह दुःख मैं किससे कहता ? ससुराल में नवागत बहू की तरह मेरी हालत होगई ।

इतने ही में ममीबाई का मुकदमा मुझे मिला । मामला स्माल काज कोर्ट में था । प्रश्न उपस्थित हुआ कि 'दलाल को कमीशन देना पडेगा ।' मैंने साफ इन्कार कर दिया ।

"परन्तु फौजदारी अदालत के नामी वकील भी तो कमीशन देते है, जोकि तीन-चार हजार महीना कमा लेते हैं ।"

"मुझे उनकी बराबरी नहीं करना । मुझे तो २००) मासिक मिल जायँ तो बस । पिताजी को कहाँ इससे ज्यादा मिलते थे ?"

"पर वह जमाना निकल गया । बम्बई का खर्च कितना है ? जरा व्यवहार की बातो को भी देखना चाहिए ।"

मैं टस-से-मस न हुआ । कमीशन न देने दिया । ममीबाई का मुक-

दमा तो चला ही। मुक़दमा था आसान। मुझे ३०) मिहनताना मिला था। एक दिन से ज्यादा काम न था।

स्माल काज कोर्ट मे पहले-पहल मैं पैरवी करने गया। मै मुद्दाले की तरफ से था, इसलिए मुझे जिरह करनी थी। मैं खड़ा हुआ, पर पैर कांपने लगे, सिर घूमने लगा। मुझे मालूम हुआ कि सारी अदालत घूम रही है। सवाल क्या पूछूँ, यह सूझ नही पड़ता था। जज हँसा होगा। वकीलों को तो मजा आया ही होगा। पर उस समय मेरी आँखे ये सब नहीं देख सकती थीं।

बैठ गया। दलाल से कहा कि मैं इस मामले की पैरवी न कर सकूँगा। तुम पटेल को वकालतनामा दे दो और अपनी यह फीस वापिस ले लो। ५१) देकर उसी दिन पटेल साहब से तय कर दिया। उनके लिए तो यह बाँयें हाथ का खेल था।

मैं वहाँ से सटका। पता नहीं, मुवक्किल हारा या जीता। मै बड़ा लज्जित हुआ। निश्चय किया कि जबतक पूरी-पूरी हिम्मत न आ जाय तबतक कोई मुक़दमा न लूँगा। और दक्षिण अफ्रिका जाने तक अदालत में न गया। इस निश्चय मे कोई गुण न था। हराने के लिए कौन अपना मुक़दमा मुझे देता? अत मेरा इस निश्चय के बिना भी कोई मुझे पैरवी करने आने का कष्ट न देता।

पर बम्बई में अभी एक और मुक़दमा मिलना बाक़ी था। इसमें सिर्फ़ अर्ज़ी लिखनी थी। एक मुसलमान की जमीन पोरबन्दर में जब्त हो गई थी। मेरे पिता का नाम वह जानता था। और इसलिए वह उनके बैरिस्टर पुत्र के पास आया था। मुझे उसका मामला कमजोर मालूम हुआ, परन्तु मैंने अर्ज़ी लिख देना मंजूर कर लिया। छपाई का खर्च मवक्किल से ठहरा कर मैंने अर्ज़ी तैयार की। मित्रो को दिखाई। उन्होंने उसे पास किया, तब मुझे कुछ विश्वास हुआ कि हाँ, अब अर्ज़ियाँ लिख लेने लायक हो जाऊँगा, और इतना तो हो भी गया था।

पर मेरा काम बढ़ता गया। यों मुफ्त में अर्ज़ियाँ लिखते रहने से अर्ज़ियाँ लिखने का मौक़ा तो मिलता, पर उसमे घर-गिरस्ती के खर्च का सवाल कैसे हल हो सकता था?

मैंने सोचा कि मैं शिक्षक का काम तो अवश्य कर सकता हूँ। अंग्रेजी मेरी अच्छी थी। इसलिए यदि किसी स्कूल में मैट्रिक क्लास को अंग्रेजी पढाने का अवसर मिले तो अच्छा हो। कुछ तो आमदनी हुआ करेगी।

मैंने अखबारो में पढा—'चाहिए, अंग्रेजी शिक्षक। रोज एक घण्टे के लिए। वेतन ७५) रु०।' यह प्रख्यात हाईस्कूल का विज्ञापन था। मैंने दरख्वास्त दी। रूबरू मिलने का हुक्म मिला। मैं बडी उमग मे गया। पर जब आचार्य को मालूम हुआ कि बी० ए० नही हूँ तब उन्होंने मुझे दु ख के साथ वापस लौटा दिया।

"पर मैंने लन्दन से मैट्रिक पास किया है। मेरी दूसरी भाषा लैटिन थी।"

"सो तो ठीक, पर हमें ग्रेजुएट की जरूरत है।"

मैं लाचार रहा। मेरे हाथ-पाँव ठण्डे होगये। बडे भाई भी चिन्ता में पड़े। हम दोनो ने सोचा कि बम्बई मे समय गँवाना फिजूल है। मुझे राजकोट में ही सिलसिला जमाना चाहिए। भाई खुद एक वकील थे। अर्जियाँ लिखने का कुछ-न-कुछ तो काम दिला ही सकेगे। फिर राजकोट में घर भी था। वहाँ रहने से बम्बई का सारा खर्च कम हो सकता था। मैंने इस सलाह को पसन्द किया। पाँच-छ महीने रहकर बम्बई मे डेरा-डण्डा उठाया।

बम्बई रहते हुए मैं रोज हाईकोर्ट जाता। पर यह नही कह सकता कि वहाँ कुछ सीख पाया। इतना ज्ञान न था कि सीख सकता। कितनी ही बार तो मुकदमे में कुछ समझ ही नही पडता, न दिल ही लगता। बैठे-बैठे झोके भी खाया करता। और भी झोंके खानेवाले यहाँ थे—इससे मेरी शर्म का बोझ हलका हो जाता। आगे चलकर मेरा खयाल हुआ कि हाईकोर्ट मे बैठे-बैठे नीद के झोंके खाना एक फैशन ही समझ लेना चाहिए। फिर तो शर्म का कारण ही न रह गया।

यदि इस युग में बम्बई में मुझ जैसे कोई बेकार बैरिस्टर हों तो उनके लिए एक छोटा-सा अपना अनुभव यहाँ लिख देता हूँ।

मेरा मकान गिरगाँव मे था। फिर भी कभी-कभी गाडी किराये

करता। ट्राम में भी मुश्किल से बैठता। गिरगाँव से नियम-पूर्वक बहुत पर करके पैदल ही जाता। खासे ४५ मिनट लगते। लौटता भी बिला नागा पैदल ही। धूप सहने की आदत डाल ली थी। इससे मैंने खर्च में किफायत भी बहुत की और मैं एक दिन भी वहाँ बीमार न पड़ा, हालाँकि मेरे साथी बीमार होते रहते थे। जब मैं कमाने लगा था, तब भी मैं पैदल ही आफिस जाता। उसका लाभ मैं आजतक पा रहा हूँ।

: ४ :

पहला आघात

बम्बई से निराश होकर राजकोट गया। अलहदा दफ्तर खोला। कुछ सिलसिला चला। अर्जियाँ लिखने का काम मिलने लगा और प्रतिमास लगभग ३००) की आमदनी होने लगी। इन अर्जियों के मिलने का कारण मेरी योग्यता नहीं बल्कि जरिया था। बड़े भाई साहब के साथी वकील की वकालत अच्छी चलती थी। जो बहुत जरूरी और रहस्यपूर्ण अर्जियाँ आतीं अथवा जिन्हें वे महत्त्वपूर्ण समझते वे तो बैरिस्टर के पास जातीं, मुझे तो सिर्फ उनके ग़रीब मवक्किलों की अर्जियाँ मिलतीं।

बम्बई वाली कमीशन न देने की मेरी टेक यहाँ न निभ सकी। वहाँ और यहाँ की स्थिति का भेद मुझे समझाया गया—बम्बई में तो दलाल को कमीशन देने की बात थी, यहाँ वकील को देने की बात है। मुझसे कहा गया कि बम्बई की तरह यहाँ भी तमाम बैरिस्टर, बिना अपवाद के, कुछ-न-कुछ कमीशन अवश्य दिया करते हैं। भाई साहब की दलील का उत्तर मेरे पास न था। "तुम देखते हो कि मैं एक दूसरे वकील का साझी हूँ। मेरे पास आनेवाले मुकदमों में से तुम्हारे लायक मुकदमे तुम्हें देने की ओर मेरी प्रवृत्ति स्वभावत: रहती है और यदि तुम अपनी फीस का कुछ अंश मेरे साझी को न दो तो मेरी स्थिति कितनी विषम हो सकती है? हम तो एक साथ रहते हैं, इसलिए मुझे तो तुम्हारी फीस का लाभ मिल ही जाता है; पर मेरे साझीदार को नहीं मिलता। किन्तु यदि वही

मुकदमा वह किसी दूसरे को दे दे तो उसे उसका हिस्सा अवश्य मिलेगा।" मैं इन दलील के चक्कर में आ गया और मेरे मन ने कहा—"यदि मुझे बैरिस्टरी करना है, तो फिर ऐसे मुकदमो में कमीशन न देने का आग्रह मुझे न रखना चाहिए।" मैं झुक गया। अपने मन को फुसलाया अथवा स्पष्ट शब्दो मे कहे तो धोखा दिया। पर इसके सिवा दूसरे किसी मामले में कमीशन दिया हो, यह मुझे याद नही पडता।

इस तरह यद्यपि मेरा आर्थिक सिलसिला तो लग गया, परन्तु इसी अरसे में मुझे अपने जीवन में एक पहली ठेस लगी। अवतक मैंने सिर्फ कानो से सुन रक्खा था कि ब्रिटिश अधिकारी कैसे होते है। पर अब अपनी आँखो देखने का अवसर मिला।

पोरबन्दर के भूतपूर्व राणा साहब को गद्दी मिलने के पहले मेरे भाई उनके मन्त्री और सलाहकार थे। उस समय उनपर यह तोहमत लगाई कि वह राणा साहब को उलटी सलाह देते है। तात्कालिक पोलिटिकल एजेण्ट से उनकी शिकायत की गई थी और उनका खयाल भाई सा० के प्रति खराब हो रहा था। इन साहब से मै विलायत में मिला था। वहाँ उनकी मेरी ठीक-ठीक मित्रता हो गई थी। भाई साहब ने सोचा कि इस परिचय से लाभ उठाकर मैं पोलिटिकल एजण्ट से दो बातें कहूँ और उनके दिल पर जो कुछ बुरा असर पैदा हो उसे दूर करने की चेष्टा करूँ। मुझे यह बात बिलकुल पसन्द न हुई। मैंने कहा—"विलायत की ऐसी-वैसी मुलाकात का फायदा यहाँ न उठाना चाहिए। यदि भाई साहब ने सचमुच ही कोई बुरा काम किया हो, तो फिर सिफारिश से लाभ ही क्या ? यदि न किया हो तो फिर बाकायदा अपना वक्तव्य पेश करना चाहिए अथवा अपनी निर्दोषता पर विश्वास रखकर निर्भय हो रहना चाहिए।" पर भाई साहब को यह बात न पटी। "तुम काठियावाड से परिचित नही हो। जिन्दगी की खबर तुम्हे अब पडेगी, यहाँ जरिया और मेल-मुलाकात से सब काम होता है। तुम्हारे जैसा भाई हो और तुम्हारे मुलाकाती हाकिम को थोडी-सी सिफारिश करने का जब वक्त आवे तब तुम इस तरह पिण्ड छुडा लो, यह उचित नही।"

भाई की बात मैं न टाल सका। अपनी इच्छा के खिलाफ मैं गया। मुझे इस हाकिम के पास जाने का कुछ अधिकार न था। मैं जानता था कि जाने में मेरा आत्माभिमान जाता है। मैंने मिलने का समय मांगा। वह मिला और मैं गया। मैंने पुरानी पहचान निकाली, परन्तु मैंने तुरन्त देखा कि विलायत और काठियावाड़ में भेद था। हुकूमत की कुर्सी पर डटे हुए साहब और विलायत में छुट्टी पर गये हुए साहब में भेद था। पोलिटिकल एजण्ट को मुलाकात तो याद आई, पर साथ ही अधिक बेरुख भी हुए। उनकी बेरुखाई में मैंने देखा, उनकी आंखों में मैंने पढ़ा—'इस परिचय से लाभ उठाने तो तुम यहां नहीं आये हो?' यह जानते-समझते हुए भी मैंने अपना सुर छेड़ा। साहब अधीर हुए—'तुम्हारे भाई कुचक्री हैं। मैं तुमसे ज्यादा बात नहीं सुनना चाहता। मुझे समय नहीं है। तुम्हारे भाई को कुछ कहना हो तो बाकायदा अर्जी पेश करें।' यह उत्तर बस था; परन्तु गरज बावली होती है। मैं अपनी बात कहता ही जा रहा था। साहब उठे। बोले—'अब तुमको चला जाना चाहिए।'

मैंने कहा—'पर, मेरी बात तो पूरी सुन लीजिए।' साहब लाल-पीले हुए—'चपरासी इसको दरवाजे के बाहर कर दो।'

'हुजूर' कहकर चपरासी दौड़ आया। मेरा चर्खा अभीतक चल ही रहा था। चपरासी ने मेरा हाथ पकड़ा और दरवाजे के बाहर कर दिया।

साहब चले गये, चपरासी भी चला गया। मैं भी चला। झुंझलाता, खिसियाता हुआ, मैंने साहब को चिट्ठी लिखी—'आपने मेरा अपमान किया है, चपरासी से मुझपर हमला कराया है। मुझसे माफी माँगो, नहीं तो बाकायदा मानहानि का दावा करूंगा।' चिट्ठी भेज दी। थोड़ी ही देर में साहब का सवार जवाब ले आया।

'तुमने मेरे साथ असभ्यता का बर्ताव किया। तुमसे कह दिया था कि जाओ, फिर भी तुम न गये। तब मैंने जरूर चपरासी को कहा कि इन्हें दरवाजे के बाहर कर दो। और चपरासी के ऐसा कहने पर भी तुम बाहर नहीं गये। तब उसने हाथ पकड़कर तुम्हें दफ्तर से बाहर कर दिया। तुमको जो-कुछ करना हो, शौक से करो।' जवाब का भाव यह था।

इस जवाब को जेब में रख, अपना-सा मुँह ले, मैं घर आया। भाई से सारा हाल कहा। उन्हे दुःख हुआ। पर वह मेरी सान्त्वना क्या कर सकते थे? वकील मित्रो से सलाह ली—क्योंकि खुद मै दावा दायर करना कहाँ जानता था? उस समय सर फीरोजशाह मेहता अपने किसी मुकदमे में राजकोट आये थे। मुझ-जैसा नया बैरिस्टर भला उनसे कैसे मिल सकता था? जिस वकील की मार्फत वह आये थे उनके द्वारा कागज-पत्र भेजकर सलाह ली। उत्तर मिला कि गाधी से कहना—"ऐसी बाते तो तमाम वकील-बैरिस्टरो के अनुभव में आई होगी। तुम अभी नये आये हो। तुम पर अभी विलायत की हवा का असर है, तुम ब्रिटिश अधिकारी को पहचानते नही। यदि तुम चाहते हो कि सुख से बैठकर दो पैसे कमाले तो उस चिट्ठी को फाड डालो और अपमान की यह घूँट पी डालो। मामला चलाने मे तुम्हे एक कौडी न मिलेगी और मुफ्त में बरबादी हाथ आवेगी। जिन्दगी का अनुभव तो तुम्हे अभी मिलना बाकी है।"

मुझे यह नसीहत जहर की तरह कडवी लगी। परन्तु इस कडवी घूँट को पीये बिना चारा न था। मैं इस अपमान को भूल तो न सका, पर मैंने उसका सदुपयोग किया—"अबसे मैं अपने को ऐसी हालत में न डालूँगा। इस तरह किसी की सिफारिश आगे न करूँगा।" इस नियम का भग मैंने फिर कभी न किया। इस आघात ने मेरे जीवन की दिशा बदल दी।

: ५ :

दक्षिण अफ्रिका की तैयारी

पोलिटिकल एजेण्ट के पास मेरा जाना अवश्य अनुचित था, परन्तु उसकी अधीरता, उसका रोष, उसकी उद्धतता के सामने मेरा दोष बहुत छोटा होगया। मेरे दोष की सजा धक्का दिलाना न थी। मैं उसके पास पाँच मिनट भी न बैठा हूँगा। पर मेरा तो बात-चीत करना ही उसे नागवार हो गया। वह मुझे सौजन्य के साथ जाने के लिए कह सकता

था, परन्तु हकूमत के नशे की सीमा न थी। बाद को मुझे मालूम हुआ कि धीरज जैसी किसी चीज को यह शख्स जानता न था। मिलने जानेवाले का अपमान करना उसके लिए मामूली बात थी। जहाँ उसके रुचि के खिलाफ कोई बात हुई कि फौरन उसका मिजाज बिगड़ जाता।

मेरा ज्यादातर काम उसीकी अदालत में था। इधर खुशामद मुझसे हो नहीं सकती थी। और उसे नाजायज तरीके से खुश करना मैं चाहता न था। नालिश करने की धमकी देकर नालिश न करना और उसे कुछ भी जवाब न देना मुझे अच्छा न लगा।

इस बीच काठियावाड़ की अन्दरूनी खट-पट का भी मुझे कुछ अनुभव हुआ। काठियावाड़ अनेक छोटे-छोटे राज्यों का प्रदेश है। वहाँ राजकाजी लोगों की बहुतायत होना स्वाभाविक था। राज्यों में परस्पर गहरे षड्यन्त्र, पद-प्रतिष्ठा पाने के लिए षड्यन्त्र, राजा कच्चे कान के और पराधीन-साहबों के चपरासियों की खुशामद, सरिश्तेदार को डेढ़ साहब समझिए—क्योंकि सरिश्तेदार साहब की आँख, साहब के कान, और उसका दुभासिया सब कुछ। सरिश्तेदार जो बता दे वही कायदा। सरिश्तेदार की आमदनी साहब की आमदनी से ज्यादा मानी जाती है। सम्भव है कि इसमें कुछ अत्युक्ति हो। पर बात यह निर्विवाद है कि सरिश्तेदार के थोड़े वेतन के मुकाबले में उसका खर्च ज्यादा रहता था।

यह वायुमण्डल मुझे जहर के समान प्रतीत हुआ। दिन-रात मेरे मन में यह विचार रहने लगा कि अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा किस तरह कर सकूँगा?

होते-होते मैं उदासीन रहने लगा। भाई ने मेरा भाव देखा। यह विचार आया कि कहीं कोई नौकरी मिल जाय तो इन षड्यन्त्रों से पिण्ड छूट सकता है। परन्तु बिना षड्यन्त्र के न्यायाधीश अथवा दीवान का पद कहाँ से मिल सकता था? और वकालत करने के रास्ते में साहब के साथ झगड़ा खड़ा हुआ था।

पोरबन्दर में राणा साहब को अख्तियार न थे, उनके लिए कुछ अधिकार प्राप्त करने की तजवीज चल रही थी। मेर लोगों से ज्यादा

लगान लिया जाता था। उसके सम्बन्ध में भी मुझे एडमिनिस्ट्रेटर—मुख्य राज्याधिकारी—से मिलना था। मैंने देखा एडमिनिस्ट्रेटर के देशी होते हुए भी उनका रौब-दौब साहब से ज्यादा था। वह थे तो योग्य, परन्तु उनकी योग्यता का लाभ प्रजाजन को बहुत न मिलता था। अन्त में राणा साहब को तो थोडे अधिकार मिले। परन्तु मेर लोगो के हाथ कुछ न आया। मेरा ख़याल है कि उनकी तो बात भी पूरी न सुनी गई।

इसलिए यहाँ भी मैं अपेक्षाकृत निराश हुआ। मुझे लगा कि इन्साफ नही हुआ। इन्साफ पाने के लिए मेरे पास कोई साधन न था। बहुत हुआ तो बडे साहब के यहाँ अपील करदी। वह हुक्म लगा देता—'हम इस मामले में दखल नही दे सकते।' ऐसा फैसला यदि किसी कानून-कायदे के बल पर किया जाता हो तब तो आशा की जा सकती है। पर यहाँ तो साहब की इच्छा ही कानून था।

आखिर मेरा जी ऊब उठा। इसी अवसर पर भाई साहब के पास पोरबन्दर की एक मेमन दूकान का सन्देशा आया—'दक्षिण अफ्रिका मे हमारा व्यापार है। बडा कारोबार है। भारी मुकदमा चल रहा है। दावा चालीस हजार पौंड का है। बहुत दिनो से मामला चल रहा है। हमारी तरफ से बडे-बडे और अच्छे बैरिस्टर है। यदि आप अपने भाई को यहाँ भेज दें तो हमें भी मदद मिलेगी और उनकी भी कुछ मदद हो जायगी। वह हमारा मामला हमारे वकीलो को अच्छी तरह समझा सकेगे। इसके सिवा नये देश की यात्रा होगी और नये-नये लोगो से जान-पहचान होगी सो अलग।'

भाई साहब ने मुझसे जिक्र किया। मै सारी बात अच्छी तरह न समझ सका। मै यह न जान सका कि सिर्फ वकीलो को समझाने का काम है या मुझे अदालत में भी जाना पडेगा। पर मेरा जी ललचाया जरूर।

दादा अब्दुल्ला के हिस्सेदार स्वर्गीय सेठ अब्दुलकरीम जवेरी की मुलाकात भाई ने कराई। सेठ ने कहा—'तुमको बहुत मिहनत नही करनी पडेगी। बडे-बडे गोरो से हमारी दोस्ती है। उनसे तुम्हारा परिचय होगा। हमारी दूकान के काम में भी मदद कर सकोगे। हमारे यहाँ

अंग्रेजी चिट्ठी-पत्री बहुत होती है। उसमें भी तुम्हारी मदद मिल सकेगी। तुम्हारे रहने का प्रबन्ध हमारे ही बंगले में रहेगा। इस तरह तुम पर कुछ भी खर्च न पड़ेगा।'

मैंने पूछा कितने दिन तक मुझे वहाँ काम करना पड़ेगा? मुझे वेतन क्या मिलेगा?'

'एक साल से ज्यादा तुम्हारा काम न रहेगा। आने-जाने का फर्स्ट-क्लास का किराया और भोजन-खर्च के अलावा १०५ पौण्ड दे देंगे।'

यह वकालत नहीं, नौकरी थी। परन्तु मुझे तो जैसे-तैसे हिन्दुस्तान छोड़ देना था। सोचा कि नई दुनिया देखेंगे और नया अनुभव मिलेगा सो अलग। १०५ पौण्ड भाई साहब को भेज दूँगा तो घर-खर्च में कुछ मदद हो जायगी। यह सोचकर मैंने तो वेतन के सम्बन्ध में बिना कुछ खींचा-खींच किये सेठ अब्दुलकरीम की बात मान ली और दक्षिण अफ्रिका जाने के लिए तैयार हो गया।

: ६ :

नेटाल पहुँचा

विलायत जाते समय जो वियोग-दुःख हुआ था, वह दक्षिण अफ्रिका जाते हुए न हुआ, क्योंकि माताजी तो चल बसी थीं और मुझे दुनिया का और सफर का अनुभव भी बहुत-कुछ हो गया था। राजकोट और बम्बई तो आया-जाया करता ही था। इस कारण अबकी बार सिर्फ पत्नी का ही वियोग दुःखकर था। विलायत से आने के बाद दूसरे एक बालक का जन्म हो गया था। हम दम्पती के प्रेम में अभी विषय का अंश तो था ही। फिर भी उसमें निर्मलता आने लगी थी। मेरे विलायत से लौटने के बाद हम बहुत थोड़ा समय एक साथ रहे थे और मैं ऐसा-वैसा क्यों न हो, उसका शिक्षक बन चुका था। इधर पत्नी की बहुतेरी बातों में बहुत-कुछ सुधार कर चुका था और उन्हें क़ायम रखने के लिए भी साथ रहने की आवश्यकता हम दोनों को मालूम होती थी। परन्तु

अफ्रिका मुझे आकर्षित कर रहा था। उसने इस वियोग को सहन करने की शक्ति देदी थी। 'एक साल के बाद तो हम मिलेंगे ही' कहकर और दिलासा देकर मैंने राजकोट छोड़ा, और बम्बई पहुँचा।

दादा अब्दुल्ला के बम्बई के एजेण्ट की मार्फत मुझे टिकट लेना था। परन्तु जहाज पर केबिन खाली न थी। यदि मैं यह चूक जाऊँ तो फिर मुझे एक मास तक बम्बई मे हवा खानी पड़े। एजेण्ट ने कहा—'हमने तो खूब दौड़-धूप कर ली। हमें टिकट नहीं मिला। हाँ, डेक में जायँ तो बात दूसरी है। भोजन का इन्तजाम सैलून में हो सकता है। ये दिन मेरे फर्स्ट क्लास की यात्रा के थे। बैरिस्टर भला कहीं डेक में सफर कर सकता है? मैंने डेक में जाने से इन्कार कर दिया। मुझे एजेण्ट की बात पर शक भी हुआ। यह बात मेरे मानने में न आई कि पहले दर्जे का टिकट मिल ही नहीं सकता। अतएव एजेण्ट से पूछकर खुद मैं ही टिकट लाने चला। जहाज पर पहुँचकर बड़े अफसर से मिला। पूछने पर उसने सरल भाव से उत्तर दिया—'हमारे यहाँ मुश्किल से इतनी भीड़ होती है। परन्तु मोजाम्बिक के गवर्नर जनरल इसी जहाज से जा रहे हैं। इससे सारी जगह भर गई है।'

'तब क्या आप किसी प्रकार मेरे लिए जगह नहीं कर सकते?' अफसर ने मेरी ओर देखा, हँसा और बोला—'एक उपाय है। मेरी केबिन में एक बैठक खाली रहती है। उसमें तो हम यात्रियों को नहीं बैठने देते। पर आपके लिए मैं जगह कर देने को तैयार हूँ।' मैं खुश हुआ। अफसर को धन्यवाद दिया व सेठ से कहकर टिकट मँगाया। अप्रैल १८९३ को मैं बड़ी उमंग के साथ अपनी तकदीर आजमाने के लिए दक्षिण अफ्रीका रवाना हुआ।

पहला बन्दर लामू मिला। कोई तेरह दिन में वहाँ पहुँचे। रास्ते में कप्तान के साथ खासा स्नेह हो गया था। कप्तान को शतरंज खेलने का शौक था। पर वह अभी नौसिखिया था। उसे अपने से कम जानकार खिलाड़ी की जरूरत थी और उसने मुझे खेलने के लिए बुलाया। मैंने शतरंज का खेल कभी न देखा था। हाँ, सुन खूब रक्खा था। खेलनेवाले

कहा करते कि इसमें बुद्धि की खासी परीक्षा होती है। कप्तान ने कहा—'मैं तुम्हें सिखाऊँगा।" मैं उसे मनचाहा शिष्य मिला, क्योंकि मुझमें धीरज काफी था। मैं हारता ही रहता। और ज्यों-ज्यों मैं हारता, कप्तान बड़े उत्साह और उमग से सिखाता। मुझे यह खेल पसन्द आया। परन्तु जहाज से नीचे वह कभी साथ न उतरा। राजा-रानी की चालें जानने से अधिक मैं न सीख सका।

लामू बन्दर आया। जहाज वहाँ तीन-चार घण्टे ठहरनेवाला था। मैं बन्दर देखने को नीचे उतरा। कप्तान भी गया था। पर उसने मुझे कह दिया था—'यहाँ का समुद्र दग़ाबाज है। तुम जल्दी वापस आ जाना।

गाँव छोटा-सा था। वहाँ डाकघर में गया तो हिन्दुस्तानी आदमी देखे। मुझे खुशी हुई। उनके साथ बातें की। हबशियों से मिला। उनकी रहन-सहन में दिलचस्पी पैदा हुई। उसमें कुछ समय चला गया। डेक के और यात्री भी वहाँ आ गये थे। उनसे परिचय हो गया था। वे भोजन पकाकर आराम से खाना खाने नीचे उतरे थे। मैं वापस आने के लिए उनकी नाव में बैठा। समुद्र में ज्वार भी खासा था। हमारी नाव में बोझ भी काफी था। तनाव इतने जोर का था कि नाव की रस्सी जहाज की सीढ़ी के साथ किसी तरह न बँधती थी। नाव जहाज के पास जाकर फिर हट जाती। जहाज रवाना होने की पहली सीटी हुई। मैं घबराया। कप्तान ऊपर से देख रहा था। उसने जहाज ५ मिनट रोक लिया। जहाज के पास एक मछवा था। उसे १०) देकर एक मित्र ने किराये किया। मछवे ने मुझे नाव में से उठा लिया। जहाज की सीढ़ी ऊपर चढ़ चुकी थी। रस्सी के बल मैं ऊपर खींचा गया और जहाज चलने लगा। दूसरे यात्री बेचारे रह गये। कप्तान की उस चेतावनी का मतलब अब मैंने समझा।

लामू से मुम्बासा और वहाँ से जंजीबार पहुँचे। जंजीबार में बहुत ठहरना था—८ या १० दिन। यहाँ से नये जहाज में बैठना था।

कप्तान के प्रेम की सीमा न थी। इस प्रेम ने मेरे लिए विपरीत रूप धारण किया। उसने मुझे अपने साथ सैर करने के लिए बुलाया। उसका

एक अंग्रेज मित्र भी साथ था। हम तीनो कप्तान के मछवे में उतरे। इस मैर का मर्म मै बिलकुल न जानता था। कप्तान को क्या खबर थी कि ऐसी बातो में मै बिलकुल अनजान हूँगा। हम तो हबशी औरतो के मुहल्लो में जा पहुँचे। एक दलाल हमें वहाँ ले गया। तीनो एक-एक कमरे में दाखिल हुए। पर मैं तो शर्म का मारा कमरे में घुसा बैठा ही रहा। उस बेचारी बाई के मन मे क्या-क्या विचार आये होगे, यह तो वही जानती होगी। थोडी देर में कप्तान ने आवाज लगाई। मै तो जैसा अन्दर घुसा था, वैसा ही वापस बाहर आ गया। यह देखकर कप्तान मेरा भोलापन समझ गया। शुरू मे तो मुझे बडी ही शर्म मालूम हुई, परन्तु इस काम को तो मैं किसी तरह पसन्द नही कर सकता था, इससे शर्म चली गई और मैंने ईश्वर का उपकार माना कि इस बहन को देखकर मेरे मन में किसी प्रकार का विकार तक उत्पन्न न हुआ। मुझे अपनी इस कमजोरी पर बडी ग्लानि हुई कि मै कमरे मे प्रवेश करने मे इन्कार करने का साहस क्यो न कर सका।

मेरे जीवन में यह इस प्रकार की तीसरी परीक्षा थी। कितने ही नवयुवक शुरुआत मे निर्दोष होते हुए भी झूठी शर्म से बुराई में लिप्त हो जाते होगे। मेरा बचाव मेरे पुरुषार्थ के बदौलत नही हुआ था। यदि मैंने कमरे मे जाने से साफ इन्कार कर दिया होता तो पुरुषार्थ समझा जा सकता था। सो मेरे इस बचाव के लिए तो एकमात्र ईश्वर का ही उपकार मानना चाहिए। इस घटना से ईश्वर पर मेरी आस्था दृढ हुई और झूठी शर्म छोडने का साहस भी कुछ आया।

जजीबार में एक सप्ताह रहना था। इसलिए एक मकान किराये लेकर मैं शहर में रहा। खूब घूम-फिरकर शहर को देखा। जजीबार की हरियाली की कल्पना सिर्फ मलाबार में ही हो सकती है। वहाँ के विशाल वृक्ष, बडे-बडे फल, इत्यादि देखकर मैं तो चकित रह गया।

जजीबार से मोजाबिक और वहाँ से लगभग मई के अन्त में नेटाल पहुँचा।

: ७ :

कुछ अनुभव

नेटाल का बन्दर यो तो डरबन कहलाता है, पर नेटाल को भी बन्दर कहते है। मुझे बन्दर पर लिवाने अब्दुल्ला सेठ आये थे। जहाज धक्के पर आया। नेटाल के जो लोग जहाज पर अपने मित्रो को लेने आये थे, उनके रग-ढग को देखकर मै समझ गया कि यहाँ हिन्दुस्तानियो का विशेष आदर नही। अब्दुल्ला सेठ की जान-पहचान के लोग उनके साथ जैसा बर्त्ताव करते थे उसमें एक प्रकार की क्षुद्रता दिखाई देती थी और उससे मेरे दिल को चोट पहुँचती थी, क्योकि अब्दुल्ला सेठ इस फजीहत के आदमी होगये थे। मुझपर जिनकी नजर पडती जाती वे मुझे कुतूहल से देखते थे, क्योकि मेरा लिबास ऐसा था कि मैं दूसरे भारत-वासियो से कुछ निराला मालूम होता था। उस समय फ्रॉककोट आदि पहने था और सिर पर बगाली तर्ज की पगडी दिये था।

मुझे घर लिवा ले गये। वहाँ अब्दुला सेठ के कमरे के पास का कमरा मुझे दिया गया। अभी वह मुझे नहीँ पहचान पाये थे, मैं भी उन्हे नही पहचान पाया था। उनके भाई की दी हुई चिट्ठी उन्होने पढी और बेचारे पशोपेश में पड़ गये। उन्होंने तो समझ लिया कि भाई ने तो यह सफ़ेद हाथी घर बँधवा दिया। मेरा साहबी ठाट-बाट उन्हे बडा खर्चीला मालूम हुआ, क्योकि मेरे लिए उस समय उनके यहाँ कोई खास काम तो था नहीं। मामला उनका चल रहा था ट्रान्सवाल में। सो तुरन्त ही वहाँ भेज-कर वह क्या करते ? फिर यह भी एक सवाल था कि मेरी काबलियत और ईमानदारी का विश्वास भी किस हद तक किया जाय ? और प्रिटोरिया में खुद मेरे साथ वह रह नहीं सकते थे। मुद्दालेह प्रिटोरिया में रहते थे। कही उनका बुरा असर मुझपर होने लगे तो ? और यदि वह मामले का काम मुझे न दें तो और काम तो उनके कर्मचारी मुझसे भी अच्छा क

सकते थे। फिर कर्मचारी से यदि भूल होजाय, तो कुछ कह-सुन भी सकते थे, मुझे तो कहने से भी रहे। काम या तो कारकुनी का था या मुकदमे का—तीसरा था नहीं। ऐसी हालत में यदि मुकदमे का काम मुझे नही सौंपते हैं तो घर बैठे मेरा खर्च उठाना पडता था।

अबदुल्ला सेठ पढे-लिखे बहुत-कम थे। अक्षर-ज्ञान कम था, पर अनुभव-ज्ञान बहुत बढा-चढा था। उनकी बुद्धि तेज थी, और वह खुद भी इस बात को जानते थे। रफ्त से अंग्रेजी इतनी जान ली कि बोलचाल का काम चला लेते। परन्तु इतनी अंग्रेजी के बलपर वह अपना सारा काम निकाल लेते थे। बैंक में मैनेजरो से बाते कर लेते, यूरोपियन व्यापारियो से सौदा कर लेते, वकीलो को अपना मामला समझा देते। हिन्दुस्तानियो में उनका काफी मान था। उनकी पेढी उस समय हिन्दुस्तानियो में सबसे बडी पेढी नही तो, बडी पेढियो में से अवश्य थी। उनका स्वभाव वहमी था।

वह इस्लाम का बडा अभिमान रखते थे। तत्त्वज्ञान की बातो के शौकीन थे। अरबी न जानते थे, फिर भी कुरान-शरीफ तथा आमतौर पर इस्लामी-धर्म-साहित्य की वाकफियत उन्हें अच्छी थी। दृष्टात तो जबान पर हाजिर रहते थे। उनके सहवास से मुझे इस्लाम का अच्छा व्यवहार-ज्ञान हुआ। जब हम एक-दूसरे को जान-पहचान गये, तब वह मेरे साथ बहुत धर्म-चर्चा किया करते।

दूसरे या तीसरे दिन मुझे डरबन अदालत देखने ले गये। वहाँ कितने ही लोगो से परिचय कराया। अदालत में अपने वकील के पास मुझे बिठाया। मजिस्ट्रेट मेरे मुँह की ओर देखता रहा। उसने कहा—'अपनी पगडी उतार लो।' मैंने इन्कार किया और अदालत से बाहर चला आया।

मेरे नसीब में तो यहाँ भी लडाई लिखी थी।

पगडी उतरवाने का रहस्य मुझे अबदुल्ला सेठ ने समझाया। मुसलमानी लिबास पहननेवाला अपनी मुसलमानी पगडी यहाँ पहन सकता है। दूसरे भारतवासियो को अदालत में जाते हुए अपनी पगडी उतार लेना चाहिए।

इस सूक्ष्म-भेद को समझाने के लिए यहाँ कुछ बातें विस्तार के साथ लिखनी होंगी।

मैंने इन दो-तीन दिन में ही यहां देख लिया था कि हिन्दुस्तानियो ने यहां अपने-अपने जत्थे बना लिए थे। एक जत्था था मुसलमान व्यापारियो का—वे अपने को 'अरब' कहते थे। दूसरा जत्था था हिन्दू अथवा पारसी कारकुन-पेशा लोगो का। हिन्दू-कारकुन अधर में लटकता था। कोई अपने को 'अरब' मे शामिल कर लेता। पारसी अपने को परशियन कहते। तीनो एक-दूसरे से सामाजिक सम्बन्ध तो रखते थे। एक चौथा और बड़ा समूह था तामिल, तेलगू और उत्तरी भारत के गिरमिटिया अथवा गिरमिटयुक्त भारतियो का। गिरमिट 'एग्रिमेण्ट' का बिगडा हुआ रूप है। इसका अर्थ है इकरारनामा, जिसके द्वारा ग़रीब हिन्दुस्तानी पांच साल की मजूरी करने की शर्त पर नेटाल जाते थे। गिरमिट से गिरमिटिया बना है। इस समुदाय के साथ औरों का व्यवहार काम-सबधी ही रहता था। इन गिरमिटियो को अग्रेज कुली कहते। कुली की जगह 'सामी' भी कहते। सामी एक प्रत्यय है, जो बहुतेरे तामिल नामो के अत में लगता है। 'सामी' का अर्थ है स्वामी। स्वामी का अर्थ हुआ पति। अतएव 'सामी' शब्द पर जब कोई भारतीय बिगड पडता, और यदि उसकी हिम्मत पडी, तो उस अग्रेज से कहता—'तुम मुझे सामी तो कहते हो, पर जानते हो 'सामी' के माने क्या होते है ? सामी 'पति' को कहते हैं, क्या मै तुम्हारा पति हूं ?' यह सुनकर कोई अंग्रेज शरमिन्दा हो जाता, कोई खीझ उठता और ज्यादा गालियां देने लगता और मौका पड़े तो मार भी बैठता, क्योकि उनके नजदीक तो 'सामी' शब्द घृणा-सूचक होना था—उसका अर्थ 'पति' करना मानो उसका अपमान करना था।

इस कारण मुझे वे कुली-बैरिस्टर कहते। व्यापारी कुली व्यापारी कहलाते। कुली का मूल अर्थ 'मजूर' तो एक ओर रह गया। व्यापारी 'कुली' शब्द से चिढकर कहता—'मै कुली नहीं, मै तो अरब हूं, अथवा 'मै व्यापारी हूं।' कोई-कोई विनयशील अंग्रेज यह सुनकर माफी मांग लेते।

ऐसी स्थिति में पगडी पहनने का सवाल विकट होगया। पगडी उतार देने का अर्थ था मान-भग सहन करना। सो मैंने तो यह तरकीब सोची हिन्दुस्तानी पगडी को उतारकर अंग्रेजी टोप पहना करूं, जिससे

उसे उतारने में मान-भग का भी सवाल न रह जाय और मैं इस झगडे से भी बच जाऊँ।

पर अबदुल्ला सेठ को यह तरकीब पसन्द न हुई। उन्होने कहा—"यदि आप इस समय ऐसा परिवर्तन करेगे तो उसका विपरीत अर्थ होगा। जो लोग देशी पगडी पहने रहना चाहते होगे उनकी स्थिति विषम हो जायगी। फिर आपके सिरपर अपने ही देश की पगडी शोभा देती है। आप यदि अग्रेजी टोपी लगावेगे तो लोग 'वेटर' समझेंगे।"

इन वचनो में दुनियावी समझदारी थी, देशाभिमान था, और कुछ सकुचितता भी थी। समझदारी तो स्पष्ट ही है। देशाभिमान के बिना पगडी पहनने का आग्रह नही हो सकता था। सकुचितता के बिना 'वेटर' की उपमा न सूझती। गिरमिटिया भारतीयो में हिन्दू, मुसलमान और ईसाई तीन विभाग थे। जो गिरमिटिया ईसाई होगये, उनकी सन्तति ईसाई थी। १८९३ ई० में भी उनकी सख्या बडी थी। वे सब अग्रेजी लिबास में रहते। उनका अच्छा हिस्सा होटल में नौकरी करके जीविका उपार्जन करता। इसी समुदाय को लक्ष्य करके अग्रेजी टोपी पर अब्दुल्ला सेठ ने यह टीका की थी। उसके अन्दर यह धारणा विद्यमान थी कि होटल में 'वेटर' बनकर रहना हलका काम है। आज भी यह विश्वास बहुतो के मन में कायम है।

समष्टि-रूप से अब्दुल्ला सेठ की बात मुझे अच्छी मालूम हुई। मैंने पगडीवाली घटना पर पगडी का तथा अपने पक्ष का समर्थन अखबारो में किया। अखबारो में उसपर खूब चर्चा चली। 'अनवेलकम विजिटर'—अनिमन्त्रित—अतिथि—के नाम से मेरा नाम अखबारो मे आया, और तीन ही चार दिन के अन्दर अनायास ही दक्षिण अफ्रिका में मेरी प्रख्याति होगई। किसी ने मेरा पक्ष-समर्थन किया, किसी ने मेरी उद्दण्डता की भरपेट निन्दा की।

मेरी पगडी तो लगभग अन्ततक कायम रही। कब उतरी, यह बात हमें अन्तिम भाग में मालूम होगी।

: ८ :

प्रिटोरिया जाते हुए—

डरबन में रहनेवाले ईसाई भारतीयों के सम्पर्क में भी मैं तुरन्त आ गया। वहाँ की अदालत के दुभाषिया श्रीपाल रोमन कैथोलिक थे। उनसे परिचय किया और प्रोटेस्टेण्ट मिशन के शिक्षक स्वर्गीय श्री सुभान गाडफ्रे से भी मुलाकात की। उन्हीं के पुत्र जेम्स गाडफ्रे पिछले साल यहाँ से दक्षिण अफ्रीका के भारतीय प्रतिनिधि-मण्डल में आये थे। इन्हीं दिनों स्वर्गीय पारसी रुस्तमजी से जान-पहचान हुई। और इसी समय स्वर्गीय आदमजी मियाँखान से परिचय हुआ। ये सब लोग आपस में बिना काम एक-दूसरे से न मिलते थे, अब इसके बाद वे मिलने-जुलने लगे।

इस तरह मैं परिचय बढ़ा रहा था कि इसी बीच दुकान के वकील का पत्र मिला कि मुकदमे की तैयारी होनी चाहिए तथा या तो अब्दुल्ला सेठ को खुद प्रिटोरिया जाना चाहिए अथवा दूसरे किसी को वहाँ भेजना चाहिए।

यह पत्र अब्दुल्ला सेठ ने मुझे दिखाया और पूछा—'आप प्रिटोरिया जायेंगे?' मैंने कहा—'मुझे मामला समझा दीजिए तो कह सकूँ। अभी तो मैं नहीं जान सकता कि वहाँ क्या करना होगा।' इन्होंने अपने मुनीमों के जिम्मे मामला समझाने का काम किया।

मैंने देखा कि मुझे तो अ-आ-इ-ई से शुरुआत करनी होगी। जंजीबार में उतरकर वहाँ की अदालत देखने के लिए गया था। एक पारसी वकील किसी गवाह का बयान ले रहा था और जमा-नामे के सवाल पूछ रहा था। मुझे जमा-नामे की कुछ खबर न पड़ती थी, क्योंकि बहीखाता न तो स्कूल में सीखा था और न विलायत में।

मैंने देखा कि इस मुकदमे का तो दारोमदार बहीखाते पर ही है। जिसे बहीखाते का ज्ञान हो वही मामले को समझ-समझा सकता है।

गुमाश्ता जमा-नामे की बाते करता था और मै चक्कर में पडता चला जाता था। मैं नही जानता था कि प्रो-नोट क्या चीज होती है। कोष में यह शब्द नही मिलता। मैंने गुश्मातो के सामने अपना अज्ञान प्रकट किया और उनसे जाना कि प्रो-नोट का अर्थ है प्रामिसरी नोट। अब मैंने वहीखाते की पुस्तक खरीद कर पढी। तब जाकर कुछ आत्म-विश्वास हुआ और मामला समझ में आया। मैंने देखा कि अब्दुल्ला सेठ नामा लिखना नही जानते, पर अनुभव-ज्ञान उनका इतना बढा-चढा था कि नामे की उलझने चटपट सुलझाते जाते। अन्त को मैंने उनसे कहा—'मै प्रिटोरिया जाने के लिए तैयार हूँ।'

'आप कहाँ ठहरेगे ?' सेठ ने पूछा।

'जहाँ आप कहेगे।' मैंने उत्तर दिया।

'तो मैं अपने वकील को लिखूँगा। वह आपके ठहरने का इन्तजाम कर देंगे। प्रिटोरिया में मेरे मेमन मित्र है। उन्हे भी मै लिखूँगा तो—पर आपका उनके यहाँ ठहरना उचित न होगा। वहाँ अपने प्रतिपक्षी की पहुँच बहुत है। आपको मै जो खानगी चिट्ठियाँ लिखूँगा वह यदि उनमे से कोई पढले तो अपना सारा मामला विगड सकता है। उनके साथ जितना कम सम्बन्ध हो उतना ही अच्छा।'

मैंने कहा—"आपके वकील जहाँ ठहरावेंगे वही ठहरूँगा। अथवा मैं कोई दूसरा मकान ले लूँगा। आप वेफिक्र रहिए, आपकी एक भी खानगी बात बाहर न जायगी। पर मै मिलता-जुलता सबसे रहूँगा। मैं तो दूसरे पक्षवालो से भी मित्रता करना चाहता हूँ। यदि हो सकेगा तो मै मामले को आपस में भी निपटाने की कोशिश करूँगा, क्योकि आखिर तैयब सेठ है तो आपके ही रिश्तेदार न।"

प्रतिवादी स्वर्गीय सेठ तैयब हाजी खानमुहम्मद अब्दुल्ला सेठ के नजदीकी रिश्तेदार थे।

मैंने देखा, मेरी इस बात से अब्दुल्ला सेठ कुछ चौंके, पर अब मुझे डरबन पहुँचे छ-सात दिन होगये थे और हम एक-दूसरे को जानने, समझने भी लगे थे। अब मैं 'सफेद हाथी' प्राय नही रह गया था। वह बोले—

'हाँ आ...आ। यदि समझौता हो जाय तो उससे बढ़कर उम्दा बात क्या हो सकती है? पर हम तो परस्पर में रिश्तेदार हैं, इसलिए एक-दूसरे को अच्छी तरह जानते हैं। तैयब सेठ आसानी से मान लेनेवाले शख्स नहीं हैं। हम यदि भोले-भाले बनकर रहें तो वह हमारे पेट की बात निकाल कर पीछे से फँसा मारेंगे? ऐसी हालत में आप जो कुछ करें बहुत सोच-समझ कर होशियारी से करें।'

'आप बिलकुल चिन्ता न करें। मुक़दमे की बात तो तैयब सेठ क्या, किसीसे भी क्यों करने लगा? पर यदि दोनों आपस में समझ लें तो वकीलों के घर न भरने पड़ेंगे।'

सातवें या आठवें दिन मैं डरबन से रवाना हुआ। मेरे लिए पहले दरजे का टिकट लिया गया। सोने की जगह के लिए वहाँ ५ शिलिंग का एक अलहदा टिकट लेना पड़ता था। अब्दुल्ला सेठ ने आग्रह के साथ कहा कि सोने का टिकट ले लो, पर मैंने कुछ तो हठ में, कुछ मद में, और कुछ ५ शिलिंग बचाने की नीयत से इन्कार कर दिया।

अब्दुल्ला सेठ ने मुझे चेताया—'देखना यह मुल्क और है, हिन्दुस्तान नहीं। खुदा की मेहरबानी है, आप पैसे का ख्याल न करना, अपने आराम का सब इन्तजाम कर लेना।'

मैंने उन्हें धन्यवाद दिया और कहा कि आप मेरी चिन्ता न कीजिए।

नेटाल की राजधानी मेरित्सबर्ग में ट्रेन कोई ९ बजे पहुँची। यहाँ सोनेवालों को बिछौने दिये जाते थे। एक रेलवे के नौकर ने आकर पूछा—'आप बिछौना चाहते हैं?'

मैंने कहा—'मेरे पास एक बिछौना है।'

वह चला गया। इस बीच एक यात्री आया। उसने मेरी ओर देखा। मुझे हिन्दुस्तानी देखकर चकराया। बाहर गया और एक-दो अफसरों को लेकर आया। किसी ने मुझसे कुछ न कहा। अन्त को एक अफसर आया। उसने कहा—'चलो तुमको दूसरे डिब्बे में जाना होगा।'

मैंने कहा—'पर मेरे पास पहले दरजे का टिकट है।'

उसने उत्तर दिया—'परवा नहीं, मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम्हें आखिरी डिब्बे में बैठना होगा।'

'मैं कहता हूँ कि मैं डरबन से इसी डिब्बे में बिठाया गया हूँ और इसीमें जाना चाहता हूँ।'

अफसर बोला—'यह नहीं हो सकता। तुम्हें उतरना होगा, नहीं तो सिपाही आकर उतार देगा।'

मैंने कहा—'तो अच्छा, सिपाही आकर भले ही मुझे उतारे, मैं अपने-आप न उतरूँगा।'

सिपाही आया। उसने हाथ पकड़ा और धक्का मारकर मुझे नीचे गिरा दिया। मेरा सामान नीचे उतार लिया। मैंने दूसरे डिब्बे में जाने से इनकार किया। गाड़ी चल दी। मैं वेटिंग-रूम में जा बैठा। हैण्डबेग अपने साथ रखा। दूसरे सामान को मैंने हाथ न लगाया। रेलवेवालों ने सामान कहीं रखवा दिया।

मौसम जाड़े का था। दक्षिण अफ्रीका में ऊँची जगहों पर बड़े जोर का जाड़ा पड़ता है। मेरित्सबर्ग ऊँचाई पर था—इससे खूब जाड़ा लगा। मेरा ओवरकोट मेरे सामान में रह गया था। सामान माँगने की हिम्मत न पड़ी। फिर बेइज्जती न हो। जाड़े में सिकुड़ना और ठिठुरना रहा। कमरे में रोशनी न थी। आधी रात के समय एक मुसाफिर आया। ऐसा जान पड़ा मानो वह कुछ बात करना चाहता हो, पर मेरे मन की हालत ऐसी न थी कि बात करता।

पड़े, सहना चाहिए। इन अन्यायों का विरोध उसी हद तक करना चाहिए जिस हद तक उसका सम्बन्ध रंग-द्वेष दूर करने से हो।

ऐसा संकल्प करके मैंने जिस तरह हो दूसरी गाड़ी से आगे जाने का निश्चय किया।

सुबह मैंने जनरल मैनेजर को तार-द्वारा एक लम्बी शिकायत लिख भेजी। दादा अब्दुल्ला को भी समाचार भेजे। अब्दुल्ला सेठ तुरन्त जनरल मैनेजर से मिले। जनरल मैनेजर ने अपने आदमियों का पक्ष तो लिया, पर कहा कि मैंने स्टेशनमास्टर को लिख दिया है कि गांधी को बिना खटखटा अपने मुकाम पर पहुंचा दो। अब्दुल्ला सेठ ने मेरित्सबर्ग के हिन्दू व्यापारियों को भी मुझसे मिलने तथा मेरा प्रबन्ध करने के लिए तार दिये तथा दूसरे स्टेशनों पर भी ऐसे तार दे दिये। इससे व्यापारी लोग स्टेशन पर मुझसे मिलने आये। उन्होंने अपने पर होनेवाले अन्यायों का जिक्र मुझसे किया और कहा कि आप पर जो-कुछ बीता है वह कोई नई बात नहीं। पहले-दूसरे दरजे में जो हिन्दुस्तानी सफर करते हैं उन्हें क्या कर्मचारी और क्या मुसाफिर, दोनों सताते हैं। सारा दिन इन्हीं बातों के सुनने में गया। रात हुई, गाड़ी आई। मेरे लिए जगह तैयार थी। डरबन में सोने के लिए जिस टिकट को लेने से इन्कार किया था, वही मेरित्स-बर्ग में लिया। ट्रेन मुझे चार्ल्सटाउन ले चली।

: ९ :

और कष्ट

चार्ल्सटाउन ट्रेन सुबह पहुंचती है। चार्ल्सटाउन से जोहान्सबर्ग तक पहुंचने के लिए उस समय ट्रेन न थी। घोड़ागाड़ी थी और बीच में एक रात स्टैंडरटन में रहना पड़ता था। मेरे पास घोड़ागाड़ी का टिकट था। मेरे एक दिन पिछड़ जाने से यह टिकट रद्द न होता था। फिर अब्दुल्ला सेठ ने चार्ल्सटाउन के घोड़ागाड़ी वाले को तार भी दे दिया था। पर उसे तो बहाना बनाना था। इसलिए मुझे एक अनजान आदमी समझकर उसने

कहा—'तुम्हारा टिकट रद्द होगया है।' मैंने उचित उत्तर दिया। यह कहने का कि 'टिकट रद्द होगया है' कारण तो और ही था। मुसाफिर सब घोड़ागाडी के अन्दर बैठते हैं। पर मैं समझा जाता था 'कुली', और अनजान मालूम होता था, इसलिए घोडा-गाडीवाले की यह नीयत थी कि मुझे गोरे मुसाफिरो के साथ न बैठना पडे तो अच्छा। घोडागाडी में बाहर की तरफ, अर्थात् हांकनेवाले के पास, दायें-बायें दो बैठके थी। उनमें से एक बैठक पर घोडागाडी कम्पनी का एक अफसर गोरा बैठा और मुझे हांकनेवाले के पास बैठाया। मैं समझ गया कि यह बिलकुल अन्याय है, अपमान है। परन्तु मैंने इसे पी जाना उचित समझा। मैं जबरदस्ती तो अन्दर बैठ नही सकता था यदि झगडा छेड लूं तो घोडागाडी चल दे और फिर मुझे एक दिन देर हो, और दूसरे दिन का हाल परमात्मा ही जाने। इसलिए मैंने समझदारी अख्त्यार की और बाहर ही बैठ गया। मन में तो बडा खीझता था।

कोई तीन बजे घोडागाडी पारडीकोप पहुंची। उस वक्त गोरे अफसर को मेरी जगह बैठने की इच्छा हुई। उसे सिगरेट पीना था। शायद खुली हवा भी खानी हो। सो उसने एक मैला-सा बोरा हांकनेवाले के पास से लिया और पैर रखने के तख्तपर बिछाकर मुझसे कहा—'सामी, तू यहां बैठ, मैं हांकनेवाले के पास बैठूंगा।' इस अपमान को सहन करना मेरे सामर्थ्य के बाहर था, इसलिए मैंने डरते-डरते उससे कहा—'तुमने मुझे जो यहां बैठाया, सो इस अपमान को तो मैंने सहन कर लिया। मेरी जगह तो थी अन्दर, पर तुमने अन्दर बैठकर मुझे यहां बैठाया, अब तुम्हारा दिल बाहर बैठने को हुआ, तुम्हे सिगरेट पीना है, इसलिए तुम मुझे अपने पैरो के पास बिठाना चाहते हो। मैं चाहे अन्दर चला जाऊँ, पर तुम्हारे पैरो के पास बैठने को तैयार नही।'

यह मैं किसी तरह कह ही रहा था कि मुझपर थप्पडो की वर्षा होने लगी और मेरे हाथ पकडकर वह नीचे खीचने लगा। मैंने बैठक के पास लगे पीतल के सीखचो को जोर से पकडे रक्खा, और निश्चय कर लिया कि कलाई टूट जाने पर भी सीखचे न छोडूंगा। मुझपर जो-कुछ बीत

रही थी, वह अन्दरवाले यात्री देख रहे थे। वह मुझे गालियाँ दे रहा था, खींच रहा था और मार भी रहा था; फिर भी मैं चुप था। वह तो था बलवान और मैं बलहीन। कुछ मुसाफ़िरों को दया आई और किसी ने कहा—'अजी, बेचारे को वहाँ बैठने क्यों नहीं देते? फ़िजूल उसे क्यों पीटते हो? वह ठीक तो कहता है। वहाँ नहीं तो उसे हमारे पास अन्दर बैठने दो।' वह बोल उठा—'हरगिज़ नहीं।' पर जरा खिसिया जरूर गया। पीटना छोड़ दिया, मेरा हाथ भी छोड़ दिया। हाँ, दो चार गालियाँ अलबत्ता और दे डाली। फिर एक हाटेंटाट नौकर को, जो दूसरी तरफ़ बैठा था, अपने पाँव के पास बैठाया आप खुद बाहर बैठा। मुसाफ़िर अन्दर बैठे। सीटी बजी। घोड़ागाड़ी चली। मेरी छाती धकधक कर रही थी। मुझे भय था कि मैं जीते-जी मुकाम पर पहुँच सकूँगा या नहीं। गोरा मेरी ओर त्यौरी चढ़ाकर देखता रहता। अँगुली का इशारा करके बकता रहा—'याद रख, स्टैण्डरटन तो पहुँचने दे, फिर तुझे मजा चखाऊँगा।' मैं चुप साधकर बैठे रहा और ईश्वर से सहायता के लिए प्रार्थना करता रहा।

रात हुई। स्टैण्डरटन पहुँचे। कितने ही हिन्दुस्तानियों के चहरे दीखे। कुछ तसल्ली हुई। नीचे उतरते ही हिन्दुस्तानियों ने कहा—'हम आपको ईसा सेठ की दूकान पर ले जाने के लिए खड़े हैं। दादा अब्दुल्ला का तार आया था।' मुझे बड़ा हर्ष हुआ। उनके साथ सेठ ईसा हाजी की दुकान पर गया। सेठ तथा उनके गुमाश्ते मेरे आसपास जमा हो गये। मुझपर जो-जो बीती, मैंने कह सुनाई। सुनकर उन्हें बड़ा दुःख हुआ। अपने कड़वे अनुभव सुना-सुनाकर मुझे आश्वासन देने लगे। मैं चाहता था कि घोड़ा-गाड़ी-कम्पनी के एजण्ट को अपनी बीती सुना दूँ। मैंने उन्हें चिट्ठी लिखी। उस गोरे ने जो धमकी दी थी, सो भी लिख दी और मैंने यह भी आश्वासन चाहा कि कल मुझे दूसरे यात्रियों के साथ अन्दर बिठाया जाय। एजण्ट ने मुझे सन्देशा भेजा—'स्टैण्डरटन से बड़ी घोड़ागाड़ी जाती है और हाँकनेवाले आदि की बदली होती है। जिस शख्स की शिकायत आपने की है, वह कल उस पर न रहेगा। आपको दूसरे यात्रियों के साथ ही

जगह मिलेगी।' उस बात से मुझे कुछ राहत मिली। उस गोरे पर तो दावा-फर्याद करने की मेरी इच्छा ही न थी, इसलिए यह पिटाई का प्रकरण यहीं ख़तम होगया। सुबह मुझे ईसा सेठ के आदमी घोड़ा-गाड़ी पर ले गये। अच्छी जगह मिली। बिना किसी दिक्कत के रात को जोहान्सबर्ग पहुँचा।

स्टैण्डरटन छोटा-सा गाँव था। जोहान्सबर्ग भारी शहर। वहाँ भी अब्दुल्ला सेठ ने तार तो दे दिया था। मुझे मुहम्मदकासिम कमरुद्दीन की दुकान का पता-ठिकाना लिख दिया था। उनका आदमी घोड़ागाड़ी के ठहरने की जगह तो आया था, पर न मैंने उसे देखा, न वही मुझे पहचान सका। मैंने होटल में जाने का इरादा किया। दो-चार होटलों के नाम-पते पूछ लिए थे। गाड़ी को ग्रैण्ड नैशनल होटल में ले चलने के लिए उससे कहा। वहाँ पहुँचते ही मैनेजर के पास गया। जगह माँगी। मैनेजर ने मुझे नीचे से ऊपर तक देखा। फिर शिष्टाचार और सौजन्य के साथ कहा, 'मुझे अफसोस है, तमाम कमरे भरे हुए है।' यह कहकर मुझे विदा किया। तब मैंने गाड़ीवाले से कहा—'मुहम्मदकासिम कमरुद्दीन की दुकान पर चलो।' वहाँ तो अब्दुलगनी सेठ मेरी राह ही देख रहे थे। उन्होंने मेरा स्वागत किया। मैंने होटल में बीती कह सुनाई। वह एक-बारगी हँस पड़े। 'भला होटल में वह हमें ठहरने देंगे?'

मैंने पूछा—क्यो ?

'यह तो आप तब जानेंगे, जब कुछ दिन यहाँ रह लेंगे। इस देश में तो हमी रह सकते है। क्योंकि हमें रुपया पैदा करना है, इसलिए बहुतेरे अपमान सहन करते है, और पड़े हुए है।' यह कहकर उन्होंने ट्रान्सवाल में होनेवाले कष्टों और अन्यायों का इतिहास कह सुनाया।

इन अब्दुलगनी सेठ का परिचय हमें आगे चलकर अधिक करना पड़ेगा। उन्होंने कहा—'यह मुल्क आपके जैसे लोगो के लिए नहीं है। देखिए न, आपको कल प्रिटोरिया जाना है। उसमें तो आपको तीसरे ही दरजे में जगह मिलेगी। ट्रान्सवाल में नेटाल से ज्यादा कष्ट है। यहाँ तो हमारे लोगो को दूसरे और पहले दरजे के टिकट बिलकुल देते ही नहीं।'

मैंने कहा—'आप लोगों ने इसके लिए पूरी कोशिश न की होगी।'

अब्दुलगनी सेठ बोले—'हमने लिखा-पढ़ी तो शुरू की है, पर हमारे बहुतेरे लोग तो पहले-दूसरे दरजे में बैठने की इच्छा भी क्यों करने लगे।'

मैंने रेलवे के कानून-क़ायदे मंगाकर देखे। उनमें कुछ गुंजायश दिखाई दी। ट्रान्सवाल के पुराने कानून-क़ायदे बारीकी के साथ नहीं बनाये जाते थे। फिर रेलवे के कानूनों का तो पूछना ही क्या?

मैंने सेठ से कहा—'मैं तो फर्स्ट क्लास में ही जाऊँगा। और यदि इस तरह न जा सका तो फिर प्रिटोरिया यहाँ से सैंतीस ही मील तो है। घोड़ागाड़ी करके चला जाऊँगा।'

अब्दुलगनी सेठ ने इस बात की ओर मेरा ध्यान खींचा कि उसमें कितना तो खर्च लगेगा और कितना समय जायगा। पर अन्त को उन्होंने मेरी बात मान ली और स्टेशनमास्टर को चिट्ठी लिखी। पत्र में उन्होंने लिखा कि मैं बैरिस्टर हूँ, हमेशा पहले दरजे में सफर करता हूँ। तुरन्त प्रिटोरिया पहुँचने की ओर उनका ध्यान दिलाया और उन्हें लिखा कि पत्र के उत्तर की राह देखने के लिए समय न रह जायगा, अतएव मैं खुद ही स्टेशन पर इसका जवाब लेने आऊँगा और पहले दरजे का टिकट मिलने की आशा रक्खूँगा। ऐसी चिट्ठी लिखाने में मेरी एक मसलहत थी। मैंने सोचा कि लिखित उत्तर स्टेशनमास्टर 'ना' ही दे देगा। फिर उसको 'कुली' बैरिस्टर के रहन-सहन की पूरी कल्पना न हो सकेगी। इसलिए यदि मैं सोलहों आना अंग्रेजी वेश-भूषा में उसके सामने जाकर खड़ा हो जाऊँगा और उससे बात करूँगा तो वह समझ जायगा और मुझे टिकट दे देगा। इसलिए मैं फ्राककोट, नेकटाई इत्यादि डाट कर स्टेशन पहुँचा। स्टेशन मास्टर के सामने गिन्नी निकालकर रक्खी और पहले दरजे का टिकट माँगा।

उसने कहा—'आपही ने वह चिट्ठी लिखी है?'

मैंने कहा—'जी हाँ। मैं बड़ा खुश होऊँगा, यदि आप मुझे टिकट दे देंगे। मुझे आज ही प्रिटोरिया पहुँच जाना चाहिए।'

स्टेशनमास्टर हँसा। उसे दया आई। बोला—'मैं ट्रान्सवालर नहीं हूँ; हालैण्डर हूँ। आपके मनोभाव को समझ सकता हूँ। आपके प्र

मेरी सहानुभूति है। मैं आपको टिकट दे देना चाहता हूँ। पर एक शर्त है—यदि रास्ते में आपको गार्ड उतार दे और तीसरे दरजे में बिठा दे तो आप मुझे दिक न करें, अर्थात् रेलवे-कम्पनी पर दावा न करें। मैं चाहता हूँ कि आपकी यात्रा निर्विघ्न समाप्त हो। मैं देख रहा हूँ कि आप एक भले आदमी हैं।' यह कहकर उसने टिकट दे दिया। मैंने उसे धन्यवाद दिया और अपनी तरफ से निश्चिंत किया। अब्दुलगनी सेठ पहुँचाने आये थे। इस कौतुक को देखकर उन्हें हर्ष हुआ, आश्चर्य हुआ, पर मुझे चेताया—'प्रिटोरिया राजी-खुशी पहुँच गये तो समझना गंगा-पार हुए। मुझे डर है कि गार्ड आपको पहले दरजे में आराम से न बैठने देगा, और उसने बैठने दिया तो मुसाफिर न बैठने देंगे।'

मैं तो पहले दरजे के डिब्बे में जा बैठा। ट्रेन चली। जमिस्टन पहुँचने पर गार्ड टिकट देखने के लिए निकला। मुझे देखते ही झल्ला उठा। अँगुली से इशारा करके कहा—'तीसरे दरजे में जा बैठ।' मैंने अपना पहले दरजे का टिकट दिखाया। उसने कहा—'इसकी परवा नहीं, चला जा तीसरे दरजे में।'

इस डिब्बे में सिर्फ एक अंग्रेज यात्री था। उसने उस गार्ड को डाटा—'तुम इनको क्यों सताते हो? देखते नहीं, इनके पास पहले दरजे का टिकट है? मुझे इनके बैठने से जरा भी कष्ट नहीं।' यह कहकर उसने मेरी ओर देखा और कहा—'आप तो आराम से बैठे रहिए।'

गार्ड गुनगुनाया—'तुझे कुली के पास बैठना हो तो बैठ, मेरा क्या बिगड़ता है।' और चलता बना।

रात को कोई ८ बजे ट्रेन प्रिटोरिया पहुँची।

: १० :

प्रिटोरिया में पहला दिन

मैंने आशा रक्खी थी कि प्रिटोरिया स्टेशन पर दादा अब्दुल्ला के वकील की तरफ से कोई-न-कोई आदमी मुझे मिलेगा। मैं यह तो जानता

था कि कोई हिन्दुस्तानी तो मुझे लिवाने आवेगा नहीं; क्योंकि किसी भी भारतीय के यहाँ न रहने का अभिवचन मैंने दिया था। वकील ने किसी भी आदमी को स्टेशन पर नहीं भेजा। पीछे मुझे मालूम हुआ कि जिस दिन मैं पहुँचा, रविवार था। और वह बिना असुविधा उठाये उस दिन किसी को न भेज सकते थे। मैं असमञ्जस में पड़ा। कहाँ जाऊँ ? मुझे भय था कि होटल में कहीं जगह मिलने की नहीं। १८९३ का प्रिटोरिया स्टेशन १९१४ के प्रिटोरिया स्टेशन से भिन्न था। मन्द-मन्द बत्तियाँ जल रही थीं। मुसाफ़िर भी बहुत न थे। मैंने सोचा कि जब सब यात्री चले जायेंगे तब अपना टिकट टिकट-कलेक्टर को दूँगा और उससे किसी मामूली होटल अथवा मकान का पता पूछ लूँगा; अन्यथा स्टेशन पर ही पड़ कर रात काट दूँगा। इतनी पूछताछ करने को जी न होता था, क्योंकि अपमानित होने का भय था। आखिर स्टेशन खाली हुआ। मैंने टिकट कलेक्टर को टिकट देकर पूछ-ताछ प्रारम्भ की। उसने विनय-पूर्वक उत्तर दिये। पर मैंने देखा कि उससे अधिक सहायता न मिल सकती थी। उसके नजदीक एक अमेरिकन हबशी खड़ा था। वह मुझसे बातें करने लगा—

'मालूम होता है आप बिल्कुल अनजान हैं और यहाँ आपका कोई साथी नहीं है। आइए, मेरे साथ चलिए, मैं आपको एक छोटे-से होटल में ले चलता हूँ। उसका मालिक अमेरिकन है और उसे मैं अच्छी तरह जानता हूँ। वह आपको जगह दे देगा।' मुझे कुछ शक तो हुआ; पर मैंने उसे धन्यवाद दिया और उसके साथ जाना स्वीकार किया। वह मुझे जान्स्टन के फ़ेमिली होटल में ले गया। पहले उसने मि० जान्स्टन को एक ओर ले जाकर कुछ बातचीत की। मि० जान्स्टन ने मुझे एक रात के लिए जगह देना मंजूर किया—वह भी इस शर्त पर कि मेरा खाना मेरे कमरे में पहुँचा दिया जायगा।

'मैं आपको यकीन दिलाता हूँ कि मैं तो काले-गोरे का भेदभाव नहीं रखता, पर मेरे ग्राहक सब गोरे लोग ही हैं। यदि मैं आपको भोजनालय में ही भोजन कराऊँ तो मेरे ग्राहकों को नाराज़ी होगी और शायद मेरी ग्राहकी टूट जाय।' मि० जान्स्टन ने कहा।

मैंने उत्तर दिया—'मैं तो यह भी आपका उपकार समझता हूँ, जो आपने एक रात के लिए भी रहने का स्थान दिया। इस देश की हालत से मैं कुछ-कुछ वाकिफ होगया हूँ। आपकी कठिनाई मैं समझ सकता हूँ। आप मुझे खुशी से मेरे कमरे में खाना भिजवा दीजिएगा। कल तो मैं दूसरा प्रबन्ध कर लेने की आशा करता हूँ।'

कमरा मिला। अन्दर गया। एकान्त मिलते ही भोजन की राह देखता हुआ विचारों में लीन होगया। इस होटल में अधिक मुसाफिर नहीं रहते थे। थोड़ी ही देर में वेटर को भोजन लाते हुए देखने के बजाय मि० जान्स्टन को देखा। उन्होंने कहा—"मैंने आपसे यह कहा तो कि खाना यहीं भिजवा दूँगा, पर बाद को मुझे शर्म मालूम हुई। इसलिए मैंने अपने ग्राहकों से आपके सम्बन्ध में बातचीत की और उनसे पूछा तो उन्होंने कहा कि उनके भोजनालय में आकर भोजन करने में हमें कोई एतराज नहीं है। इसलिए आप चाहें तो भोजनशाला में आकर भोजन करें और अब जबतक आप चाहें यहाँ रहें।"

मैंने दुबारा उनका उपकार माना और भोजनशाला में खाने गया। आराम से भोजन किया।

दूसरे दिन सुबह वकील के यहाँ गया। उनका नाम था ए० डब्ल्यू० बेकर। उनसे मिला। अब्दुल्ला सेठ ने उनका थोड़ा-बहुत परिचय दे रक्खा था, इसलिए उनकी पहली मुलाकात में मुझे कुछ आश्चर्य न हुआ। वह मुझसे बड़ी अच्छी तरह मिले और मुझसे अपना हाल-चाल पूछा, जो मैंने उन्हें बता दिया। उन्होंने कहा—'बैरिस्टर की हैसियत से तो आपका यहाँ कुछ भी उपयोग न हो सकेगा। हमने अच्छे-से-अच्छे बैरिस्टर इस मामले में कर लिये हैं। मुकद्दमा मुद्दत तक चलेगा और उसमें कई गुत्थियाँ हैं। इसलिए आपसे तो मैं इतना काम ले सकूँगा कि आवश्यक वाकफियत वगैरा मुझे मिल जाय। हाँ, हमारे मवक्किल से पत्र-व्यवहार करना अब आसान हो जायगा। और जो बातें मुझे जाननी होंगी वे आपके मार्फत उनसे मँगाई जा सकेंगी, यह लाभ जरूर है। आपके लिए मकान तो मैंने अबतक नहीं खोजा है। सोचा था कि आपके लिए ढूं

के बाद ही खोजना ठीक होगा। यहाँ रंगभेद जबरदस्त है। इसलिए घर मिलना आसान भी नहीं है; परन्तु एक बाई को मैं जानता हूँ। वह गरीब है। भटियारे की औरत है। मैं समझता हूँ, वह आपको अपने यहाँ रहने देगी। उसे भी कुछ मिल जायगा। चलो वहीं चलें।'

वह यह कहकर मुझे वहाँ ले गये। मि० बेकर ने पहले बाई के साथ अकेले में बातचीत की। उसने मुझे अपने यहाँ टिकाना स्वीकार किया। ३५ शिलिंग प्रति सप्ताह देना ठहरा।

मि० बेकर वकील और साथ ही कट्टर पादरी भी थे। अभी वह मौजूद हैं। अब तो सिर्फ पादरी का ही काम करते हैं। वकालत छोड़ दी है। खा-पीकर सुखी हैं। अबतक मुझसे चिट्ठी-पत्री करते रहते हैं। चिट्ठी-पत्री का विषय एक ही होता है। ईसाई-धर्म की उत्तमता की चर्चा वह भिन्न-भिन्न रूप में अपने पत्रों में किया करते हैं, और यह प्रतिपादन करते हैं कि ईसामसीह को ईश्वर का एकमात्र पुत्र तथा तारनहार माने बिना परम-शान्ति कभी नहीं मिल सकती।

हमारी पहली ही मुलाक़ात में मि० बेकर ने धर्म-सम्बन्धी मेरी मनोदशा जान ली। मैंने उनसे कह दिया—'जन्मतः मैं हिन्दू हूँ; पर मुझे उस धर्म का विशेष ज्ञान नहीं। दूसरे धर्मों का ज्ञान भी कम है। मैं कहाँ हूँ, मुझे क्या मानना चाहिये, यह सब नहीं जानता। अपने धर्म का गहरा अध्ययन करना चाहता हूँ। दूसरे धर्मों का भी यथाशक्ति अध्ययन करने का विचार है।'

यह सब सुनकर मि० बेकर प्रसन्न हुए और मुझसे कहा—मैं खुद दक्षिण अफ्रिका जनरल मिशन का एक डाइरेक्टर हूँ। मैंने अपने खर्च से एक गिरजा बनाया है। उसमें मैं समय-समय पर धर्म-सम्बन्धी व्याख्यान दिया करता हूँ। मैं रंग-भेद नहीं मानता। मेरे साथ और लोग भी काम करने वाले हैं। हमेशा एक बजे हम कुछ समय के लिये मिलते हैं और आत्मा की शान्ति तथा प्रकाश (ज्ञान के उदय) के लिए प्रार्थना करते हैं। उसमें आप आया करेंगे तो मुझे खुशी होगी। वहाँ अपने साथियों का भी परिचय आपसे कराऊँगा। वे सब आपसे मिलकर प्रसन्न होंगे, और

मुझे विश्वास है कि आपको भी उनका समागम प्रिय होगा। आपको कुछ धर्म-पुस्तकें भी मैं पढने के लिए दूंगा। मैं खास तौर पर सिफारिश करता हूं कि आप उन्हें पढें।'

मैंने मि० वेकर को धन्यवाद दिया और कहा कि जहाँ तक हो सकेगा आपके मण्डल मे एक बजे प्रार्थना के लिए आया करूँगा।

'तो कल एक बजे आप यहीं आइएगा, हम साथ ही प्रार्थना-मन्दिर चलेंगे।'

हम अपने-अपने स्थानों को विदा हुए। अधिक विचार करने की फुरसत मुझे न थी। मिस्टर जान्स्टन के पास गया। बिल चुकाया। नये घर गया और वहीं भोजन किया। मकान-मालकिन भलीमानुस थी। उसने मेरे लिए अन्न-भोजन तैयार किया था। इस कुटुम्ब के साथ हिल-मिल जाने में मुझे समय न लगा। खा-पीकर मैं दादा अब्दुल्ला के उन मित्र से मिलने गया, जिनके नाम उन्होंने पत्र दिया था। उनसे परिचय किया। उनसे हिन्दुस्तानियों के कष्टों का और हाल मालूम हुआ। उन्होंने मुझे अपने यहाँ रहने का आग्रह किया। मैंने उनको धन्यवाद दिया और अपने लिए जो प्रबन्ध होगया था उसका हाल सुनाया। उन्होंने जोर देकर मुझसे कहा कि जिस किसी बात की जरूरत हो,मुझे खबर कीजिएगा।

शाम हुई। खाना खाया और अपने कमरे में जाकर विचार के भवर में जा गिरा। मैंने देखा कि अभी हाल तो मेरे लिए कोई काम नहीं है। अब्दुल्ला सेठ को खबर की। मि० वेकर जो मित्रता बढा रहे हैं, इसका क्या अर्थ है? इनके धर्म-बन्धुओं के द्वारा मुझे कितना ज्ञान प्राप्त होगा? ईसाई-धर्म का अध्ययन मैं किस हद तक करूँ? हिन्दू-धर्म का साहित्य कहाँ से प्राप्त करूँ? उसे जाने बिना ईसाई-धर्म का स्वरूप मैं कैसे समझ सकूँगा? मैं एक ही निर्णय कर पाया। जो चीज मेरे सामने आजाय उसका अध्ययन मैं निष्पक्ष रह कर करूँ और बेकर के समुदाय को जिस समय ईश्वर जो बुद्धि दे वह उत्तर दे दिया करूँ। जबतक मैं अपने धर्म का ज्ञान पूरा-पूरा न कर सकूँ तबतक मुझे दूसरे धर्म को अंगीकार करने का विचार न करना चाहिए। यह विचार करते हुए मुझे नींद आ गई।

: ११ :

ईसाइयों से परिचय

दूसरे दिन एक बजे मैं मि० बेकर के प्रार्थना-समाज में गया। वहाँ कुमारी हैरिस, कुमारी गेब, मि० कोट्स आदि से परिचय हुआ। सबने घुटने टेक कर प्रार्थना की। मैंने भी उनका अनुकरण किया। प्रार्थना में जिसका जो मन चाहता, ईश्वर से माँगता। दिन शान्ति के साथ बीते, ईश्वर हमारे हृदय के द्वार खोले, इत्यादि प्रार्थना होती। उस दिन मेरे लिए भी प्रार्थना की गई। 'हमारे साथ जो यह नया भाई आया है, उसे तू राह दिखाना। तूने जो शान्ति प्रदान की है, वह इसे भी देना। जिस ईसामसीह ने हमें मुक्त किया है, वह इसे भी मुक्त करे। यह सब हम ईसा-मसीह के नाम पर माँगते हैं।' इस प्रार्थना में भजन कीर्तन न होते। किसी विशेष बात की याचना ईश्वर से करके अपने-अपने घर चले जाते। यह समय सबके दोपहर के भोजन का होता था, इसलिए सब इस तरह प्रार्थना और भोजन करने चले जाते। प्रार्थना में पाँच मिनट से अधिक समय न लगता।

कुमारी हैरिस और कुमारी गेब की अवस्था प्रौढ़ थी। मि० कोट्स क्वेकर थे। ये दोनों महिलायें साथ रहतीं। उन्होंने मुझे हर रविवार को ४ बजे चाय पीने के लिए अपने यहाँ आमन्त्रित किया। मि० कोट्स जब मिलते तब हर रविवार को उन्हें मैं अपना साप्ताहिक धार्मिक रोजनामचा सुनाता। मैंने कौन-कौन-सी पुस्तकें पढ़ीं, उनका मेरे मन पर क्या असर हुआ, इसकी चर्चा करते। ये स्त्रियाँ अपने मीठे अनुभव सुनातीं और अपनेको मिली परम-शान्ति की बातें करतीं।

मि० कोट्स एक शुद्ध भाव वाले कट्टर युवा क्वेकर थे। उनसे मेरा घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया। हम बहुत बार साथ घूमने भी जाते। वह मुझे दूसरे ईसाइयों के घरों में ले जाते।

कोट्स ने मुझे किताबों से लाद दिया। ज्यों-ज्यों वह मुझे पहचानते

जाते त्यो-त्यो जो पुस्तके उन्हे ठीक मालूम होती, मुझे पढने के लिए देते। मैंने भी केवल श्रद्धा के वशीभूत होकर उन्हे पढना मजूर किया। इन पुस्तको पर हम चर्चा भी करते।

ऐसी पुस्तके मैंने १८९३ में बहुत पढी। अब सबके नाम मुझे याद नही रहे है। कुछ ये थी—सिटीटेम्पल वाले डा० पारकर की टीका, पियर्सन की ' मेनी इनफॉलिब्ल प्रूफ्स', बटलर कृत 'एनेलाजी' इत्यादि। कितनी ही बाते समझ में न आती, कितनी ही पसद आती, कितनी ही न आती। यह सब मैं कोट्स से कहता। 'मेनी इनफॉलिबल प्रूफ्स' के मानी हैं 'बहुत से दृढ प्रमाण', अर्थात् बाइबल मे रचियता ने जिस धर्म का अनुभव किया उसके प्रमाण। इस पुस्तक का असर मुझपर बिलकुल न हुआ। पारकर की टीका नीतिवर्द्धक मानी जा सकती है, परन्तु वह उन लोगो को सहायता नही कर सकती जिन्हे ईसाई धर्म की प्रचलित धारणाओ पर सन्देह है। बटलर की 'एनेलाजी' बहुत क्लिष्ट और गम्भीर मालूम हुई। उसे पाच-सात बार पढनी चाहिए। वह नास्तिक को आस्तिक बनाने के लिए लिखी गई मालूम हुई। उसमें ईश्वर के आस्तिक को सिद्ध करने के लिए जो युक्तियाँ दी गई है, उनसे मुझे लाभ न हुआ, क्योकि यह मेरी नास्तिकता का युग न था, परन्तु जो युक्तिता ईसामसीह के अद्वितीय अवतार के सम्बन्ध मे अथवा उसके मनुष्य और ईश्वर के बीच सधि-कर्त्ता होने के विषय में दी गई थी, उनकी भी छाप मेरे दिल पर न पडी।

पर कोट्स पीछे हटनेवाले आदमी न थे। उनके स्नेह की सीमा न थी उन्होने मेरे गले में वैष्णव की कण्ठी देखी। उन्हे यह वहम मालूम हुआ, और देखकर दु ख हुआ। 'यह अन्ध-विश्वास तुम जैसो को शोभा नही देता। लाओ तोड दूँ।'

'यह कण्ठी तोडी नही जा सकती। माताजी की प्रसादी है।'

'पर तुम्हारा इसपर विश्वास है ?'

'मैं इसका गूढार्थ नही जानता। यह भी नही भासित होता कि यदि इसे न पहनूँ तो कोई अनिष्ट हो जायगा। परन्तु जो माला मुझे माताजी

ने प्रेम-पूर्वक पहनाई है, जिसे पहनाने मे उसने मेरा श्रेय माना, उसे मैं बिना प्रयोजन नहीं निकाल सकता। समय पाकर जीर्ण होकर जब वह अपने-आप टूट जायगी तब दूसरी मंगाकर पहनने का लोभ मुझे न रहेगा, पर इसे नहीं तोड़ सकता।'

कोट्स मेरी इस दलील की कद्र न कर सके, क्योंकि उन्हें तो मेरे धर्म के प्रति ही अनास्था थी। वह तो मुझे अज्ञान-कूप से उबारने की आशा रखते थे। वह मुझे यह बताना चाहते कि अन्य धर्मों में थोड़ा-बहुत सत्यांश भले ही हो, परन्तु पूर्ण सत्य-रूप ईसाई-धर्म को स्वीकार किये बिना मोक्ष नहीं मिल सकता, और ईसामसीह की मध्यस्थता के बिना पाप-प्रक्षालन नहीं हो सकता, तथा पुण्य सब निरर्थक हैं। कोट्स ने जिस प्रकार पुस्तकों से परिचय कराया उसी प्रकार उन ईसाइयों से भी कराया, जिन्हें वह कट्टर समझते थे। इनमें एक प्लीमथ ब्रदर्न का भी परिवार था।

'प्लीमथ ब्रदरन्' नामक एक ईसाई-सम्प्रदाय है। कोट्स के कराये बहुतेरे परिचय मुझे अच्छे मालूम हुए। ऐसा जान पड़ा कि वे लोग ईश्वर-भीरु थे; परन्तु इस परिवार वालों ने मेरे सामने यह दलील पेश की—'हमारे धर्म की खूबी ही तुम नहीं समझ सकते। तुम्हारी बातों से हम देखते हैं कि तुम हमेशा बात-बात में अपनी भूलों का विचार करते हो, हमेशा उन्हें सुधारना पड़ता है, न सुधरे तो उनके लिए प्रायश्चित करना पड़ता है। इन क्रियाकाण्ड से तुम्हें मुक्ति कब मिल सकती है? तुम्हें शान्ति तो मिल ही नहीं सकती। हम पापी हैं, यह तो बात मंजूर करते हैं। अब देखो हमारे धर्म-मन्तव्य की परिपूर्णता। वह कहता है, मनुष्य का प्रयत्न व्यर्थ है फिर भी उसे मुक्ति की तो जरूरत है ही। ऐसी दशा में पाप का बोझ उसके सिर से उतरेगा किस तरह? इसकी तरकीब यह कि हम उसे ईसामसीह पर डाल देते हैं, क्योंकि वह तो ईश्वर का एकमात्र निष्पाप पुत्र है। उसका वरदान है कि जो मुझे मानता है वह सब पापों से छूट जाता है। ईश्वर की यह अगाध उदारता है। ईसा-मसीह की इस मुक्ति-योजना को हमने स्वीकार किया है, इसलिए हमारे पाप हमें लिप्त नहीं होते। पाप तो मनुष्य से होते ही हैं। इस जगत्

बिना पाप के कोई कैसे रह सकता है ? इसलिए ईसामसीह ने सारे ससार के पापो का प्रायश्चित्त एकबारगी कर लिया। उसके इस बलिदान पर जिसकी श्रद्धा है वही शान्ति प्राप्त कर सकता है। कहाँ तुम्हारी शान्ति और कहाँ हमारी शान्ति !

यह दलील मुझे बिलकुल न जची। मैंने नम्रता-पूर्वक उत्तर दिया—'यदि सर्वमान्य ईसाई-धर्म यही हो, जैसाकि आपने बयान किया है, तो इससे मेरा काम नही चल सकता। मैं पाप के परिणाम से मुक्ति नही चाहता, मैं तो पाप-प्रवृत्ति से, पाप-कर्म से मुक्ति चाहता हूँ। जबतक वह न मिलेगी, मेरी अशान्ति मुझे प्रिय लगेगी।'

प्लीमथ ब्रदर ने उत्तर दिया—'मैं तुमको निश्चय से कहता हूँ कि तुम्हारा यह प्रयत्न व्यर्थ है। मेरी बात पर फिर से विचार करना।'

और इन महाशय ने जैसा कहा था वैसा ही कर भी दिखाया था—जान-बूझ कर बुरा काम कर दिखाया।

परन्तु तमाम ईसाइयो की मान्यता ऐसी नही होती, यह बात तो मैं इनसे परिचय होने के पहले भी जान चुका था। कोट्स खुद पाप-भीरु थे। उनका हृदय निर्मल था, वह हृदय-शुद्धि की सभवनीयता पर विश्वास रखते थे। वे बहने भी इसी विचार की थी। जो-जो पुस्तके मेरे हाथ आई उनमें कितनी ही भक्ति-पूर्ण थी, इसलिए प्लीमथ ब्रदर्स के परिचय से कोट्स को जो चिन्ता हुई थी उसे मैंने दूर कर दिया और उन्हे विश्वास दिलाया कि प्लीमथ ब्रदर की अनुचित धारणा के आधार पर मैं सारे ईसाई-धर्म के खिलाफ अपनी राय न बना लूँगा। मेरी कठिनाइया तो बाइबिल तथा उसके अर्थ के सम्बन्ध में थी।

: १२ :

भारतीयों से परिचय

ईसाइयो के परिचयो के सम्बन्ध में और अधिक लिखने के पहले उन्ही दिनो हुए अन्य अनुभवो का वर्णन करना आवश्यक है।

नेटाल में जो स्थान दादा अब्दुल्ला का था, वही प्रिटोरिया में सेठ तैयब हाजी खानमुहम्मद का था। उनके बिना वहां एक भी सार्वजनिक काम नही हो सकता था। उनसे मैंने पहले ही सप्ताह मे परिचय कर लिया। प्रिटोरिया के प्रत्येक भारतीय के सम्पर्क मे आने का अपना विचार मैंने उनपर प्रकट किया। भारतीयो की स्थिति का निरीक्षण करने की अपनी इच्छा उनपर प्रदर्शित करके इस कार्य में उनकी सहायता मांगी। उन्होंने खुशी से सहायता देना स्वीकार की।

पहला काम जो मैंने किया, वह था समस्त भारतीयो की एक सभा करना, जिसमें उनके सामने वहां की स्थिति का चित्र रक्खा जाय। सेठ हाजी मुहम्मद हाजी जुसब के यहां, जिनके नाम मुझे परिचय-पत्र मिला था, सभा की गई। उनमें प्रधानत मेमन व्यापारी शरीक हुए थे। कुछ हिन्दू भी थे। प्रिटोरिया में हिन्दुओ की आबादी बहुत कम थी।

जीवन में मेरा यह पहला भाषण था। मैंने तैयारी ठीक की थी। मुझे 'सत्य' पर बोलना था। व्यापारियो के मुंह से मैं सुनता आया था कि व्यापार में सच्चाई से काम नहीं चल सकता। उस समय मैं यह बात नहीं मानता था। आज भी नहीं मानता हूं। व्यापार और सत्य दोनो एकसाथ नही चल सकते, ऐसा कहनेवाले व्यापारी मित्र आज भी मौजूद है। वे व्यापार को व्यवहार कहते है, सत्य को धर्म कहते और युक्ति पेश करते हैं कि व्यवहार एक चीज है और धर्म दूसरी। व्यवहार में शुद्ध सत्य से काम नहीं चल सकता। वे मानते है कि उसमें तो यथाशक्ति ही सत्य बोला और बरता जा सकता है। मैंने अपने भाषण में इस बात का प्रबल विरोध किया और व्यापारियो को उनके दुहरे कर्तव्य का स्मरण दिलाया। मैंने कहा—'विदेश में आने के कारण आपकी जवाबदेही देश से अधिक बढ गई है, क्योंकि मुट्ठी भर हिन्दुस्तानियो के रहन-सहन से लोग करोडो भारतवासियो का अन्दाज लगाते है।'

मैंने देख लिया था कि अंग्रेजो के रहन-सहन के मुकाबले में हिन्दुस्तानी गंदे रहते है और उनको मैंने यह त्रुटि दिखाई।

हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई अथवा गुजराती, मदरासी, पजाबी,

सिंधी, कच्छी, सूरती इत्यादि भेदों को भुला देने पर जोर दिया। और अन्त को यह सूचित किया कि एक मण्डल की स्थापना करके भारतीयों के कष्टों और दुःखों का इलाज अधिकारियों से मिल कर, प्रार्थना-पत्र आदि के द्वारा, करना चाहिए। और अपनी तरफ से यह कहा कि इसके लिए मुझे जितना समय मिल सकेगा बिना वेतन देता रहूँगा।

मैंने देखा कि सभा पर इसका अच्छा असर हुआ।

चर्चा हुई। कितनों ही ने कहा कि हम हकीकतें ला-लाकर देंगे। मुझे हिम्मत आई। मैंने देखा कि सभा में अंग्रेजी जानने वाले कम थे। मुझे लगा कि ऐसे परदेश में यदि अंग्रेजी का ज्ञान अधिक हो तो अच्छा, इसलिए मैंने कहा कि जिन्हें फुर्सत हो उन्हें अंग्रेजी सीख लेनी चाहिए। बड़ी उम्र में भी चाहें तो पढ़ सकते हैं, यह कहकर उन लोगों की मिसालें दीं जिन्होंने प्रौढावस्था में पढ़ा था। कहा—'यदि पढ़ने वाले तैयार हों तो मैं खुद तैयार हूँ।' कुछ लोग एक साथ वर्ग बनाकर पढ़ने के लिए तथा कुछ अपनी सुविधा देखकर तथा उन्हें घर पढ़ाने जाने पर पढ़ने के लिए तैयार हुए। इनमें दो मुसलमान थे। एक था नाई। एक था कारकुन। एक हिन्दू छोटा-सा दुकानदार था। मैं सबकी सुविधा के अनुकूल हुआ। अपनी पढ़ाने की योग्यता और क्षमता के सम्बन्ध में तो मुझे अविश्वास था ही नहीं। मेरे शिष्य भले ही थक गये हों, पर मैं न थका। कभी उनके घर जाता तो उन्हें फुरसत नहीं रहती। मैंने धीरज न छोड़ा। किसी को अंग्रेजी का पंडित तो होना ही न था, परन्तु दो विद्यार्थियों ने कोई आठ मास में अच्छी प्रगति करली। दोनों ने बहीखाते का तथा चिट्ठी-पत्री लिखने का ज्ञान प्राप्त कर लिया। नाई को तो इतना ही पढ़ना था कि वह अपने ग्राहकों से बातचीत कर सके। दो आदमी इस पढ़ाई की बदौलत ठीक कमाने का भी सामर्थ्य प्राप्त कर सके।

सभा के परिणाम से मुझे सन्तोष हुआ। ऐसी सभा हर मास अथवा हर सप्ताह करने का निश्चय हुआ।

न्यूनाधिक नियमित रूप में यह सभा होती तथा विचार-विनिमय होता। इसके फलस्वरूप प्रिटोरिया में शायद ही कोई ऐसा भारतवासी

होगा, जिसे मैं पहचानता न होऊँ या जिसकी स्थिति से वाकिफ न होऊँ।
भारतीयो की स्थिति की ऐसी जानकारी प्राप्त कर लेने का परिणाम यह हुआ कि मुझे प्रिटोरिया-स्थित ब्रिटिश एजण्ट से परिचय करने की इच्छा हुई। मै मि० जेकोब्स डिवेट से मिला। उनके मनोभाव हिन्दुस्तानियो की ओर थे। पर उनकी पहुँच कम थी। फिर भी उन्होंने भरसक सहायता करने का आश्वासन दिया और कहा—'जब जरूरत हो तो मिल लिया करो।' रेलवे-अधिकारियो से लिखा-पढी की और उन्हे दिखाया कि उन्ही के कायदो के अनुसार हिन्दुस्तानियो की यात्रा में रोक-टोक नही हो सकती। उसके उत्तर में यह पत्र मिला कि साफ-सुथरे और अच्छे कपडे पहनने वाले भारतवासियो को ऊपर दरजे के टिकट दिये जायँगे। इससे पूरी सुविधा तो न हुई, क्योंकि अच्छे कपडो का निर्णय तो आखिर स्टेशन-मास्टर ही करता न ?

ब्रिटिश एजेण्ट ने मुझे हिन्दुस्तानियो से सम्बन्ध रखने वाली चिट्ठियाँ दिखाईं। तैयब सेठ ने भी ऐसे पत्र दिये। उनसे मैंने जाना कि आरेञ्ज फ्री स्टेट से हिन्दुस्तानियो के पैर किस प्रकार निर्दयता से उखाडे गये। सक्षेप में कहूँ तो प्रिटोरिया में मै भारतवासियो की आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक स्थिति का गहरा अध्ययन कर सका। मुझे इस समय यह बिलकुल पता न था कि यह अध्ययन आगे चलकर बडा काम आवेगा, क्योकि मै तो एक साल बाद अथवा मामला जल्दी तय हो जाय तो उसके पहले देश चला जाने वाला था।

पर ईश्वर ने कुछ और ही सोचा था।

: १३ :

कुलीपन का अनुभव

ट्रान्सवाल तथा आरेञ्ज फ्री स्टेट के भारतीयो की दशा का पूरा चित्र देने का यह स्थान नहीं। उनके लिये पाठको को 'दक्षिण अफ्रिका के सत्याग्रह का इतिहास' पढना चाहिए, परन्तु उसकी रूप-रेखा यहाँ दे देना आवश्यक है।

आरेञ्ज फ्री स्टेट में १८८२ ईस्वी में अथवा उसके पहले एक कानून बनाकर भारतीयो के तमाम अधिकार छीन लिये गये थे। सिर्फ होटल में 'वेटर'बन कर रहने की आज़ादी भारतीयो को रह गई थी। जो भारतीय व्यापारी वहाँ थे उन्हे नाम मात्र के लिए मुआवजा देकर वहाँ से हटा दिया गया। उन्होंने प्रार्थना-पत्र इत्यादि तो भेजे-भिजाये, पर नक्कारखाने में तूती की आवाज़ कौन सुनता ?

ट्रान्सवाल में १८८५ में सख्त कानून बना। १८८६ में उसमें कुछ सुधार हुआ, जिसके फलस्वरूप यह नियम बना कि तमाम हिन्दुस्तानी प्रवेश-फीस के तौर पर ३ पौण्ड दें। जमीन की मालिकी भी उन्हे उन्ही जगहो में मिल सकती है, जो उनके लिए खास तौर पर बताई जायँ। पर वास्तव में तो किसी को मालिकी मिली न थी, और मताधिकार भी किसी को कुछ न था। ये तो कानून ऐसे थे, जिनका सम्बन्ध एशियावासियो से था, परन्तु जो कानून श्यामवर्ण के लोगो के लिये थे वे भी एशियावासियो पर लागू होते थे। उसके अनुसार भारतवासी फुटपाथ पर न चल सकते थे, रात को नौ बजे के बाद बिना परवाने के बाहर न निकल सकते थे। इस अन्तिम क़ानून का अमल भारतवासियो पर कही कम होता, कही ज्यादा। जो अरब कहलाते थे, उनपर बतौर मेहरबानी के यह कानून लागू न भी किया जाता, पर यह बात थी पुलिस की मरज़ी पर अवलम्बित।

अब मुझे यह देखना था कि इन दोनो कानूनो का अमल खुद मेरे साथ किस तरह होता है। मि० कोट्स के साथ मैं बहुत बार घूमने के लिये जाता। घर पहुँचते कभी दस भी बज जाते। ऐसी अवस्था में यह आशका रहा करती कि कही मुझे पुलिस पकड न ले। पर मेरी अपेक्षा यह भय कोट्स को अधिक था, क्योकि अपने हबशियो को तो परवाने वही देते थे। पर मुझे कैसे दे सकते थे ? मालिक को परवाना देने का अधिकार सिर्फ नौकर के ही लिए था। यदि मैं लेना चाहूँ और कोट्स देने को तैयार हो तो भी वह नही दे सकते थे, क्योकि ऐसा करना दगा समझा जाता।

इस कारण मुझे कोट्स अथवा उनके कोई मित्र वहाँ के सरका
वकील डा० क्राउजे के पास ले गये। हम दोनो एक ही 'इन' के बैरिस्ट
निकले। यह बात कि मुझे नौ बजे के बाद रात को परवाना लेने व
जरूरत है, उन्हे बड़ी नागवार मालूम हुई। उन्होने मेरे साथ समवेदन
प्रदर्शित की। मुझे परवाना देने के बदले अपनी तरफ से एक पत्र
दिया। उसका आशय यह था कि मै कही भी किसी समय चला जा
तो पुलिस मुझे रोक-टोक न करे। हमेशा मै इस पत्र को अपने सा
रखता। उसका उपयोग तो किसी भी दिन न करना पडा, पर इ
एक दैव-योग ही समझना चाहिए।

डा० क्राउजे ने मुझे अपने घर चलने का निमन्त्रण दिया। हम दोन
में खासी मित्रता-सी हो गई। कभी-कभी मै उनके घर जाने लगा। उनवे
द्वारा उनके अधिक प्रख्यात भाई से मेरा परिचय हुआ। वह जोहान्सवर्ग मे
पब्लिक प्रासीक्यूटर थे। उनपर बोअर-युद्ध के समय अंग्रेज अधिकारी का
खून करने की साजिश का अभियोग लगाया गया था और उन्हे सात
साल कैद की सजा भी मिली थी। बेचारो ने उनकी सनद भी छीन ली
थी। लडाई खतम होने के बाद, यह डा० क्राउजे जेल से छूटे, और फिर
सम्मान-सहित ट्रान्सवाल की अदालत में वकालत करने लगे। इन परिचयो
से मुझे बाद को सार्वजनिक कार्यों में खासा लाभ मिला और मेरा सार्व-
जनिक काम बहुत सुगम हो गया।

फुटपाथ पर चलने का प्रश्न जरा मेरे लिए गभीर परिणाम वाला
साबित हुआ। मै हमेशा प्रेसीडेण्ट-स्ट्रीट में होकर एक खुले मैदान में
घूमने जाता। इस मुहल्ले में प्रेसीडेण्ट क्रूगर का घर था। इस घर मे
आडम्बर का नाम-निशान न था। उसके आस-पास कम्पाउण्ड तक न
था। दूसरे पड़ौसी घरो में और इसमें कुछ फर्क न मालूम देता था।
कितने ही लखपतियो के घर, प्रिटोरिया में, इस घर से भारी आलीशान
और चहारदीवारी वाले थे। प्रेसिडेण्ट की सादगी प्रख्यात थी। यह घर
किसी राज्याधिकारी का है, इसका अंदाज सिर्फ उस सतरी को देखकर
हो सकता था, जो उसके सामने टहलता रहता। सतरी किसी को

ोकता-टोकता नही । उसकी बदली होती रहती । एक बार एक सतरी ।, बिना चिताये, बिना यह कहे कि फुटपाथ से उतर जाओ, मुझे धक्का ार दिया, लात जमा दी और फुटपाथ से उतार दिया । मै तो भौचक ह गया । ज्योही मै लात जमाने का कारण पूछता हूँ कोट्स ने, जो घोडे पर सवार होकर उस समय उसी रास्ते से जा रहे थे, आकर कहा—

"गाधी, मैंने यह सब देख लिया है । तुम यदि मुकदमा चलाना चाहो तो मैं गवाही दूँगा । मुझे बहुत अफसोस होता है कि तुमपर इस प्रकार का हमला हुआ ।" मैंने कहा—'इसमें अफसोस की बात ही क्या है, सतरी बेचारा क्या पहचानता ? उसके नजदीक तो, काले-काले सब बराबर । हबशियो को फुटपाथ से इसी तरह उतारता होगा । इसलिए मुझे भी धक्का मार दिया । मैंने तो अपना यह नियम ही बना लिया है, कि मेरे जातखास पर जो भी कुछ बीते, उसके लिए कभी अदालत न जाऊँ, इसलिए मुझे इसे अदालत में नही ले जाना है ।'

'यह तो तुमने अपने स्वभाव के अनुसार ही कहा है, पर और भी विचार कर देखना । ऐसे आदमी को, कुछ सबक तो जरूर सिखाना चाहिए ।' यह कहकर उन्होने उस सतरी को दो-चार बाते कही । मै सारी बात न समझ सका । सतरी डच था और डच भाषा में उसके साथ बात-चीत हुई थी । सतरी ने मुझसे माफी माँगी, मैं तो अपने मन में उसे माफी पहले ही दे चुका था ।

पर उसके बाद से मैंने उस रास्ते जाना छोड दिया । दूसरे सतरी इस घटना को क्या जानते ? मै अपने-आप लात खाने क्यो जाऊँ ? इस-लिए मैंने दूसरे रास्ते होकर घूमने जाना पसन्द किया । इस घटना ने वहाँ के हिन्दुस्तानी निवासियो के प्रति मेरे मनोभाव और भी तीव्र कर दिये । उनसे मैंने दो बातो की चर्चा की । एक तो यह कि इन कानूनो के लिए ब्रिटिश-एजेण्ट से बात कर ली जाय, और दूसरी बात यह कि मौका पडने पर बतौर नमूने के एक मुकदमा चलाया जाय ।

इस प्रकार मैंने, भारतवासियो के कष्टो को पढकर, सुनकर, तथा अनुभव करके अध्ययन किया । मैंने देखा कि आत्म-सम्मान की रक्षा

चाहने वाले भारतवासी के लिए, दक्षिण अफ्रिका अनुकूल नही। यह दशा कैसे बदली जा सकती है? इसीके विचार मे मेरा मन दिन-दिन व्यग्र रहने लगा; पर अभी तो मेरा मुख्य धर्म था दादा अब्दुल्ला के मुकदमे को सम्हालना।

: १४ :

मुकदमे की तैयारी

प्रिटोरिया में मुझे जो एक वर्ष मिला, वह मेरे जीवन में अमूल्य था। सार्वजनिक काम करने की अपनी शक्ति का कुछ अन्दाज मुझे यहीं हुआ, सार्वजनिक सेवा को सीखने का अवसर मिला। धार्मिक भावना अपने-आप तीव्र होने लगी। और सच्ची वकालत भी, कहना चाहिए, मैंने यहीं सीखी। नया बैरिस्टर पुराने बैरिस्टर के दफ्तर में रहकर जो सीखता है वह मैं यहीं सीख सका। यहीं मुझे इस बात पर विश्वास हुआ कि एक वकील की हैसियत से मैं बिलकुल अयोग्य न रहूँगा। वकील होने की कुंजी भी मेरे हाथ यहीं आकर लगी।

दादा अब्दुल्ला का मामला छोटा न था। दावा ४०,०००) पौण्ड अर्थात् ६ लाख रुपये का था। वह व्यापार के सिलसिले में था और उसमें जमानामे की बहुतेरी गुत्थियाँ थीं। उसके कुछ अंश का आधार था प्रामिसरी नोटों पर और कुछ का था नोट देने के वचन का पालन करने पर। सफाई में यह कहा जाता था कि प्रामिसरी नोट जालसाजी करके लिये गये थे और पूरा मुआवजा नहीं मिला था। इसमें हकीकत की तथा कानूनी गुन्जाइशें बहुतेरी थीं। बही-खाते की उलझनें बहुत थीं।

दोनों ओर से अच्छे-से-अच्छे सालिसिटर और बैरिस्टर खड़े हुए थे। इस कारण मुझे उन दोनों के काम का अनुभव प्राप्त करने का बढ़िया अवसर हाथ आया। मुद्दई का मामला सालिसिटर के लिए तैयार करने का तथा हकीकतों को ढूँढने का सारा बोझ मुझी पर था। इससे मुझे यह देखने का अवसर मिलता था कि मेरे तैयार किये काम में से सालिसिटर

अपने काम में कितनी बातें लेते है और सालिसिटरो के तैयार किये मामले में से वैरिस्टर कितनी बातो को काम में लेते है। मै समझ गया कि इस मामले को तैयार करने में मुझे ग्रहण-शक्ति और व्यवस्था-शक्ति का ठीक अन्दाजा हो जायगा।

मैंने मामला तैयार करने में पूरी-पूरी दिलचस्पी ली। मै उसमें लव-लीन होगया। आगे-पीछे के तमाम कागज-पत्रो को पढ़ डाला। मवक्किल के विश्वास और होशियारी की सीमा न थी। इससे मेरा काम बडा सरल था। मैंने वही-खातो का सूक्ष्म अध्ययन कर लिया। गुजराती कागज-पत्र वहुतेरे थे। उनके अनुवाद भी मै करता था। इससे उल्था करने की क्षमता भी बढी।

मैंने खूब उद्योग से काम लिया। यद्यपि जैसाकि मै ऊपर लिख चुका हूँ, धार्मिक चर्चा आदि में तथा सार्वजनिक कामो में मेरा दिल खूब लगता था, उनके लिये समय भी देता था, तथापि इस समय ये बातें गौण थी। मुकदमे की तैयारी को ही मै प्रधानता देता था। उसके लिए कानून वगैरा देखने का अथवा दूसरा कुछ पढना होता तो उसे मै पहले कर लेता। इसके फलस्वरूप मामले की असली बातो का मुझे इतना ज्ञान होगया कि खुद मुद्दई-मुद्दाअलेह को भी शायद न हो; क्योकि मेरे पास तो दोनो के कागजात थे।

मुझे स्वर्गीय मि० पिकट के शब्द याद आये। उनका समर्थन बाद को दक्षिण अफ्रिका के सुप्रसिद्ध वैरिस्टर स्वर्गीय मि० लैनर्डे ने एक अवसर पर किया था। 'हकीकत तीन-चौथाई कानून है'—यह मि० पिकट का वाक्य था। एक मामले में मै जानता था कि न्याय सर्वथा मेरे मवक्किल के पक्ष में था, परन्तु कानून उसके खिलाफ जाता हुआ दिखाई पडा। मै निराश होकर मि० लैनर्डे से सहायता लेने के लिए दौडा। उन्हे भी हकीकतो के आधार पर मामला मजबूत मालूम हुआ। वह बोल उठे, 'गांधी, मैंने एक बात सीखी है। यदि हकीकतो का ज्ञान हमें पूरा-पूरा हो, कानून अपने-आप हमारे अनुकूल हो जायगा। सो हम इस मामले की हकीकत को देखें।' यह कहकर उन्होने सुझाया कि 'एक बार और

हक़ीकतों का खूब मनन कर लो और मुझसे मिलो।' उन्ही हक़ीक़त को फिर छानबीन करते हुए, उनका मनन करते हुए, मुझे वह दूसरी तरह दिखाई दी और उससे सम्बन्ध रखने वाला दक्षिण अफ्रिका में हुआ एक पुराना मामला भी हाथ लग गया। मारे खुशी के मैं मि० लेनर्ड के यहाँ पहुँचा। वह खुश हो उठे, और बोले—'बस, अब हम इस मामले को जीत लेंगे। बेञ्च पर कौन-से जज होंगे, यह ज़रा ध्यान मे रखना होगा।'

जब दादा अब्दुल्ला के मामले की तैयारी कर रहा था तब हक़ीकत की महिमा मैं इस दरजे तक न समझ सका था। हक़ीकत के मानी हैं सत्य बात; सत्य बात पर आरूढ़ रहने से क़ानून अपने-आप हमारी सहायता के लिए अनुकूल हो जाता है।

मैंने देख लिया था कि मेरे मवक्किल का पक्ष बहुत मज़बूत है। कानून को उनकी मदद के लिए आना ही पड़ेगा।

पर साथ ही मैंने यह भी देखा कि मामला लड़ते-लड़ते दोनो रिश्ते-दार, एक ही शहर के रहनेवाले, बरबाद हो जायँगे। मामले का अन्त क्या होगा, यह किसी को खबर न हो सकती थी। अदालत में तो मामला जहाँतक जी चाहे लम्बा किया जा सकता है। लम्बा करने से दो में से किसी को लाभ न था। इस कारण दोनो पक्ष वालो की इच्छा थी कि मामला जल्दी तय होजाय तो अच्छा।

मैंने तैयब सेठ से अनुरोध किया और आपस मे निपटारा कर लेने की सलाह दी। मैंने कहा कि आप अपने वकील से मिलिए। दोनो के विश्वासपात्र पंच को यदि वे नियुक्त कर दें तो मामला जल्दी तय हो सकता है। वकीलो के ख़र्च का बोझा इतना चढ़ रहा था कि उनमें बड़े-बड़े व्यापारी भी खप जायँ। दोनो इतनी चिन्ता से मुक़दमा लड़ रहे थे कि कोई भी बेफिक्री से दूसरा कोई काम कर पाते थे; और दोनो में मनमुटाव जो बढ़ता जाता था सो अलग ही। मेरे मन में वकालत पर घृणा उत्पन्न हुई। वकील का तो यह काम ही ठहरा कि एक दूसरे को जिताने की कानूनी गुञ्जायशें खोज रक्खें। जीतने वाले को सारा खर्च कभी नहीं मिलता, यह बात मैंने इस मामले में पहले-पहल

जानी। वकील मवक्किल से एक फीस लेता है, और मवक्किल को प्रति-वादी से दूसरी रकम मिलती है। दोनो रकमे जुदा-जुदा होती है। मुझे यह सब बडा नागवार गुजरा। मेरी अन्तरात्मा ने कहा कि इस समय मेरा धर्म है दोनो में मित्रता करा देना, दोनो रिश्तेदारो में मिलाप करा देना। मैंने समझौते के लिए जी तोड कर मिहनत की। तैयब सेठ ने बात मान ली। अन्त को पच मुकर्रर हुए और मुकदमा चला। उसमें दादा अब्दुल्ला की जीत हुई।

पर मुझे इतने से सतोष न हुआ। यदि पच के फैसले का अमल एकबारगी हो तो तैयब हाजी खान मुहम्मद इतना रुपया एकाएक न दे सकते थे। दक्षिण अफ्रिका-स्थित पोरबन्दर के मेमन व्यापारियो में एक आपसी का अलिखित कायदा था कि खुद चाहे मर जायें, पर दिवाला न निकालें। तैयब सेठ ३७००० पौड और खर्च एकमुश्त नही दे सकते थे। वह एक पाई कम न देना चाहते थे। दिवाला भी नही निकालना था। ऐसी दशा में एक ही रास्ता था—दादा अब्दुल्ला उन्हे अदायगी के लिए काफी मियाद दें। दादा अब्दुल्ला ने उदारता से काम लिया और काफी मियाद दे दी। पच मुकर्रर करने में जितना श्रम मुझे हुआ उससे कही अधिक लम्बी किश्तें कराने में हुआ। दोनो पक्ष खुश रहे। दोनो की प्रतिष्ठा बढी। मेरे सन्तोप की तो सीमा न रही। मैंने सच्ची वक़ालत करना सीखा। मनुष्य के गुण—उज्ज्वल पक्ष को खोजना सीखा। मनुष्य के हृदय में प्रवेश करना सीखा। मैंने देखा कि वकील का कर्त्तव्य है, फरीकैन मे पडी खाई को पाट देना। यह शिक्षा मेरे हृदय में इतने जोर के साथ अकित हो गई कि अपने बीस साल के वकील-जीवन में अधिक समय मेरा सैकडो फरीकैन में समझौता कराने मे बीता। इसमें मैंने गँवाया कुछ नही। धन खोया, यह भी नही कह सकते, और आत्मा को तो किसी तरह नही खोया।

: १५ :

धार्मिक मन्थन

अब फिर ईसाई-मित्रो के सम्पर्क पर विचार करने का समय आया है। मेरे भविष्य के सम्बन्ध में मि० बेकर की चिन्ता दिन-दिन बढती जा रही थी। वह मुझे विलिंग्टन कन्वेन्शन में ले गये। प्रोटेस्टेण्ट ईसाइयो में, कुछ-कुछ वर्षो बाद, धर्म-जागृति अर्थात् आत्म-शुद्धि के लिए विशेष प्रयत्न किये जाते है। इसे धर्म की पुन प्रतिष्ठा अथवा धर्म का पुनरुद्धार कहा करते है। ऐसा सम्मेलन वेलिंग्टन में था। उसके सभापति वहाँ के प्रख्यात धर्मनिष्ठ पादरी रेवरण्ड एण्ड्रू मरे थे। मि० बेकर को ऐसी आशा थी कि इस सम्मेलन में होनेवाली जागृति, वहाँ आनेवाले लोगो का धार्मिक उत्साह, उनका शुद्धभाव, मुझपर ऐसा गहरा असर डालेगा कि मै ईसाई हुए बिना न रह सकूँगा।

परन्तु मि० बेकर का अन्तिम आधार था प्रार्थना-बल। प्रार्थना-उनकी भारी श्रद्धा थी। उनका विश्वास था कि अन्त करण-पूर्वक की गई प्रार्थना को ईश्वर अवश्य सुनता है। वह कहते, 'प्रार्थना के ही बल पर मुलर (एक विख्यात भावुक ईसाई) जैसे लोग अपना काम चलाते है।' प्रार्थना की यह महिमा मैने तटस्थ भाव से सुनी। मैने उनसे कहा कि यदि मेरा अन्तरात्मा पुकार उठे कि मुझे ईसाई हो जाना चाहिए तो दुनिया की पुकार के अनुसार चलने की आदत तो मै कितने ही वर्षों से डाल चुका था। अन्तरात्मा के अधीन होते हुए मुझे आनन्द आता। उसके विपरीत आचरण करना मुझे कठिन और दुखदाई मालूम होता था।

हम वेलिंग्टन गये। मुझे 'श्यामल साथी' के साथ रखना मि० बेकर के लिए भारी पड़ा। कई बार उन्हे मेरे कारण असुविधा भोगनी पडती। रास्ते में हमें मुकाम करना था, क्योकि मि० बेकर का सघ रविवार को सफर न करता था और बीच में रविवार पड़ गया था। बीच में तथा स्टेशन पर मुझे होटलवाले ने होटल में ठहरने से तथा चख-चख

होने के बाद ठहरने पर भी भोजनालय में भोजन करने देने से इनकार कर दिया; पर मि० बेकर आसानी से हार माननेवाले न थे। वह होटल में ठहरनेवालों के हक पर अड़े रहे, परन्तु मैंने उनकी कठिनाइयों का अनुभव किया। वेलिंग्टन में भी मैं उनके पास ही ठहरा था। वहाँ उन्हें छोटी-छोटी सी बातों में असुविधा होती थी। वह उन्हें ढाँकने का शुभ प्रयत्न करते थे; फिर भी वे मेरे ध्यान में आ जाया करती थीं।

सम्मेलन में भावुक ईसाइयों का अच्छा सम्मिलन हुआ। उनकी श्रद्धा देखकर मुझे आनन्द हुआ। मि० मरे से परिचय हुआ। मैंने देखा कि मेरे लिए बहुतेरे लोग प्रार्थना कर रहे थे। उनके कितने ही भजन मुझे बहुत ही मीठे मालूम हुए।

सम्मेलन तीन दिन तक हुआ। सम्मेलन में सम्मिलित होने वालों की धार्मिकता को तो मैं समझ सका, उसकी कद्र भी कर सका, परन्तु अपनी मान्यता—अपने धर्म—में परिवर्तन करने का कारण न दिखाई दिया। मुझे यह न मालूम हुआ कि मैं अपने-को ईसाई कहलाने पर ही स्वर्ग को जा सकता हूँ या मोक्ष पा सकता हूँ। जब मैंने यह बात अपने भले ईसाई मित्रों से कही तब उन्हें दुःख हुआ, पर मैं लाचार था।

मेरी कठिनाइयाँ गहरी थीं। यह बात कि ईसामसीह ही एकमात्र ईश्वर का पुत्र है, जो उसको मानता है उसीका उद्धार होता है, मुझे न पटी। ईश्वर के यदि कोई पुत्र हो सकता है तो फिर हम सब उसके पुत्र हैं। ईसामसीह यदि ईश्वर-सम है, ईश्वर ही है, तो मनुष्य-मात्र ईश्वर-सम है, ईश्वर हो सकते हैं। ईसा की मृत्यु से और उसके लहू से संसार के पाप धुल जाते हैं, इस बात को अक्षरशः मानने के लिए बुद्धि किसी तरह तैयार न होती थी। रूपक के रूप में यह सत्य भले ही हो। फिर ईसाई मत के अनुसार तो मनुष्य को ही आत्मा होती है, दूसरे जीवों को नहीं, और देह के नाश के साथ ही उसका भी सर्वनाश हो जाता है, पर मेरा मत इसके विपरीत था।

ईसा को मैं त्यागी, महात्मा, दैवी शिक्षक मान सकता था, परन्तु एक अद्वितीय पुरुष नहीं। ईसा की मृत्यु से संसार को एक भारी उदाहरण

मिला, परन्तु उसकी मृत्यु में कोई गुप्त चमत्कार-प्रभाव था, इस बात को मेरा हृदय न मान सकता था। ईसाइयो के पवित्र जीवन में से मुझे कोई ऐसी बात न मिली जो दूसरे धर्मवालो के जीवन में न मिलती थी। उनकी तरह दूसरे धर्म वालो के जीवन में भी परिवर्तन होता हुआ मैंने देखा था। सिद्धान्त की दृष्टि से ईसाई-सिद्धान्तो में मुझे अलौकिकता न दिखाई दी। त्याग की दृष्टि से हिन्दू-धर्म वालो का त्याग मुझे बढकर मालूम हुआ। ईसाई-धर्म को मैं सम्पूर्ण अथवा सर्वोपरि धर्म न मान सका।

अपना यह हृदय-मन्थन मैंने, समय पाकर, ईसाई मित्रो के सामने रक्खा। उनका जवाब वे सतोषजनक न दे सके।

परन्तु एक ओर जहाँ मैं ईसाई-धर्म को ग्रहण न कर सका वहाँ दूसरी ओर हिन्दू-धर्म की सम्पूर्णता अथवा सर्वोपरिता का भी निश्चय मैं उस समय तक न कर सका। हिन्दू-धर्म की त्रुटियाँ मेरी आँखो के सामने घूमा करतीं। अस्पृश्यता यदि हिन्दू-धर्म का अंग हो तो वह मुझे सडा हुआ अथवा बटा हुआ मालूम हुआ। अनेक सम्प्रदायो और जात-पाँत का अस्तित्व मेरी समझ में न आया। वेद ईश्वर प्रणीत है, इसका क्या अर्थ? वेद यदि ईश्वर-प्रणीत है, तो फिर कुरान और बाइबिल क्यो नही?

जिस प्रकार ईसाई मित्र मुझपर असर डालने का उद्योग कर रहे थे, इसी प्रकार मुसलमान मित्र भी कोशिश कर रहे थे। अब्दुल्ला सेठ मुझे इस्लाम का अध्ययन करने के लिए ललचा रहे थे। उसकी खूबियो का बखान तो वह हमेशा करते रहते।

मैंने अपनी दिक्कतें रायचन्द्र भाई को लिखी। हिदुस्तान में दूसरे धर्मशास्त्रियो से भी पत्र-व्यवहार किया। उनके उत्तर भी आये, परन्तु रायचन्द्र भाई के पत्र ने मुझे शान्ति दी। उन्होंने लिखा कि धीरज रक्खो, और हिन्दू-धर्म का गहरा अध्ययन करो। उनके एक वाक्य का भावार्थ यह था—'हिन्दू-धर्म में जो सूक्ष्म और गूढ विचार है, जो आत्मनिरीक्षण है, दया है, वह दूसरे धर्म में नही है—निष्पक्ष होकर विचार करते हुए मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ।'

मैंने सेल-कृत कुरान खरीदी और पढना शुरू किया। दूसरी इस्लामी

पुस्तकें भी मँगाईं। विलायत के ईसाई मित्रो से लिखा-पढी की। उनमें से एक ने एडवर्ड मेटलैण्ड से जान-पहचान कराई। उनके साथ चिट्ठी-पत्री हुई। उन्होंने एना किंग्सफर्ड के साथ मिलकर 'परफेक्ट वे' (उत्तम मार्ग) नामक पुस्तक लिखी थी। वह मुझे पढने के लिए भेजी। प्रचलित ईसाईधर्म का उसमें खण्डन था। 'बाइबिल का नवीन अर्थ' नामक पुस्तक भी उन्होंने मुझे भेजी। ये पुस्तकें मुझे पसन्द आईं। उनसे हिन्दू-मत को पुष्टि मिली। टॉल्स्टाय की 'वैकुण्ठ तुम्हारे हृदय में है' नामक पुस्तक ने मुझे मुग्ध कर लिया। उसकी बड़ी गहरी छाप मुझ पर पडी। इस पुस्तक की स्वतन्त्र विचार-शैली, उसकी प्रौढ नीति, उसके सत्य के सामने मि० कोट्स की दी हुई तमाम पुस्तकें शुष्क मालूम हुईं।

इस प्रकार मेरा यह अध्ययन मुझे ऐसी दिशा में ले गया जिसे ईसाई मित्र न चाहते थे। एडवर्ड मेटलैण्ड के साथ मेरा पत्र-व्यवहार काफी समय तक रहा। कवि (रायचन्द्र) के साथ तो अन्त तक रहा। उन्होंने कितनी ही पुस्तकें भेजी। उन्हें भी पढ गया। उनमें 'पचीकरण', 'मणिरत्नमाला', 'योगवशिष्ट' का मुमुक्षु-प्रकरण, हरिभद्र सूरि का 'षड्दर्शन-समुच्चय' इत्यादि थे।

इस प्रकार यद्यपि मैं ऐसे रास्ते चल पडा, जिसका खयाल ईसाई मित्रो ने न किया था, फिर भी उनके समागम ने जो धर्म-जिज्ञासा मुझमें जागृत कर दी थी उसके लिए तो मैं उनका चिर-कालीन ऋणी हूँ। उनसे मेरा यह सम्बन्ध मुझे हमेशा याद रहेगा। ऐसे मीठे और पवित्र सम्बन्ध आगे और भी बढते गये हैं, घटे नही हैं।

: १६ :

'को जाने कल की।'

'खबर नहिं इस युग में पल की
समझ मन 'को जाने कल की?'

मुकदमा खतम हो जाने के बाद मेरे प्रटोरिया में रहने का कोई प्रयोजन न रहा था। सो मैं डरबन गया। वहाँ जाकर घर (भारतवर्ष)

लौटने की तैयारी की, पर अब्दुल्ला सेठ भला मुझे आदर-सत्कार किये बिना क्यो जाने देने लगे ? उन्होने सिडेनहॅम में मेरे लिए खान-पान का एक जलसा किया। सारा दिन उसमें लगनेवाला था।

मेरे पास कितने ही अखबार रक्खे हुए थे। उन्हे मैं देख रहा था। एक अखबार के कोने में एक छोटी-सी खबर छपी थी—'इण्डियन फ्रेंचाइज'। इसका अर्थ हुआ—'हिन्दुस्तानी मताधिकार।' खबर का भावार्थ यह था कि नेटाल की धारा-सभा के सभ्यो को चुनने का जो अधिकार हिन्दुस्तानियो को था वह छीन लिया जाय। इसके विषय में एक कानून धारा-सभा में पेश था और उसपर चर्चा होरही थी। मैं उस कानून के बारे में कुछ न जानता था। जलसे में किसी को इस मसविदे की खबर न थी, जोकि भारतीयो के अधिकारो को छीनने के लिए तैयार हुआ था।

मैंने अब्दुल्ला सेठ से इसका जिक्र किया। उन्होंने कहा—'इन बातो को हम लोग क्या समझें ? हमारे तो व्यापार पर अगर कोई आफत आवे तो खबर पड सकती है। देखिए, आरेञ्ज फ्री स्टेट में हमारे व्यापार की सारी जड उखड गई। उसके लिए हमने कोशिश भी की, पर हम तो ठहरे अपग। अखबार पढते है—पर अपने भाव-ताव की बाते ही समझ लेते हैं। कानून-कायदे की बातो का हमें क्या पता चले ? हमारे आँख-कान जो-कुछ है, गोरे वकील है।'

'पर यही पैदा हुए और अँग्रेजी पढे-लिखे इतने नौजवान हिन्दुस्तानी जो यहाँ हैं !' मैंने कहा।

'अजी भाईसाहब !' अब्दुल्ला सेठ ने सिरपर हाथ मारते हुए कहा—'उनसे क्या उम्मीद की जाय ? वे बेचारे इन बातो में क्या समझे ?' वे तो हमारे पास तक नही फटक्ते, और सच पूछिए तो हम भी उन्हे नही पहचानते। वे है ईसाई, इसलिए पादरियो के पजे में है और पादरी लोग गोरे, वे सरकार के तावेदार है।'

सुनकर मेरी आँखें खुली। सोचा कि इस दल को अपनाना चाहिए। ईसाई-धर्म के क्या यही मानी है ? क्या ईसाई हो जाने से उनका नाता देश से टूट गया, और वे विदेशी हो गये ?

पर मुझे तो देश वापस लौटना था, अतएव इन विचारो को मूर्त्त रूप न दिया। अब्दुल्ला सेठ से कहा —

'पर यदि यह बिल ज्यो-का-त्यो पास होगया तो आप लोगो के लिए बहुत भारी पडेगा। यह तो भारतवासियो के अस्तित्व को मिटा डालने का पहला कदम है। इससे हमारा स्वाभिमान नष्ट होगा।'

'जो-कुछ हो। इस 'फ्रेंचाइज' (इस तरह अग्रेजी के कितने ही शब्द देशी भाषा में रूढ हो गये थे। 'मताधिकार' कहने से कोई नही समझता) का थोडा इतिहास सुन लीजिए। इस मामले में हमारी समझ काम नही देती, पर हमारे बडे वकील मि० ऐस्कम्ब को तो आप जानते ही है, वह जबरदस्त लडवैये है। उनकी तथा यहाँ के फुरजा के इजीनियर की खूब चख-चख चला करती है। मि० ऐस्कम्ब के धारा-सभा में जाने में यह लडाई बाधक हो रही थी। इसलिए उन्होने हमें हमारी स्थिति का ज्ञान कराया। उनके कहने से हमने अपने नाम मताधिकार-पत्र में दर्ज करा लिए और अपने तमाम मत मि० ऐस्कम्ब को दिये। अब आप समझ जायेंगे कि हम इस मताधिकार की कीमत आपके इतनी क्यो नही आँकते हैं, पर आपकी बात अब हमारी समझ मे आ रही है—अच्छा तो अब आप क्या सलाह देते हैं?'

यह बात दूसरे मेहमान लोग गौर से सुन रहे थे। इनमें से एक ने कहा—'मैं आपसे सच्ची बात कह दूँ? यदि आप इस जहाज से न जायें और एकाध महीना यहाँ रह जायँ, तो आप जिस तरह बतायें हम लडने को तैयार है।'

एक दूसरे ने कहा—'यह बात ठीक है। अब्दुल्ला सेठ, आप गांधी जी को रोक लीजिए।'

अब्दुल्ला सेठ थे उस्ताद आदमी। वह बोले—'अब इन्हे रोकने का अख्तियार मुझे नही। अथवा जितना मुझे है उतना ही आपको भी है, पर आपकी बात है ठीक। हम सब मिलकर इन्हे रोक लें, पर यह तो बैरिस्टर है। इनकी फीस का क्या होगा?'

फीस की बात से मुझे दुख हुआ। मै बीच ही में बोला—

'अब्दुल्ला सेठ, इसमें फीस का क्या सवाल ? सार्वजनिक सेवा में फीस किस बात की ? यदि मैं रहा तो एक सेवक की हैसियत से रह सकता हूँ। इन सब भाइयो से मेरा पूरा परिचय नहीं है; पर यदि आप यह समझते हो कि ये सब लोग मेहनत करेंगे तो मैं एक महीना ठहर जाने के लिये तैयार हूँ, पर एक बात है। मुझे तो आपको कुछ देना-देना नहीं पड़ेगा, पर ऐसे काम बिना रुपये-पैसे के नहीं चल सकते। हमें तार वगैरा देने पड़ेंगे—कुछ छपाना भी पडेगा। इधर जाना-आना पडेगा, उसका किराया आदि भी लगेगा। मौक़ा पडने पर यहाँ के वकीलो की भी सलाह लेनी पडेगी। मैं यहाँ के सब कानून-कायदो को अच्छी तरह नहीं जानता। कानून की पुस्तकें देखनी होंगी; फिर ऐसे काम अकेले हाथो नहीं हो सकते। कई लोगो के सहयोग की जरूरत होगी।'

बहुत-सी आवाज़ एक-साथ सुनाई दी—'खुदा की महर है। रुपये-पैसे की फिक्र मत कीजिए। आदमी भी मिल जायँगे। आप सिर्फ ठहरना मजूर करलें तो बस है।'

फिर क्या था, वह जलसा कार्यकारिणी-समिति के रूप में परिणत हो गया। मैंने सुझाया कि खा-पी कर जल्दी फारिग होकर हम लोग घर पहुँचे। मैंने मन में लडाई की रूप-रेखा बाँधी। यह जान लिया कि मताधिकार कितने लोगो को है। मैंने भी एक मास ठहर जाने का निश्चय किया।

इस प्रकार ईश्वर ने दक्षिण अफ्रिका में मेरे स्थायी रूप से रहने की नींव डाली और आत्म-सम्मान के संग्राम का बीजारोपण हुआ।

: १७ :

बस गया

१८९३ ईस्वी में सेठ हाजी मुहम्मद हाजी दादा नेटाल की भारतीय जाति के अग्रगण्य नेता माने जाते थे। साम्पत्तिक स्थिति में सेठ अब्दुल्ला हाजी आदि मुख्य थे, परन्तु वह तथा दूसरे लोग भी सार्वजनिक

कामो में सेठ हाजी मुहम्मद को ही प्रथम स्थान देते थे। इसलिये उनकी अध्यक्षता में, अब्दुल्ला सेठ के मकान में, एक सभा की गई। उसमें फ्रेंचाइज बिल का विरोध करने का प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। स्वयसेवको की सूची भी बनी। इस सभा मे नेटाल में जन्मे हिन्दुस्तानी, अर्थात् ईसाई नवयुवक, भी बुलाये गये थे। मि० पॉल डरबन की अदालत के दुभापिया थे। मि०सुबहान गाडफ्रे मिशन स्कूल के हेडमास्टर थे। वे भी सभा मे उपस्थित हुए थे, और उनके प्रभाव से ईसाई नवयुवक अच्छी सख्या में आये थे। इन सब लोगो ने स्वयसेवको में अपना नाम लिखाया। सभा में व्यापारी भी बहुतेरे थे। उनमे जानने योग्य नाम ये है—सेठ दाऊद मुहम्मद कासिम, कमरुद्दीन, सेठ आदमजी मियाँ खान, ए० कोलन्दुवेल्लु पिल्ले, सा० लछीराम, रगस्वामी पडियाची, आदमजीवा इत्यादि। पारसी रुस्तमजी तो थे ही। कारकुन लोगो में पारसी माणेकजी, जोशी, नरसी-राम इत्यादि, दादा अब्दुल्ला की तथा दूसरी बडी दूकानो के कर्मचारी थे। पहले-पहल सार्वजनिक काम में पडते हुए इन लोगो को जरा अट-पटा मालूम हुआ। इस तरह सार्वजनिक काम मे निमत्रित तथा सम्मलित होने का उन्हें यह पहला अनुभव था। सिर आई विपत्ति के मुकाबले के लिए नीच-ऊँच, छोटे-बडे, मालिक-नौकर, हिन्दू-मुसलमान, पारसी, ईसाई, गुजराती, मदरासी, सिन्धी इत्यादि भेद-भाव जाते रहे। उस समय सब भारत की सतान और सेवक थे।

फ्रेंचाइज बिल दुबारा पढा जा चुका था अथवा पढा जाने वाला था। उस समय धारा-सभा में जो भाषण हुए, उनमे यह बात कही गई कि कानून इतना सख्त था, फिर भी हिन्दुस्तानियो की ओर से उसका कुछ विरोध न हुआ। यह भारतीय प्रजा की लापरवाही और मताधिकार सम्बन्धी उनकी अपात्रता का प्रमाण था।

मैंने सभा को सारी हकीकत समझा दी। पहला काम तो यह हुआ कि धारा-सभा के अध्यक्ष को तार दिया जाय कि वह बिल पर आगे विचार करना स्थगित कर दें। ऐसा ही तार मुख्य प्रधान सर जान राबि-न्सन को भी भेजा, तथा एक और तार दादा अब्दुल्लाके मित्र के नाते मि०

ऐस्काम्ब को गया। तार का जवाब मिला कि बिल की चर्चा दो दिन तक स्थगित रहेगी। इससे सब लोगो को खुशी हुई।

अब दरख्वास्त का मसविदा तैयार हुआ। उसकी तीन प्रतियाँ भेजी जाने वाली थी। अखबारो के लिए भी एक प्रति तैयार करली थी। उस पर जितनी अधिक सहियाँ ली जा सकें, लेनी थी। यह सब काम एक रात में पूरा करना था। वे शिक्षित स्वयसेवक तथा दूसरे लोग लगभग सारी रात जगे। उनमे एक मि० आर्थर थे, जो बहुत बूढे थे और जिनका खत अच्छा था। उन्होने सुन्दर हरफो में दरख्वास्त की नकल की। औरो ने उसकी और नकलें की। एक बोलता जाता और पाँच लिखते जाते। इस तरह पाँच नकलें एक साथ हो गई। व्यापारी स्वयंसेवक अपनी-अपनी गाडियाँ लेकर अपने खर्चे से गाड़ियाँ किराया करके सहियाँ देने दौड पडे।

दरख्वास्त गई। अखबारो में छपी। उसपर अनुकूल टिप्पणियाँ निकली। धारा-सभा पर भी उसका असर हुआ। उसकी चर्चा भी खूब हुई। दरख्वास्त में जो दलीलें पेश की गई थी, उनपर आपत्तियाँ उठाई गई, परन्तु खुद उठाने वालो को ही वे लचर मालूम हुई। इतना करने पर भी बिल तो आखिर पास हो ही गया।

सब जानते थे कि यही होकर रहेगा, पर इतने आन्दोलन से हिन्दुस्तानियो में नवीन जीवन आगया। सब लोग इस बात को समझ गये कि हम सबका समाज एक है। अकेले व्यापारी अधिकारियो के लिए ही नहीं, बल्कि अपने कौमी अधिकारो के लिए भी लडना सबका धर्म है।

इस समय लार्ड रिपन उपनिवेश-मन्त्री थे। प्रस्ताव हुआ कि उन्हे एक भारी दरख्वास्त लिखकर पेश की जाय। इसपर जितनी अधिक मिलें सहियाँ ली जायें। यह काम एक दिन में नहीं हो सकता था। स्वयसेवक तैनात हुए और सबने थोडा-थोडा काम का बोझ उठा लिया।

दरख्वास्त तैयार करने में मैंने बडा परिश्रम किया। जितना साहित्य मेरे हाथ लगा, सब पढ डाला। हिन्दुस्तान में हमें एक तरह का मताधिकार है, इस सिद्धान्त की बात को तथा हिन्दुस्तानियों की आबादी बहुत थोडी है, इस व्यावहारिक दलील को मैंने अपना मध्यबिन्दु बनाया।

दरख्वास्त पर दस हजार आदमियो के दस्तखत हुए । एक सप्ताह मे दरख्वास्त भेजने के लिए आवश्यक सहियाँ प्राप्त हो गईं । इतने थोडे समय मे नेटाल में दस हजार दस्तखत प्राप्त करने को पाठक ऐसा-वैसा काम न समझें । सारे नेटाल मे से दस्तखत प्राप्त करने थे । लोग इस काम से अपरिचित थे । इधर यह निश्चय किया गया था कि तबतक किसी की सही न ली जाय, जबतक कि वे दस्तखत का आशय न समझ लें । इसलिये खास तौर पर स्वयसेवको को भेजने से ही सहियाँ मिल सकती थी । गाँव दूर-दूर थे । ऐसी अवस्था मे ऐसे काम उसी हालत मे जल्दी हो सकते है, जब बहुतेरे काम करने वाले निश्चय-पूर्वक काम में जुट पडे । ऐसा ही हुआ भी । सबने उत्साह-पूर्वक काम किया । इनमे से सेठ दाऊद मुहम्मद, पारसी रुस्तमजी, आदमजी मियाँ खान और आदम जीवाजी की मूर्तियाँ आज भी मेरी आँखो के सामने आ जाती हैं । वे बहुतेरो के दस्तखत लाये थे । दाऊद सेठ दिन-भर अपनी गाडी लिये-लिये घूमते । किसी ने जेब-खर्च तक न माँगा ।

दादा अब्दुल्ला का मकान तो धर्मशाला अथवा सार्वजनिक कार्यालय-जैसा होगया था । शिक्षित भाई तो मेरे पास डटे ही रहते । उनका तथा दूसरे कर्मचारियो का खाना-पीना दादा अब्दुल्ला के ही यहाँ होता । इस तरह सब लोगो ने काफी खर्च बरदास्त किया ।

दरख्वास्त गई, उसकी एक हजार प्रतियाँ छपवाई गई थी । उस दरख्वास्त ने हिन्दुस्तान के देश-सेवको को नेटाल का पहली बार परिचय कराया । जितने अखबारो तथा देशके नेताओ का नाम-ठाम मैं जानता था, सबको दरख्वास्त की नकलें भेजी गई थी ।

'टाइम्स आफ इण्डिया' ने उसपर अग्रलेख लिखा और भारतीयो की माँग का खासा समर्थन किया । विलायत में भी प्रार्थना-पत्र की नकलें तमाम दल के नेताओ को भेजी गई थी । वहाँ 'लन्दन टाइम्स' ने उनकी पुष्टि की । इस कारण बिल के मंजूर न होने की आशा होने लगी ।

अब ऐसी हालत होगई कि मै नेटाल न छोड सकता था । लोगो ने मुझे चारो ओर से आ घेरा और बडा आग्रह करने लगे कि अब मैं नेटाल

मे ही स्थायी रूप मे रह जाऊँ। मैंने अपनी कठिनाइयाँ उनपर प्रकट की। अपने मनमें मैंने यह निश्चय कर लिया था कि मैं यहाँ सर्व-साधारण के खर्चे पर न रहूँगा।

अपना अलग इन्तजाम करने की आवश्यकता मुझे दिखाई दी। घर भी अच्छा और अच्छे मुहल्ले में होना चाहिए—इस समय मेरा यही मत था। मेरा खयाल था कि दूसरे बैरिस्टरों की तरह ठाठ-बाठ मे रहने में अपने समाज का मान-गौरव बढेगा। मैंने देखा कि इस तरह तो मैं ३०० पौण्ड साल के बिना काम न चला सकूँगा। तब मैंने निश्चय किया कि यदि यहाँ के लोग इतनी आमदनी के लायक वकालत का इन्तजाम करा देने का जिम्मा लें तो रह जाऊँगा।

'पर इतनी रकम तो यदि आप सार्वजनिक कामो के लिए लें तो भी कोई बात नहीं, और इतनी रकम जुटाना हमारे लिए कोई कठिन बात भी नही है। वकालत में जो कुछ मिल जाय वह आपका।' साथियो ने कहा।

'इस तरह में आर्थिक सहायता लेना नही चाहता। अपने सार्वजनिक काम का मैं इतना मूल्य नही समझता। इसमें मुझे वकालत का आडम्बर थोडे ही रचना है—मुझे तो लोगो से काम लेना है। इनका मुआवजा मैं द्रव्य के रूप में कैसे ले सकता हूँ? फिर आप लोगो से भी तो मुझे सार्वजनिक कामो के लिये धन लेना है। यदि मैं अपने लिये रुपया लेने लगूँ तो आपसे बडी-बडी रकमें लेते हुए मुझे सकोच होगा, और अपनी गाडी रुक जायगी। लोगो से तो मैं हर साल ३०० पौंड से अधिक ही खर्च करा दूँगा।' मैंने उत्तर दिया।

'पर हम तो आपको अब अच्छी तरह जान गये हैं। आप अपने लिये थोडे ही चाहते है। आपके रहने का खर्चा तो हमी लोगो को न देना चाहिए?'

'यह तो आपका स्नेह और तात्कालिक उत्साह आपसे कहलवा रहा है। यह कैसे मान लें कि यही उत्साह सदा कायम रह सकेगा? मुझे तो आपको कभी कडवी बातें भी कहनी पडेंगी। उस समय भी मैं आपके स्नेह का पात्र रह सकूँगा या नही, सो ईश्वर जाने, पर असली बात यह

है कि सार्वजनिक काम के लिये रुपया-पैसा मै न लूं। आप लोग सिर्फ अपने मामले-मुकदमे मुझे देते रहने का वचन दें तो मेरे लिए काफी है। यह भी शायद आपको भारी मालूम होगा, क्योकि मै कोई गोरा बैरिस्टर तो हूँ नही, और यह भी पता नही कि अदालत मुझ-जैसे को दाद देगी या नही। यह भी नही कह सकता कि पैरवी कैसी कर सकूँगा। इसलिए मुझे पहले से मेहनताना देने में भी आपको जोखिम उठानी पड़ेगी। और इतने पर भी यदि आप मुझे मेहनताना दें तो यह तो मेरी सेवाओ की बदौलत ही न होगा ?'

इस चर्चा का नतीजा यह निकला कि कोई २० व्यापारियो ने मिलकर मेरे एक वर्ष की आय का प्रवन्ध कर दिया। इसके अलावा दादा अब्दुल्ला जो विदाई के समय मुझे रकम भेंट करने वाले थे उसके बदले उन्होंने मुझे आवश्यक फर्नीचर ला दिया और मै नेटाल में रह गया।

: १८ :

वर्ण-द्वेष

अदालतो का चिन्ह है तराजू। उसे पकड़ रखने वाली एक निष्पक्ष, अँधी, परन्तु समझदार बुढिया है। उसे विधाता ने अंधा बनाया है कि जिससे वह मुंह देखकर तिलक न लगावे; बल्कि योग्यता को देखकर लगावे। इसके विपरीत, नेटाल की अदालत से तो मुंह देखकर तिलक लगवाने के लिए वहाँ की वकील-सभा ने कमर कसी थी, किन्तु अदालत ने इस अवसर पर अपने चिन्ह की लाज रख ली।

मुझे वकालत की सनद लेनी थी। मेरे पास बम्बई हाईकोर्ट का तो प्रमाण-पत्र था, पर विलायत का प्रमाण-पत्र बम्बई-अदालत के दफ्तर में था, वकालत की मजूरी की दरख्वास्त के साथ नेकचलनी के दो प्रमाण-पत्रों की आवश्यकता समझी जाती थी। मैंने सोचा कि यदि ये प्रमाण-पत्र गोरे लोगो के हो तो ठीक होगा। इसलिए अब्दुल्ला सेठ की मार्फत मेरे सम्पर्क में आये दो प्रसिद्ध गोरे व्यापारियो के प्रमाण-पत्र

लिए। दरख्वास्त किसी वकील की मार्फत दी जानी चाहिए। मामूली कायदा यह था कि ऐसी दरख्वास्त एटर्नी-जनरल बिना फीस के पेश करता है। मि. एस्कम्ब एटर्नी-जनरल थे। हम जानते ही हैं कि अब्दुल्ला सेठ के यह वकील थे। अतएव मैं उनसे मिला और उन्होंने खुशी से मेरी दरख्वास्त पेश करना मंजूर कर लिया।

इतने ही मे बिना मौज-खबर एकाएक वकील-सभा की तरफ से मुझे नोटिस मिला। नोटिस में मेरे वकालत करने के खिलाफ विरोध की आवाज उठाई गई थी। इसमें एक कारण यह बताया गया था कि मैंने वकालत की दरख्वास्त के साथ असल प्रमाण-पत्र की नकल नही पेश की थी, परन्तु विरोध की असली बात यह थी कि जिस समय अदालत में वकीलो को दाखिल करने के सम्बन्ध में नियम बने, उस समय किसी ने भी यह खयाल न किया होगा कि वकालत के लिए कोई काला या पीला आदमी आकर दरख्वास्त देगा। नेटाल गोरो के साहस का फल है और इसलिए यहां गोरो की प्रधानता रहनी चाहिए। उनको भय हुआ कि यदि काले वकील भी अदालत में आने लगेंगे तो धीरे-धीरे गोरो की प्रधानता चली जायगी और उनकी रक्षा की दीवारें टूट जायँगी।

इस विरोध के समर्थन के लिए वकील-सभा ने एक प्रख्यात वकील को अपनी तरफ से खड़ा किया था। इस वकील का भी सम्बन्ध दादा अब्दुल्ला से था। उनकी मार्फत उन्होंने मुझे बुलाया। उन्होंने शुद्ध-भाव से मुझसे बातचीत की। मेरा इतिहास पूछा। मैंने सब कह सुनाया। तब वह बोले—

मुझे आपके खिलाफ कुछ नही कहना। मुझे यह भय था कि आप कोई यही के पैदा हुए धूर्त आदमी होगे। फिर आपके पास असली प्रमाण-पत्र नही है, इससे मेरे शक को और पुष्टि मिल गई। फिर ऐसे लोग भी होते हैं, जो दूसरो के प्रमाण-पत्रो को इस्तैमाल कर लेते हैं। और आपने जो गोरो के प्रमाण-पत्र पेश किये है उनका असर मेरे दिल पर न हुआ। यहाँ के गोरे लोग भला आपको क्या पहचानें? आपके साथ उनका परिचय ही कितना?

'पर यहाँ तो मेरे लिए सभी नये हैं। अब्दुल्ला सेठ से भी मेरी पहचान यहीं हुई।' मैं बीच में बोला।

'हाँ, पर आप कहते हैं कि वह आपके गाँव के हैं। और आपके पिता वहाँ के दीवान थे, अतएव आपके परिवार के लोगों को तो वह पहचानते ही हैं। यदि उनका लिखित बयान पेश कर दें तो मुझे कुछ भी उज्र न होगा। मैं वकील-सभा को लिख भेजूँगा कि गाँधी का विरोध मुझसे न होगा।'

मुझे गुस्सा आया; पर मैंने रोका। मुझे लगा—'यदि मैंने अब्दुल्ला सेठ का ही प्रमाण-पत्र पेश किया होता तो उसकी कोई परवा न करता और गोरों की जान-पहचान माँगी जाती। फिर मेरे जन्म के साथ वकालत-सम्बन्धी मेरी योग्यता का क्या सम्बन्ध हो सकता है? यदि मैं खराब अथवा गरीब माँ-बाप का पुत्र होऊँ तो यह बात मेरी लियाकत की जाँच में मेरे खिलाफ किस लिए कही जाय?' पर मैंने इन सब विचारों को रोककर उत्तर दिया—

'हालाँकि मैं यह नहीं मानता कि इन सब बातों के पूछने का अधिकार वकील-सभा को है, फिर भी जैसा आप चाहते हैं, दादा अब्दुल्ला का हलफिया बयान मैं पेश करा देने को तैयार हूँ।'

अब्दुल्ला सेठ का हलफिया बयान लिखा और वह वकील को दिया। उन्होंने संतोष प्रकट कर दिया, पर वकील-सभा को संतोष न हुआ। उसने अपना विरोध अदालत में भी उठाया। अदालत ने मि० एस्कम्ब का जवाब सुने बिना ही सभा का विरोध अस्वीकार कर दिया। प्रधान न्यायाधीश ने कहा—

'इस दलील में कुछ जान नहीं कि प्रार्थी ने असली प्रमाण-पत्र नहीं पेश किया। यदि उसने झूठी सौगन्ध खाई होगी तो उसपर अदालत में झूठी क़सम खाने का मुकदमा चल सकेगा और उसका नाम वकीलों की सूची से हटा दिया जायगा। अदालत की धाराओं में काले-गोरे का भेद-भाव नहीं है। हमें मि० गांधी को वकालत करने से रोकने का कोई अधिकार नहीं। उनकी दरख्वास्त मंजूर की जाती है। मि० गांधी, आप

आकर शपथ ले सकते हैं।'

मैं उठा। रजिस्ट्रार के पास जाकर शपथ ली। शपथ लेते ही प्रधा न्यायाधीश ने कहा—'अब आपको अपनी पगडी उतार देनी चाहिए वकील की हैसियत से, वकील की पोशाक के सम्बन्ध में अदालत का ज नियम है, उसका पालन आपको करना होगा।'

मैंने अपनी मर्यादा समझ ली। डरबन के मजिस्ट्रेट की अदालत म पगडी पहने रहने की बात पर जो मैं अडा रहा था, सो यहाँ न रह सका पगडी उतारी। यह बात नही कि पगडी उतारने के विरोध में दलील न थी, पर मुझे तो अब बड़ी लडाइया लडनी थीं। पगडी पहने रहने की हठ में मेरी युद्ध-कला की समाप्ति न होती थी। उलटा इससे उसमें बट्टा लग जाता।

अब्दुल्ला सेठ तथा दूसरे मित्रों को मेरी यह नरमी (या कमजोरी?) अच्छी न लगी। वह चाहते थे कि वकील की हैसियत से भी मैं पगडी पहन रखने की टेक कायम रखता। मैंने उन्हें समझाने की भरसक कोशिश की। 'जैसा देश वैसा वेश' इस कहावत का रहस्य समझाया। 'हिन्दुस्तान में यदि वहाँ के गोरे अधिकारी अथवा जज पगडी उतारने पर मजबूर करें तो उसका विरोध किया जा सकता है। नेटाल-जैसे देश में, और फिर अदालत के एक सदस्य की हैसियत से, मुझे अदालत के रिवाज का विरोध शोभा नही देता।'

यह तथा दूसरी दलीलें देकर मित्रों को मैंने कुछ शान्त तो किया, पर मैं नहीं समझता कि एक ही बात को भिन्न परिस्थिति में भिन्न रीति से देखने के औचित्य को मैं, इस समय, उनके हृदय पर इस तरह अकित कर सका कि जिससे उन्हें सन्तोष हो; परन्तु मेरे जीवन में आग्रह और अनाग्रह दोनो सदा साथ-साथ चलते आते हैं। पीछे चलकर मैंने कई बार यह अनुभव किया है कि सत्याग्रह में यह बात अनिवार्य है। अपनी इस समझौता-वृत्ति के कारण मुझे कई बार अपनी जान जोखिम में डालनी पडी है और मित्रो के असन्तोष को शिरोधार्य करना पड़ा है; पर सत्य तो वज्र की तरह कठोर और कमल की तरह कोमल है।

वकील-सभा के विरोध ने दक्षिण अफ्रिका मे मेरे लिए एक और विज्ञापन का काम कर दिया। कितने ही अखबारो ने मेरे खिलाफ उठाये गये विरोध की निन्दा की और वकीलो पर ईर्ष्या का इलजाम लगाया। इस प्रसिद्धि से मेरा काम कुछ अश में अपने-आप सरल होगया।

: १९ :

नेटाल इण्डियन कॉंग्रेस

वकालत करना मेरे नजदीक गौण बात थी और हमेशा गौण ही रही। नेटाल में अपना रहना सार्थक करने के लिए मुझे सार्वजनिक काम मे ही तन्मय हो जाना जरूरी था। भारतीय मताधिकार-प्रतिरोधक कानून के विरोध में आवाज उठाकर—महज दरख्वास्त भेजकर चुप न बैठा जा सकता था। उसका आन्दोलन होते रहने ही से उपनिवेशो के मत्री पर असर हो सकता था। इसके लिए एक सस्था स्थापित करने की आवश्यकता दिखाई दी। मैंने अब्दुल्ला सेठ के साथ मशविरा किया। दूसरे साथियो से मिला और हम लोगो ने एक सार्वजनिक सस्था खड़ी करने का निश्चय किया।

उसका नाम रखने में कुछ धर्म-सकट आया। यह सस्था किसी पक्ष का पक्षपात नही करना चाहती थी। महासभा (कॉंग्रेस) का नाम कजरवेटिव (प्राचीन) पक्ष में अरुचिकर था, यह मुझे मालूम था, परन्तु महासभा तो भारत का प्राण थी। उसकी शक्ति को बढाना जरूरी था। उसके नाम को छिपाने में अथवा धारण करते हुए सकोच रखने मे कायरता की गन्ध आती थी। इसलिए मैंने अपनी दलीलें पेश करके सस्था का नाम 'कॉंग्रेस' रखने का प्रस्ताव किया। और मई १८९४ को 'नेटाल इण्डियन कॉंग्रेस' का जन्म हुआ।

दादा अब्दुल्ला का बैठकखाना लोगो से भर गया था। उन्होंने उत्साह के साथ इस सस्था का स्वागत किया। संगठन बहुत सादा रक्खा था, पर चन्दा भारी रक्खा गया था। जो हर मास कम-से कम पाँच

शिलिंग देता वही सभ्य हो सकता था। धनिक लोग राजी-खुशी से जितना अधिक दे सकें, चन्दा दें, यह तय हुआ। अब्दुल्ला सेठ से हर मास दो पौंड लिखाये। दूसरे दो सज्जनों ने भी इतना ही चन्दा लिखाया। खुद भी सोचा कि मैं इसमें सकोच कैसे करूं? इसलिए मैंने भी प्रति-मास एक पौंड लिखाया। यह रकम मेरे लिए कम न थी, पर मैंने सोचा कि जहाँ मेरा इतना खर्च-वर्च चलेगा वहाँ प्रतिमास एक पौंड क्यों भारी पड़ेगा? और ईश्वर ने मेरी नाव चलाई। एक पौंड वालों की संख्या खासी हो गई। दस शिलिंग वाले उससे भी अधिक हुए। इसके अलावा विना सभ्य हुए भेंट के तौर पर जो लोग देवें सो अलग।

अनुभव ने बताया कि उगाही किये विना कोई चन्दा नहीं दे जाता। डरबन से बाहर वालों के यहाँ बार-बार जाना असभव था। इससे मुझे हमारी 'आरम्भ-शूरता' का परिचय मिला। डरबन में भी बहुत चक्कर खाने पड़ते, तब कहीं जाकर चन्दा मिलता। मैं मन्त्री था, रुपया वसूल करने का ज़िम्मा मुझ पर था। मुझे अपने मुंशी को सारा दिन चन्दा-वसूली में लगाये रहने की नौबत आ गई। वह बेचारा भी उकता उठा। मैंने सोचा कि मासिक नहीं, वार्षिक चन्दा होना चाहिए और वह भी सबको पेशगी दे देना चाहिए। बस, सभा की गई और सबने इस बात को पसन्द किया। तय हुआ कि कम-से-कम तीन पौंड वार्षिक चन्दा लिया जाय। इससे वसूली का काम आसान होगया।

आरम्भ में ही मैंने यह सीख लिया था कि सार्वजनिक काम कभी कर्ज़ लेकर नहीं चलाना चाहिए। और बातों में भले ही लोगों का विश्वास करले, पर पैसे की बात में नहीं किया जा सकता। मैंने देख लिया था कि वादा कर चुकने पर भी देने के धर्म का पालन कहीं भी नियमित रूप से नहीं होता। नेटाल के हिन्दुस्तानी इसके अपवाद न थे। इस कारण 'नेटाल इण्डियन कांग्रेस' ने कभी कर्ज़ करके कोई काम नहीं किया।

सभ्य बनाने में साथियों ने असीम उत्साह प्रकट किया था। उनमें उनकी बड़ी दिलचस्पी होगई थी। उसके कार्य से अनमोल अनुभव मिलता था। बहुतेरे लोग खुशी-खुशी नाम लिखवाते और चन्दा दे देते।

हाँ, दूर-दूर के गाँवो मे जरा मुश्किल पेश आती। लोग सार्वजनिक काम की महिमा नहीं समझते थे। कितनी ही जगह तो लोग अपने यहाँ आने का न्यौता भेजते, अक्सर व्यापारी के यहाँ ठहराते, परन्तु इस भ्रमण में हमें एक जगह शुरुआत में ही दिक्कत पेश हुई। यहाँ से छ पौंड मिलना चाहिए थे, पर वह तीन पौंड से आगे न बढते थे। यदि उनसे इतनी ही रकम लेते तो औरो से इससे अधिक न मिलती। ठहराये हम उन्ही के यहाँ गये थे। सबको भूख लग रही थी, पर जबतक चन्दा न मिले तब तक भोजन कैसे करते ? खूब मिन्नत-खुशामद की गई, पर वह टस-से-मस न हुए। गाँव के दूसरे व्यापारियो ने भी उन्हे समझाया। सारी रात इसी खीचा तानी में गई। गुस्सा तो कई साथियो को आया, पर किसी ने अपना सौजन्य न छोडा। ठेठ सुबह जाकर वह पसीजे और छ पौड दिये। तब जा कर हम लोगो को खाना नसीब हुआ। यह घटना टोंगाटा की है। इसका असर किनारे पर ठेठ स्टैंगर तक तथा अन्दर ठेठ चार्ल्सटाउन तक पडा और चन्दा-वसूली का हमारा काम बडा सरल होगया।

परन्तु प्रयोजन केवल इतना ही न था कि चन्दा एकत्र किया जाय। आवश्यकता से अधिक रुपया जमा न करने का तत्व भी मैंने मान लिया था।

सभा प्रति सप्ताह अथवा प्रति मास आवश्यकता के अनुसार होती। उसमें पिछली सभा की कारंवाही पढी जाती और अनेक बातो पर चर्चा होती। चर्चा करने की तथा थोडे में मतलब की बात कहने की आदत लोगो को न थी। लोग खडे होकर बोलने में सकुचाते। मैंने सभा के नियम उन्हे समझाये और लोगो ने उन्हे माना। इससे होने वाला लाभ उन्होंने देखा और जिन्हे सभाओ में बोलने का रफ्त न था वे सार्वजनिक कामो के लिए बोलने और विचारने लगे।

सार्वजनिक कामो मे छोटी-छोटी बातो मे बहुत-सा खर्च हो जाया करता है, यह मैं जानता था। शुरू में तो रसीद-बुक तक न छपाने का निश्चय रक्खा था। मेरे दफ्तर में साईक्लोस्टाइल था, उस पर रसीदें छपा ली। रिपोर्ट भी इसी तरह छपती। जब रुपया-पैसा काफी आ गया,

सभ्यो की सख्या बढ गई, तभी रसीदें इत्यादि छपाई गईं। ऐसी किफायतशारी हर सस्था में आवश्यक है। फिर भी मैं जानता हूँ कि सब जगह ऐसा नही होता है। इसलिए इस छोटी-सी जगती हुई सस्था के सगोपन-काल का इतना वर्णन करना मैंने ठीक समझा। लोग रसीद लेने की परवा न करते, फिर भी उन्हे आग्रह-पूर्वक रसीद दी जाती। इस कारण हिसाब शुरु से ही पाई-पाई का साफ रहा, और मैं मानता हूँ कि आज भी नेटाल-कांग्रेस के दफ्तर में १८९४ के वही-खाते व्योरेवार मिल जायँगे। किसी भी सस्था का सविस्तर हिसाब उसकी नाक है। उसके बिना वह सस्था अन्त को जाकर गदी और प्रतिष्ठा-हीन हो जाती है। शुद्ध हिसाब के बिना शुद्ध सत्य की रखवाली असभव है।

कांग्रेस का दूसरा अग था, वहाँ जन्मे और शिक्षा पाये भारतीयो की सेवा करना। उनके लिए 'कालोनियल बॉर्न एण्ड इण्डियन एजुकेशनल एसोसिएशन' की स्थापना की। उसमें मुख्यत नवयुवक ही सभ्य थे। उनके लिये चन्दा बहुत थोडा रक्खा था। इस सभा की बदौलत उनकी आवश्यकतायें मालूम होती, उनकी विचार-शक्ति बढती, व्यापारियो के साथ उनका सम्बन्ध बँधता, और खुद उन्हे भी सेवा का स्थान मिलता। यह सस्था एक वाद-विवाद-समिति जैसी थी। उसकी नियमपूर्वक बैठकें होती, भिन्न-भिन्न विषयो पर भाषण होते, निबन्ध पढे जाते। उसके सिलसिले में एक छोटा-सा पुस्तकालय भी स्थापित हुआ।

कांग्रेस का तीसरा अग था बाहरी आन्दोलन। इसके द्वारा दक्षिण अफ्रिका के अग्रेजो में तथा बाहर इग्लैण्ड मे और हिन्दुस्तान में वास्तविक स्थिति प्रकट की जाती थी। इस उद्देश से मैंने दो पुस्तिकायें लिखी। पहली पुस्तिका थी—'दक्षिण अफ्रिका-स्थित प्रत्येक अग्रेज से अपील'। उसमें नेटाल वाले भारतीयो की सामान्य स्थिति का दिग्दर्शन सप्रमाण कराया गया था। दूसरी थी—'भारतीय मताधिकार—एक अपील।' इसमें भारतीय मताधिकार का इतिहास अको और प्रमाणो सहित दिया गया था। इन दोनो पुस्तिकाओ को बडे परिश्रम और अध्ययन के बाद मैंने लिखा था। उसका परिणाम भी वैसा ही निकला। पुस्तिकाओ का

काफी प्रचार किया गया। इस हल-चल के फलस्वरूप दक्षिण अफ्रिका मे भारतीयो के मित्र उत्पन्न हुए। इग्लैण्ड में तथा हिन्दुस्तान में सब दलो की ओर से मदद मिली और आगे कार्य करने की नीति और मार्ग निश्चित हुआ।

: २० :

बालासुन्दरम्

जैसी जिसकी भावना होती है वैसा ही उसको फल मिला करता है। अपने पर यह नियम घटा हुआ मैने अनेक बार देखा है। लोगो की, अर्थात् गरीबो की, सेवा करने की मेरी प्रबल इच्छा ने गरीबो के साथ मेरा सम्बन्ध कई बार अनायास बांध दिया है।

'नेटाल इण्डियन-कांग्रेस' में यद्यपि उपनिवेशो में जन्मे भारतीयो ने प्रवेश किया था, कारकुन लोग शरीक हुए थे, फिर भी उसमें अभी मजूर गिरमिटिया लोग सम्मिलित न हुए थे। कांग्रेस अभी उनकी न हुई थी। वे चन्दा देकर, उनके सदस्य होकर, उसे अपना न समझते थे। कांग्रेस के प्रति उनका प्रेम पैदा तभी हो सकता था, जब कांग्रेस उनकी सेवा करे। अवसर अपने-आप आ गया, और सो भी ऐसे समय, जबकि खुद मै अथवा कांग्रेस उसके लिए मुश्किल से तैयार थी, क्योंकि अभी मुझे वकालत शुरू किये दो-चार महीने भी मुश्किल से हुए होंगे। कांग्रेस भी बाल्यावस्था में ही थी। इन्ही दिनो एक दिन एक मदरासी हाथ मे फेंटा रखकर रोता हुआ मेरे सामने आकर खडा होगया। कपडे उसके फटे-पुराने थे। उसका शरीर कांप रहा था। सामने के दो दांत टूटे हुए थे और मुंह से खून बह रहा था। उसके मालिक ने उसे बेदर्दी से पीटा था। मैंने अपने तामिल जानने वाले मुशी से उसकी हालत पुछवाई। बाला-सुन्दरम् एक प्रतिष्ठित गोरे के यहाँ नौकरी करता था। मालिक किसी बात पर उसपर बिगड पडा और आग-बबूला होकर उसे बुरी तरह उसने पीट डाला, जिससे बालासुन्दरम् के दो दांत टूट गये।

मैंने उसे डाक्टर के यहाँ भेजा। उस समय गोरे डाक्टर ही वहाँ थे। मुझे चोट-सम्बन्धी प्रमाण-पत्र की जरूरत थी। उसे लेकर मैं बालसुन्दरम् को अदालत में ले गया। बालासुन्दरम् ने अपना बयान लिखवाया। पढ़कर मजिस्ट्रेट को मालिक पर बड़ा गुस्सा हुआ। उसने मालिक को तलब करने का हुक्म दिया।

मेरी इच्छा यह न थी कि मालिक को सजा होजाय। मुझे तो सिर्फ बालासुन्दरम् को उसकी नौकरी से छुड़वाना था। मैंने गिरमिट-सम्बन्धी कानून को अच्छी तरह देख लिया। मामूली नौकर यदि नौकरी छोड़ दे तो मालिक उसपर दीवानी दावा कर सकता है, फौजदारी में नहीं ले जा सकता। गिरमिट और मामूली नौकरी में यों बड़ा फर्क था, पर उसमें मुख्य बात यह थी कि गिरमिटिया यदि मालिक को छोड़ दे तो वह फौजदारी जुर्म समझा जाता था और इसलिए उसे कैद भोगनी पड़ती। इसी कारण सर विलियम विलसन हण्टर ने इस हालत को 'गुलामी'-जैसा बताया है। गुलाम की तरह गिरमिटिया मालिक की सम्पत्ति समझा जाता। बालासुन्दरम् को मालिक के चंगुल से छुड़ाने के दो ही उपाय थे—या तो गिरमिटियों का अफसर, जो कानून के अनुसार उनका रक्षक समझा जाता था, गिरमिट रद्द कर दे, या दूसरे के नाम पर चढ़ा दे अथवा मालिक खुद उसे छोड़ने के लिए तैयार हो जाय। मैं मालिक से मिला और उससे कहा—'मैं आपको सजा कराना नहीं चाहता। आप जानते हैं कि उसे सख्त चोट पहुँची है। यदि आप उसका गिरमिट दूसरे के नाम चढ़ाने को तैयार होते हों तो मुझे सन्तोष हो जायगा।' मालिक भी यही चाहता था। फिर मैं उस रक्षक अफसर से मिला। उसने भी रजामन्दी तो जाहिर की, पर इस शर्त पर कि मैं बालासुन्दरम् के लिए नया मालिक ढूँढ़ दूँ।

अब मुझे नया अंग्रेज मालिक खोजना था। भारतीय लोग गिरमिटियों को रख नहीं सकते थे। अभी थोड़े ही अंग्रेजों से मेरी जान-पहचान हो गई थी। फिर भी एक से जाकर मिला। उसने मुझपर मेहरबानी करके बालासुन्दरम् को रखना स्वीकार कर लिया। मैंने कृतज्ञता प्रदर्शित

की। मजिस्ट्रेट ने मालिक को अपराधी करार दिया और यह बात नोट कर ली कि मुजरिम ने बालासुन्दरम् की गिरमिट दूसरे के नाम पर चढा देना स्वीकार किया है।

बालासुन्दरम् के मामले की बात गिरमिटियो में चारो ओर फैल गई और मैं उनके बन्धु के नाम से प्रसिद्ध होगया। मुझे यह सम्बन्ध प्रिय हुआ। फलत मेरे दफ्तर मे गिरमिटियो की बाढ आने लगी और मुझे उनके सुख-दु ख जानने की बडी सुविधा मिल गई।

बालासुन्दरम् के मामले की ध्वनि ठेठ मदरास तक जा पहुँची। उस इलाके के जिन-जिन जगहो से लोग नेटाल की गिरमिट में गए उन्हे गिरमिटियो ने इस बात का परिचय कराया। मामला कोई इतना महत्त्वपूर्ण न था, फिर भी लोगो को यह बात नई मालूम हुई कि उनके लिए कोई सार्वजनिक कार्यकर्ता तैयार होगया है। इस बात से उन्हे तसल्ली और उत्साह मिला।

मैंने लिखा है कि बालासुन्दरम् अपना फेंटा उतारकर उसे अपने हाथ मे रखकर मेरे सामने आया था। इस दृश्य में बडा ही करुण-रस भरा हुआ है, यह हमें नीचा दिखाने वाली बात है। मेरी पगडी उतारने की घटना पाठको को मालूम ही है। कोई भी गिरमिटिया तथा दूसरा नवागत हिन्दुस्तानी किसी गोरे के यहाँ जाता तो उसके सम्मान के लिए पगडी उतार लेता—फिर टोपी हो, या पगडी, अथवा फेंटा हो। दोनो हाथो से सलाम करना काफी न था। बालासुन्दरम् ने सोचा कि मेरे सामने भी इसी तरह जाया जाता होगा। बालासुन्दरम् का यह दृश्य मेरे लिए पहला अनुभव था। मैं शरमिन्दा हुआ। मैंने बालासुन्दरम् से कहा, 'पहले फेंटा सिर पर बाँध लो।' बडे सकोच से उसने फेंटा बाँधा, पर मैंने देखा कि इससे उसे बडी खुशी हुई। मैं अबतक यह गुत्थी न सुलझा सका कि दूसरों को नीचे झुकाकर लोग उसमें अपना सम्मान किस तरह मान सकते होगे।

: २१ :

तीन पौंड का कर

बालासुन्दरम् वाली घटना ने गिरमिटियों के साथ मेरा सम्बन्ध जोड़ दिया, परन्तु उनकी स्थिति का गहरा अध्ययन तो मुझे उनपर कर बैठाने की जो हलचल चली उसके फलस्वरूप करना पड़ा।

१८९४ में नेटाल-सरकार ने गिरमिटिया हिन्दुस्तानियों पर प्रतिवर्ष २५ पौंड अर्थात् ३७५) का कर लगाने का बिल तैयार किया। इस मसविदे को पढ़कर मैं तो भौंचक्का रह गया। मैंने उसे स्थानिक कांग्रेस में पेश किया और कांग्रेस ने उसके लिए आवश्यक हलचल करने का प्रस्ताव स्वीकार किया।

इस कर का ब्योरा थोड़ा समझ लीजिए—

कर दिया। हिन्दुस्तान से आम लाकर लगाया, पर इसके साथ ही वे व्यापार भी करने लगे। घर बनाने के लिए जमीने खरीदी और मजूर से अच्छे जमीदार और मालिक बनने लगे। मजूर की दशा से मालिक की दशा को पहुँचने वाले लोगो के पीछे स्वतन्त्र व्यापारी वहाँ आये। स्वर्गीय सेठ अबुबकर आदम सबसे पहले व्यापारी थे, जो वहाँ गये। उन्होने अपना कारबार खूब जमाया।

इससे गोरे व्यापारी चौके। जब उन्होने भारतीय कुलियो को बुलाया और उनका स्वागत किया तब उन्हे उनकी व्यापारक्षमता का अन्दाज न हुआ था। उनके किसान बनकर आजादी के साथ रहने में तो उस समय तक उन्हे आपत्ति न थी, परन्तु व्यापार में उनकी प्रतिस्पर्धा उन्हे नागवार होगई।

यह है हिन्दुस्तानियो के खिलाफ आवाज उठाने का मूल कारण।

अब इसमे और बात भी हो गई। हमारी भिन्न और विशिष्ट रहन-सहन, हमारी सादगी, हमें थोडे मुनाफे से होनेवाला सन्तोष, आरोग्य के नियमो के विषय में हमारी लापरवाही, घर-आँगन को साफ रखने का आलस्य, उसे साफ-सुथरा रखने मे कजूसी, हमारे जुदे-जुदे धर्म—ये सब बाते इस विरोध को बढाने वाली थी।

यह विरोध एक तो उस मताधिकार को छीन लेने के रूप में और दूसरा गिरमिटियो पर कर बैठाने के रूप मे सामने आया। कानून के अलावा भी तरह-तरह की खुटपचरी चल रही थी सो अलग।

पहले तो यह तजवीज पेश हुई थी कि पाँच साल पूरे होने पर गिरमिटिया जबरदस्ती वापस लौटा दिया जाय। वह इस तरह कि उसकी गिरमिट हिन्दुस्तान में जाकर पूरी हो, पर इस तजवीज को भारत-सरकार मजूर न कर सकती थी। तब ऐसी तजवीज हुई कि—

१—मजदूरी का इकरार पूरा होने पर गिरमिटिया वापस हिन्दुस्तान चला जाय। अथवा—

२—दो-दो वर्ष की गिरमिट नये सिरे से कराता रहे और ऐसी हर गिरमिट के समय उसके वेतन मे कुछ वृद्धि होती रहे।

३—यदि वापस न जाय और फिर से मजदूरी का इकरार भी न करे तो उसे हर साल २५ पौंड कर देना चाहिए।

इस तजवीज को मंजूर कराने के लिए सर हेनरी बीन्स तथा मि० मेसन का शिष्ट-मण्डल हिन्दुस्तान भेजा गया। उस समय लार्ड एल्गिन वायसराय थे। उन्होंने पच्चीस पौंड का कर नामञ्जूर कर दिया; पर यह मान लिया कि सिर्फ तीन पौंड कर लिया जाय। मुझे उस समय भी लगा और आज भी लगता है कि वायसराय ने यह जबरदस्त भूल की थी। उन्होंने इस बात में हिन्दुस्तान के हित का बिलकुल खयाल न किया। उनका यह धर्म कतई न था कि वह नेटाल के गोरों को इतनी सुविधा कर दें। यह भी तय हुआ कि तीन-चार वर्ष बाद ऐसे हिन्दुस्तानी की स्त्री से, उसके हर १६ वर्ष तथा उससे अधिक उम्र के प्रत्येक पुत्र से और १३ वर्ष की तथा उससे अधिक उम्रवाली लड़की से भी कर लिया जाय। इस तरह पति-पत्नी और दो बच्चों के परिवार से, जिसमें पति को मुश्किल से बहुत-से-बहुत १४ शिलिंग मासिक मिलते हों, १२ पौंड अर्थात् १८०) कर लेना महा अत्याचार है। दुनिया में कहीं भी ऐसा कर ऐसी स्थिति वाले लोगों से नहीं लिया जाता था।

इस कर के विरोध में घोर लड़ाई छिड़ी। यदि नेटाल-इण्डियन कांग्रेस की ओर से बिलकुल आवाज न उठी होती तो वायसराय शायद २५ पौंड भी मंजूर कर लेते। २५ पौंड के ३ पौंड होना भी, बिलकुल सम्भव है, कांग्रेस के आन्दोलन का ही परिणाम हो। मेरे इस अन्दाज में भूल सम्भव है। संभव है भारत-सरकार ने अपने-आप ही २५ पौंड को अस्वीकार कर दिया हो और बिना कांग्रेस के विरोध के ३ पौंड का कर स्वीकार कर लिया हो। फिर भी वह हिन्दुस्तान के हित का तो भंग था ही। हिन्दुस्तान के हित-रक्षक की हैसियत से ऐसा अमानुष कर वायसराय को हरगिज न बैठाना चाहिए था।

पच्चीस से तीन पौंड (३७५ से ४५ रु०) होने के लिए कांग्रेस भला श्रेय भी क्या ले? कांग्रेस को तो यही बात खली कि वह गिरमिटियों के हित की पूरी-पूरी रक्षा न कर सकी, और कांग्रेस ने अपना यह

निश्चय कि तीन पौंड का कर तो अवश्य रद्द हो जाना चाहिए, कभी ढीला न किया था। इस निश्चय को पूरा हुए आज २० वर्ष हो गए। उसमें अकेले नेटाल के ही नही, वरन् सारे दक्षिण अफ्रिका के भारत-वासियो को जूझना पडा था। इसमे गोखले को भी निमित्त बनना पडा था। उसमें गिरमिटियो को पूरा-पूरा योग देना पडा। दस हज़ार से ऊपर हिन्दुस्तानियो को जेल भोगनी पडी।

पर अन्त में सत्य विजयी हुआ। हिन्दुस्तानियो की तपश्चर्या के रूप में सत्य प्रत्यक्ष प्रकट हुआ। उसके लिए अटल श्रद्धा, धीरज और सतत आन्दोलन की आवश्यकता थी। यदि लोग हार कर बैठ जाते, कॉंग्रेस लडाई को भूल जाती, और कर को अनिवार्य समझकर घुटने टेक देती, तो आजतक यह कर गिरमिटियो से लिया जाता होता और इसके अप-यश का टीका सारे दक्षिण अफ्रिका के भारतवासियो को तथा अखिल भारतवर्ष को लगता।

: २२ :

धर्म-निरीक्षण

इस प्रकार जो मै लोक-सेवा मे तल्लीन होगया था, उसका कारण था आत्म-दर्शन की अभिलाषा। यह समझकर कि सेवा के द्वारा ही ईश्वर की पहचान हो सकती है, मैंने सेवा-धर्म स्वीकार किया था। भारत की सेवा मुझे सहज प्राप्त थी, उसमें मेरी रुचि थी। उसकी खोज मुझे न करनी पडी थी। मैं तो सफर करने, काठियावाड के षड्यन्त्रों से छूटने और आजीविका प्राप्त करने के लिए दक्षिण अफ्रिका गया था, पर पड गया ईश्वर की शोध में—आत्म-दर्शन के प्रयत्न में। ईसाई भाइयो ने मेरी जिज्ञासा बहुत तीव्र कर दी थी। वह किसी प्रकार शात न हो सकती थी और मै शान्त होना चाहता भी तो ईसाई भाई-बहन ऐसा न होने देते, क्योकि डरबन में मि० स्पेन्सर वाल्टन ने, जोकि दक्षिण अफ्रिका के मिशन के मुखिया थे, मुझे खोज निकाला। मै भी

उनका एक कुटुम्बीजन-सा होगया। इस सम्वन्ध का मूल है प्रिटोरिया में उनसे हुआ समागम। मि० वाल्टन का तर्ज कुछ और ही था। मुझे नही याद पडता कि उन्होने कभी ईसाई बनने की बात मुझसे कही हो, बल्कि उन्होंने तो अपना सारा जीवन खोलकर मेरे सामने रख दिया, अपना तमाम काम और हलचल के निरीक्षण का अवसर मुझे दे दिया। उनकी धर्म-पत्नी भी वडी नम्र, परन्तु तेजस्वी थी।

मुझे इस दम्पती की कार्य-पद्धति पसन्द आती थी, परन्तु हमारे अन्दर जो मौलिक भेद थे, उन्हे हम दोनो जानते थे। चर्चा द्वारा उन भेदो को मिटा देना असम्भव था। जहाँ-जहाँ उदारता, सहिष्णुता और सत्य है, वहाँ भेद भी लाभदायक होते है। मुझे इस दम्पती की नम्रता, उद्यमशीलता और कार्य-परायणता वडी प्रिय थी। इससे हम बार-बार मिला करते।

इस सम्वन्ध ने मुझे जागरुक कर रक्खा। धार्मिक पठन के लिए जो फुरसत प्रिटोरिया में मुझे मिल गई थी वह तो अब असम्भव थी, परन्तु जो-कुछ भी समय मिल जाता उसका उपयोग मै स्वाध्याय में करता, मेरा पत्र-व्यवहार बरावर जारी था। रायचन्द भाई मुझे पथ-प्रदर्शन कर रहे थे। किसी मित्र ने मुझे इस सम्बन्ध में नर्मदाशकर[1] की 'धर्मविचार' नामक पुस्तक भेजी। उसकी प्रस्तावना से मुझे सहायता मिली। नर्मदाशकर के विलासयुक्त जीवन की बाते सुनी थी। प्रस्तावना में उनके जीवन में हुए परिवर्तनो का वर्णन मैने पढा और उसने मुझे आकर्षित किया, जिससे कि उस पुस्तक के प्रति मेरा आदर-भाव वढा। मैंने उसे ध्यानपूर्वक पढ़ा। मैक्समूलर की पुस्तक 'हिन्दुस्तान से हमें क्या शिक्षा मिलती है?' मैने वडी दिलचस्पी से पढी। थियोसोफ़िकल सोसाइटी द्वारा प्रकाशित उपनिषदो का अनुवाद पढा। उससे हिन्दू-धर्म के प्रति मेरा आदर वढा। उसकी खूबी मैं समझने लगा, परन्तु इससे दूसरे धर्मो के प्रति मेरे मन में अभाव न उत्पन्न हुआ। वाशिंग्टन इरविंग-कृत मुहम्मद का चरित और कार्लाइल-रचित 'मुहम्मद-स्तुति' पढी। फ्लेत

१ गुजरात के एक प्रसिद्ध कवि।

पैगम्बर साहब के प्रति भी मेरा आदर बढा। 'जरथुस्त के वचन' नामक पुस्तक भी पढी।

इस प्रकार मैने भिन्न-भिन्न सम्प्रदायो का कम-ज्यादा ज्ञान प्राप्त किया। इससे आत्म-निरीक्षण बढा। जो-कुछ पढा या पसन्द हुआ उस-पर चलने की आदत बढी। इससे हिन्दू-धर्म में वर्णित प्राणायाम-विषयक कितनी ही क्रियायें, पुस्तके पढकर मै जैसी समझ सका था, शुरू की, पर कुछ सिलसिला जमा नही। मै आगे न बढ सका। सोचा कि जब भारत लौटूंगा तब किसी शिक्षक से सीख लूंगा, पर वह अबतक पूरा न हो पाया।

टाल्स्टाय की पुस्तको का स्वाध्याय बढाया। उनकी 'गोस्पेल इन ब्रीफ' 'ह्वाट टु डू'[1] इत्यादि पुस्तको ने मेरे दिल पर गहरी छाप डाली। विश्व-प्रेम मनुष्य को कहांतक ले जाता है, यह मै उससे अधिकाधिक समझने लगा।

इन्ही दिनो एक दूसरे ईसाई-कुटुम्ब के साथ मेरा सम्बन्ध बंधा। उन लोगो की इच्छा से मै वेस्लियन गिरजा में हर रविवार को जाता। प्राय हर रविवार को मेरा शाम का खाना भी उन्हीके यहां होता। वहां जो प्रवचन हुआ करते थे वे मुझे नीरस मालूम हुए। उपस्थित जनो में मुझे भक्ति-भाव न दिखाई दिया। ग्यारह बजे एकत्र होनेवाली यह मण्डली मुझे भक्तो की नही, बल्कि कुछ तो मनोविनोद के लिए और कुछ प्रथा के प्रभाव से एकत्र होने वाले ससारी जीवो की टोली मालूम हुई। कभी तो इस सभा मे बरबस मुझे नीद के झोके आने लगते, जिससे मै लज्जित होता, पर जब मै अपने आस-पास वालो को भी झोंके खाते देखता, तो मेरी लज्जा हलकी पड जाती। अपनी यह स्थिति मुझे अच्छी न मालूम हुई। अन्तको मैंने गिरजा जाना ही छोड दिया।

जिस परिवार के यहां मै हर रविवार को जाता था, वहांसे भी मुझे इस तरह से छुट्टी मिली। गृह स्वामिनी भोली, भली, परन्तु संकुचित विचार वाली मालूम हुई। उसके साथ हर वक्त कुछ-न-कुछ धार्मिक

१ 'मण्डल' से इसका अनुवाद 'क्या करे?' नाम से प्रकाशित हुआ है।

चर्चा हुआ ही करती। उस समय मैं घर पर 'लाइट आफ एशिया' पढ़ रहा था। एक दिन हम ईसा और बुद्ध की तुलना के फेर में पड़ गये—

"बुद्ध की दया को देखिए। मनुष्य-जाति से आगे बढ़कर वह दूसरे प्राणियो तक पहुँचा। उसकी गोद में किलोलें करने वाले हंस का चित्र आँखो के सामने आते ही आपका हृदय प्रेम से नही उमड़ पड़ता ? प्राणि-मात्र के प्रति यह प्रेम मुझे ईसा के इतिहास में कही दिखाई नही देता।"

मेरे इस कथन से उस बहन को दुःख हुआ। मैं समझ गया। मैंने अपनी बात आगे न चलाई। बाद को हम भोजन करने गये। उसका कोई पाँच साल का हँसमुख बच्चा हमारे साथ था। बालक मेरे साथ होने पर मुझे फिर किस बात की जरूरत ? उसके साथ मैंने दोस्ती तो पहले ही करली थी। मैंने उसकी थाली में पड़े मांस के टुकड़े का मजाक किया और अपनी रकाबी में शोभित नासपाती की स्तुति शुरू की। भोलाभाला बालक रीझा और नासपाती की स्तुति में शरीक होगया।

परन्तु माता ? वह तो बेचारी दुःख में पड़ गई।

मैं चेता। चुप हो रहा और बात का विषय बदल दिया।

दूसरे सप्ताह मैं सावधान रहकर उसके यहाँ गया तो, पर मेरा पाँव मुझे भारी मालूम हो रहा था। अपने-आप उसके यहाँ जाना बन्द कर देना मुझे न सूझा, न उचित मालूम हुआ, पर उस भली बहन ने ही मेरी कठिनाई हल कर दी। वह बोली—"मि० गांधी, आप बुरा न मानें, आपकी सोहबत का असर मेरे लड़के पर बुरा होने लगा है। अब वह रोज मांस खाने में आनाकानी करने लगा है और उस दिन की आपकी बातचीत की याद दिलाकर फल मांगता है। मुझे यह गवारा न हो सकेगा। मेरा बच्चा यदि मांस खाना छोड़ दे तो चाहे बीमार न हो; पर कमजोर जरूर हो जायगा। मैं यह कैसे देख सकती हूँ ? आपकी चर्चा हम प्रौढ़ लोगो में तो फायदेमद हो सकती है, पर बच्चो पर तो उसका असर बुरा ही पड़ता है।"

"मिसेज—मुझे खेद है। आपके, माता के, मनोभाव को मैं समझ सकता हूँ। मेरे भी बाल-बच्चे हैं। इस आपत्ति का अन्त आसानी से ही

सकता है। मेरी बातचीत की अपेक्षा मेरे खान-पान का और उसको देखने का असर बालको पर बहुत ज्यादा होता है। इसलिए सीधा रास्ता यह है कि अबसे रविवार को मैं आपके यहाँ न आया करूं। हमारी मित्रता में इससे किसी प्रकार फर्क न आवेगा।"

"मैं आपका अहसान मानती हूँ।" बाई ने खुश होकर उत्तर दिया।

: २३ :

गृह-व्यवस्था

बम्बई में तथा विलायत में मैने जो घर-गृहस्थी सजाई थी, उसमें और नेटाल में जो घर बसाना पडा उसमें भिन्नता थी। नेटाल में कितना ही खर्च तो महज प्रतिष्ठा के लिए मै उठा रहा था। मैने यह मान लिया था कि भारतीय बैरिस्टर और भारतीयो के प्रतिनिधि की हैसियत से नेटाल में मुझे अपनी रहन-सहन खर्चीली रखनी चाहिए। इस कारण अच्छे मुहल्ले में बढिया घर लिया था। घर को सजाया भी अच्छी तरह था। खान-पान तो सादा था, परन्तु अग्रेज मित्रो को भोजन के लिए बुलाया करता था और हिन्दुस्तानी साथियो को भी निमन्त्रण दिया करता था, इसलिए आप ही खर्च और भी बढ गया था।

नौकर की तगी सभी जगह रहा करती। किसीको नौकर बनाकर रखना आजतक मैने जाना ही नही।

मेरे साथ एक साथी था। एक रसोइया भी रक्खा था। वह कुटुम्बी ही बन गया था। दफ्तर के कारकुनो में से भी जो रक्खे जा सकते थे, उन्हे घर में ही रक्खा था।

मेरा विश्वास है कि यह प्रयोग ठीक सफल हुआ; परन्तु मुझे ससार के कटु अनुभव भी काफी मिले।

यह साथी बहुत होशियार और मेरी समझ के अनुसार वफादार था, पर मै उसे पहचान न सका। दफ्तर के एक कारकुन को मैंने घर में रक्खा था। इस साथी को उसकी ईर्ष्या हुई। उसने ऐसा जाल रचा कि

जिससे मैं कारकुन पर शक करने लगूँ। यह कारकुन बडी आजाद तबीयत के थे। उन्होंने घर और दफ्तर दोनों छोड दिये। इससे मुझे दुःख हुआ। उनके साथ कहीं अन्याय न हुआ हो, यह खयाल भीतर-ही-भीतर मुझे दुःख दे रहा था।

इसी बीच मेरे रसोइया को किसी कारण से दूसरी जगह जाना पडा। मैंने उसे अपने मित्र की सेवा-शुश्रूषा के लिए रक्खा था, इसलिए उसकी जगह दूसरा रसोइया लाया गया। बाद को मैंने देखा कि वह खास उड़ती चिड़िया भापने वाला था, पर वह मुझे इस तरह उपयोगी हो गया, मानो मुझे उसकी जरूरत रही हो।

इस रसोइये को रक्खे मुश्किल से दो-तीन दिन हुए होंगे कि इतने ही में उसने मेरे घर की एक भयंकर बुराई को ताड लिया, जो मेरे ध्यान में न आई थी, और उसने मुझे सचेत करने का निश्चय किया। मैं विश्वासशील और अपेक्षाकृत भला आदमी हूँ, यह धारणा लोगों को हो रही थी, इस कारण रसोइये को मेरे ही घर में फैली गन्दगी भयानक मालूम हुई।

मैं दोपहर के भोजन के लिए दफ्तर से एक बजे घर जाता था। कोई बारह बजे होंगे कि वह रसोइया हाँफता हुआ आया और मुझसे कहा—"आपको अगर देखना हो तो अभी मेरे साथ घर चलिए।"

मैंने कहा—"इसका क्या मतलब? कहो भी आखिर क्या काम है? ऐसे वक्त मेरे घर आने की क्या जरूरत, और देखना भी क्या है?"

"न आओगे तो पछताओगे। आपको इससे ज्यादा नहीं कहना चाहता।" रसोइया बोला।

उसकी दृढ़ता ने मुझपर असर किया। अपने मुंशी को साथ लेकर घर गया। रसोइया आगे चला।

घर पहुँचते ही वह मुझे दुमंजिले पर ले गया। जिस कमरे में वह साथी रहता था, उसकी ओर इशारा करके कहा—"इस कमरे को खोल कर देखो।"

अब मैं समझा, मैंने दरवाजा खटखटाया। जवाब क्या मिलता?

ैंने वडे जोर से दरवाजा ठोका। दीवार कांप उठी। दरवाजा खुला। ान्दर एक वदचलन औरत थी। मैंने उससे कहा—"वहन, तुम तो यहाँ ो इसी दम चलदो। अव भूलकर यहाँ कदम मत रखना।"

साथी से कहा—"आज से आपका-मेरा सम्वन्ध टूटा। मैं अवतक ूव धोखे में रहा और वेवकूफ वना। मेरे विश्वास का वदला यही मलना चाहिए था ?"

साथी विगडा। मुझे धमकी देने लगा—"तुम्हारी सव वातें प्रकट हर दूंगा।"

"मेरे पास कोई गुप्त वात है ही नहीं। मैंने जो-कुछ किया हो उसे ुशी से प्रकट कर देना, पर तुम्हारा सम्वन्ध आज से वन्द है।"

साथी अधिक गर्म हुआ। मैंने नीचे खडे मुशी से कहा—"तुम ाओ, पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट से मेरा सलाम कहो और कहो कि मेरे एक ाथी ने मेरे साथ विश्वासघात किया है! उसे मैं अपने घर में रखना ही चाहता। फिर भी वह निकलने से इन्कार करता है। मेहरवानी करके मदद भेजिए।"

अपराधी के वरावर दीन नहीं। मेरे इतना कहते ही वह ठण्डा पडा। माफी माँगी। आजिजी से कहा—"सुपरिण्टेण्डेण्ट के यहाँ आदमी न भेजिए।" और तुरन्त घर छोड देना स्वीकार किया।

इस घटना ने ठीक समय पर मुझे सावधान किया। वह साथी मेरे लिए मोह-रूप और अनिष्ट था, यह वात अव जाकर मैं स्पष्ट रूप से समझ सका। इस साथी को रखकर मैंने अच्छा काम करने के लिए वुरे साधन को अपनाया था। कडुवे-करेले की वेल में मैंने सुगन्धित वेल के फूल की आशा रक्खी थी। साथी का चाल-चलन अच्छा न था, फिर भी मैंने मान लिया था कि वह मेरे साथ वेवफा न होगा। उसे सुधारने का प्रयत्न करते हुए मुझे खुद छींटे लगते-लगते वचे। अपने हितैषियों की सलाह का मैंने अनादर किया। मोह ने मुझे अन्धा वना दिया था।

यदि इस दुर्घटना से मेरी आँख न खुली होती, मुझे सत्य की खवर न पडी होती, तो सम्भव है कि मैं कभी वह स्वार्पण न कर सकता, जो

आज कर पाया हूँ। मेरी सेवा हमेशा अधूरी रहती, क्योंकि यह साथी मेरी प्रगति को रोके बिना नही रहता। मुझे उसके लिए बहुतेरा समय देना पड़ता। मुझे अँधेरे में रखने की, कुमार्ग में ले जाने की शक्ति उसमें थी। 'जाको राखे साइयाँ मारि सके नहिं कोय।' मेरी निष्ठा शुद्ध थी। इसलिए भूलें करते हुए भी मैं बच गया और मेरे पहले अनुभव ने ही मुझे सावधान किया।

कौन जानें, ईश्वर ने ही उस रसोइये को प्रेरणा की हो! वह रसोई बनाना न जानता था, परन्तु उसके आये बिना मुझे कोई सजग न कर पाता। वह बाई पहली ही बार मेरे घर में न आई थी, परन्तु इस रसोइये की तरह दूसरे की हिम्मत नही पड़ती; क्योंकि सब जानते थे कि मैं उस साथी पर बेहद विश्वास रखता था।

इतनी सेवा करके रसोइया उसी दिन और उसी क्षण चला गया। उसने कहा—"मैं आपके यहाँ नहीं रह सकता। आप ठहरे भोले आदमी, यहाँ मुझ-जैसो का काम नहीं।" मैंने भी उससे रहने का आग्रह नहीं किया।

उस कारकुन पर शक पैदा कराने वाला यह साथी ही था, यह बात मुझे तब जाकर मालूम हुई। मैंने उस कारकुन के साथ न्याय करने का बहुत उद्योग किया, पर मैं उसे पूरी तरह सन्तोष न दे सका। मुझे इस बात का सदा दुःख रहा। फूटा बरतन कितना ही झाला जाय, वह झाला हुआ ही माना जायगा, ज्यों-का-त्यों साबित न होने पायेगा।

: २४ :

देश की ओर

अब दक्षिण अफ्रिका में रहते हुए मुझे तीन साल हो गये थे। लोगों से मेरी जान-पहचान हो गई थी। वे मुझे जानने-बूझने लगे थे। १८९६ ई० में मैंने छ महीने के लिए देश जाने की इजाजत चाही। मैंने देखा कि दक्षिण अफ्रीका में मुझे बहुत समय तक रहना होगा। मेरी वकालत ठीक-

ठीक चल निकली थी। सार्वजनिक कामो के लिए लोग मेरी आवश्यकता समझते थे। मैं भी समझता था। इसलिए मैंने दक्षिण अफ्रिका में सकुटुम्ब रहने का निश्चय किया और इसके लिए देश जाना ठीक समझा। फिर वह भी देखा कि देश जाने से कुछ यहाँ का काम भी हो जायगा। देश में लोगो के सामने यहाँ के प्रश्न की चर्चा करने से उनकी अधिक दिलचस्पी पैदा हो सकेगी। तीन पौण्ड का कर एक बहता हुआ घाव था। जबतक वह उठ न जाता, जी को चैन नही हो सकती थी।

पर यदि मैं देश जाऊँ तो फिर कांग्रेस का और शिक्षा-मण्डल का काम कौन जिम्मे ले? दो साथियो पर नजर गई। आदमजी मियाँ खान और पारसी रुस्तमजी। व्यापारी-वर्ग में से बहुतेरे काम करनेवाले तैयार हो गये थे, पर उनमे प्रथम पंक्ति में आने योग्य यही दो सज्जन ऐसे थे जो मत्री का काम नियमित रूप से कर सकते थे, और जो दक्षिण अफ्रिका में जन्मे भारतवासियो का मन हरण कर सकते थे। मत्री के लिए मामूली अंग्रेजी जानना तो आवश्यक था ही। मैंने इसमें से स्वर्गीय आदमजी मियाँ खान को मत्री-पद देने की सिफारिश की और वह स्वीकृत हुई। अनुभव से यह पसन्दगी बहुत ही अच्छी साबित हुई। अपनी उद्योगशीलता, उदारता, मिठास और विवेक के द्वारा सेठ आदमजी मियाँ खान ने अपना काम सन्तोषजनक रीति से किया और सबको विश्वास होगया कि मत्री का काम करने के लिए वकील-बैरिस्टर की अथवा पदवीधारी बडे अंग्रेजीदाँ की जरूरत न थी।

१८९६ के मध्य में मैं पोगोला जहाज से देश को रवाना हुआ। यह कलकत्ता जाने वाला जहाज था।

जहाज में यात्री बहुत थोडे थे। दो अंग्रेज अफसर थे। उनका-मेरा अच्छा मेल बैठ गया। एक के साथ तो रोज १ घण्टा शतरञ्ज खेला करता था। जहाज के डाक्टर ने मुझे एक 'तामिल-शिक्षक' दिया था और मैंने उसका अभ्यास शुरू कर दिया था।

नेटाल मे मैंने देखा कि मुसलमानो के निकट परिचय में आने के लिए मुझे उर्दू सीखनी चाहिए, तथा मदरासियो से सम्बन्ध बांधने के लिए

तामिल जान लेना चाहिए। उर्दू के लिए मैंने अंग्रेज मित्र के कहने से डेक के यात्रियो में से एक अच्छा मुशी खोज निकाला था, और हम लोगो की पढाई अच्छी चलने लगी थी। अंग्रेज अफसर की स्मरण-शक्ति मुझसे तेज थी। उर्दू अक्षरो को पहचानने मे मुझे दिक्कत पडती थी, पर वह तो एक बार शब्द देख लेने के बाद उसे भूलता ही न था। मैने अपनी मेहनत की मात्रा बढाई भी, पर उसका मुकाबला न कर सका।

तामिल की पढाई भी ठीक चली। उसमें किसी की मदद न मिल सकती थी। पुस्तक लिखी भी इस तरह गई थी कि बहुत मदद की जरूरत न थी।

मुझे आशा थी कि देश जाने के बाद यह पढाई जारी रह सकेगी, पर ऐसा न हो पाया। १८९३ के बाद मुझे पुस्तकें पढने का अवसर प्रधानत जेलो में ही मिला है। इन दोनो भाषाओ का ज्ञान मैने बढाया तो, पर वह सब जेल ही में हुआ—तामिल का दक्षिण अफ्रिका की जेल मे और उर्दू का यरवड़ा में, पर तामिल बोलने का अभ्यास कभी न हुआ। पढना तो ठीक-ठीक आ गया था, किन्तु पढने का अवसर न आने से उसका अभ्यास छूटता जाता है, इस बात का मुझे बराबर दु ख बना रहता है। दक्षिण अफ्रिका के मदरासी भाइयो से मैंने खूब प्रेम-रस पिया है। उनका स्मरण मुझे प्रतिक्षण रहता है। जब-जब मै किसी तामिल-तेलगू को देखता हूं, तो उनकी श्रद्धा, उनकी उद्योगशीलता, बहुतो का नि स्वार्थ त्याग, याद आये बिना नही रहता, और ये सब लगभग निरक्षर थे। जैसे पुरुष, वैसी ही स्त्रियां। दक्षिण अफ्रिका की लडाई ही निरक्षरो की थी और निरक्षर ही उसके लडनेवाले थे। वह गरीबो की लडाई थी और गरीब ही उसमें जूझे।

इन भोले और भले भारतवासियो का चित्त चुराने के लिए भाषा की भिन्नता कभी बाधक न हुई। वे टूटी-फूटी हिन्दुस्तानी और अंग्रेजी जानते थे और उससे हम अपना काम चला लेते थे; पर मै तो इस प्रेम का बदला चुकाने के लिए तामिल सीखना चाहता था। अत तामिल तो कुछ-कुछ सीख ली। तेलगू जानने का प्रयत्न हिन्दुस्तान में किया, परन्तु वर्णमाला से आगे न बढ सका।

इस तरह तामिल-तेलगू न पढ पाया और अब शायद ही पढ पाऊँ। इसलिए मै यह आशा रख रहा हूं कि ये द्राविड भाषा-भाषी हिन्दुस्तानी सीख लेगे। दक्षिण अफ्रिका के द्राविड—'मद्रासी' तो अवश्य थोडी-बहुत हिन्दी बोलते है। मुश्किल है अग्रेजी पढे-लिखो की। ऐसा मालूम होता है, मानो अग्रेजी का ज्ञान हमे अपनी भाषाये सीखने में बाधक हो रहा है।

पर यह तो विषयान्तर होगया। हमें अपनी यात्रा पूरी करनी चाहिए। अभी पोंगोला के कप्तान का परिचय करना बाकी है। अस्तु। हम दोनो मित्र हो गये थे। यह कप्तान प्लीमथ ब्रदर के सम्प्रदाय का था। इसलिए जहाज-विद्या की अपेक्षा आध्यात्मिक विद्या की ही बाते हम दोनो में अधिक हुई। उसने नीति और धर्म-श्रद्धा मे फर्क बताया। उसकी दृष्टि से बाइबिल की शिक्षा लडको का खेल था। उसकी खूबी उसकी सरलता है। बालक, स्त्री-पुरुष, सब ईसा को और उसके बलिदान को मानले कि बस, उनके पाप धुल जावेगे। इस प्लीमथ ब्रदर ने मेरे प्रिटोरिया के 'ब्रदर' की पहचान ताजा करदी। जिस धर्म में नीति की चौकीदारी करनी पडती हो वह उसे नीरस मालूम हुआ। इस मित्रता और आध्यात्मिक चर्चा की तह में था मेरा 'अन्नाहार'। मै मास क्यो नही खाता? गौ-मास में क्या बुराई है? वनस्पति की तरह क्या पशु-पक्षियो को भी ईश्वर ने मनुष्य के आनन्द तथा आहार के लिए नही बनाया है? ऐसी प्रश्नमाला आध्यात्मिक वार्तालाप उत्पन्न किये बिना नही रह सकती थी।

पर हम दोनो एक दूसरे को न समझ सके। मै अपने इस विचार पर दृढ हुआ कि धर्म और नीति एक वस्तु के वाचक है। इधर कप्तान को भी अपनी धारणा की सत्यता पर सन्देह न था।

चौबीस दिन के अन्त में यह आनन्ददायक यात्रा पूरी हुई, और मै हुगली का सौंदर्य निहारता हुआ कलकत्ता उतरा। उसी दिन मैने बम्बई जाने के लिए टिकट कटाया।

: २५ :

हिन्दुस्तान में

कलकत्ता से बम्बई जाते हुए रास्ते में प्रयाग पड़ता था। वहाँ ४५ मिनट गाड़ी खड़ी रहती थी। मैंने सोचा कि इतने समय में जरा शहर देख आऊँ। मुझे दवाफरोश के यहाँ से दवा भी लेनी थी। दवाफरोश ऊँघता हुआ बाहर आया। दवा देने में बड़ी देर लगा दी। ज्योंही मैं स्टेशन पर पहुँचा, गाड़ी चलती हुई दिखाई दी। भले स्टेशनमास्टर ने गाड़ी एक मिनट रोकी भी; पर फिर मुझे वापस न आता देखकर मेरा सामान उतरवा लिया।

मैं केलनर के होटल में उतरा और यहींसे अपना काम शुरू करने का निश्चय किया। यहाँके 'पायोनियर पत्र' की ख्याति मैंने सुनी थी। भारत की आकांक्षाओं का वह विरोधी था, यह मैं जानता था। मुझे याद पड़ता है कि उस समय मि० चेजनी (छोटे) उसके सम्पादक थे। मैं तो सब पक्ष के लोगों से मिलकर सहायता प्राप्त करना चाहता था। इसलिए मि० चेजनी को मैंने मिलने के लिए पत्र लिखा। अपनी ट्रेन छूट जाने का हाल लिखकर सूचित किया कि कल ही मुझे प्रयाग से चला जाना है। उत्तर में उन्होंने तुरन्त मिलने के लिए बुलाया। मैं खुश हुआ। उन्होंने गौर से मेरी बातें सुनी। 'आप जो कुछ लिखेंगे, मैं उसपर तुरन्त टिप्पणी करूँगा,' यह आश्वासन देते हुए उन्होंने कहा—"पर मैं आपसे यह नहीं कह सकता कि आपकी सब बातों को मैं स्वीकार कर सकूँगा। औपनिवेशिक दृष्टिबिन्दु भी तो हमें समझना और देखना चाहिए न?"

मैंने उत्तर दिया—"आप इस प्रश्न का अध्ययन करें और अपने पत्र में इसकी चर्चा करते रहें, यही मेरे लिए काफी है। शुद्ध न्याय के अलावा मैं और कुछ नहीं चाहता।"

शेष समय प्रयाग के भव्य त्रिवेणी-संगम के दर्शन और अपने काम के विचार में गया।

इस आकस्मिक मुलाकात ने नेटाल मे मुझपर हुए हमले का बीजारोपण किया।

बम्बई से बिना कही रुके सीधा राजकोट गया और एक पुस्तिका लिखने की तैयारी की, उसे लिखने तथा छपाने में कोई एक महीना लग गया। उसका मुखपृष्ठ हरे रग का था, इस कारण वह बाद को 'हरी पुस्तिका' के नाम से प्रसिद्ध हो गई थी। उसमें मैने दक्षिण अफिका के हिन्दुस्तानियो की स्थिति का चित्र खीचा था, और सोच-समझकर उसमें न्यूनोक्ति से काम लिया था। नेटाल की जिन पुस्तिकाओ का जिक्र मै ऊपर कर चुका हूँ, इसमें उनसे नरम भाषा इस्तैमाल की गई थी, क्योकि मै जानता हूँ कि छोटा दु ख भी दूर से देखते हुए बडा मालूम होता है।

'हरी पुस्तिका' की दस हजार प्रतियाँ छपवाई और सारे हिन्दुस्तान के अखबारो को तथा भिन्न-भिन्न दलो के मशहूर लोगो को भेजी। 'पायोनियर' में उसपर सबसे पहले लेख प्रकाशित हुआ। उसका साराश विलायत गया और उस साराश का सार फिर रूटर की मार्फत नेटाल गया। यह तार सिर्फ तीन लाइन का था। वह नेटाल के हिन्दुस्तानियो के दु खो के मेरे किये वर्णन का छोटा-सा सस्करण था। वह मेरे शब्दो में न था। उसका जो असर वहाँ हुआ वह हम आगे चल कर देखेंगे। धीरे-धीरे तमाम प्रतिष्ठित समाचार-पत्रो में इस प्रश्न पर टीका-टिप्पणियाँ हुईं।

इन पुस्तिकाओं को डाक में डालने के लिए तैयार कराना उलझन का और दाम देकर कराना तो खर्च का काम था। मैंने एक आसान तरकीब खोज निकाली। मुहल्ले के तमाम लडको को इकट्ठा किया और सुबह के समय दो-तीन घटे उनसे मागे। लडको ने इतनी सेवा खुशी से कबूल की। अपनी तरफ से मैंने उन्हे इस्तैमाल किये हुए डाक के टिकट तथा आशीष देना स्वीकार किया। लडको ने खेलते-खेलते मेरा काम पूरा कर दिया। छोटे-छोटे बालको को स्वयसेवक बनाने का मेरा यह पहला प्रयोग था। इसमें के दो बालक आज मेरे साथी है।

इन्ही दिनो पहले-पहल प्लेग का दौरा हुआ। चारो ओर भगदड मच गई थी। राजकोट में भी उसके फैल जाने का डर था। मैंने सोचा

कि आरोग्य-विभाग में मैं अच्छा काम कर सकूंगा। मैंने राज्य को लिखा कि मैं अपनी सेवायें अर्पित करने को तैयार हूं। राज्य ने एक समिति बनाई और उसमें मुझे भी रक्खा। पाखानों की सफाई पर मैंने जोर दिया और समिति ने मुहल्ले-मुहल्ले जाकर पाखानों की जाँच करने का निश्चय किया। ग़रीब लोग अपने पाखानों की जांच कराने में बिलकुल आनाकानी न करते थे। यही नहीं, बल्कि जो बताये गये वे सुधार भी उन्होंने किये, पर जब हम राजकाजी लोगों के घरों की जाँच करने गये तब कितनी ही जगह तो हमें पाखाना देखने तक की इजाजत न मिली— सुधार की तो बात ही क्या? आमतौर पर हमें यह अनुभव हुआ कि धनियों के पाखाने अधिक गन्दे थे। खूब अँधेरा, बदबू, और अबहद गन्दगी थी। बैठने की जगह कीड़े बिलबिलाते थे। मानो रोज़ जीते जी नरक में जाना था। हमने जो सुधार सुझाये थे, वे बिलकुल मामूली थे, मैला जमीन पर नहीं बल्कि कुंडों में गिरा करे। पानी भी ज़मीन में जज्ब होने के बदले कुंडों में गिरा करे। बैठक और भंगी के आने की जगह के बीच में दीवार रहती है, वह तोड डाली जाय, जिससे भंगी सारा हिस्सा अच्छी तरह साफ कर सके, और, पाखाना भी कुछ बड़ा हो जाय तो उसमें हवा-प्रकाश जा सके। बडे लोगों ने इन सुधारों के रास्ते में बड़े झगड़े खडे किये और आखिर होने ही नहीं दिये।

समिति को ढेडों के मुहल्लों में भी जाना था; पर सिर्फ एक ही सदस्य मेरे साथ वहाँ जाने के लिए तैयार हुआ। एक तो वहाँ जाना और फिर उनके पाखाना देखना, परन्तु मुझे तो ढेडवाडा देखकर सानन्दाश्चर्य हुआ। अपनी जिन्दगी में मैं पहली ही बार ढेडवाडा गया था। ढेड़ भाई-बहन हमें देखकर आश्चर्य-चकित हुए। हमने कहा—"हम तुम्हारे पाखाने देखना चाहते हैं।"

उन्होंने कहा—"हमारे यहाँ पाखाने कहाँ? हमारे पाखाने तो जंगल में होते हैं। पाखाने तो होते हैं आप बड़े लोगों के यहाँ।"

मैंने पूछा—"अच्छा तो अपने घर हमें देखने दोगे?"

"हाँ साहब, जरूर! हमें क्या उज्र हो सकता है? जहाँ जी चाहे

आइए। हमारे तो ये ऐसे ही घर हैं।"

मैं अन्दर गया। घर तथा आँगन की सफाई देखकर खुश होगया। घर साफ-सुथरा लिपा-पुता था। आँगन बुहारा हुआ था, और जो थोड़े-बहुत बरतन थे वे साफ मँजे हुए चमकदार थे।

इनके मुहल्ले में बीमारी का भय न था।

एक पाखाने का वर्णन किये बिना नहीं रह सकता। मोरी तो हर घर में रहती ही है, पानी भी उसमे बहता है और पेशाब भी। अतएव कोई कमरा मुश्किल से बिना बदबूवाला होगा, पर एक घर में तो सोने के कमरे में मोरी और पाखाना दोनो देखे और यह सारा मैला नल मे से नीचे उतरता। इस कमरे मे खड़ा होना मुश्किल था। अब पाठक ही इस बात का अन्दाजा करलें कि उसमें घर वाले सो कैसे सकते होगे ?

समिति हवेली—वैष्णव-मंदिर—देखने भी गई थी। हवेली के मुखियाजी से गांधी-कुटुम्ब का अच्छा सम्बन्ध था। मुखियाजी ने हवेली देखने देना तथा जितना हो सके सुधार करना स्वीकार किया। उन्होंने खुद उस हिस्से को कभी न देखा था, हवेली की पत्तलें और जूठन आदि पीछे की छत से फेंक दिये जाते। वह हिस्सा कौओं और चीलों का घर बन गया था। पाखाने तो गन्दे थे ही। मुखियाजी ने कितना सुधार किया, यह मैं न देख पाया। हवेली की गन्दगी देखकर दुःख तो बहुत हुआ। जिस हवेली को हम पवित्र स्थान समझते हैं, वहाँ तो आरोग्य के नियमों का काफी पालन होने की आशा रखते हैं। स्मृतिकारों ने जो बाह्यान्तर शौच पर बहुत जोर दिया है, यह बात मेरे ध्यान से बाहर उस समय भी न थी।

: २६ :

राजनिष्ठा और शुश्रूषा

शुद्ध राजनिष्ठा का अनुभव मैंने जितना अपने अन्दर किया है उतना शायद ही कहीं किया हो। मैं देखता कि इस राजनिष्ठा का मूल है मेरा

सत्य के प्रति स्वाभाविक प्रेम। राजनिष्ठा का अथवा किसी दूसरी ची
का ढोंग मुझसे आजतक न हो सका। नेटाल में जिस किसी सभा में
जाता, 'गॉड सेव दि किंग' बराबर गाया जाता। मैंने सोचा, मुझे भ
गाना चाहिए। यह बात नहीं कि उस समय मुझे ब्रिटिश राज्य-नीति
बुराइयाँ न दिखाई देती थी। फिर भी आमतौर पर मुझे वह नीि
अच्छी मालूम होती थी। उस समय यह मानता था कि ब्रिटिश-राज
तथा कार्यकर्त्ताओं की नीति समष्टि-रूप से प्रजा-पोषक है।

पर दक्षिण अफ्रिका में उलटी नीति दिखाई देती, रंग-द्वेष नज
आता। मैं समझता कि यह क्षणिक और स्थानिक है। इस कारण राजनिष्ठ
में मैं अंग्रेजों की प्रतिस्पर्द्धा करने की चेष्टा करता। बड़े श्रम के साथ
अंग्रेजों के राष्ट्र-गीत 'गॉड सेव दि किंग' की लय मैंने सीखी। सभाओं
मे जब वह गाया जाता, तब अपना सुर उसमें मिलाता और बिना आड
म्बर किये वफादारी दिखाने के जितने अवसर आते सबमें शरीक होता।

अपनी जिन्दगी में कभी मैंने इस राजनिष्ठा की दूकान नहीं लगाई।
अपनी निजी मतलब साध लेने की कभी इच्छा तक न हुई। वफादारी
को एक तरह का कर्ज समझकर मैंने उसे अदा किया है।

जब भारत आया, तब महारानी विक्टोरिया की डायमंड जुबिली
की तैयारियाँ हो रही थी। राजकोट में भी एक समिति बनाई गई।
उसमें मैं निमन्त्रित किया गया। मैंने निमन्त्रण स्वीकार किया; पर मुझे
उसमें ढकोसले की बू आई। मैंने देखा कि उसमें बहुतेरी बातें महज
दिखाने के लिए की जाती है। यह देखकर मुझे दुःख हुआ। मैं सोचने
लगा कि ऐसी दशा में समिति में रहना चाहिए, या नहीं? अन्त को यह
निश्चय किया कि अपने कर्तव्य का पालन करके सन्तोष मान लेना ही
ठीक है।

एक तजवीज यह थी कि पेड़ लगाये जायँ। इसमें मुझे पाखण्ड दिखाई
दिया। मालूम हुआ कि यह महज साहब लोगों को खुश करने के लिए
किया जाता है। मैंने लोगों को यह समझाने की कोशिश की पेड़ लगाना
अनिवार्य नहीं किया गया है, सिर्फ सिफारिश भर की गई है। यदि

लगाना ही हो तो फिर सच्चे दिल से लगाना चाहिए, नही तो मुतलक नहीं। मुझे कुछ-कुछ ऐसा याद पडता है कि जब मैं ऐसी बात कहता तो लोग उसे हँसी मे उडा देते थे। जो हो, अपने हिस्से का पेड मैंने अच्छी तरह बोया और उसकी परवरिश भी समुचित रूप से की।

'गॉड सेव दि किंग' मैं अपने परिवार के बच्चो को भी सिखाता था। मुझे याद है कि ट्रेनिंग कालेज के विद्यार्थियो को मैंने यह सिखाया था, पर मुझे यह ठीक-ठीक याद नही पडता कि यह इसी मौके पर सिखाया था, अथवा सप्तम एडवर्ड के राज्यारोहण के प्रसग पर। आगे चलकर मुझे यह गीत गाना अखरा। ज्यो-ज्यो मेरे मन में अहिंसा के विचार प्रबल होते गये, त्यो-त्यो मै अपनी वाणी और विचार की अधिक चौकीदारी करने लगा। इस गीत में ये दो पक्तियाँ भी है —

'उसके शत्रुओ का नाश कर,
उनकी चालों को विफल कर।'

यह भाव मुझे खटका। अपने मित्र डा० बूथ के सामने मैंने अपनी कठिनाई पेश की। उन्होने भी स्वीकार किया कि हाँ, अहिंसावादी मनुष्य को यह गान शोभा नही देता। जिन्हे हम शत्रु कहते है, वे दगाबाजी ही करते हैं, यह कैसे मान ले? यह कैसे कह सकते है कि जिन्हे हमने शत्रु मान लिया है वे सब बुरे ही हैं। ईश्वर से तो हम न्याय की ही याचना कर सकते है। डा० बूथ को यह दलील जँची। उन्होंने अपने समाज मे गाने के लिए एक नये ही गीत की रचना की। डा० बूथ का विशेष परिचय आगे दूँगा।

जिस प्रकार वफादारी का स्वाभाविक गुण मुझमें था, उसी तरह शुश्रूषा का भी था। बीमारो की सेवा-शुश्रूषा का शौक, फिर बीमार चाहे अपने हो या पराये, मुझे था। राजकोट में दक्षिण अफ्रिका-सम्बन्धी काम करते हुए मै एक बार बम्बई गया। इरादा यह था कि बडे-बडे शहरो में सभायें करके लोकमत विशेष रूप से तैयार किया जाय। इसी सिलसिले में मै बम्बई गया था। पहले न्यायमूर्ति रानाडे से मिला। उन्होने मेरी बात ध्यान से सुनी और सर फिरोजशाह से मिलने की

सलाह दी। फिर मैं जस्टिस बदरुद्दीन तैयबजी से मिला। उन्होंने भी मेरी बात सुनकर यही सलाह दी। "जस्टिस रानडे से और मुझसे आपको बहुत कम सहायता मिल सकेगी। हमारी स्थिति आप जानते हैं। हम सार्वजनिक कामों में योग नहीं दे सकते, परन्तु हमारे मनोभाव और सहानुभूति आपके साथ हुई है। हाँ, सर फिरोजशाह आपकी सहायता करेंगे।"

सर फिरोजशाह से तो मैं मिलने ही वाला था। परन्तु इन दो बुजुर्गों की यह राय जानकर मुझे इस बात का ज्ञान हुआ कि सर फिरोजशाह का कितना अधिकार लोगों पर है।

मैं सर फिरोजशाह से मिला। मैं उनसे चकाचौंध होने के लिए तैयार ही था। उनके नाम के साथ लगे बड़े-बड़े विशेषण मैंने सुन रक्खे थे। 'बम्बई के शेर', 'बम्बई के बेताज के बादशाह' से मिलना था। परन्तु बादशाह ने मुझे भयभीत नहीं किया। जिस प्रकार पिता अपने जवान पुत्र से प्रेम के साथ मिलता है, उसी प्रकार वह मुझसे मिले। उनके चेम्बर में उनसे मिलना था। अनुयायियों से तो वह सदा घिरे हुए रहते ही थे। वाच्छा थे, कामा थे। उनसे मेरा परिचय कराया। वाच्छा का नाम मैंने सुना था, वह फ़िरोजशाह के दाहिने हाथ माने जाते थे। अंकशास्त्री के नाम से वीरचन्द गांधी ने मुझे उनका परिचय कराया था। उन्होंने कहा—"गांधी, हम फिर मिलेंगे।'

दो मिनट में यह सब हो गया। सर फिरोजशाह ने मेरी बात सुनी। न्यायमूर्ति रानाडे और तैयबजी से मिलने की भी बात मैंने कही। उन्होंने कहा—"गांधी, तुम्हारे काम के लिए मुझे एक सभा करनी होगी। तुम्हारे काम में जरूर मदद देनी चाहिए।" मुन्शी की ओर देखकर सभा का दिन निश्चय करने के लिए कहा। दिन तय हुआ और मुझे छुट्टी मिली। कहा—"सभा के एक दिन पहले मुझसे मिल लेना।" मैं निश्चिन्त होकर मन में फूलता हुआ अपने घर गया।

मेरे बहनोई बम्बई में रहते थे उनसे मिलने गया। वह बीमार थे। ग़रीब हालत थी। बहन अकेली उनकी सेवा-शुश्रूषा नहीं कर सकती थी। बीमारी सख्त थी। मैंने कहा—'मेरे साथ राजकोट चलिए।' वह राज़ी

हुए। बहन-बहनोई को लेकर मैं राजकोट गया। बीमारी अन्दाज से बाहर भीषण होगई थी। मैंने उन्हें अपने कमरे में रक्खा। दिन भर मैं उनके पास ही रहता। रात को भी जागना पडता। उनकी सेवा करते हुए दक्षिण अफ्रिका का काम मैं कर रहा था। अन्त में बहनोई का स्वर्गवास होगया, पर मुझे इस बात से कुछ संतोष रहा कि अन्त समय उनकी सेवा करने का अवसर मुझे मिल गया।

शुश्रूषा के इस शौक ने आगे चलकर व्यापक रूप धारण किया। वह यहांतक कि उसमें मैं अपना काम-धन्धा छोड बैठता। अपनी धर्म-पत्नी को भी उसमें लगाता और सारे घर को भी शामिल कर लेता था। इस वृत्ति को मैंने 'शौक' कहा है, क्योंकि मैंने देखा कि यह गुण तभी निभता है, जब आनन्ददायक हो जाता है। खींचा-तानी करके दिखावे या मुलाहिजे के लिए जब ऐसे काम होते हैं, तब वह मनुष्य को कुचल डालते हैं और उनको करते हुए भी मनुष्य मुरझा जाता है। जिस सेवा से चित्त को आनन्द नही मालूम होता, वह न सेवक को फलती है, न सेव्य को सुहाती है। जिस सेवा से चित आनन्दित होता है। उसके सामने एशोआराम या धनोपार्जन इत्यादि बातें तुच्छ मालूम होती हैं।

: २७ :

बम्बई में सभा

बहनोई के देहान्त के दूसरे ही दिन मुझे सभा के लिए बम्बई जाना था। मुझे इतना समय न मिला था कि अपने भाषण की तैयारी कर रखता। जागरण करते-करते थक रहा था। आवाज भी भारी हो रही थी। यह विचार करता हुआ कि ईश्वर ज्यों-त्यों निबाह लेगा, मैं बम्बई गया। भाषण लिखकर ले जाने का तो मुझे स्वप्न में भी खयाल न हुआ था।

सभा की तिथि के एक दिन पहले शाम को पांच बजे आज्ञानुसार मैं सर फिरोजशाह के दफ्तर में हाजिर हुआ।

'गांधी, तुम्हारा भाषण तैयार है न ?' उन्होंने पूछा।

'नहीं तो, मैंने जबानी ही भाषण करने का इरादा कर रक्खा है।' मैंने डरते-डरते उत्तर दिया।

'बम्बई में ऐसा न चलेगा। यहाँ का रिपोर्टिंग खराब है, और यदि हम चाहते हो कि सभा से लाभ हो तो तुम्हारा भाषण लिखित ही होना चाहिए और रातों-रात छपा लेना चाहिए। रात ही को भाषण लिख सकोगे न ?'

मैं पशोपेश में पड़ा; परन्तु मैंने लिखने की कोशिश करना स्वीकार किया।

'तो मुंशी तुमसे भाषण लेने कब आवे ?' बम्बई के सिंह बोले।

'ग्यारह बजे।' मैंने उत्तर दिया।

सर फिरोजशाह ने मुन्शी को हुक्म दिया कि उतने बजे जाकर मुझसे भाषण ले आवे और रातों-रात उसे छपा ले। इसके बाद मुझे विदा किया।

दूसरे दिन सभा में गया। मैंने देखा कि लिखित भाषण पढ़ने सलाह कितनी बुद्धिमत्तापूर्ण थी। फ्रामजी कावसजी इन्स्टीट्यूट के हॉ में सभा थी। मैंने सुन रक्खा था कि सर फिरोजशाह के भाषण में सभ भवन में खड़े रहने को जगह न मिलती थी। विद्यार्थी लोग खूब दिल चस्पी लेते थे।

ऐसी सभा का यह मुझे पहला अनुभव था। मुझे विश्वास होगय कि मेरी आवाज लोगों तक नहीं पहुँच सकती। काँपते-काँपते मैंने अपन भाषण शुरू किया। सर फिरोजशाह मुझे उत्साहित करते जाते—'हाँ जरा और ऊँची आवाज में !' ज्यों-ज्यों वह ऐसा कहते त्यों-त्यों मेर आवाज गिरती जाती थी।

मेरे पुराने मित्र केशवराव देशपाण्डे मेरी मदद के लिए दौड़े। मैं उनके हाथ में भाषण सौंपकर छुट्टी पाई। उनकी आवाज थी तो बुलन्द, पर प्रेक्षक क्यों सुनने लगे ? 'वाचा', 'वाचा' की पुकार से हाल गूँज उठा अब वाचा उठे। उन्होंने देशपांडे के हाथ से कागज लिया और मेरा काम बन गया। सभा में तुरन्त सन्नाटा छागया और लोगों ने अब से इति

तक भाषण सुना। मामूल के मुताबिक प्रसगानुसार 'शर्म'-'शर्म' की अथवा करतल-ध्वनि हुई। सभा के इस फल से मैं खुश हुआ।

सर फिरोजशाह को भाषण पसन्द आया। मुझे गगा नहाने के बराबर सतोप हुआ।

इस सभा के फल-स्वरूप देशपाडे तथा एक पारसी सज्जन ललचाये। पारसी सज्जन आज एक पदाधिकारी हैं, इसलिए उनका नाम प्रकट करते हुए हिचकता हूँ। जज खुरशेदजी ने उनके निश्चय को डाँवाडोल कर दिया। उनकी तह में एक पारसी बहन थी। विवाह करे या दक्षिण अफ्रिका जायँ, यह समस्या उनके सामने थी। अन्त को विवाह कर लेना ही उन्होंने अधिक उचित समझा, परन्तु इन पारसी मित्र की तरफ से पारसी रुस्तमजी ने प्रायश्चित किया। और पारसी बहन की ओर से दूसरी पारसी बहनें सेविका बनकर, खादी के लिए वैराग्य लेकर, प्रायश्चित कर रही हैं। इस कारण इस दम्पती को मैंने माफ कर दिया है। देशपाडे को विवाह का प्रलोभन तो न था; पर वह भी न आ सके। इसका प्रायश्चित्त वह खुद ही कर रहे हैं। लौटती बार रास्ते में जजीबार पड़ता था। वहाँ एक तैयबजी से मुलाकात हुई। उन्होने भी आने की आशा दिलाई थी, पर वे भला दक्षिण अफ्रिका क्यो आने लगे? उनके न आने के गुनाह का बदला अब्बास तैयबजी चुका रहे हैं, परन्तु बैरिस्टर मित्रो को दक्षिण अफ्रिका आने के लिए लुभाने के मेरे प्रयत्न इस तरह विफल हुए।

यहाँ मुझे पेस्तनजी पादशाह याद आते हैं। विलायत से ही उनका मेरा मधुर सम्बन्ध होगया था। पेस्तनजी से मेरा परिचय लन्दन के अन्नाहारी भोजनालय में हुआ था। उनके भाई बरजोरजी दीवान प्रख्यात थे। मैंने उनकी ख्याति सुनी थी, पर मिला न था, परन्तु मित्र लोग कहते, वह 'चक्रम' (सनकी) हैं। घोड़े पर दया खाकर ट्राम पर नहीं बैठते। शतावधानी की तरह स्मरण-शक्ति होते हुए भी डिग्री के फेर में नही पडते। इतने आज़ाद मिजाज कि किसी के दम-झाँसे में नही आते और पारसी होते हुए भी अन्नाहारी! पेस्तनजी की डिग्री इतनी बढी हुई नही

समझी जाती थी, पर फिर भी उनका बुद्धि-वैभव प्रसिद्ध था। विलायत में भी उनकी ऐसी ही ख्याति थी, परन्तु उनके-मेरे सम्बन्ध का मूल तो था उनका अन्नाहार। उनके बुद्धि-वैभव का मुकाबला करना मेरी सामर्थ्य के बाहर था।

बम्बई में मैंने पेस्तनजी को खोज निकाला। वह प्रोथोनोटरी थे। जब मै मिला तब वह बृहद् गुजराती शब्द-कोष के काम में लगे हुए थे। दक्षिण अफ्रिका के काम में मदद लेने के सम्बन्ध मे मैंने एक भी मित्र को टटोले बिना नही छोड़ा था। पेस्तनजी पादशाह ने तो मुझे ही उलटे दक्षिण अफ्रिका न जाने की सलाह दी। मैं तो भला आपको क्या मदद दे सकता हूँ, पर मुझे तो आपका ही वापस लौटना पसन्द नहीं। यहीं, अपने देश मे ही, क्या कम काम हैं? देखिए, अभी अपनी मातृ-भाषा की सेवा का ही कितना क्षेत्र सामने पड़ा हुआ है? मुझे विज्ञान-सम्बन्धी शब्दो के पर्याय खोजना हैं। यह हुआ एक काम। देश की गरीबी का विचार कीजिए। हाँ, दक्षिण अफ्रिका में हमारे लोगो को कष्ट है, पर उसमें आप जैसे लोग खप जायें, वह मुझे बरदाश्त नही हो सकता। यदि हम यहीं राज-सत्ता अपने हाथ में ले सकें तो वहाँ उनकी मदद अपने आप हो जायगी। आपको शायद मैं न समझा सकूँगा, परन्तु दूसरे सेवकों को आपके साथ ले जाने में मैं आपको हरगिज सहायता न दूँगा। ये बातें मुझे अच्छी तो न लगी, परन्तु पेस्तनजी पादशाह के प्रति मेरा आदर बढ़ गया। उनका देश-प्रेम देखकर मैं मुग्ध होगया। उस प्रसग के बदौलत मेरी उनकी प्रेम-गाठ मजबूत होगई। उनके दृष्टि-बिन्दु को मै ठीक-ठीक समझ गया, परन्तु दक्षिण अफ्रिका के काम को छोड़ने के बदले, उनकी दृष्टि से भी, मुझे तो उसी पर दृढ होना चाहिए—यह मेरा विचार हुआ। देश-प्रेमी एक भी अंग को, जहाँतक हो, न छोड़ेगा। और मेरे सामने तो गीता का श्लोक तैयार ही था—

> श्रेयान्स्वधर्मो विगुण परधर्मात्स्वनुष्ठितात्
> स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावह ॥[1]

[1] अध्याय ३ श्लोक ३५

बढ़े-चढ़े हर-धर्म से घटिया स्वधर्म अच्छा है। स्वधर्म में मौत भी उत्तम है, पर धर्म तो भयकर्त्ता है।

: २८ :

पूना में

सर फिरोजशाह ने मेरा रास्ता सरल कर दिया। बम्बई से मैं पूना गया। मैं जानता था कि पूना में दो पक्ष थे, पर मुझे सबकी सहायता की जरूरत थी। पहले मैं लोकमान्य से मिला। उन्होंने कहा—

"सब दलों की सहायता प्राप्त करने का आपका विचार ठीक है। आपके प्रश्न के सम्बन्ध में मत-भेद हो नहीं सकता, परन्तु आपके काम के लिए किसी तटस्थ सभापति की आवश्यकता है। आप प्रोफेसर भाडारकर से मिलिए। योतो वह आजकल किसी हलचल में पड़ते नहीं हैं, पर शायद इस काम के लिए 'हाँ' कर लें। उनसे मिलकर नतीजे की खबर मुझे दीजिएगा। मैं आपको पूरी-पूरी सहायता देना चाहता हूँ। आप प्रोफेसर गोखले से भी अवश्य मिलिएगा। मुझसे जब कभी मिलने की इच्छा हो जरूर आइएगा।"

लोकमान्य के यह मुझे पहले दर्शन थे। उनकी लोक-प्रियता का कारण मैं तुरन्त समझ गया।

यहाँ से मैं गोखले के पास गया। वह फर्ग्यूसन कालेज में थे। बड़े प्रेम से मुझसे मिले और मुझे अपना बना लिया। उनका भी यह प्रथम ही परिचय था, पर ऐसा मालूम हुआ मानो हम मिल चुके हों। सर फिरोजशाह मुझे हिमालय-जैसे मालूम हुए; लोकमान्य समुद्र की तरह मालूम हुए। गोखले गंगा की तरह मालूम हुए, उनमें मैं नहा सकता था। हिमालय पर चढ़ना मुश्किल है, समुद्र में डूबने का भय रहता है, पर गंगा की गोदी में खेल सकते हैं, उसमें डोंगी पर चढ़कर तैर सकते हैं। गोखले ने खोद-खोद कर बातें पूछीं—जैसी कि मदरसे में भरती होते समय विद्यार्थी से पूछी जाती है। किस-किस से मिलूँ और किस

प्रकार मिलूँ, यह बताया और मेरा भाषण देखने के लिए माँगा। मुझे अपने कालेज की व्यवस्था दिखाई। कहा—'जब मिलना हो, खुशी से मिलना और डाक्टर भाण्डारकर का उत्तर मुझे जताना।' फिर मुझे विदा किया। राजनीतिक क्षेत्र में गोखले ने जीते-जी जैसा आसन मेरे हृदय में जमाया और जो उनके देहान्त के बाद अब भी जमा हुआ है वैसा फिर कोई न जमा सका।

रामकृष्ण भाण्डारकर मुझसे उसी तरह पेश आये, जिस तरह पिता पुत्र से पेश आता है। मैं दोपहर के समय उनके यहाँ गया था। ऐसे समय भी मैं अपना काम कर रहा था, यह बात इस परिश्रमी शास्त्रज्ञ को प्रिय हुई और तटस्थ अध्यक्ष बनाने के मेरे आग्रह पर ('दैट्स इट', 'दैट्स इट') 'यही ठीक है', 'यही ठीक है' उद्‌गार सहज ही उनके मुँह से निकल पड़े।

बातचीत के अन्त में उन्होंने कहा—'तुम किसी से भी पूछोगे तो वह कह देगा कि आजकल मैं किसी भी राजनीतिक काम में नहीं पड़ता हूँ, परन्तु तुमको मैं विमुख नहीं कर सकता। तुम्हारा मामला इतना मजबूत है और तुम्हारा उद्यम इतना स्तुत्य है कि मैं तुम्हारी सभा में आने से इन्कार नहीं कर सकता। श्रीयुत तिलक और श्रीयुत गोखले से तुम मिल ही लिये हो, यह अच्छा हुआ। उनसे कहना कि दोनों पक्ष जिस सभा में मुझे बुलावेंगे, मैं आजाऊँगा और अध्यक्ष-स्थान ग्रहण कर लूँगा। समय के बारे में मुझसे पूछने की आवश्यकता नहीं। जो समय दोनों पक्षों को अनुकूल होगा उसकी पाबन्दी मैं कर लूँगा।' यह कहकर मुझे धन्यवाद और आशीर्वाद देकर उन्होंने विदा किया।

बिना कुछ गुल-गपाड़े के, बिना कुछ आडम्बर के, एक सादे मकान में पूना के इन विद्वान् और त्यागी मण्डल ने सभा की और मुझे पूरा-पूरा प्रोत्साहन देकर बिदा किया।

वहाँ से मद्रास गया। मद्रास तो पागल हो उठा। बालासुन्दरम् के किस्से का वहाँ गहरा असर सभा पर पड़ा। मेरा भाषण कुछ लम्बा था, पर था सब छपा हुआ। एक-एक शब्द सभा ने मन लगा कर सुना।

सभा के अन्त में उस हरी पुस्तिका पर लोग टूट पडे। मदरास में कुछ घटा-बढाकर उसका दूसरा सस्करण दस हजार का छपवाया। उसका बहुताश निकल गया, पर मैंने देखा कि दस हजार की जरूरत न थी, लोगो के उत्साह को मैंने अधिक आंक लिया था। मेरे भाषण का असर तो अग्रेजी बोलने वालो पर ही हुआ था और अकेले मदरास में अग्रेजीदाँ लोगो के लिए दस हजार प्रतियो की आवश्यकता न थी।

यहाँ मुझे बडी-से-बडी सहायता स्वर्गीय जी० परमेश्वर पिल्ले से मिली। वह 'मदरास स्टैंडर्ड' के सम्पादक थे। उन्होने इस प्रश्न का अच्छा अध्ययन कर लिया था। वह बार-बार अपने दफ्तर में बुलाते और सलाह देते। 'हिन्दू' के जी० सुब्रह्मण्यम् से भी मिला था। उन्होने तथा डा० सुब्रह्मण्यम् ने भी पूरी-पूरी हमदर्दी दिखाई, परन्तु जी० परमेश्वरन् पिल्ले ने तो अपना अखबार इस काम के लिए मानो मेरे हवाले ही कर दिया और मैंने भी दिल खोलकर उसका उपयोग किया। सभा पाच्याप्पा-हाल में हुई थी और डा० सुब्रह्मण्यम् अध्यक्ष हुए थे, ऐसा मुझे स्मरण है।

मदरास मे मैंने बहुतो का प्रेम और उत्साह इतना देखा कि यद्यपि वहाँ सबके साथ मुख्यत अग्रेजी मे ही बोलना पडता था फिर भी मुझे घर के जैसा ही मालूम हुआ। सच है, प्रेम किन बन्धनो को नही तोड सकता।

: २९ :

'जल्दी लौटो'

मदरास से मैं कलकत्ता गया। कलकत्ते में मेरी कठिनाइयो की सीमा न रही। वहाँ 'ग्रेण्ड ईस्टर्न' होटल में उतरा। न किसी से जान न पहचान। होटल में 'डेली टेलीग्राफ' के प्रतिनिधि मि० एलर थार्प से पहचान हुई। वह रहते थे बगाल क्लब में। वहाँ उन्होने मुझे बुलाया। उस समय उन्हे पता न था कि होटल के दीवानखाने में कोई हिन्दुस्तानी नही जा सकता। बादको उन्हे इस रुकावट का हाल मालूम हुआ। इसलिए वह मुझे

अपने कमरे में ले गये। भारतवासियों के प्रति स्थानीय अंग्रेजों के इस हेय-भाव को देखकर उन्हें खेद हुआ। दीवानखाने में न ले जा सकने के लिए उन्होंने मुझसे माफी मांगी।

'बंगाल के देव' सुरेन्द्रनाथ बनर्जी से तो मिलना ही था। उनसे जब मैं मिलने गया तब दूसरे मिलने वाले उन्हें घेरे हुए थे। उन्होंने कहा—"मुझे अंदेशा है कि आपकी बात में यहां के लोग दिलचस्पी न लेंगे। आप देखते ही हैं कि यहां हम लोगों को कम मुसीबतें नहीं हैं। फिर भी आपको तो भरसक कुछ-न-कुछ करना ही है। इस काम में आपको महाराजाओं की मदद की जरूरत होगी। 'ब्रिटिश इण्डिया एसोसियेशन' के प्रतिनिधियों से मिलिएगा। राजा सर प्यारीमोहन मुकर्जी और महाराजा टागोर से भी मिलिएगा। दोनों उदार-हृदय हैं और सार्वजनिक कामों में अच्छा भाग लेते हैं।" मैं इन सज्जनों से मिला; पर वहां मेरी दाल न गली। दोनों ने कहा—'कलकत्ता में सभा करना आसान बात नहीं, पर यदि करना ही हो तो उसका बहुत-कुछ दारोमदार सुरेन्द्रनाथ बनर्जी पर है।'

मेरी कठिनाइयां बढ़ती जाती थीं। 'अमृतबाजार पत्रिका' के दफ्तर में गया। वहां भी जो सज्जन मिले उन्होंने मान लिया कि मैं कोई रमता-राम वहां आ पहुंचा हूंगा। 'बंगवासी' वालों ने तो हद कर दी। मुझे एक घण्टे तक तो बिठाये ही रक्खा। औरों के साथ तो सम्पादक महोदय बातें करते जाते, पर मेरी ओर आंख उठाकर भी न देखते। एक घण्टा राह देखने के बाद मैंने अपनी बात उनसे छेड़ी। तब उन्होंने कहा—'आप देखते नहीं, हमें कितना काम रहता है? आपके जैसे कितने ही यहां आते रहते हैं। आप चले जायं, यही अच्छा है। हम आपकी बात सुनना नहीं चाहते।' मुझे जरा देर के लिए रंज तो हुआ, पर मैं सम्पादक का दृष्टि-बिन्दु समझ गया। 'बंगवासी' की ख्याति भी सुनी थी। मैं देखता था कि उनके पास आने-जाने वालों का तांता लगा रहता था। वे सब उनके परिचित थे। उनके अखबार के लिए विषयों की कमी न थी। दक्षिण अफ्रिका का नाम तो उन दिनों में नया ही सुना था। नित नये

आदमी आकर अपनी कष्ट-कथा उन्हे सुनाते । अपना-अपना दुख हरेक के लिए सबसे बडा सवाल था, परन्तु सम्पादक के पास ऐसे दुखियो का अड्डा लगा रहता । बेचारा सबको तसल्ली कैसे दे सकता है ! फिर दुखी आदमी के लिए तो सम्पादक की सत्ता एक भारी बात होती है । यह दूसरी बात है कि सम्पादक जानता रहता है कि मेरी सत्ता दफ्तर के दरवाजे के बाहर पैर नही रख सकती ।

पर मैने हिम्मत न हारी । दूसरे सम्पादको से मिला । अपने मामूल के माफिक अग्रेजो से भी मिला । 'स्टेटस्मैन' और 'इग्लिशमैन' दोनो दक्षिण अफ्रिका के प्रश्न का महत्त्व समझते थे । उन्होने मेरी लम्बी-लम्बी बातचीत छापी । 'इग्लिशमैन' के मि० साण्डर्स ने मुझे अपनाया । उनका दफ्तर मेरे लिए खुला था, उनका अखबार मेरे लिए खुला था । अपने अग्रलेख में कमी-बेशी करने की भी छूट उन्होने मुझे दे दी । यह भी कहूँ तो अत्युक्ति नही कि उनका-मेरा खासा स्नेह होगया । उन्होने भरसक मदद देने का वचन दिया । मुझसे कहा कि दक्षिण अफ्रिका जाने के बाद भी मुझे पत्र लिखिएगा और वचन दिया कि मुझसे जो-कुछ हो सकेगा करूँगा । मैने देखा कि उन्होने अपना यह वचन अक्षरश पाला, और जब तक कि उनकी तबीयत खराब न हो गई, उन्होने मेरे साथ चिट्ठी-पत्री जारी रक्खी । मेरी जिन्दगी में ऐसे अकल्पित मीठे सम्बन्ध अनेक हुए है । मि० साण्डर्स को मेरे अन्दर जो सबसे अच्छी बात लगी वह थी अत्युक्ति का अभाव और सत्य-परायणता । उन्होने मुझसे जिरह करने में कोरकसर न रक्खी थी । उसमें उन्होने अनुभव किया कि दक्षिण अफ्रिका के गोरो के पक्ष को निष्पक्ष होकर पेश करने में तथा उनके तौलने में मैने कोई कमी नही रक्खी थी ।

मेरा अनुभव कहता है कि प्रतिपक्षी के साथ न्याय करके हम अपने लिए जल्दी न्याय प्राप्त कर सकते है ।

इस प्रकार मुझे अकल्पित सहायता मिल जाने से कलकत्ते में भी सभा करने की आशा बँधी, पर इसी अरसे में डरबन से तार मिला— 'पार्लमेण्ट की बैठक जनवरी में होगी, जल्दी लौटो ।'

इस कारण अखबारो में इस आशय की एक चिट्ठी लिखकर कि मुझे दक्षिण अफ्रिका चला जाना जरुरी है, मैंने कलकत्ता छोडा और दादा अबदुल्ला के एजेण्ट को तार दिया कि पहले जहाज से जाने का इन्तजाम करो। दादा अबदुल्ला ने खुद 'कुरलैण्ड' जहाज खरीद लिया था। उसमें उन्होंने मुझे तथा मेरे बालबच्चो को ले जाने का आग्रह किया। मैंने धन्यवाद सहित स्वीकार किया और दिसम्बर के आरम्भ में 'कुरलैण्ड' में अपनी धर्म-पत्नी, दो बच्चे और स्वर्गीय बहनोई के इकलौते पुत्र को लेकर दूसरी बार दक्षिण अफ्रिका रवाना हुआ। इस जहाज के साथ ही 'नादरी' नामक एक और जहाज डरबन रवाना हुआ। उसके एजेण्ट दादा अबदुल्ला थे। दोनो जहाजो में मिलकर कोई ८०० यात्री थे। उनमें आधे से अधिक यात्री ट्रान्सवाल जाने वाले थे।

तीसरा भाग

: १ :

तूफान के चिन्ह

परिवार के साथ यह मेरी प्रथम जल-यात्रा थी। मैने कई वार लिखा है कि हिन्दू-ससार मे विवाह वचपन मे हो जाने से तथा मध्यमवर्ग के लोगो मे पति के वहुताश मे साक्षर और पत्नी के निरक्षर होने के कारण 'पति-पत्नी' के जीवन मे वडा अन्तर रहता है, और पति को पत्नी का शिक्षक वनना पडता है। मुझे अपनी धर्म-पत्नी के तथा वालको के लिवास पर, खान-पान पर, तथा वोल-चाल पर ध्यान रखने की आवश्यकता थी। मुझे उन्हे रहन-सहन और रीति-नीति सिखानी थी। उस समय की कितनी वाते याद करके मुझे अव हँसी आजाती है। हिन्दू-पत्नी पति-परायणता को अपने धर्म की पराकाष्ठा समझती है। हिन्दू-पति अपने-को पत्नी का ईश्वर मानता है। इस कारण पत्नी को जैसा वह नचावे नाचना पडता है।

मै जिस समय की वात लिख रहा हूँ उस समय मै मानता था कि सुधार हुआ समझा जाने के लिए हमारा वाह्याचार जहाँतक हो यूरोपियनो से मिलता-जुलता होना चाहिए। ऐसा करने से ही रौव पडता है और रौव पडे विना देश-सेवा नही हो सकती।

इस कारण पत्नी तथा वालको का पहनावा मैने ही पसन्द किया। वालको इत्यादि को लोग कहे कि काठियावाड के वनिये है, तो यह कैसे सुहा सकता था? पारसी अधिक-से-अधिक सुधरे हुए माने जाते है। इस कारण जहाँ यूरोपियन पोशाक का अनुकरण करना ठीक न मालूम हुआ वहाँ पारसी का किया। पत्नी के लिए पारसी तर्ज की साडियाँ ली।

बच्चों के लिए पारसी कोट-पतलून लिये। सबके लिए बूट-मोजे तो अवश्य चाहिएँ। पत्नी को तथा बच्चो को दोनो चीजें कई महीनो तक पसन्द न हुई। बूट काटते, मोजे बदबू करते, पैर तंग रहते। इन अड़चनो का उत्तर मेरे पास तैयार था। और उत्तर के औचित्य की अपेक्षा हुक्म का बल तो अधिक था ही। इसलिए लाचार होकर पत्नी तथा बच्चो ने पोशाक-परिवर्तन को स्वीकार किया। उतनी ही बेबसी और उससे भी अधिक अनमने होकर भोजन के समय छुरी-कांटे का इस्तैमाल करने लगे। जब मेरा मोह उतरा तब फिर उन्हें बूट-मोजे, छुरी-कांटे इत्यादि छोडने पडे। यह परिवर्तन जिस प्रकार दु खदायी था उस प्रकार एक बार आदत पड जाने के बाद फिर उसको छोडना भी दु खकर था, पर अब मैं देखता हूँ कि हम सब सुधारो की केंचुल को छोडकर हल्के होगये हैं।

इसी जहाज में दूसरे सगे-सम्बन्धी तथा परिचित लोग थे। उनके तथा डेक के दूसरे यात्रियो के भी परिचय में मैं खूब आता। एक तो मवक्किल और फिर मित्र का जहाज, घर के जैसा मालूम होता और मैं हर जगह जी चाहता जा सकता था।

जहाज दूसरे बन्दरो पर ठहरे बिना ही नेटाल पहुँचने वाला था। इसलिए सिर्फ १८ दिन की यात्रा थी। मानो हमारे पहुँचते ही भारी तूफान की चेतावनी देने के लिए, हमारे पहुँचने के तीन-चार दिन पहले समुद्र में भारी तूफान उठा। इस दक्षिण प्रदेश में दिसम्बर मास में गरमी और बरसात का समय होता है। इस कारण दक्षिण समुद्र में इन दिनो छोटे-बडे तूफान अक्सर उठा करते हैं। तूफान इतने जोर का था और इतने दिनो तक रहा कि मुसाफिर घबरा गये।

यह दृश्य भव्य था। दु ख में सब एक होगये। भेद-भाव भूल गये। ईश्वर को सच्चे हृदय से स्मरण करने लगे। हिन्दू-मुसलमान सब साथ मिलकर ईश्वर को याद करने लगे। कितनो ने मानतायें मानीं। कप्तान भी यात्रियो में आकर आश्वासन देने लगा कि यद्यपि तूफान जोर का है, फिर भी इससे बडे-बड़े तूफानो का अनुभव मुझे है। जहाज यदि मजबूत हो तो एकाएक डूबता नहीं। इस तरह उसने मुसाफिरो को बहुत

समझाया, पर उन्हें किसी तरह तसल्ली न होती थी। जहाज में से ऐसी-ऐसी आवाजें निकलती, मानो जहाज अभी कहीं-न-कहीं से टूट पड़ता है—अभी कहीं छेद होता है। डोलता इतना था कि, मानो अभी उलट जायगा। डेक पर तो खड़ा रहना ही मुश्किल था। 'ईश्वर जो करे सो सही' इसके सिवा दूसरी बात किसी के मुँह से न निकलती।

मुझे जहाँ तक याद है, ऐसी चिन्ता में चौबीस घण्टे बीते होंगे। अत को बादल बिखरे, सूर्यनारायण ने दर्शन दिये। कप्तान ने कहा—'अब तूफान जाता रहा।'

लोगो के चेहरो से चिन्ता दूर हुई, और उसके साथ ही ईश्वर भी न जाने कहाँ चला गया। मौत का डर दूर हुआ और उसके साथ ही फिर गान-तान, खान-पान शुरू होगया, फिर वही माया का आवरण चढ गया। अब भी नमाज पढी जाती, भजन होते, परन्तु तूफान के अवसर पर उसमें जो गम्भीरता दिखाई देती थी, वह न रही।

परन्तु इस तूफान के बदौलत मैं यात्रियो में हिल-मिल गया था। यह कह सकते हैं कि मुझे तूफान का भय न था अथवा कम-से-कम था। प्राय इसी तरह के तूफान मैं पहले देख चुका था। जहाज में मेरा जी नहीं मिचलाता, चक्कर नहीं आते, इसलिए मुसाफिरो में मैं निर्भय होकर घूम-फिर सकता था। उन्हे आश्वासन दे सकता था और कप्तान के सदेश उन तक पहुँचाता था। यह स्नेह-गाँठ मुझे बहुत उपयोगी साबित हुई।

हमने १८ या १९ दिसम्बर को डरबन के बन्दर पर लगर डाला और 'नादरी' भी उसी दिन पहुँचा। पर सच्चे तूफान का अनुभव तो अभी होना बाकी ही था।

: २ :

तूफान

अठारह दिसम्बर के आस-पास दोनो जहाजो ने लगर डाला। दक्षिण अफ्रिका के बन्दरो में यात्रियो की पूरी-पूरी डाक्टरी जाँच होती है। यदि

रास्ते में किसी को कोई संक्रामक रोग होगया हो तो जहाज सूतक में—क्वारन्टीन में—रक्खा जाता है। हमने जब बम्बई छोड़ा तब वहाँ प्लेग फैल रहा था। इसलिए हमें सूतक-बाधा होने का कुछ तो भय था ही। बंदर में लंगर डालने के बाद सबसे पहले जहाज पीला झण्डा फहराता है। डाक्टरी जाँच के बाद जब डाक्टर छुट्टी देता है तब पीला झण्डा उतरता है, फिर मुसाफिरों के नाते-रिश्तेदारों को जहाज पर आने की छुट्टी मिलती है।

इसके मुताबिक हमारे जहाज पर भी पीला झण्डा लहरा रहा था। डाक्टर आये। जाँच करके पाँच दिन के सूतक का हुक्म दिया, क्योंकि उनकी यह धारणा थी कि प्लेग के जन्तु २३ दिन तक कायम रहते हैं। इसलिए उन्होंने यह तय किया कि बम्बई छोड़ने के बाद २३ दिन तक यात्रियों को सूतक में रखना चाहिए।

परन्तु इस सूतक के हुक्म का हेतु केवल आरोग्य न था। डरबन के गोरे हमारे फिर वापस न लौटने की हलचल मचा रहे थे। इस हुक्म में यह बात भी कारणीभूत थी।

दादा अबदुल्ला की ओर से हमें शहर की इस हलचल की खबरें मिला करती थीं। गोरे एक के बाद एक विराट् सभायें कर रहे थे। दादा अबदुल्ला को धमकियाँ भेज रहे थे। उन्हें लालच भी दिखाते थे। यदि दादा अबदुल्ला दोनों जहाजों को वापस लौटा दें तो उन्हें सारा हरजाना देने को तैयार थे। दादा अबदुल्ला किसीकी धमकियों से डरने वाले न थे। इस समय वहाँ सेठ अबदुलकरीम हाजी आदम दूकान पर थे। उन्होंने प्रतिज्ञा कर रक्खी थी कि चाहे जितना नुकसान हो, मैं जहाज को बन्दर पर लाकर मुसाफिरों को उतरवा कर छोड़ूँगा। मुझे वह सविस्तर पत्र हमेशा लिखा करते। तकदीर से इस बार स्वर्गीय मनसुखलाल हीरालाल नाजर मुझे मिलने डरबन से आ पहुँचे थे। वह बड़े चतुर और जवाँमर्द आदमी थे। उन्होंने लोगों को उतरने की सलाह दी। उनके वकील मि० लाटन थे। वह भी वैसे ही बहादुर आदमी थे। उन्होंने गोरों के काम की खूब निन्दा की, और लोगों को जो सलाह दी वह केवल वकील की हैसियत से फीस

लेने के लिए नही, बल्कि एक सच्चे मित्र के तौर पर दी थी।

इस तरह डरवन में द्वन्द्व-युद्ध छिडा। एक ओर बेचारे मुट्ठी भर भारतवासी और उनके इने-गिने अंग्रेज मित्र, तथा दूसरी ओर धन-बल, बाहुबल, अक्षर-बल और सख्या-बल में भरे-पूरे अग्रेज। फिर इस बलशाली प्रतिपक्षी के साथ सत्ता-बल भी मिल गया, क्योंकि नेटाल-सरकार ने प्रकट-रूप से उसकी सहायता की। मि० हैरी एस्कम्ब जो प्रधान-मडल में थे और उसके कर्त्ता-धर्त्ता थे, उन्होने इस मण्डल की सभा मे खुले तौर पर भाग लिया था।

इसलिए हमारा सूतक केवल आरोग्य के नियमो का ही अहसानमन्द न था। बात यह थी कि एजेण्ट को अथवा यात्रियो को किसी-न-किसी बहाने तग करके हमें वापस लौटाने की तजवीज थी। एजेण्ट को तो धमकी दी ही गई थी। अब हमें भी धमकियाँ दी जाने लगी—'यदि तुम लोग वापस न लौटोगे तो समुद्र में डुबो दिये जाओगे। यदि लौट जाओगे तो शायद लौटने का किराया भी मिल जायगा।' मै मुसाफिरो में खूब घूमा-फिरा और उन्हें धीरज-दिलासा देता रहा। 'नादरी' के यात्रियो को भी धीरज के सदेश भेजे। मुसाफिर शान्त रहे और उन्होने हिम्मत दिखाई।

मुसाफिरो के मनोविनोद के लिए जहाज में तरह-तरह के खेलो की व्यवस्था थी। क्रिसमस के दिन आये। कप्तान ने उन दिनो पहले दरजे के मुसाफिरो को भोज दिया। यात्रियो में मुख्यत तो मै और मेरे बाल-बच्चे ही थे। भोजन के बाद व्याख्यान का नम्बर आया। मैंने पश्चिमी सुधारो पर व्याख्यान दिया। मै जानता था कि यह अवसर गम्भीर भाषण के अनुकूल नही है; पर मै दूसरी तरह का भाषण कर ही नही सकता था। विनोद और आमोद-प्रमोद की बातो में मै शरीक तो होता था, पर मेरा दिल तो डरबन में छिडे सग्राम की ओर लग रहा था।

इस हमले का मध्यबिंदु मै ही था। मुझपर दो इलजाम थे—

(१) हिन्दुस्तान में मैंने नेटाल के गोरो की अनुचित निन्दा की है, और—

(२) मैं नेटाल को हिन्दुस्तानियों से भर देना चाहता हूँ। इस लिए 'कुरलैण्ड' और 'नादरी' में खासतौर पर नेटाल में बसाने के लिए हिन्दुस्तानियों को भर लाया हूँ।

मुझे अपनी जिम्मेदारी का खयाल था। मेरे कारण दादा अब्दुल्ला ने बड़ी जोखिम सिर पर ले ली थी। मुसाफिरों की भी जान जोखिम में थी, मैंने अपने बाल-बच्चों को साथ लाकर उन्हें भी दुःख में डाल दिया था। फिर भी मैं था सब तरह निर्दोष। मैंने किसीको नेटाल जाने के लिए ललचाया न था। 'नादरी' के यात्रियों को तो मैं जानता तक न था। 'कुरलैंड' में अपने दो-तीन रिश्तेदारों के अलावा और जो सैंकड़ों मुसाफिर थे, उनके तो नाम-ठाम तक न जानता था। मैंने हिन्दुस्तान में नेटाल के अंग्रेजों के सम्बन्ध में ऐसा एक भी अक्षर न कहा था, जो नेटाल में न कह चुका था, और जो मैंने कहा था उसके लिए मेरे पास बहुतेरे सबूत थे।

इस कारण उस संस्कृति के प्रति, जिसकी उपज नेटाल के गोरे थे, जिसके वे प्रतिनिधि और हामी थे। मेरे मन में बड़ा खेद उत्पन्न हुआ। उसीका विचार करता रहा था। और इस कारण उसीके सम्बन्ध में अपने विचार मैंने इस छोटी-सी सभा में पेश किये और श्रोताओं ने उन्हें सहन भी किया। जिस भाव से मैंने उन्हें पेश किया था उसी भाव से कप्तान इत्यादि ने उन्हें ग्रहण किया था। मैं यह नहीं जानता कि उनके कारण उन्होंने अपने जीवन में कोई परिवर्तन किया या नहीं, पर इस भाषण के बाद कप्तान तथा दूसरे अधिकारियों के साथ पश्चिमी संस्कृति के सम्बन्ध में मेरी बहुतेरी बातें हुईं। पश्चिमी-संस्कृति को मैंने प्रधानतः हिंसक बताया; पूर्व की संस्कृति को अहिंसक। प्रश्नकर्ताओं ने मेरे सिद्धान्त मुझीपर घटाये। शायद, बहुत करके, कप्तान ने पूछा—'गोरे लोग जैसी धमकियां दे रहे हैं उसीके अनुसार यदि वे आपको हानि पहुँचावें तो आप फिर अपने अहिंसा-सिद्धान्त का पालन किस तरह से करेंगे?'

मैंने उत्तर दिया—'मुझे आशा है कि उन्हें माफ कर देने की तथा उनपर मुकदमा न चलाने की हिम्मत और बुद्धि ईश्वर मुझे दे देगा। आज भी मुझे उनपर रोष नहीं है। उनके अज्ञान तथा उनकी संकुचित दृष्टि-

और मुझे अफसोस होता है, पर मैं यह मानता हूँ कि वे शुद्ध-भाव से यह मान रहे हैं कि हम जो-कुछ कर रहे हैं वह ठीक है, और इसलिए मुझे उनपर रोष करने का कारण नहीं।"

पूछने वाला हँसा। शायद उसे मेरी बात पर भरोसा न हुआ।

इस तरह हमारे दिन गुजरे और बढ़ते गये। सूतक बन्द करने की मियाद अन्त तक मुकर्रर न हुई। इस विभाग के कर्मचारी से पूछता तो कहता—"यह बात मेरे इख्तियार के बाहर है। सरकार मुझे जब हुक्म देगी तब मैं उतरने दे सकता हूँ।"

अन्त को मुसाफिरों के और मेरे पास आखिरी चेतावनियाँ आईं। दोनों को धमकियाँ दी गई थीं कि अपनी जान को खतरे में समझो। जवाब में हम दोनों ने लिखा कि नेटाल के बन्दर में उतरने का हमें हक हासिल है, और चाहे जैसा खतरा क्यों न हो, हम अपने हक पर कायम रहना चाहते हैं।

अन्त को तेईसवें दिन अर्थात् १३ जनवरी को जहाज को इजाजत मिली और मुसाफिरों को उतरने देने की आज्ञा प्रकाशित होगई।

: ३ :

कसौटी

जहाज धक्के पर आया। मुसाफिर उतरे, परन्तु मेरे लिए मि० ऐस्कम्ब ने कप्तान से कहला दिया था कि गांधी को तथा उनके बाल-बच्चों को शाम को उतारिएगा। गोरे उनके खिलाफ बहुत उभरे हुए हैं, और उनकी जान खतरे में है। धक्के के सुपरिण्टेण्डेण्ट टैटम उन्हें शाम को लिवा ले जायँगे।

कप्तान ने मुझे इस सन्देश का समाचार सुनाया। मैंने उसके अनुसार करना स्वीकार किया, परन्तु इस सन्देश को मिले अभी आधा घंटा भी न हुआ होगा कि मि० लाटन आये और कप्तान से मिलकर कहा—"यदि मि० गांधी मेरे साथ आना चाहें तो मैं उन्हें अपनी जिम्मेदारी पर ले

जाना चाहता हूँ। जहाज के एजेण्ट के वकील की हैसियत से मैं आपसे कहता हूँ कि मि० गांधी के सम्बन्ध में जो सन्देश आपको मिला है उससे आप अपने को बरी समझें।" इस तरह कप्तान से बातचीत करके वह मेरे पास आये और कुछ इस प्रकार कहा—"यदि आपको जिन्दगी का डर न हो तो मैं चाहता हूँ कि श्रीमती गांधी और बच्चे गाड़ी में रुस्तमजी सेठ के यहाँ चले जायँ और मैं और आप आम-रास्ते होकर पैदल चलें। रात को अँधेरा पड़ जाने पर चुपके-चुपके शहर में जाना मुझे बिलकुल अच्छा नहीं लगता। अब तो चारों ओर शांति है। गोरे सब इधर-उधर बिखर गये हैं। और मेरा तो यही मत है कि आपका इस तरह छिप कर जाना उचित नहीं।"

मैं सहमत हुआ। धर्म-पत्नी और बच्चे रुस्तमजी सेठ के यहाँ गाड़ी में गये और सही-सलामत जा पहुँचे। मैं कप्तान से विदा माँग कर मि० लाटन के साथ जहाज से उतरा। रुस्तमजी सेठ का घर लगभग दो मील था।

जैसे ही हम जहाज से उतरे, कुछ छोकरों ने मुझे पहचान लिया और वे 'गांधी-गांधी' चिल्लाने लगे। तत्काल दो-चार आदमी इकट्ठे हो गये और मेरा नाम लेकर जोर से चिल्लाने लगे। मि० लाटन ने देखा कि भीड़ बढ़ जायगी, उन्होंने रिक्शा मँगाई। मुझे रिक्शा में बैठना कभी अच्छा न मालूम होता था। मुझे उसका अनुभव यह पहली ही बार होने वाला था। पर छोकरे क्यों बैठने देने लगे? उन्होंने रिक्शा वाले को धमकाकर भगा दिया।

हम आगे चले। भीड़ भी बढ़ती जाती थी। काफ़ी मजमा हो गया। सबसे पहले तो भीड़ ने मुझे मि० लाटन से अलग कर दिया। फिर मुझ-पर कंकड़ और सड़े अडे बरसने लगे। किसी ने मेरी पगड़ी भी गिरा दी और मुझे लातें लगनी शुरू हुईं।

मुझे गश आ गया। नजदीक के घर के सींखचे को पकड़ कर मैंने सहारा लिया। खड़ा रहना तो असम्भव ही था। अब थप्पड़ भी पड़ने लगे।

इतने ही में पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट की पत्नी जो मुझे जानती थी, उधर होकर निकली । मुझे देखते ही वह मेरे पास आ खड़ी हुई, और धूप के न रहते हुए भी अपना छाता मुझ पर तान दिया । इससे भीड़ कुछ दबी । अब अगर वे चोट करते भी तो मिसेज़ अलेकजेण्डर को बचा कर ही कर सकते थे ।

इसी बीच कोई हिन्दुस्तानी, मुझपर हमला होता हुआ देख, पुलिस-थाने पर दौड़ गया । सुपरिण्टेण्डेण्ट अलेकज़ेण्डर ने पुलिस की एक टुकड़ी मुझे बचाने के लिए भेजी । वह समय पर आ पहुँची । मेरा रास्ता पुलिस-चौकी से ही होकर गुज़रता था । सुपरिण्टेण्डेण्ट ने मुझे थाने में ठहर जाने को कहा । मैंने इन्कार कर दिया, कहा—"जब लोग अपनी भूल समझ लेंगे तब शान्त हो जायँगे । मुझे उनकी न्याय-बुद्धि पर विश्वास है ।"

पुलिस की रक्षा मे मैं सही-सलामत पारसी रुस्तमजी के घर पहुँचा । पीठ पर मुझे चोट पहुँची थी । जख्म सिर्फ एक ही जगह हुआ था । जहाज के डाक्टर दादी बरजोर वहीं मौजूद थे । उन्होंने मेरी अच्छी तरह सेवा-शुश्रूषा की ।

इस तरह जहाँ शान्ति थी, वहाँ बाहर से गोरों ने घर को घेर लिया । शाम हो गई थी । अँधेरा हो गया था । हज़ारों लोग बाहर किलकारियाँ मार रहे थे और पुकार रहे थे—"गाँधी को हमारे हवाले कर दो" । मामला सगीन देखकर सुपरिण्टेण्डेण्ट अलेकज़ेण्डर वहाँ पहुँच गये थे और भीड़ को डरा-धमका कर नहीं, बल्कि हँसी-मजाक करते हुए काबू में रख रहे थे ।

फिर भी वह चिन्तामुक्त न थे । उन्होंने मुझे इस आशय का सन्देश भेजा—"यदि आप अपने मित्र के जान-माल को, मकान को तथा अपने बाल-बच्चों को बचाना चाहते हों, तो मैं जिस तरह बताऊँ, आपको छिप कर इस घर से निकल जाना चाहिए ।" एक ही दिन मुझे एक-दूसरे से विपरीत दो काम करने का समय आया । जब कि जान जाने का भय केवल कल्पित मालूम होता था तब मि० लाटन ने मुझे खुले आम बाहर चलने की सलाह दी और मैंने उसे माना; पर जब खतरा आँखों के

सामने था, तब दूसरे मित्र ने इससे उलटी सलाह दी और उसे भी मैंने मान लिया। अब कौन बता सकता है कि मैं अपने जान की जोखिम से डरा अथवा मित्र के जान-माल को या अपने बाल-बच्चों को हानि पहुँचने के डर से, या तीनों के? कौन निश्चय-पूर्वक कह सकता है कि मेरा जहाज ने हिम्मत दिखाकर उतरना और फिर खतरे के प्रत्यक्ष होते हुए छिप कर भाग जाना उचित था? परन्तु जो बातें हो चुकी हैं उनकी इस तरह चर्चा ही फिजूल है। उसमें काम की बातें सिर्फ इतनी है कि जो-कुछ हुआ, उसे समझ लें। उससे जो नसीहत मिल सकती हो, उसे ले लें। किस मौके पर कौन मनुष्य क्या करेगा, यह निश्चय-पूर्वक नहीं कह सकते। उसी तरह हम यह भी देख सकते हैं कि मनुष्य के बाह्याचार से उसके गुण की जो परीक्षा होती है वह अधूरी होती है और अनुमान-मात्र होती है।

जो कुछ हो। भागने की तैयारी में मैं अपनी चोटों को भूल गया। मैंने हिन्दुस्तानी सिपाही की वर्दी पहनी। कहीं सिर पर चोट न लगे, इस अन्देशे से सिर पर एक पीतल की तश्तरी रखली और उसपर मदरासियों का लम्बा साफा लपेटा। साथ में दो जासूस थे, जिनमें एक ने हिन्दुस्तानी व्यापारी का रूप बनाया था; अपना मुँह हिन्दुस्तानी की तरह रंग लिया था। दूसरे ने क्या स्वांग बनाया था, मैं भूल गया हूँ। हम नजदीक की गली से होकर पड़ौस की एक दुकान में पहुँचे, और गोदाम में रक्खे बोरों के ढेर के अँधेरे में बचते हुए दुकान के दरवाजे से निकल भीड़ में होकर बाहर चले गये। गली के मुँह पर गाड़ी खड़ी थी, उसमें बैठकर हम उसी थाने पर पहुँचे जहाँ ठहरने के लिए सुपरिण्टेण्डेण्ट अलेक्जेण्डर ने पहले कहा था। मैंने सुपरिण्टेण्डेण्ट का तथा खुफिया पुलिस के अफसर का एह-सान माना।

इस तरह एक ओर जब मैं दूसरी जगह ले जाया जा रहा था, तब दूसरी ओर सुपरिण्टेण्डेण्ट भीड़ को गीत सुना रहा था, उसका हिन्दी-आशय यह है—

"चलो, इस गांधी को हम इस इमली के पेड़ पर फाँसी लटका दें।"

जब सुपरिण्टेण्डेण्ट को खबर मिल गई कि मैं सही-सलामत मुकाम पर पहुँच गया, तब उन्होंने भीड़ से कहा—"लो, तुम्हारा शिकार तो इस दुकान से होकर सही-सलामत बाहर सटक गया।" यह सुन कर भीड़ मे से कुछ लोग बिगड़े, कुछ हँसे, और बहुतेरो ने तो उनकी बात ही न मानी।

"तो तुममें से कोई जाकर अन्दर देख ले। अगर गाँधी यहाँ मिल जाय, तो उसे मैं तुम्हारे हवाले कर दूँगा, न मिले तो तुमको अपने-अपने घर चले जाना चाहिए। मुझे इतना तो विश्वास है कि तुम पारसी रुस्तमजी के मकान को न जलाओगे और गाँधी के बाल-बच्चो को नुकसान न पहुँचाओगे।' सुपरिण्टेण्डेण्ट ने कहा।

भीड़ ने प्रतिनिधि चुने। प्रतिनिधियो ने भीड़ को निराशा-जनक समाचार सुनाये। सब सुपरिण्टेण्डेण्ट अलेक्जेण्डर की समय-सूचकता और चतुराई की स्तुति करते हुए, और कुछ लोग मन ही मन कुढते हुए, घर चले गये।

स्वर्गीय मि० चेम्बरलेन ने तार दिया कि गाँधी पर हमला करने वालो पर मामला चलाया जाय और ऐसा किया जाय कि गाधी को इन्साफ मिले। मि० ऐस्कम्ब ने मुझे बुलाया। मुझे जो चोटें पहुँची थी, उसके लिए दुःख प्रदर्शित किया, और कहा—"आप यह तो अवश्य मानेंगे कि आपको जरा-भी कष्ट पहुँचने से मुझे खुशी नही हो सकती। मि० लाटन की सलाह मानकर आपने जो उतर जाने का साहस किया, उसका आपको हक था, पर यदि मेरे सन्देश के अनुसार आपने किया होता तो यह दुःखद घटना न हुई होती। अब यदि आप आक्रमणकारियो को पहचान सके, तो मैं उन्हे गिरफ्तार करके मुकदमा चलाने के लिए तैयार हूँ। मि० चेम्बरलेन भी ऐसा ही चाहते है।"

मैंने उत्तर दिया—"मै किसी पर मुकदमा चलाना नही चाहता। आक्रमणकारियो में से एक-दो को मै पहचान भी लूँ तो उन्हे सजा कराने से मुझे क्या लाभ ? फिर मैं तो उन्हे दोषी भी नही मानता हूँ, क्योंकि उन बेचारो को तो यह कहा गया कि हिन्दुस्तान में मैंने नेटाल के

गोरो की भरपेट और बढा-चढा कर निन्दा की है। इस बात पर यदि वे विश्वास करलें और बिगड पडें तो इसमे आश्चर्य की कौन बात है ? कुसूर तो ऊपर के लोगो का, और मुझे कहने दें तो आपका, माना जा सकता है। आप लोगो को ठीक सलाह दे सकते थे, पर अपने रूटर के तार पर विश्वास किया और कल्पना करली कि मैंने सचमुच अत्युक्ति से काम लिया था। मै किसी पर मुकदमा चलाना नही चाहता। जब असली और सच्ची बात लोगो पर प्रकट हो जायगी और लोग जान जायेंगे तब अपने-आप पछतायेंगे।"

"तो आप मुझे बात लिखकर दे देंगे ? मुझे मि० चेम्बरलेन को इस आशय का तार देना पडेगा। मै नही चाहता कि आप जल्दी में कोई बात लिख दें। मि० लाटन से तथा अपने दूसरे मित्रो से सलाह करके जो उचित मालूम हो, वही करे। हाँ, यह बात मै जानता हूँ कि यदि आप आक्रमणकारियो पर मामला न चलावेगे तो सब बातो को ठण्डा करने में मुझे बहुत मदद मिलेगी और आपकी प्रतिष्ठा तो बहुत ही बढ जायगी।"

मैंने उत्तर दिया—"इस सम्बन्ध में मेरे विचार निश्चित हो चुके है। यह तय है कि मै किसी पर मुकदमा चलाना नही चाहता, इसलिए मैं यहीं-का-यहीं आपको लिखे देता हूँ।"

यह कहकर मैंने वह आवश्यक पत्र लिख दिया।

: ४ :

शान्ति

हमले के दो-एक दिन बाद जब मै मि० ऐस्कब से मिला तब मै पुलिस-थाने में ही था। मेरे साथ मेरी रक्षा के लिए एक-दो सिपाही रहते थे। पर वास्तव में देखा जाय तो जब मै मि० ऐस्कब के पास ले जाया गया था, तब इस तरह रक्षा करने की जरूरत ही नहीं रह गई थी।

जिस दिन मै जहाज से उतरा उसी दिन, अर्थात् पीला झडा उतरते ही, तुरन्त 'नेटाल एडवरटाइजर' का प्रतिनिधि मुझसे आकर मिला था।

उसने कितनी ही बातें पूछी थी। और उसके प्रश्नो के उत्तर में मैंने एक-एक बात का पूरा-पूरा जवाब दिया था। सर फिरोजशाह की नेक सलाह के अनुसार उस समय मैंने भारतवर्ष में एक भी भाषण अलिखित नही दिया था। अपने इन तमाम लेखो और भाषणो का संग्रह मेरे पास था ही। वे सब मैंने उसे दे दिये, और यह साबित कर दिया कि भारत मे मैंने ऐसी एक भी बात न कही थी, जो उससे तेज शब्दो में दक्षिण अफ्रिका में न कही हो। मैंने यह भी स्पष्ट कर दिया था कि 'कुरलैंड' तथा 'नादरी' के मुसाफिरो को लाने में मेरा हाथ बिलकुल नही है। उनमें से बहुतेरे तो नेटाल के ही पुराने बाशिन्दे थे, और शेष नेटाल जानेवाले नहीं, बल्कि ट्रान्सवाल जानेवाले थे। उस समय नेटाल में रोजगार मन्दा था। ट्रान्सवाल में काम-धन्धा खूब चलता था, और आमदनी भी अच्छी होती थी। इसलिए अधिकाश हिन्दुस्तानी वही जाना पसन्द करते थे।

इस स्पष्टीकरण का तथा आक्रमणकारियो पर मुकदमा न चलने का प्रभाव इतना जबरदस्त हुआ कि गोरों को शर्मिन्दा होना पडा। अखबारो ने मुझे निर्दोष बताया और हुल्लड करनेवालो को बुरा-भला कहा। इस तरह अन्त को जाकर इस घटना से लाभ ही हुआ। और जो मेरा लाभ था वह कार्य का ही लाभ था। इससे हिन्दुस्तानी लोगों की प्रतिष्ठा बढी, और मेरा रास्ता अधिक सुगम हो गया।

तीन या चार दिन में मैं घर गया और थोडे ही दिनो में मैं अपना काम-काज देखने-भालने लगा। इस घटना के कारण मेरी वकालत भी चमक उठी।

परन्तु इस तरह एक ओर हिन्दुस्तानियो की प्रतिष्ठा बढी, तो इसके साथ ही दूसरी ओर उनके प्रति द्वेष भी बढा। लोगो को यह निश्चय हो गया कि इनमें दृढता के साथ लड़ने का सामर्थ्य है और इस कारण उनका भय बढ गया। नेटाल की धारा-सभा में दो बिल पेश हुए, जिनसे हिन्दुस्तानियो के कष्ट और बढ जानेवाले थे। हिन्दुस्तानी व्यापारियों के धन्धे को हानि पहुँचती थी और दूसरे से हिन्दुस्तानियो के जाने-आने में भारी रुकावट होती थी। सुदैव से मताधिकार की लडाई के समय यह

फैसला हो गया था कि हिन्दुस्तानियो के खिलाफ, उनके हिन्दुस्तानी होने की हैसियत से, कोई कानून नही बनाया जा सकता। इसका अर्थ यह हुआ कि कानून में जाति-भेद और रग-भेद को स्थान न मिलना चाहिए। इस कारण पूर्वोक्त दोनो बिलो की भाषा तो ऐसी रक्खी गई, जिसमें वे सब लोगो पर घटते हुए दिखाई दें, पर उनका असली हेतु था हिन्दुस्तानियो के हको को कम कर देना।

इन बिलो ने मेरा काम बहुत बढा दिया था और हिन्दुस्तानियो में जागृति भी बहुत फैला दी थी। इन बिलो की बारीकियाँ इस तरह लोगो को समझा दी गई थी कि कोई भी भारतवासी उनसे अनजान न रहने पावे और उसके अनुवाद भी प्रकाशित किये गये। झगडा अन्त को विलायत तक पहुँचा, परन्तु बिल नामन्जूर न हुए।

अब मेरा बहुतेरा समय सार्वजनिक कामो में ही जाने लगा। मै लिख चुका हूँ कि मनसुखलाल नाजर नेटाल में थे। वह मेरे साथ हुए। जबसे वह सार्वजनिक कामो मे अधिक योग देने लगे तब से मेरा बोझ कुछ हलका हुआ।

मेरी गैरहाजिरी में आदमजी मियाखान ने मन्त्री-पद का काम सुचारुरूप से किया। उनके समय में सभासदो की सख्या भी बढी और लगभग एक हजार पौण्ड स्थानीय कांग्रेस के कोष में बढे। हम मुसाफिरो पर हुए उस हमले के बदौलत तथा पूर्वोक्त बिलो के विरोध के फलस्वरूप जो जागृति हुई उसे मैंने अधिक-से-अधिक फैलाने का उद्योग किया और अब कोष में लगभग ५००० पौण्ड जमा हो गये। मुझे यह लोभ लग रहा था कि यदि कांग्रेस का कोष स्थायी हो जाय और जमीन ले ली जाय तो उसके किराये से कांग्रेस आर्थिक दृष्टि से निश्चिन्त हो जाय। सार्वजनिक सस्थाओ का यही मुझे पहला अनुभव था। मैंने अपना विचार अपने साथियो के सामने रक्खा। उन्होने उसका स्वागत किया। मकान खरीदे गये और वे किराये पर उठाये गये। उनके किराये का अच्छा ट्रस्ट बनाया गया। यह जायदाद आज भी मौजूद है, परन्तु वह आपस के कलह का मूल हो गई है और उसका किराया आज अदालत में जमा हो रहा है।

यह दुखद बात तो मेरे दक्षिण अफ्रिका छोड देने के बाद हुई है, परन्तु सार्वजनिक संस्थाओ के लिए स्थायी कोष रखने के सम्बन्ध में मेरे विचार दक्षिण अफ्रिका में ही ,बदल गये । कितनी सार्वजनिक सस्थाओ को जन्म देने तथा उनका सचालन करने की जिम्मेदारी रह चुकने के कारण मेरा यह दृढ निर्णय हुआ है कि किसी भी सार्वजनिक सस्था को स्थायी कोष पर निर्वाह करने का प्रयत्न न करना चाहिए, क्योंकि इसमें नैतिक अधोगति का बीज समाया रहता है ।

सार्वजनिक सस्था का अर्थ है लोगो की मजूरी और लोगो के धन से चलने वाली सस्था । जब लोगों की मदद मिलना बन्द हो जाय तब उसे जीवित रहने का अधिकार नही । स्थायी सम्पत्ति पर चलनेवाली सस्था लोकमत से स्वतन्त्र होती हुई देखी जाती है और कितनी ही बार तो लोकमत के विपरीत भी आचरण करती है । इसका अनुभव भारतवर्ष में हमें कदम-कदम पर होता है । कितनी ही धार्मिक मानी जाने वाली सस्थाओ के हिसाब-किताब का कोई ठिकाना नही है । उनके प्रबन्धक ही उनके मालिक बन बैठे है । और ऐसे बन गये है, मानो वे किसीके प्रति जवाबदेह ही नही थे । कुदरत जिस प्रकार नित्य पैदा करती और नित्य खाती है उसी प्रकार सार्वजनिक सस्थाओ का जीवन होना चाहिए। जिस सस्था की सहायता करने के लिए लोग तैयार न हो उसे सार्वजनिक सस्था की हैसियत से कायम रहने का अधिकार नही । वार्षिक चन्दा सस्था की लोकप्रियता और उसके सचालको की प्रमाणिकता की कसौटी है, और मेरा यह मत है कि प्रत्येक सस्था को चाहिए कि वह अपने को इस कसौटी पर कसे ।

दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह के समय मेरे ये विचार दृढ हुए । छ साल तक यह भारी लडाई बिना स्थायी चन्दे के चली, हालांकि उसके लिए लाखो की रुपये आवश्यकता थी । खर्च कहाँ से आवेगा ? परन्तु ये बातें आगे आने ही वाली है, इसलिए यहाँ इनका जिक्र न करूँगा ।

: ५ :

बाल-शिक्षण

जनवरी १८८७ में मैं जब डरबन उतरा तब मेरे साथ तीन बाल
थे। एक मेरा १० साल का भानजा, दूसरे मेरे दो लड़के—एक नौ सा
का और दूसरा पाँच साल का। अब सवाल यह पेश हुआ कि इन
पढ़ाई-लिखाई का क्या प्रबन्ध करें।

गोरों की पाठशाला में मैं अपने बच्चों को भेज सकता था, प
वह उनकी मेहरबानी से और बतौर अपवाद के। दूसरे हिन्दुस्तानियों
लड़के उनमें न पढ़ सकते थे। हिन्दुस्तानी बच्चों को पढ़ाने के लिए ईसा
मिशन के मदरसे थे। उनमें अपने बच्चों को पढ़ाने के लिए मैं तैयार
था। वहाँ की शिक्षा-दीक्षा मुझे पसन्द न थी। और गुजराती के द्वार
भला वहाँ पढ़ाई कैसे हो सकती थी? या तो अंग्रेजी द्वारा ही मयस्
थी, या बहुत प्रयास करने पर टूटी-फूटी तामिल या हिन्दी के द्वारा।
इन तथा दूसरी त्रुटियों को दर-गुजर करना मेरे लिए मुश्किल था।

मैं खुद बच्चों को पढ़ाने की थोड़ी-बहुत कोशिश करता, परन्तु
पढ़ाई नियमितरूप से न चलती। इधर गुजराती शिक्षक भी मैं अपने
अनुकूल न खोज सका।

मैं सोच में पड़ा। मैंने एक ऐसे अंग्रेजी शिक्षक के लिए विज्ञापन
दिया, जो मेरे विचारों के अनुसार बालकों को शिक्षा दे सके। सोचा कि
इस तरह जो शिक्षक मिल जायगा, उससे कुछ तो नियमित पढ़ाई होगी
और कुछ मैं खुद जिस तरह बन पड़ेगा काम चलाऊँगा। सात पौंड वेतन
पर एक अंग्रेज महिला को रक्खा और किसी तरह काम आगे चलाया।

मैं बालकों से गुजराती में ही बातचीत करता। इससे उन्हें कुछ
गुजराती का ज्ञान हो जाता था। उन्हें देश भेज देने के लिए मैं तैयार न
था। उस समय भी मेरा यह विचार था कि छोटे बच्चों को माता-पिता से

र न रखना चाहिए। सुव्यवस्थित घर में बालक जो शिक्षा अपने-आप पा लेते हैं वह छात्रालयों में नहीं पा सकते हैं। अतएव अधिकांश में वे मेरे ही पास रहे। हाँ, भानजे और बड़े लड़के को मैंने कुछ महीनों के लिए देश के जुदा-जुदा छात्रालयों में भेज दिया था; पर शीघ्र ही वापस बुला लिया। बाद को मेरा बड़ा लड़का, वयस्क हो जाने पर, अपनी इच्छा से अहमदाबाद के हाई स्कूल में पढ़ने के लिए दक्षिण अफ्रिका से चला आया। भानजे के बारे में तो मेरा खयाल है कि जो शिक्षण मैं दे रहा था उससे उसे संतोष था। वह कुछ दिन बीमार रहकर भर-जवानी में इस लोक को छोड़ गया। शेष तीन लड़के कभी किसी पाठशाला में पढ़ने न गये। सिर्फ सत्याग्रह के सिलसिले में स्थापित मेरी पाठशाला में उन्होंने नियमित रूप से कुछ पढ़ा था।

मेरे ये प्रयोग अपूर्ण थे। जितना मैं चाहता था उतना समय बालकों को न दे सकता था। इस तथा अन्य अनिवार्य अड़चनों के कारण मैं जैसा चाहता था वैसा अक्षर-ज्ञान उन्हें न दे सका। मेरे तमाम लड़कों को थोड़ी मात्रा में यह शिकायत मुझसे रहा करती है, क्योंकि जब-जब वे 'बी० ए०' 'एम० ए०' अथवा 'मैट्रिक्युलेट' के भी समागम में आते हैं, तब-तब वे अपने अन्दर स्कूल में न पढ़ने की त्रुटि को अनुभव करते हैं।

इतना होते हुए भी मेरा अपना यह मत है कि जो अनुभव-ज्ञान उन्हें मिला है, माता-पिता का जो सहवास वे प्राप्त कर के हैं, स्वतंत्रता का जो पदार्थ-पाठ सीख पाये हैं—यह सब वे न प्राप्त कर सकते, यदि मैंने उनकी रुचि के अनुसार स्कूल में भेजा होता। उनके सम्बन्ध में जितना निश्चिन्त मैं आज हूँ, उतना न हुआ होता, और जो सादगी और सेवा-भाव आज उनके अन्दर दिखाई देता है उसे वे न सीख पाते यदि मुझसे अलग रह कर विलायत में अथवा दक्षिण अफ्रिका में कृत्रिम शिक्षा उन्होंने पाई होती। बल्कि उनकी कृत्रिम रहन-सहन शायद मेरे देश-कार्य में भी बाधक हो जाती।

इस कारण, यद्यपि मैं जितना चाहता था उतना अक्षर-ज्ञान उन्हें न दे सका, तथापि जब मैं अपने पिछले वर्षों का विचार करता हूँ तो मुझे

यह नहीं भासित होता कि मैंने उनके प्रति अपने धर्म का यथा-शक्ति पालन नहीं किया, और न मुझे इस बात पर पश्चाताप ही होता है, बल्कि इसके विपरीत जब मैं अपने बड़े लड़के के विषय में दुःखद परिणाम देखता हूं तो मुझे बार-बार यह मालूम होता है कि वह मेरे अधकचरे पूर्वकाल की प्रतिध्वनि है। वह मेरा एक तरह से मूर्च्छा-काल, वैभवकाल था और उस समय उसकी उम्र इतनी थी कि उसे उसका स्मरण रह सकता था। अब वह कैसे मानेगा कि वह मेरा मूर्च्छा-काल था ? वह यह क्यों न मानेगा कि वह तो मेरा ज्ञान-काल था और बाद के ये परिवर्तन अनुचित और मोह-जाल हैं ? वह क्यों न माने कि उस समय मैं जगत् के राजमार्ग पर चल रहा था और इसलिए सुरक्षित था, और उसके बाद किये परिवर्तन मेरे सूक्ष्म अभिमान और अज्ञान के चिन्ह हैं ? यदि मेरे पुत्र बैरिस्टर इत्यादि पदवी पाये होते तो क्या बुरा था ? मुझे उनके पख काटने का क्या अधिकार था ? मैंने उन्हें क्यों न ऐसी स्थिति में रक्खा, जिससे वे अपनी रुचि के अनुसार जीवन-मार्ग पसन्द करते ? ऐसी दलीलें मेरे कितने ही मित्रों ने मेरे सामने पेश की हैं।

पर मुझे इनमें जोर नहीं मालूम देता। अनेक विद्यार्थियों से मेरा साबका पड़ा है। दूसरे बालकों पर दूसरे प्रयोग भी मैंने किये हैं अथवा करने में सहायक हुआ हूं। उनके परिणाम भी मैंने देखे हैं। वे बालक और मेरे लड़के आज एक उम्र के हैं; पर मैं नहीं मानता कि वे मेरे लड़कों से मनुष्यत्व में बढ़े-चढ़े हैं अथवा मेरे लड़के उनसे बहुत-कुछ सीख सकते हैं।

फिर भी मेरे प्रयोग का अन्तिम परिणाम तो भविष्य ही बता सकता है। इस विषय की चर्चा यहां करने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य-जाति की उत्क्रान्ति का अध्ययन करने वाला मनुष्य इस बात का कुछ-कुछ अन्दाज कर सके कि गृह-शिक्षा और स्कूल-शिक्षा के भेद का और अपने जीवन में किये माता-पिता के परिवर्तनों का क्या असर बच्चों पर होता है।

इसके अलावा इस प्रकरण का यह भी एक तात्पर्य है कि सत्य का

दुनिया देख सके कि सत्य की आराधना उसे किस हद तक ले जा सकती है और स्वतन्त्रतादेवी कितना बलिदान माँगती है। हाँ, बालकों को अपने साथ रखते हुए भी उन्हें अक्षर-ज्ञान दिला सकता था, यदि मैंने आत्म-सम्मान छोड़ दिया होता, यदि मैंने इस विचार को कि जो शिक्षा दूसरे हिन्दुस्तानी बालकों को नहीं मिल सकती वह मुझे अपने बच्चों को दिलाने की इच्छा न करनी चाहिए, अपने हृदय में स्थान न दिया होता। पर उस अवस्था में वे स्वतन्त्रता और आत्म-सम्मान का वह पदार्थ पाठ न सीख पाते, जो आज सीख सके हैं। और जहाँ स्वतन्त्रता और अक्षर-ज्ञान इनमें से किसी एक को पसन्द करने का सवाल हो, वहाँ कौन कह सकता है कि स्वतन्त्रता अक्षर-ज्ञान से हजार-गुनी अच्छी नहीं है?

१९२० में मैंने जिन नवयुवकों को स्वतन्त्रता-घातक स्कूलों और कालेजों को छोड़ देने का निमन्त्रण दिया और जिनसे मैंने कहा कि स्वतन्त्रता के लिए निरक्षर रहकर सड़कों पर गिट्टी-फोड़ना बेहतर है, बनिस्बत इसके कि गुलामी में रहकर अक्षर-ज्ञान प्राप्त करें, वे शायद अब मेरे इस कथन का मूल्य समझ सकेंगे।

: ६ :

सेवा-भाव

मेरा काम यद्यपि ठीक चल रहा था, फिर भी मुझे उससे संतोष न था। मन में ऐसा मन्थन चलता ही रहता था कि जीवन में अधिक सादगी आनी चाहिए, और कुछ-न-कुछ शारीरिक सेवा-कार्य होना चाहिए।

संयोग से एक दिन एक अपंग कोढ़ी घर आ पहुँचा। पहले तो खाने को देकर हटा देने को जी चाहा। पर बाद को मैंने उसे एक कमरे में रखा, उसके जख्मों को धोया और उसकी शुश्रूषा की।

किन्तु यह कितने दिनों तक चल सकता था? सदा के लिए उसे घर में रखने योग्य न सुविधा थी, न हिम्मत; अतः मैंने उसे गिरमिटियों के सरकारी अस्पताल में भेज दिया।

पर इससे मुझे तृप्ति न हुई। मन में यह हुआ करता कि यदि ऐसा कोई शुश्रूषा का काम सदा मिलता रहे तो क्या अच्छा हो? डा० बूथ सेंट एडम्स मिशन के अधिकारी थे। जो कोई आता उसे वह हमेशा मुफ्त दवा देते थे। बड़े भले आदमी थे; उनका हृदय स्नेहपूर्ण था। उनकी देख-रेख में पारसी रुस्तमजी के दान से एक छोटा-सा अस्पताल खोला गया था। इसमें नर्स के तौर पर काम करने की मुझे प्रबल इच्छा हुई। एक से लेकर दो घंटे तक उसमें दवा देने का काम रहता था। दवा बनानेवाले किसी अवैतनिक या स्वयंसेवक की वहाँ जरूरत थी। मैंने इतना समय अपने काम में से निकाल कर इस काम को करने का निश्चय किया। वकालत सम्बन्धी मेरा काम तो इतना ही था—दफ्तर में बैठे-बैठे सलाह देना, दस्तावेजों के मसविदे बनाना और झगड़े सुलझाना। मजिस्ट्रेट के इजलास में थोड़े बहुत मुकदमे रहते। उनमें से अधिकांश तो अविवादास्पद होते थे। जब ऐसे मुकदमे होते तब मि० खान उनकी पैरवी कर देते। वह मेरे बाद आये थे और मेरे साथ ही रहते थे। उनके इस सहयोग के कारण मैं इस छोटे-से अस्पताल में काम करने लगा।

रोज सुबह वहाँ जाना पड़ता था। आने-जाने और वहाँ काम करने में कोई दो घंटे लग जाते थे। इस कामसे मेरे मन को शान्ति मिली। रोगी से हाल-चाल पूछकर डाक्टर को समझाना और डाक्टर जो दवा बतावे वह तैयार करके दे देना—यह मेरा काम था। इस कार्य से मैं दुखी हिन्दुस्तानियों के प्रगाढ़ सम्बन्ध में आने लगा। उनमें अधिक भाग तामिल और तेलगू अथवा हिन्दुस्तानी गिरमिटियों का था।

यह अनुभव मुझे भविष्य में बड़ा उपयोगी साबित हुआ। बोअर युद्ध के समय घायलों की शुश्रूषा में तथा सारे रोगियों की सेवा-टहल में मुझे उससे बड़ी सहायता मिली। अस्तु।

इधर बालकों की परवरिश का प्रश्न तो मेरे सामने था ही। दक्षिण अफ्रीका में मुझे दो लड़के और हुए। उनका लालन-पालन करने की समस्या को हल करने में मुझे इस काम से अच्छी सहायता मिली। मेरा स्वतंत्र स्वभाव मुझे बहुत तंग करता था और अब भी करता है। हम

दम्पती ने निश्चय किया कि प्रसव-कार्य शास्त्रीय पद्धति के अनुसार ही होना चाहिए। इसलिए यद्यपि डाक्टर और नर्स का तो प्रबन्ध था ही, फिर भी मेरे मन में यह विचार आया कि यदि डाक्टर साहब समय पर न आ पावे और दाई कही चली जाय तो मेरा क्या हाल होगा ? दाई तो हिन्दुस्तानी ही बुलाई जाने वाली थी। शिक्षिता दाई हिन्दुस्तान में ही मुश्किल से मिलती है, तो फिर दक्षिण अफ्रीका की तो बात ही क्या ? इसलिए मैंने बाल-पालन का अध्ययन किया। डा० त्रिभुवनदास लिखित "माने शिखामण" नामक पुस्तक पढी। उसमें कुछ घटा-बढाकर अतिम दोनो बालको का लालन-पालन प्राय मैंने खुद किया। हर बार दाई की सहायता तो ली, पर दो मास से अधिक नही। सो भी प्रधानतः धर्मपत्नी की सेवा के लिए। बच्चो को नहलाने-धुलाने का काम शुरुआत में मैं ही करता था।

पर अन्तिम बालक के जन्म के समय मेरी पूरी-पूरी आजमाइश होगई। प्रसव-वेदना एकाएक शुरू हुई। डाक्टर मौजूद नही था। मैं दाई को बुलाने वाला था, पर वह यदि नजदीक होती भी तो प्रसव न करा पाती। अतएव प्रसवकालीन सारा काम खुद मुझे करना पडा। सौभाग्य से मैंने यह विषय 'माने शिखामण' में अच्छी तरह पढ लिया था, इससे घबराया नही।

मैंने देखा कि माता-पिता यदि चाहते हो कि उनके बच्चो की परवरिश अच्छी तरह हो तो दोनो को बाल-पालन आदि का मामूली ज्ञान अवश्य प्राप्त कर लेना चाहिए। इसके सम्बन्ध में जितनी चिन्ता मैंने रक्खी है उसका लाभ मुझे कदम-कदम पर दिखाई दिया है। मेरे लडको की तन्दुरुस्ती-जो आज आम-तौर पर अच्छी है, वह अच्छी नही रही होती, यदि मैंने बालको के लालन-पालन का आवश्यक ज्ञान प्राप्त न किया होता और उसका पालन न किया होता। हम लोगो में यह एक वहम प्रचलित है कि पहले पाँच साल तक बच्चे को शिक्षा देने की जरूरत नही है। परन्तु सच्ची बात यह है कि बालक प्रथम पाँच वर्षों में जितना सीखता है उतना बाद को नही। मैं अनुभव से यह कह सकता हूँ कि बालक की

शिक्षा की शुरुआत तो माता के उदर से ही शुरु हो जाती है। गर्भाधान के समय की माता-पिता की शारीरिक एवं मानसिक स्थिति का प्रभाव बच्चे पर अवश्य पड़ता है। माता की गर्भ-कालीन प्रकृति, माता के आहार-विहार के अच्छे-बुरे फल को विरासत में पाकर बच्चा जन्म पाता है। जन्म के बाद वह माता-पिता का अनुकरण करने लगता है। वह खुद तो असहाय होता है, इसलिए उसके विकास का दारोमदार माता-पिता पर ही रहता है।

जो समझदार दम्पती इतना विचार करेंगे वे तो कभी दम्पती-संग को विषय-वासना की पूर्ति का साधन न बनावेंगे। वे तो तभी संग करेंगे, जब उन्हें सन्तति की इच्छा होगी। रति-सुख का स्वतंत्र अस्तित्व है, यह मानना मुझे तो घोर अज्ञान ही दिखाई देता है। जनन-क्रिया पर संसार के अस्तित्व का अवलम्बन है। संसार ईश्वर की लीला-भूमि है, उसकी महिमा का प्रतिबिंब है। जो शख्स यह मानता है कि उसकी सुव्यवस्थित वृद्धि के लिए ही रति-क्रिया निर्माण हुई है, वह विषय-वासना को भगीरथ प्रयत्न के द्वारा भी रोकेगा। और रति-भोग के फल-स्वरूप जो सन्तति उत्पन्न होगी उसकी शारीरिक, मानसिक और अध्यात्मिक रक्षा करने के लिए आवश्यक ज्ञान प्राप्त करके अपनी प्रजा को उससे लाभान्वित करेगा।

: ७ :

ब्रह्मचर्य—१

अब ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में विचार करने का समय आया है। एक पत्नीव्रत ने तो विवाह के समय से ही मेरे हृदय में स्थान कर लिया था। पत्नी के प्रति मेरी वफादारी मेरे सत्यव्रत का एक अंग था, परन्तु स्व-पत्नी के साथ भी ब्रह्मचर्य का पालन करने की आवश्यकता मुझे दक्षिण अफ्रीका में ही स्पष्टरूप से दिखाई दी। किस प्रसंग से अथवा किस पुस्तक के प्रभाव से यह विचार मेरे मन में पैदा हुआ, यह इस समय ठीक याद नहीं पड़ता, पर इतना स्मरण होता है कि इसमें रायचन्द भाई का प्रभाव प्रधानरूप से काम कर रहा था।

उनके साथ हुआ एक संवाद मुझे याद है। एक बार मैं मि० ग्लैडस्टन के प्रति मिसेज़ ग्लैडस्टन के प्रेम की स्तुति कर रहा था। मैंने पढ़ा था कि हाउस ऑव कामन्स की बैठक में भी मिसेज़ ग्लैडस्टन अपने पति को चाय बना कर पिलाती थी। यह बात उस नियम-निष्ठ दम्पती के जीवन का एक नियम ही बन गया था। मैंने यह प्रसंग कविजी को पढ़ सुनाया और उसके सिलसिले में दम्पती-प्रेम की स्तुति की। रायचन्द भाई बोले—'इसमें आपको कौनसी बात महत्व की मालूम होती है—मिसेज़ ग्लैडस्टन का पत्नीपन या सेवा-भाव? यदि वह ग्लैडस्टन की बहन होती तो? अथवा उनकी वफादार नौकर होती और फिर भी उसी प्रेम से चाय पिलाती तो? ऐसी बहनो, ऐसी नौकरियो के उदाहरण क्या आज हमें न मिलेगे? और नारी-जाति के बदले ऐसा प्रेम यदि नर-जाति में देखा होता तो क्या आपको सानन्दाश्चर्य न होता? इस बात पर विचार कीजिएगा।'

रायचन्द भाई स्वय विवाहित थे। उस समय तो उनकी यह बात मुझे कठोर मालूम हुई—ऐसा स्मरण होता है, परन्तु इन वचनो ने मुझे लोह-चुम्बक की तरह जकड लिया। पुरुप नौकर की ऐसी स्वामि-भक्ति की कीमत पत्नी की स्वामी-निष्ठा की कीमत से हजार-गुना बढकर है। पति-पत्नी में एकता का अतएव प्रेम का होना कोई आश्चर्य की बात नहीं, पर स्वामी और सेवक में ऐसा प्रेम पैदा करना पडता है। अतएव दिन-दिन कविजी के वचन का बल मेरी-नज़रो में बढने लगा।

अब मन में यह विचार उठने लगा कि मुझे अपनी पत्नी के साथ कैसा सम्बन्ध रखना चाहिए? पत्नी को विपय-भोग का वाहन बनाना पत्नी के प्रति वफादारी कैसे हो सकती है? जबतक मैं विपय-वासना के अधीन रहूँगा तबतक मेरी वफादारी की कीमत प्राकृतिक मानी जायगी। मुझे यहाँ यह बात कह देनी चाहिए कि हमारे पारस्परिक सबध में कभी पत्नी की तरफ से मुझ पर ज्यादती नहीं हुई। इस दृष्टि से मैं जिस दिन से चाहूँ ब्रह्मचर्य का पालन मेरे लिए सुलभ था; पर मेरी अशक्ति अथवा आसक्ति ही मुझे रोक रही थी।

जागरूक होने के बाद भी दो बार तो मैं असफल ही रहा। प्रयत्न करता, पर गिरता, क्योंकि उसमें मुख्य हेतु उच्च न था। सिर्फ सन्तानोत्पत्ति को रोकना ही प्रधान लक्ष्य था। संतति-निग्रह के बाह्य उपकरणों के विषय में विलायत में मैंने थोड़ा-बहुत साहित्य पढ़ लिया था। डा० एलिंसन के इन उपायों का उल्लेख अन्नाहार-सम्बन्धी प्रकरण में कर चुका हूँ। उसका कुछ क्षणिक असर मुझपर हुआ भी था, परन्तु मि० हिल्स के द्वारा किये गये उनके विरोध का तथा अंतःसाधन—संयम—के समर्थन का असर मेरे दिल पर बहुत हुआ और अनुभव के द्वारा वह चिरस्थायी हो गया। इस कारण प्रजोत्पत्ति की अनावश्यकता जँचते ही संयम-पालन के लिए उद्योग आरम्भ हुआ।

संयम-पालन मे, कठिनाइयाँ बेहद थी। हम चारपाइयाँ एक-दूसरे से दूर रखते। इधर मैं रात को थककर सोने की कोशिश करने लगा। इन सारे प्रयत्नो का विशेष परिणाम उसी समय तो न दिखाई दिया, पर जब मैं भूतकाल की ओर आँख उठाकर देखता हूँ तो जान पड़ता है कि इन सारे प्रयत्नो ने मुझे यह अन्तिम बल प्रदान किया है।

अन्तिम निश्चय तो ठेठ १९०६ ई० में ही कर सका। उस समय सत्याग्रह का श्रीगणेश नही हुआ था। उसका स्वप्न तक में मुझे खयाल न था। बोअर-युद्ध के बाद नेटाल में 'जुलू' बलवा हुआ। उस समय मैं जोहान्सबर्ग में वकालत करता था, पर मन ने कहा कि इस समय बलवे में मुझे अपनी सेवा नेटाल-सरकार को अर्पित करनी चाहिए। तदनुसार मैंने अर्पित की भी और वह स्वीकृति भी हुई। उसका वर्णन अब आगे आवेगा, परन्तु इस सेवा के फलस्वरूप मेरे मन में तीव्र विचार उत्पन्न हुए। अपने स्वभाव के अनुसार अपने साथियो से मैंने उसकी चर्चा की। मुझे जँचा कि सन्तानोत्पत्ति और सन्तान-रक्षण लोक-सेवा के विरोधक है। इस बलवे के काम में शरीक होने के लिए मुझे अपना जोहान्सबर्ग वाला घर तितर-बितर करना पड़ा। टीमटाम के साथ सजाये घर को और जुटाई हुई विविध सामग्री को अभी एक महीना भी न हुआ होगा कि मैंने उसे छोड़ दिया। पत्नी और बच्चो को फीनिक्स में रक्खा और

मैं घायलो की शुश्रूषा करने वालो की टुकडी बना कर चल निकला। इन कठिनाइयो का सामना करते हुए मैंने देखा कि यदि मुझे लोक-सेवा में ही लीन हो जाना है तो फिर पुत्रैषणा एव धनैषणा को भी नमस्कार कर लेना चाहिए और वानप्रस्थ-धर्म का पालन करना चाहिए।

'वलवे' में मुझे डेढ महीने से ज्यादा न ठहरना पडा, परन्तु ये छ सप्ताह मेरे जीवन का अत्यन्त मूल्यवान समय था। व्रत का महत्व मैंने इस सप्ताह सबसे अधिक समझा। मैंने देखा कि व्रत बन्धन नही, स्वतत्रता का द्वार है। आजतक मेरे प्रयत्नो में आवश्यक सफलता नही मिलती थी; क्योकि मुझमें निश्चय का अभाव था। मुझे अपनी शक्ति पर विश्वास न था। मुझे ईश्वर की कृपा पर अविश्वास था। और इसलिए मेरा मन अनेक तरगो में और अनेक विकारो के अधीन रहता था। मैंने देखा कि व्रतबन्धन से पृथक् रहकर मनुष्य मोह में पडता है। व्रत से अपने को बाँधना मानो व्यभिचार से छूटकर एक पत्नी से सम्बन्ध रखना है। 'मेरा तो विश्वास प्रयत्न में है, व्रत के द्वारा मै बँधना नही चाहता' यह वचन निर्बलता-सूचक है और उसमें छिपे-छिपे भोग की इच्छा रहती है। जो चीज त्याज्य है, उसे सर्वथा छोड देने में कौन-सी हानि हो सकती है? जो साँप मुझे डसने वाला है उसको मैं निश्चय-पूर्वक हटा देता हूँ, हटाने का केवल उद्योग ही नही करता; क्योकि मैं जानता हूँ, कि महज प्रयत्न का परिणाम होने वाला है मृत्यु। प्रयत्न में साँप की विकरालता के स्पष्ट ज्ञान का अभाव है। उसी प्रकार जिस चीज के त्याग का हम प्रयत्न-मात्र करते है उसके त्याग की आवश्यकता हमें स्पष्ट रूप से दिखाई नही दी है, यही सिद्ध होता है। 'मेरे विचार यदि बाद को बदल जायँ तो?' ऐसी शका से बहुत बार हम व्रत लेते हुए डरते है। इस विचार से स्पष्ट दर्शन का अभाव है। इसीलिए निष्कुलानन्द ने कहा है—

त्याग न टिके रे वैराग बिना।

जहाँ किसी चीज से पूर्ण वैराग्य हो गया है वहाँ उसके लिए व्रत लेना अपने आप अनिवार्य हो जाता है।

: ८ :

ब्रह्मचर्य—२

खूब चर्चा और दृढ विचार करने के बाद १९०६ में मैंने ब्रह्मचर्य-व्रत धारण किया। व्रत लेने तक मैंने धर्म-पत्नी से इस विषय में सलाह न ली थी। व्रत के समय अलबत्ता ली। उसने उसका कुछ विरोध न किया।

यह व्रत लेते हुए बडा मुझे कठिन मालूम हुआ। मेरी शक्ति कम थी। मुझे चिन्ता रहती कि विकारो को क्योंकर दबा सकूंगा। और स्वपत्नी के साथ विकारो से अलिप्त रहना एक अजीब बात मालूम होती थी। फिर भी मैं देख रहा था कि वह मेरा स्पष्ट कर्त्तव्य है। मेरी नीयत साफ थी। इसलिए, यह सोचकर कि ईश्वर शक्ति और सहायता देगा, मैं कूद पडा।

आज २० साल के बाद उस व्रत को स्मरण करते हुए मुझे सानन्दाश्चर्य होता है। संयम-पालन करने का भाव तो मेरे मन में १९०१ से ही प्रबल था, और उसका पालन मैं कर भी रहा था, परन्तु जो स्वतन्त्रता और आनन्द मैं अब पाने लगा वह मुझे नहीं याद पडता कि १९०६ के पहले मिला हो, क्योंकि उस समय मैं वासनाबद्ध था—हर समय उसके अधीन हो जाने का भय रहता था, किन्तु अब वासना मुझपर सवारी करने में असमर्थ हो गई।

फिर मैं ब्रह्मचर्य की महिमा और अधिकाधिक समझने लगा। यह व्रत मैंने फीनिक्स में लिया था। घायलो की शुश्रूषा से छुट्टी पाकर मैं फीनिक्स गया था। वहांसे मुझे तुरन्त जोहान्सबर्ग जाना था। वहां जाने के एक ही महीने के अन्दर सत्याग्रह-संग्राम की नींव पडी। मानो यह ब्रह्मचर्य-व्रत उसके लिए मुझे तैयार करने ही न आया हो। सत्याग्रह का खयाल मैंने पहले ही से कर रक्खा हो, सो बात नहीं। उसकी उत्पत्ति तो अनायास—अनिच्छा से—हुई। पर मैंने देखा कि उसके पहले मैंने जो-जो काम किये थे—जैसे फीनिक्स जाना, जोहान्सबर्ग का भारी घर-खर्च कम

पर डालना और अन्त को ब्रह्मचर्य का व्रत लेना—वे मानो इसकी पेश-वन्दी थे।

ब्रह्मचर्य का सोलह आने पालन का अर्थ है ब्रह्म-दर्शन। यह ज्ञान मुझे शास्त्रों द्वारा न हुआ था। यह तो मेरे सामने धीरे-धीरे अनुभव-सिद्ध होता गया। उससे सम्बन्ध रखनेवाले शास्त्र-वचन मैंने बाद को पढे। ब्रह्मचर्य में शरीर-रक्षण, बुद्धि-रक्षण और आत्मा का रक्षण, सब कुछ है—यह बात मैं व्रत के बाद दिनों-दिन अधिकाधिक अनुभव करने लगा, क्योंकि अब ब्रह्मचर्य को एक घोर तपश्चर्या रहने देने के बदले रसमय बनाना था, उसके बल पर काम चलाना था। इसलिए उसकी खूबियो के नित नये दर्शन मुझे होने लगे।

पर मैं जो इस तरह उससे रस की घूंटे पी रहा था, उससे कोई यह न समझे कि मैं उसकी कठिनता को अनुभव न कर रहा था। आज यद्यपि मेरे छप्पन साल पूरे हो गये हैं, फिर भी उसकी कठिनता का अनुभव तो होता ही है। यह अधिकाधिक समझता जाता हूँ कि यह असिधारा-व्रत है। अब भी निरन्तर जागरूकता की आवश्यकता देखता हूँ।

ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिए पहले स्वादेन्द्रिय को वश में करना चाहिए। मैंने खुद अनुभव करके देखा है कि यदि स्वाद को जीत ले तो फिर ब्रह्मचर्य अत्यन्त सुगम हो जाता है। इस कारण इसके बाद मेरे भोजन-प्रयोग केवल अन्नाहार की दृष्टि से नहीं; पर ब्रह्मचर्य की दृष्टि से होने लगे। प्रयोग-द्वारा मैंने अनुभव किया कि भोजन कम, सादा, बिना मिर्च-मसाले का और स्वाभाविक रूप में करना चाहिए। मैंने खुद छ साल तक प्रयोग करके देखा है कि ब्रह्मचारी का आहार वन के पके फल है। जिन दिनो मैं हरे या सूखे वन के फूलो पर रहता था, उन दिनो जिस निर्विकारता का अनुभव होता था, वह खुराक में परिवर्तन करने के बाद न हुआ। फलाहार के दिनो मे ब्रह्मचर्य सरल था, दुग्धाहार के कारण अब कष्टसाध्य हो गया है। फलाहार छोडकर दुग्धाहार क्यो ग्रहण करना पडा, इसका जिक्र समय आने पर होगा ही। यहाँ तो इतना ही कहना काफी है कि ब्रह्मचारी के लिए दूध का आहार विघ्नकारक है,

इसमें मुझे लेशमात्र सन्देह नहीं। इससे कोई यह अर्थ न निकाल ले कि हर ब्रह्मचारी के लिए दूध छोड़ना जरूरी है। आहार का असर ब्रह्मचर्य पर क्या और कितना पड़ता है, इस सम्बन्ध में अभी अनेक प्रयोगों की आवश्यकता है। दूध के सदृश शरीर के रग-रेशे मजबूत बनाने वाला और उतनी ही आसानी से हजम हो जाने वाला फलहार अब तक मेरे हाथ नहीं लगा है। न कोई वैद्य, हकीम या डाक्टर ऐसे फल या अन्न बतला सके हैं। इस कारण दूध को विकारोत्पादक जानते हुए भी अभी उसके त्याग की सिफारिश किसी से नहीं कर सकता।

बाहरी उपचारों में जिस प्रकार आहार के प्रकार और परिमाण की मर्यादा आवश्यक है उसी प्रकार उपवास की बात भी समझनी चाहिए। इन्द्रियाँ ऐसी बलवान् हैं कि चारों ओर से, ऊपर-नीचे दसों दिशाओं से जब उनपर घेरा डाला जाता है तभी वे कब्जे में रहती हैं। सब लोग इस बात को जानते हैं कि आहार बिना वे अपना काम नहीं कर सकतीं। इसलिए इस बात में मुझे जरा भी शक नहीं है कि इन्द्रिय-दमन के हेतु से इच्छा-पूर्वक किये उपवासों से इन्द्रिय-दमन में बड़ी सहायता मिलती है। कितने ही लोग उपवास करते हुए भी सफल नहीं होते। वे यह मान लेते हैं कि केवल उपवास से ही सब काम हो जायगा। वे बाहरी उपवास-मात्र करते हैं। पर मन में छप्पन भोगों का ध्यान लगाते रहते हैं। उपवास के दिनों में इन विचारों का स्वाद चखा करते हैं कि उपवास पूरा होने पर क्या-क्या खायँगे; और शिकायत करते हैं कि न तो स्वादेन्द्रिय का संयम हो पाया और न जननेन्द्रिय का। उपवास से वास्तविक लाभ वहीं होता है, जहाँ मन भी देह-दमन में साथ देता है। इसका यह अर्थ हुआ कि मन में विषय-भोग के प्रति वैराग्य हो जाना चाहिए। विषय का मूल तो मन में है। उपवासादि साधनों से मिलनेवाली सहायताएँ बहुत होते हुए भी अपेक्षाकृत थोड़ी ही होती हैं। यह कहा जा सकता है कि उपवास करते हुए भी मनुष्य-विषयासक्त रहता है; परन्तु उपवास के बिना विषयासक्ति का समूल विनाश सम्भवनीय नहीं। इसलिए उपवास ब्रह्मचर्य-पालन का अनिवार्य अंग है।

ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाले बहुतेरे विफल होते है, क्योंकि वे आहार-विहार तथा दृष्टि इत्यादि में अ-ब्रह्मचारी की तरह बर्ताव करते हुए भी ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहते है। यह कोशिश वैसी ही है, जैसे कि गर्मी के मौसिम में सरदी के मौसिम का अनुभव करने की कोशिश होती है। सयमी और त्यागी के जीवन में भेद अवश्य होना चाहिए। साम्य तो सिर्फ ऊपर ही ऊपर रहता है। यह भेद स्पष्ट रूप से दिखाई देना चाहिए। आँख से दोनो काम लेते है, परन्तु ब्रह्मचारी देव-दर्शन करता है; भोगी नाटक-सिनेमा में लीन रहता है। कान का उपयोग दोनो करते है, परन्तु एक ईश्वर-भजन सुनता है, और दूसरा विलासमय गीतो को सुनने में आनन्द मानता है। जागरण दोनो करते है, परन्तु एक तो जागृत अवस्था में अपने हृदय-मन्दिर में विराजित राम की आराधना करता है, दूसरा नाच-रग की धुन में सोने की याद भूल जाता है। भोजन दोनो करते है, परन्तु एक शरीर-रूपी तीर्थ-क्षेत्र की रक्षा-मात्र के लिए कोठे में अन्न डाल लेता है, और दूसरा स्वाद के लिए देह में अनेक चीजो को भर कर उसे दुर्गन्धित बनाता है। इस प्रकार दोनो के आचार-विचार मे भेद रहा ही करता है और यह अक्सर दिन-दिन बढता है, घटता नही।

ब्रह्मचर्य का अर्थ है मन, वचन और काया से समस्त इन्द्रियो का सयम। इस सयम के लिए पूर्वोक्त त्यागो की आवश्यकता है, यह बात मुझे दिन-दिन दिखाई देने लगी और आज भी दिखाई देती है। त्याग के क्षेत्र में सीमा ही नही है। ऐसा ब्रह्मचर्य अल्प-प्रयत्न से साध्य नही होता। करोडो के लिए तो हमेशा एक आदर्श के रूप मे ही रहेगा, क्योकि प्रयत्नशील ब्रह्मचारी तो नित्य अपनी त्रुटियो का दर्शन करेगा, अपने हृदय के कोने-कुचरे में छिपे विकारो को पहचान लेगा और उन्हे निकाल बाहर करने का सतत उद्योग करेगा। जबतक अपने विचारो पर इतना कब्जा न हो जाय कि अपनी इच्छा के बिना एक भी विचार न आने पावे तबतक वह सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य नही। जितने भी विचार है, वे सब एक तरह विकार है। उनको वश में करने के मानी है मन को

वश में करना। और मन को वश में करना वायु को वश में करने से भी कठिन है। इतना होते हुए भी यदि आत्मा कोई चीज है तो फिर यह भी साध्य होकर रहेगा। रास्ते में बड़ी कठिनाइयाँ आती हैं, इससे यह न मान लेना चाहिए कि वह असाध्य है। वह तो परम-अर्थ है। और परम अर्थ के लिए परम प्रयत्न की आवश्यकता हो तो इसमें कौन आश्चर्य की बात है?

परन्तु देश आने पर मैंने देखा कि ऐसा ब्रह्मचर्य महज प्रयत्न-साध्य नहीं है। कह सकते हैं कि तबतक मैं इस मूर्च्छा में था कि फलाहार से विकार समूल नष्ट हो जायँगे; और इसलिए अभिमान से मानता था कि अब मुझे कुछ करना बाक़ी नहीं रहा है।

परन्तु इस विचार के प्रकरण तक पहुँचने में अभी विलम्ब है। इस बीच इतना कह देना आवश्यक है कि साक्षात्कार करने के लिए मैंने जिस ब्रह्मचर्य की व्याख्या की है उसका पालन जो करना चाहते हैं वे यदि अपने प्रयत्न के साथ ही ईश्वर पर श्रद्धा रखनेवाले होंगे तो उन्हें निराश होने का कोई कारण नहीं है।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥[1]

निराहारी के विषय तो शान्त हो जाते हैं, परन्तु रसों का शमन नहीं होता। ईश्वर-दर्शन से रस भी शान्त हो जाते हैं।

इसलिए आत्मार्थी का अन्तिम साधन तो राम-नाम और राम-कृपा ही है। इस बात का अनुभव मैंने हिन्दुस्तान आने पर ही किया।

: ९ :

सादगी

भोगों को भोगने का आरम्भ तो मैंने किया; पर वह टिक न सका। टीमटाम की साधन-सामग्री मैंने जुटाई तो; परन्तु उसका मोह मुझे नहीं

१. गीता; अ० २ श्लोक ५९।

हुआ था। इसलिए घर-गृहस्थी बनाते ही मैंने दूसरी ओर खर्च कम करने की शुरुआत की। धुलाई का खर्च भी ज्यादा मालूम हुआ। फिर धोबी नियमित रूप से कपडे न लाता, इस कारण दो-तीन दर्जन कमीज और इतने ही कालर से भी काम न चलता। कालर रोज बदलता था; कमीज रोज नही तो तीसरे दिन जरूर बदलता। इस तरह दोहरा खर्च लगता। यह मुझे व्यर्थ मालूम हुआ। इसलिए घर पर ही धोने की चीजें मँगाई। धुलाई-विद्या की पुस्तक पढकर धोना सीख लिया और पत्नी को भी सिखा दिया। इससे काम का कुछ बोझ तो बढा, पर एक नई चीज थी, इसलिए मनोविनोद भी होता।

पहले-पहल जो कालर मैंने धोया उसे मै कभी न भूल सकूँगा। इसमें कलप ज्यादा था, और इस्तरी पूरी गरम न थी। फिर कालर के जल जाने के भय से इस्तरी ठीक-ठीक दवाई नही गई थी। इस कारण कालर कडा तो हो गया, पर उसमें से कलप झिरता रहता था।

ऐसा ही कालर लगाकर मै अदालत में गया और बैरिस्टरो के मजाक का साधन बन गया, परन्तु ऐसी हँसी-दिल्लगी को सहन करने की क्षमता मुझमें उस समय भी कम न थी।

'कालर हाथ मे धोने का यह पहला प्रयोग है, इसलिए उसमे कलप झिर रहा है, पर मेरा इसमें कुछ हर्ज नही होता। फिर आप सब लोगो के इतने विनोद का कारण हुआ यह विशेष बात है।' मैंने स्पष्टीकरण किया।

'पर धोबी क्या नही मिलते?' एक मित्र ने पूछा।

'यहाँ धोबी का खर्च मुझे नागवार हो रहा है। कालर की कीमत के बराबर धुलाई का खर्च—और फिर भी धोबी की गुलामी बरदाश्त करनी पडती है, सो जुदी। इसके बनिस्वत तो मै घर पर हाथ से धो लेना ही ज्यादा पसन्द करता हूँ।

यह स्वावलम्बन की खूबी मैं मित्रो को न समझा सका।

मुझे कहना चाहिए कि अन्त को मैंने अपने काम के लायक कपडे धोने की कुशलता प्राप्त करली थी, और मुझे कहना चाहिए कि धोबी की

धुलाई से घर की धुलाई किसी तरह घटिया न रहती थी। कालर का कड़ापन और चमक धोबी के धोये कालर से किसी तरह कम न थी। गोखले के पास स्व० महादेव गोविन्द रानडे का प्रसाद-स्वरूप एक दुपट्टा था। गोखले उसे बड़े जतन से रखते और प्रसग-विशेष पर ही उसे इस्तेमाल करते। जोहान्सवर्ग में उनके स्वागत के उपलक्ष्य में जो भोज हुआ था, वह अवसर बड़े महत्त्व का था। दक्षिण अफ्रीका में यह उनका सबसे बड़ा भाषण था। इसलिए इस अवसर पर वह दुपट्टा डालना चाहते थे। उसमें सिलवटें पड़ गई थी और इस्तरी करने की जरूरत थी। धोबी के यहाँ भेजकर तुरन्त इस्तरी करा लेना सम्भव न था। मैंने कहा—"ज़रा मेरी विद्या को भी आजमा लीजिए।"

"तुम्हारी वकालत पर मैं विश्वास कर सकता हूँ; पर इस दुपट्टे पर तुम्हारी धुलाई-कला की आजमाइश न होने दूँगा। तुम कहीं इसे दाग़ दो तो ? जानते हो, इसका कितना मूल्य है ?" यह कहकर उन्होंने अति उल्लास से प्रसादी की कथा मुझे कह सुनाई।

मैंने आजिज़ी के साथ दाग़ न पड़ने देने की ज़िम्मेदारी ली। फलत मुझे इस्तरी करने की इजाज़त मिल गई और बाद को अपनी कुशलता का प्रमाण-पत्र भी मुझे मिला। अब यदि दुनिया मुझे प्रमाण-पत्र न दे तो इससे क्या।

जिस तरह मैं धोबी की गुलामी से छूटा, उसी तरह नाई की गुलामी से भी छूटने का अवसर आगया। हाथ से दाढ़ी बनाना तो विलायत जानेवाले सभी सीख लेते है, पर मुझे खयाल नही कि बाल काटना भी कोई सीख लेते हो। प्रिटोरिया में एक बार मैं अंग्रेज नाई की दूकान पर गया। उसने मेरे बाल काटने से साफ इन्कार कर दिया, और ऐसा करते हुए तिरस्कार प्रदर्शित किया सो जुदा ही। मुझे बड़ा ही दु ख हुआ। मैं सीधा बाजार में पहुँचा। बाल काटने की क़ैंची खरीदी और आइने के सामने खड़े रह कर बाल काट डाले। बाल ज्यों-त्यों कटे तो, पर पीछे के बाल काटने में बड़ी दिक्क़त पेश आई। फिर भी जैसे चाहिए न कट पाये। यह देखकर अदालत में खूब कहकहा मचा।

"तुम्हारे सिर पर छछूंदर तो नही फिर गई ?"

मैंने कहा—"नही, मेरे काले सिर को गोरा नाई कैसे छू सकता है ?" इस कारण जैसे-तैसे हाथ-कटे वाल ही मुझे अधिक प्रिय है।"

इस उत्तर से मित्रो को आश्चर्य हुआ। सच पूछिए तो उस नाई का कसूर न था। यदि वह श्यामवर्ण के लोगो के वाल काटने लगता तो उसकी रोजी चली जाती। हम भी तो कहाँ अछूतो के वाल उच्च वर्ण के नाइयो से कटवाने देते है ? इसका वदला मुझे दक्षिण अफ्रिका में एक वार नही वहुत वार मिला है। और मेरा यह खयाल वन रहा है कि यह हमारे ही दोप का फल है। इसलिए इस बात पर मुझे कभी रोप नही हुआ।

स्वावलम्वन और सादगी के मेरे शौक ने आगे जाकर जो तीव्र स्वरूप ग्रहण किया, उसका वर्णन तो यथा-प्रसग होगा, परन्तु उसका मूल पुराना था। उसके फलने-फूलने के लिए सिर्फ सिंचाई की आवश्यकता थी, और वह अवसर अनायास ही मिल गया था।

: १० :

बोअर-युद्ध

१८९७ से ९९ ई० तक के जीवन के दूसरे कई अनुभवो को छोड कर वोअर-युद्ध पर आता हूँ। जव यह युद्ध छिडा तव मेरे मनोभाव बिलकुल वोअरो के पक्ष में थे, पर मैं यह मानता था कि ऐसी वातो में व्यक्तिगत विचारो के अनुसार काम करने का अधिकार अभी मुझे प्राप्त नही हुआ है। इस सम्वन्ध में जो मन्थन मेरे हृदय में हुआ, उसका सूक्ष्म निरीक्षण मैंने दक्षिण अफ्रिका के सत्याग्रह के इतिहास में किया है, इसलिए यहाँ लिखने की आवश्यकता नही। जिनको जानने की इच्छा हो वे उस पुस्तक को पढ ले।[1] यहाँ तो इतना ही कहना काफी है कि ब्रिटिश राज्य के प्रति मेरी वफ़ादारी मुझे उस युद्ध में योग देने के लिए

[1] यह पुस्तक 'मण्डल' से प्रकाशित हुई है। मूल्य १।) है।

जबर्दस्ती घसीट ले गई। मैंने सोचा कि जब मैं ब्रिटिश प्रजा की हैसियत से हकों का मतालबा कर रहा हूँ तो ब्रिटिश प्रजा की हैसियत से ब्रिटिश राज्य की रक्षा मे सहायक होना मेरा धर्म है। ब्रिटिश-साम्राज्य में हिन्दुस्तान की सब तरह उन्नति हो सकती है, यह उस समय मेरा मत था। इसलिए जितने साथी मिले उनको लेकर, अनेक मुसीबतो का सामना करके, हमने घायलो की सेवा-शुश्रूषा करनेवाली एक टुकड़ी तैयार की। अब तक अंग्रेजो की आम तौर पर यह धारणा थी कि यहाँ के हिन्दुस्तानी जोखिम के कामो में नहीं पड़ते, स्वार्थ के अलावा उन्हें और कुछ नहीं सूझता। इसलिए कितने ही अंग्रेज मित्रों ने मुझे निराशाजनक उत्तर दिये। अलबत्ता डा० बूथ ने खूब प्रोत्साहन दिया। उन्होंने हमें घायल योद्धाओं की शुश्रूषा करने की शिक्षा दी। अपनी योग्यता के सम्बन्ध में मैंने डाक्टर के प्रमाण-पत्र प्राप्त कर लिये। मि० लाटन तथा स्वर्गीय मि० एस्कम्ब ने भी इस काम को पसन्द किया। अन्त को हमने सरकार से प्रार्थना की कि हमें लड़ाई में सेवा करने का अवसर दिया जाय। जवाब में सरकार ने हमें धन्यवाद दिया, किन्तु कहा कि आपकी सेवा की इस समय आवश्यकता नहीं है।

परन्तु मैं ऐसे 'ना' से खामोश होकर बैठ न गया। डा० बूथ की मदद लेकर उनके साथ मैं नेटाल के बिशप से मिला। हमारी टुकड़ी में बहुतेरे ईसाई हिन्दुस्तानी थे। बिशप को हमारी योजना बहुत पसन्द आई और उन्होंने सहायता देने का वचन दिया।

इस बीच घटना-चक्र अपना काम कर रहा था। बोअरो की तैयारी, दृढ़ता, वीरता इत्यादि अन्दाज से अधिक तेजस्वी साबित हुई, जिसके फलस्वरूप सरकार को बहुतेरे रंगरूटों की जरूरत हुई, और अन्त को हमारी प्रार्थना स्वीकृत हुई।

इस टुकड़ी में लगभग ११०० लोग थे। उनमें लगभग ४० मुखिया थे। कोई ३०० स्वतन्त्र हिन्दुस्तानी भरती हुए थे, और शेष गिरमिटिया थे। डा० बूथ भी हमारे साथ थे। टुकड़ी ने अपना काम अच्छी तरह किया। यद्यपि उसका कार्यक्षेत्र लड़ाई के मैदान के बाहर था और रेड-

क्रास[1] चिन्ह उनकी रक्षा के लिए लगा हुआ था, फिर भी आवश्यकता के समय प्रत्यक्ष युद्ध-क्षेत्र की हद के अन्दर भी काम करने का अवसर हमें मिला। ऐसी जोखिम में न पड़ने देने का इकरार सरकार ने अपनी इच्छा से हमारे साथ किया था, परन्तु स्पियाकोप की हार के बाद स्थिति बदली। इस कारण जनरल बुलर ने सन्देश भेजा कि यद्यपि आप जोखिम की जगह काम करने के लिए बँधे हुए नही है, फिर भी यदि आप खतरे का सामना करके घायल सिपाहियो को अथवा अफसरो को रणक्षेत्र से उठाकर डोलियो में ले जाने के लिए तैयार हो जायँगे तो सरकार आपका उपकार मानेगी। इधर हम तो जोखिम उठाने के लिए तैयार ही थे। अतएव स्पियाकोप के युद्ध के बाद हम गोली-बारूद की हद के अन्दर भी काम करने लगे।

इन दिनो में सबको कई बार बीस-पचीस मील मजिल तय करना पड़ती थी। एक बार तो घायलो को डोली में रखकर इतनी दूर चलना भी पड़ा था। जिन घायल योद्धाओ को हम उठाकर ले गये उनमे जनरल वुडगेट इत्यादि भी थे।

छ सप्ताह के अन्त में हमारी टुकड़ी को रुखसत दी गई। स्पियाकोप और वालक्रान्ज की हार के बाद लेडीस्मिथ आदि-आदि स्थानो को बोअरो के घेरे से तेज़ी के साथ मुक्त करने का विचार ब्रिटिश सेनापति ने त्याग दिया और इँग्लैण्ड तथा हिन्दुस्तान से और सेना आने की राह देखने तथा धीरे-धीरे काम करने का निश्चय किया था।

हमारी उस छोटी-सी सेवा की उस समय बहुत स्तुति हुई। उससे हिन्दुस्तानियो की प्रतिष्ठा बढी। 'आखिर हिन्दुस्तानी है तो साम्राज्य के वारिस ही' ऐसे गीत गाये गए। जनरल बुलर ने अपने खरीते में हमारी टुकड़ी के कार्य की प्रशसा की। मुखियो को लड़ाई के तमगे भी मिले।

1 रेडक्रास का अर्थ है लाल स्वस्तिक। युद्ध में इस चिन्ह से अंकित पट्टे शुश्रूषा करनेवालों के बायें हाथ में बंधे रहते है और ऐसे नियम हैं कि शत्रु भी उनको नुकसान नहीं पहुँचा सकते।

इसके फलस्वरूप हिन्दुस्तानी अधिक संगठित हुए। मैं गिरमिटिया हिन्दुस्तानियों के अधिक सम्पर्क में आ सका। उनमें अधिक जागृति हुई और यह भावना अधिक दृढ़ हुई कि हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, गुजराती, सिन्धी, सब हिन्दुस्तानी हैं। सबने माना कि अब हिन्दुस्तानियों के दुःख अवश्य दूर हो जायँगे। गोरों के बर्ताव में भी उसके बाद साफ़-साफ़ फ़र्क नज़र आने लगा।

लड़ाई में गोरों से जो सम्बन्ध बँधा, वह मीठा था। हज़ारों 'टामियों' के सहवास में हम लोग आये। वे हमारे साथ मित्र-भाव से व्यवहार करते और इस ख़याल से कि हम उनकी सेवा के लिए हैं, हमारे उपकार मानते।

मनुष्य-स्वभाव दुःख के समय कैसा पसीज जाता है, इसकी एक मधुर-स्मृति यहाँ दिये बिना नहीं रह सकता। हम लोग चीवली छावनी की ओर जा रहे थे। यह वही क्षेत्र था, जहाँ लार्ड राबर्ट्स के पुत्र लेफ्टिनेंट राबर्ट्स को मर्मान्तक गोली लगी थी। लेफ्टिनेन्ट राबर्ट्स के शव को ले जाने का गौरव हमारी टुकड़ी को प्राप्त हुआ था। लौटते वक्त धूप कड़ी थी। हम कूच कर रहे थे। सब प्यासे थे। पानी पीने के लिए रास्ते में एक छोटा-सा झरना पड़ा। सवाल उठा, पहिले कौन पानी पीये। मैंने सोचा था कि 'टामियों' के पी लेने के बाद हम पियेंगे। 'टामियों' ने हमें देखकर तुरन्त कहा—'पहले आप लोग पी लें।' हमने कहा—'नहीं, पहले आप पीयें।' इस तरह बहुत देर तक हमारे और उनके बीच मधुर आग्रह की खींचातानी होती रही।

: ११ :

नगर-सुधार-अकाल-फण्ड

समाज के एक भी अंग का ख़राब बने रहना मुझे हमेशा अखरता रहता है। लोगों की बुराइयों को ढककर उनका बचाव करना अथवा उन्हें दूर किये बिना अधिकार प्राप्त करना मुझे हमेशा अरुचिकर हुआ

है। दक्षिण अफ्रीका-स्थित हिन्दुस्तानियो पर एक आक्षेप हुआ करता था। वह यह कि हिन्दुस्तानी अपने घर-बार साफ-सुथरे नही रखते और बहुत मैले रहते है। बार-बार यह बात कही जाती थी। उसमें कुछ सचाई भी थी। मेरे वहाँ होने के आरम्भ-काल ही में मैंने उसे दूर करने का विचार किया था। इस इलजाम को मिटाने के लिए शुरुआत में समाज के लब्ध-प्रतिष्ठ लोगो के घरो में सफाई तो शुरू हो गई थी, परन्तु घर-घर जाकर प्रचार करने का काम तो तभी शुरू हो पाया, जब डरबन में प्लेग के प्रवेश और प्रकोप का भय उत्पन्न हुआ। इसमें म्यूनिसिपैलिटी के अधिकारियो का भाग था और उनकी सम्मति भी थी। हमारी मदद से उनका काम आसान हो गया और हिन्दुस्तानियो को कम कष्ट और असुविधा हुई, क्योकि प्लेग इत्यादि का प्रकोप जब कभी होता है तब आम तौर पर अधिकारी लोग अधीर हो जाते है, और उसका उपाय करने में सीमा के आगे बढ जाते है, एव जो लोग उनकी नजरो में अप्रिय होते हैं, उनपर इतना दबाव डाला जाता है कि वह असह्य हो जाता है। चूँकि लोगो ने खुद ही काफी इलाज करने का आयोजन कर लिया था, इसलिए वे इस सख्ती और ज्यादती से बच गये।

इस सम्बन्ध में मुझे कितने ही कडुवे अनुभव भी हुए। मैंने देखा कि स्थानीय सरकार से अपने हको का मतालबा करने में अपने लोगो से मैं जितनी सहायता ले सकता था, उतनी आसानी से मैं उनसे स्वय अपने कर्त्तव्यो का पालन करने में न लेसका। कितनी ही जगह अपमान होता, कितनी जगह विनयपूर्वक लापरवाही बताई जाती। गन्दगी दूर करने का कष्ट उठाना एक आफत मालूम होती थी। और इसके लिए पैसा खर्च करना तो और भी मुश्किल पडता था। इससे मैंने यह पाठ और अधिक अच्छी तरह सीखा कि यदि लोगो से कुछ भी काम कराना हो तो हमें धीरज रखना चाहिए। सुधार की गरज तो होती है खुद सुधारक को; जिस समाज में वह सुधार चाहता है, उससे तो उसे विरोध की, तिरस्कार और जान की भी जोखिम की ही आशा रखनी चाहिए। सुधारक जिस बात को सुधार समझता है, समाज उसे 'कुधार' क्यो

न माने ? और यदि सुधार न भी माने तो उसकी तरफ से उदासीन क्यो न रहे ?

इस आन्दोलन का परिणाम यह हुआ कि भारतीय समाज में घर-बार स्वच्छ रखने की आवश्यकता थोड़ी-बहुत मात्रा में मान ली गई। राज्याधिकारियो के नजदीक मेरी साख बढी। वे समझे कि मै महज शिकायते करने वाला अथवा हक मॉगने वाला ही नही हूँ, बल्कि इन बातो मे मै जितना दृढ हूँ उतना ही उत्साही आन्तरिक सुधारो के लिए भी हूँ।

परन्तु समाज की मनोवृत्ति का विकास अभी एक और दिशा में होना बाक़ी था। यहाँ के भारतीयो को अभी प्रसगोपात्त भारतवर्ष के प्रति अपने धर्म को समझना और उनका पालन करना बाक़ी था। भारतवर्ष तो कगाल है। लोग धन कमाने के लिए विदेश जाते है। मैंने सोचा, उनकी कमाई का कुछ-न-कुछ अश भारतवर्ष को आपत्ति के समय मिलना चाहिए। १८९७ ई० में तो अकाल पडा ही था। १८९९ मे एक और भारी अकाल हुआ। दोनो अकाल के समय दक्षिण अफ्रिका से खासी मदद गई। पहले अकाल के समय जितनी रकम एकत्र हो सकी थी उससे बहुत ज्यादा रकम दूसरे अकाल के समय गई थी। इसमें हमने अग्रेजो से भी चन्दा मॉगा था, और उनकी तरफ से अच्छी सहायता मिली थी। गिरमिटिया हिन्दुस्तानियो ने भी अपनी तरफ से चन्दा दिया था।

इस तरह इन दोनो अकाल के समय जो प्रथा पडी वह अभी तक क़ायम है। और हम देखते हैं कि भारतवर्ष में सार्वजनिक संकट के समय दक्षिण अफ्रिका के हिन्दुस्तानी अच्छी रकमें भेजा करते है।

इस तरह दक्षिण अफ्रिका के भारतीयो की सेवा करते हुए मै खुद बहुतेरी बातें एक के बाद एक अनायास सीख रहा था। सत्य एक विशाल वृक्ष है। उसकी ज्यो-ज्यो सेवा की जाती है त्यो-त्यो उसमें अनेक फल आते हुए दिखाई देते है। उनका अन्त ही नही होता। ज्यों-ज्यों हम गहरे पैठते है, त्यो-त्यो उनमें से रत्न निकलते है, सेवा के अवसर हाथ आते ही रहते हैं।

: १२ :

देश-गमन

लड़ाई क काम से मुक्त होने के बाद मैंने सोचा कि अब मेरा काम दक्षिण अफ्रिका में नही, बल्कि देश में है। दक्षिण अफ्रिका मे बैठे-बैठे मैं कुछ-न-कुछ सेवा तो जरूर कर पाता था, परन्तु मैंने देखा कि यहाँ कही मेरा मुख्य काम धन कमाना ही न हो जाय।

देश से मित्र लोग भी देश लौट आने का आकर्षण कर रहे थे। मुझे भी जँचा कि देश जाने से मेरा अधिक उपयोग हो सकेगा। नेटाल में मि० खान और मनसुखलाल नाजर थे ही।

मैंने साथियो से छुट्टी देने का अनुरोध किया। बडी मुश्किल से उन्होने एक शर्त पर छुट्टी स्वीकार की। वह यह कि एक साल के अन्दर लोगो को मेरी जरूरत मालूम हो तो मैं फिर दक्षिण अफ्रिका आजाऊँगा। मुझे यह शर्त कठिन मालूम हुई, परन्तु मै प्रेम-पाश मे बँधा हुआ था।

काचे रे तांतणे मनें हरजी ए बाधी
जेम ताणे तेम तेमनी रे
मने लागी कटारी प्रेमनी।[1]

मीराबाई की यह उपमा न्यूनाधिक अश में मुझपर घटित होती थी। पच भी परमेश्वर ही है। मित्रो की बात को टाल नही सकता था। मैंने वचन देकर इजाजत ली।

इस समय मेरा निकट सम्बन्ध प्राय' नेटाल के ही साथ था। नेटाल के हिन्दुस्तानियो ने मुझे प्रेमामृत से नहला डाला। स्थान-स्थान पर अभिनन्दन-पत्र दिये गये, और हर जगह से कीमती चीजें नजर की गई।

१८९६ में जब मैं देश आया था, तब भी भेंटें मिली थी, पर इस

१ प्रभुजी ने मुझे कच्चे सूत के प्रेम-धागे से बांध लिया है, ज्यों-ज्यों वह उसे तानते हैं त्यो-त्यो मैं उनकी होती जाती हूँ।

वार की भेंटो और समाजों के दृश्यों से मैं घबराया। भेंट में सोने-चांदी की चीजें तो थी ही, पर हीरे की चीजें भी थीं।

इन सब चीजों को स्वीकार करने का मुझे क्या अधिकार हो सकता है? यदि मैं इन्हें मंजूर कर लूं तो फिर अपने मन को यह कहकर कैसे मना सकता हूँ कि मैं पैसा लेकर लोगों सेवा नहीं करता था। मेरे मवक्किलों की कुछ रकमों को छोड़कर बाक़ी सब चीजें मेरी लोक-सेवा के ही उपलक्ष्य में दी गई थीं। पर मेरे मन में तो मवक्किल और दूसरे साथियों में कुछ भेद न था। मुख्य-मुख्य मवक्किल सब सार्वजनिक काम में भी सहायता देते थे।

फिर उन भेंटों में एक पचास गिनी का हार कस्तूरबाई के लिए था। मगर उसे जो चीज मिली वह भी थी तो मेरी ही सेवा के उपलक्ष में, अतएव उसे पृथक् नहीं मान सकते थे।

जिस शाम को इनमें से मुख्य-मुख्य भेंटें मिलीं, वह रात मैंने एक पागल की तरह जागकर काटी। कमरे में यहां से वहां टहलता रहा। परन्तु गुत्थी किसी तरह सुलझती न थी। सैकड़ो रुपयो की भेंटें न लेना भारी पड़ रहा था, पर ले लेना उससे भी भारी मालूम होता था।

मैं चाहे इन भेंटो को पचा भी सकता; पर मेरे बालक और पत्नी? उन्हें तालीम तो सेवा की मिल रही थी। सेवा का दाम नहीं लिया जा सकता था, यह हमेशा समझाया जाता था। घर में कीमती जेवर आदि मैं नहीं रखता था। सादगी बढ़ती जाती थी। ऐसी अवस्था में सोने की घड़ियां कौन रक्खेगा? सोने की कंठी और हीरे की अंगूठियां कौन पहनेगा? गहनों का मोह छोड़ने के लिए मैं उस समय भी औरों से कहता रहता था। अब इन गहनों और जवाहरात को लेकर मैं क्या करूँगा?

मैं इस निर्णय पर पहुँचा कि ये चीजें मैं हरगिज नहीं रख सकता। पारसी रुस्तमजी इत्यादि को इन गहनों के ट्रस्टी बना कर उनके नाम एक चिट्ठी तैयार की और सुबह स्त्री-पुत्रादि से सलाह करके अपना बोझ हलका करने का निश्चय किया।

मैं जानता था कि धर्मपत्नी को समझाना मुश्किल पड़ेगा। मुझे

विश्वास था कि बालको को समझाने में जरा भी दिक्कत पेश न आवेगी। अतएव उन्हे वकील बनाने का विचार किया।

बच्चे तो तुरन्त समझ गये। वे बोले, "हमें इन गहनो से कुछ मतलब नही, ये सब चीजें हमे लौटा देनी चाहिए। और यदि जरूरत होगी तो क्या हम खुद नही बना सकेंगे ?"

मैं प्रसन्न हुआ। "तो तुम बा--माँ--को समझाओगे न ?" मैंने पूछा।

"जरूर-जरूर। वह कहाँ इन गहनो को पहनने चली है ? वह रखना चाहेगी भी तो हमारे लिए न ? पर जब हमें ही इनकी जरूरत नही है, तब फिर वह क्यो जिद करने लगी ?"

परन्तु काम अन्दाज से ज्यादा मुश्किल साबित हुआ।

"तुम्हे चाहे जरूरत न हो और लडको को भी न हो। बच्चो का क्या ? जैसा समझा दे समझ जाते है। मुझे न पहनने दो, पर मेरी बहुओ को तो जरूरत होगी ? और कौन कह सकता है कि कल क्या होगा ? जो चीजें लोगो ने इतने प्रेम से दी हैं उन्हे वापस लौटाना ठीक नही।" इस प्रकार वाग्धारा शुरू हुई और उसके साथ अश्रुधारा आ मिली। लडके दृढ रहे, और मैं भला क्यो डिगने लगा !

मैंने धीरे से कहा---"पहले लडको की शादी तो हो लेने दो। हम बचपन मे तो इनके विवाह करना चाहते ही नही है। बडे होने पर जो इनका जी चाहे सो करें। फिर हमें क्या गहनो-कपडो की शौकीन बहुएँ खोजनी है ? फिर भी अगर कुछ बनवाना ही होगा तो मैं कहाँ चला गया हूँ।"

"हाँ, जानती हूँ तुमको। वही न हो, जिन्होने मेरे भी गहने उतार लिये है ! जब मुझे ही नही पहनने देते हो तो मेरी बहुओ को जरूर ला दोगे ! लडको को तो अभी से वैरागी बना रहे हो ! इन गहनो को मैं वापस नही देने दूँगी। और फिर मेरे हार पर तुम्हारा क्या हक ?"

"पर यह हार तुम्हारी सेवा की खातिर मिला है या मेरी ?" मैंने पूछा।

"जैसा भी हो। तुम्हारी सेवा में क्या मेरी सेवा नही है ? मुझसे जो

रात-दिन मजूरी कराते हो, क्या वह सेवा नहीं है ? मुझे रुला-रुलाकर जो ऐरे-गैरो को घर में रखा और मुझसे सेवा-टहल कराई, वह कुछ भी नहीं ?"

ये सब बाण तीखे थे। कितने ही तो मुझे चुभ रहे थे पर गहने वापस लौटाने का मैं निश्चय ही कर चुका था। अन्त को बहुतेरी बातो में मैं जैसे-जैसे सम्मति प्राप्त कर सका। १८९६ और १९०१ में मिली भेटें वापस लौटाईं। उनका ट्रस्ट बनाया गया और लोक-सेवा के लिए उसका उपयोग मेरी अथवा ट्रस्टियो की इच्छा के अनुसार होने की शर्त पर वह रकम बैंक में रखी गई। इन चीजो को बेचने के निमित्त से मैं बहुत बार रुपया एकत्र कर सका हूँ। अपत्ति-कोष के रूप में वह रकम मौजूद है और उसमें वृद्धि होती जाती है।

इस बात के लिए मुझे कभी पश्चात्ताप न हुआ। आगे चल कर कस्तूरबाई को भी उसका और औचित्य जँचने लगा। इस तरह हम अपने जीवन में बहुतेरे लालचो से बच गये हैं।

मेरा यह निश्चित मत हो गया है कि लोक-सेवक को जो भेटें मिलती हैं, वे उसकी निजी चीज़ कदापि नहीं हो सकती।

: १३ :

देश में

इस तरह मैं देश के लिए विदा हुआ। रास्ते मे मॉरीशास पड़ता था। वहाँ जहाज बहुत देर तक ठहरा। मैं उतरा और वहाँ की स्थिति का ठीक अनुभव प्राप्त कर लिया। एक रात वहाँ के गवर्नर सर चार्ल्स ब्रुस के यहाँ भी बिताई थी।

हिन्दुस्तान में पहुँचने पर कुछ समय इधर-उधर घूमने में व्यतीत किया। यह १९०१ की बात है। इस साल राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस का अधिवेशन कलकत्ता में था। दीनशा एदलजी वाच्छा सभापति थे। मैं महासभा में जाना तो चाहता ही था। महासभा का मेरा यह पहला अनुभव था।

बम्बई मे जिस गाडी में सर फिरोजशाह चले, उसीमे में भी रवाना हुआ। उनमे मुझे दक्षिण अफ्रिका के विषय में बाते करनी थी। उनके डब्बे में एक स्टेशन तक जाने की मुझे आज्ञा मिली। वह खास सैलून में थे। उनके शाही वैभव और खर्च-वर्च से मै वाकिफ था। निश्चित स्टेशन पर मैं उनके डिब्बे में गया। उस समय उनके डिब्बे में तत्कालीन दीनशाजी और तब के चिमनलाल सेतलवाड बैठे थे। उनके साथ राजनीति की बाते हो रही थी। मुझे देखकर सर फिरोजशाह बोले—"गाधी, तुम्हारा काम पूरा पडने का नही। प्रस्ताव तो हम जैसा तुम कहोगे पास कर देंगे, पर पहले यही देखो न, कि हमारे ही देश मे हमें कौन मे हक मिल गये हैं? मै मानता हूँ कि जबतक अपने देश में हमें सत्ता नही मिली है तबतक उपनिवेशो में हमारी हालत अच्छी नही हो सकती।"

मै तो सुनकर स्तभित हो गया। सर चिमनलाल ने भी उन्हीकी हाँ में हाँ मिलाई। परन्तु सर दीनशा ने मेरी ओर दया-भरी दृष्टि से देखा।

मैंने उन्हे समझाने का प्रयत्न किया। परन्तु बम्बई के बिना ताज के बादशाह को भला मुझ-जैसा आदमी क्या समझा सकता था? मैंने इसी बात पर सन्तोप माना कि चलो महासभा में प्रस्ताव तो पेश हो जायगा!

"प्रस्ताव बना कर मुझे दिखाना भला, गाधी!" सर दीनशा मुझे उत्साहित करने के लिए बोले।

मैंने उन्हे धन्यवाद दिया। दूसरे स्टेशन पर गाडी खडी होते ही मैं वहाँसे खिसका और अपने डिब्बे मे आकर बैठ गया।

कलकत्ता पहुँचा। नगरवासी अध्यक्ष इत्यादि नेताओ को धूम-धाम से स्थान पर ले गये। मैंने एक स्वय-सेवक से पूछा—"ठहरने का प्रबन्ध कहा है?"

वह मुझे रिपन कालेज ले गया। वहाँ बहुतेरे प्रतिनिधि ठहरे हुए थे। सौभाग्य से जिस विभाग में मैं ठहरा था, वही लोकमान्य भी ठहराये गये थे। मुझे ऐसा स्मरण है कि वह एक दिन बाद आये थे। जहा लोकमान्य होते वहाँ छोटा-सा दरबार लगा ही रहता था। यदि मैं चितेरा होऊँ तो जिस चारपाई पर वह बैठते थे उसका चित्र खीचकर दिखा दूँ—

उस स्थान का और उनकी बैठक का इतना स्पष्ट स्मरण मुझे है ! उनसे मिलने आने वाले असंख्य लोगों में एक का नाम मुझे याद है—'अमृत-बाजार पत्रिका' के स्व० मोतीबाबू । इन दोनों का क़हक़हा लगाना और राजकर्त्ताओं के अन्याय-सम्बन्धी उनकी बातें कभी भुलाई नहीं जा सकतीं ।

पर ज़रा यहाँके प्रबन्ध की ओर दृष्टिपात करें ।

स्वयं-सेवक एक-दूसरे से लड़ पड़ते थे । जो काम जिसे सौंपा जाता वह उसे नहीं करता था; वह तुरन्त दूसरे को बुलाता और दूसरा तीसरे को । बेचारा प्रतिनिधि न इधर का रहता न उधर का ।

मैंने कुछ स्वयंसेवकों से मेल-मुलाक़ात की । दक्षिण अफ्रिका की कुछ बातें उनसे कीं । इससे वे कुछ शरमाये । मैंने उन्हें सेवा का मर्म समझाने की कोशिश की । वे कुछ-कुछ समझे । परन्तु सेवा का प्रेम कुकुरमुत्ते की तरह जहाँ-तहाँ उग नहीं निकलता । उसके लिए एक तो इच्छा होनी चाहिए और फिर अभ्यास । इन भोले और भले स्वयंसेवकों में इच्छा तो बहुत थी; पर तालीम और अभ्यास कहाँ से हो सकता था ? महासभा साल में तीन दिन होती और फिर सो रहती । हर साल तीन दिन की तालीम से कितनी बातें सीखी जा सकती हैं ?

जो स्वयं-सेवकों का हाल था, वही प्रतिनिधियों का । उन्हें भी तीन ही दिन तालीम मिलती थी । वे अपने हाथों कुछ भी नहीं करते थे; हर बात में हुक्म से काम लेते थे । 'स्वयं-सेवक, यह लाओ' और 'वह लाओ' यही हुक्म छूटा करते ।

छुआछूत का विचार भी बहुतों में था । द्राविड़ी रसोईघर बिलकुल जुदा था । इन प्रतिनिधियों को तो दृष्टि-दोष भी बरदाश्त न होता था । उनके लिए कम्पाउण्ड में एक जुदी पाकशाला बनाई गई थी । उसमें धुआँ इतना था कि आदमी का दम घुट जाय । खान-पान सब उसीमें होता । रसोईघर क्या था, मानो एक सन्दूक था; सब तरफ से बन्द !

मुझे यह वर्ण-धर्म अखरा । महासभा में आनेवाले प्रतिनिधियों को जब इतनी छूत लगती है तो जो लोग इन्हें अपना प्रतिनिधि बनाकर भेजते हैं उन्हें कितनी छूत लगती होगी, इसका त्रैराशिक लगाने पर मेरे

मुँह से सहसा पडा—"ओफ !"

गन्दगी की सीमा नही। चारों ओर पानी ही पानी हो रहा था। पाखाने कम थे। उनकी बदबू की याद से आज भी रोंगटे खडे हो जाते हैं। मैंने एक स्वयसेवक का ध्यान उसकी ओर खीचा। उसने बेधडक होकर कहा—"यह तो भगी का काम है।" मैंने झाड़ू मगाई। वह मेरा मुँह ताकता रहा। आखिर मैं ही झाड़ू खोज लाया। पाखाना साफ किया। पर यह तो हुआ अपनी सुविधा के लिए। लोग इतने ज्यादा थे और पाखाने इतने कम थे कि कई बार उनके साफ होने की जरूरत थी। पर यह मेरे काबू के बाहर था। इसलिए मुझे सिर्फ अपनी सुविधा करके सन्तोष मानना पडा। मैंने देखा कि औरो को यह गन्दगी खलती न थी।

पर यहीं तक बस नही है। रात के समय तो कोई कमरे के बरामदे में ही पाखाने बैठ जाता था। सुबह मैंने स्वयसेवक को वह मैला दिखाया। पर कोई साफ करने के लिए तैयार न था। यह गौरव आखिर मुझे ही प्राप्त हुआ।

आजकल इन बातो में यद्यपि थोडा-बहुत सुधार हुआ है, तथापि अ-विचारी प्रतिनिधि अब भी महासभा के कैम्प को जहाँ-तहाँ मल-त्याग करके बिगाड देते हैं, और सब स्वयसेवक उसे साफ करने को तैयार नही होते।

मैंने देखा कि यदि ऐसी गन्दगी में महासभा की बैठक अधिक दिनो तक जारी रहे तो अवश्य बीमारियाँ फैल निकले।

: १४ :

कारकुन और 'बेरा'[१]

महासभा के अधिवेशन को एक-दो दिन की देर थी। मैंने निश्चय किया था कि महासभा के दफ्तर में यदि मेरी सेवा स्वीकार हो तो कुछ सेवा करके अनुभव प्राप्त करूँ।

१ अंग्रेजी 'बेअरर' शब्द का अपभ्रंश, खिदमतगार। कलकत्ता में घर के नौकर को 'बेरा' कहने का रिवाज पड गया है।

जिस दिन हम आये उसी दिन नहा-धोकर महासभा के दफ्तर में गया। श्री भूपेन्द्रनाथ वसु और श्री घोषाल मन्त्री थे। भूपेन बाबू के पास पहुँच कर कोई काम मांगा। उन्होंने मेरी ओर देखकर कहा—

"मेरे पास तो कोई काम नहीं है—पर शायद, मि० घोषाल तुमको कुछ बतावेंगे। उनसे मिलो।"

मैं घोषाल बाबू के पास गया। उन्होंने मुझे नीचे से ऊपर तक देखा। कुछ मुस्कराये और बोले—

"मेरे पास कारकुन का काम है—करोगे?"

मैंने उत्तर दिया—"जरूर करूँगा। अपने बल-भर सब कुछ करने के लिए मैं आपके पास आया हूँ।"

"नवयुवक, सच्चा सेवा-भाव इसीको कहते हैं।"

कुछ स्वयंसेवक उनके पास खड़े थे। उनकी ओर मुखातिब होकर कहा—

"देखते हो, इस नवयुवक ने क्या कहा?"

फिर मेरी ओर देखकर कहा—"तो लो, यह चिट्ठियों का ढेर, और यह मेरे सामने पड़ी है कुरसी, उसे ले लो। देखते हो न, सैकड़ों आदमी मुझसे मिलने आया करते हैं। अब मैं उनसे मिलूँ या ये लोग फालतू चिट्ठियाँ लिखा करते हैं इन्हें उत्तर दूँ? मेरे पास ऐसे कारकून नहीं कि जिनसे मैं यह काम करा सकूँ। इन चिट्ठियों में बहुतेरी तो फ़िजूल होंगी। पर तुम सबको पढ़ जाना। जिनकी पहुँच लिखना जरूरी हो उनकी पहुँच लिख देना और जिनके उत्तर के लिए मुझसे पूछना हो पूछ लेना।"

उनके इस विश्वास से मुझे बड़ी खुशी हुई।

श्री घोषाल मुझे पहचानते न थे। नाम-ठाम तो मेरा उन्होंने बाद को जाना। चिट्ठियों के जवाब आदि का काम आसान था। उन सबको मैंने तुरन्त निपटा दिया। घोषाल बाबू खुश हुए। उन्हें बात करने की आदत थी। मैं देखता था कि वह बातों में बहुत समय लगाया करते थे। मेरा इतिहास जानने के बाद तो कारकुन का काम देने से उन्हें जरा शर्म मालूम हुई। पर मैंने उन्हें निश्चिन्त कर दिया।

"कहाँ मैं और कहाँ आप! आप महासभा के पुराने सेवक, मेरे

नजदीक तो आप बुजुर्ग है। मै ठहरा अनुभवहीन नवयुवक, यह काम सौंप कर मुझपर तो आपने अहसान ही किया है। क्योकि मुझे आगे चलकर महासभा में काम करना है। उसके काम-काज को समझने का अलभ्य अवसर आपने मुझे दिया है।"

"सच पूछो तो यही सच्ची मनोवृत्ति है। परन्तु आजकल के नवयुवक ऐसा नही मानते। पर मैं तो महासभा को उसके जन्म से पहचानता हूँ। उसकी स्थापना करने में मि० ह्यूम के साथ मेरा भी हाथ था।" घोषाल बाबू बोले।

हम दोनो में खासा सम्बन्ध होगया। दोपहर के खाने के समय वह मुझे साथ रखते। घोषाल बाबू के बटन भी 'बेरा' लगाता। यह देखकर 'बेरा' का काम खुद मैंने लिया। मुझे वह अच्छा लगता। बडे-बूढो की ओर मेरा बड़ा आदर रहता था। जब वह मेरे मनोभाव से परिचित हो गये, तब अपनी निजी सेवा का सारा काम मुझे करने देते थे बटन लगवाते हुए मुँह पिचकाकर मुझे कहते—"देखो न, महासभा के सेवक को बटन लगाने तक की फुरसत नहीं मिलती। क्योकि उस समय भी वे काम में लगे रहते हैं।" इस भोलेपन पर मुझे मन में हँसी तो आई, परन्तु ऐसी सेवा के लिए मन में अरुचि बिलकुल न हुई। उससे जो लाभ मुझे हुआ उसकी कीमत नही आँकी जा सकती।

थोडे दिनो में मै महासभा के तन्त्र से परिचित होगया। बहुत से अगुआओ से भेंट हुई। गोखले, सुरेन्द्रनाथ आदि योद्धा आते-जाते रहते। उनका रग-ढग मै देख सका। महासभा में समय जिस तरह बरबाद होता था, वह मेरी नजर में आया। अग्रेजी भाषा का दौर-दौरा भी देखा। इससे उस समय भी दु ख हुआ था। मैंने देखा कि एक आदमी के करने के काम में उससे अधिक आदमी लग जाते और कुछ जरूरी कामो को तो कोई भी नही करता था।

मेरा मन इन तमाम बातो की आलोचना किया करता था। परन्तु चित्त उदार था—इसलिए, यह मान लेता कि शायद इससे अधिक सुधार होना असभव होगा। फलत किसीके प्रति मन में दुर्भाव उत्पन्न न हुआ।

: १५ :

महासभा में

महासभा शुरू हुई। मण्डप का भव्य दृश्य, स्वयसेवको की कतार, मच पर बड़े-बूढो के समुदाय को देखकर मै दग होगया। इस सभा में भला मेरा क्या पता चलेगा इस विचार से मै बेचैन हुआ।

सभापति का भाषण एक खासी पुस्तक थी उसका पूरा पढा जाना मुश्किल था। कोई-कोई अश ही पढे गये।

फिर विषय-निर्वाचिनी समिति के सदस्य चुने गये। गोखले मुझे उसमें ले गये थे।

सर फ़िरोजशाह ने मेरा प्रस्ताव लेना स्वीकार तो कर ही लिया था। मै यह सोचता हुआ समिति में बैठा था कि उस प्रस्ताव को समिति मे कौन पेश करेगा, कब करेगा, आदि। हर प्रस्ताव पर लम्बे-लम्बे भाषण होते थे; और सब-के-सब अंग्रेजी में। प्रत्येक प्रस्ताव के समर्थक कोई-न-कोई प्रसिद्ध पुरुष थे। इस नक्कारखाने में मुझ तूती की आवाज कौन सुनेगा? ज्यो-त्यो रात जाती थी, त्यो-त्यो मेरा दिल धडकता था। मुझे याद आता है कि अन्त में रह जानेवाले प्रस्ताव आजकल के वायुयान की गति से चलते थे। सब घर भागने की तैयारी में थे। रात के ११ बजे गये। बोलने की हिम्मत न होती थी। पर मै गोखले से मिल लिया था और उन्होंने मेरा प्रस्ताव देख लिया था।

उनकी कुरसी के पास जाकर मैंने धीरे से कहा—

"मेरी बात न भूलिएगा।"

उन्होंने कहा—"तुम्हारा प्रस्ताव मेरे ध्यान में है। यहाँ की जल्दी तो तुम देख ही रहे हो। पर मै उसे भूल में न पड़ने दूँगा।"

"अब सब खतम हुआ न?" सर फिरोजशाह बोले।

"अभी तो दक्षिण अफ्रिका का प्रस्ताव बाकी है न? मि० गाधी बैठे

राह देख रहे है ।" गोखले बोल उठे ।

"आपने उस प्रस्ताव को देख लिया है ?" सर फिरोजशाह ने पूछा ।

"हाँ, जरूर ।"

"आपको ठीक जँचा है ?"

"हाँ, सब ठीक है ।"

"तो गाधी, पढो तो ।"

मैंने कांपते हुए पढ सुनाया ।

"गोखले ने उसका समर्थन किया ।"

"सर्वसम्मति से पास"—सब बोल उठे ।

"गाधी, तुम पाँच मिनट बोलना ।" वाच्छा बोले ।

इस दृश्य से मुझे खुशी न हुई । किसीने प्रस्ताव को समझ लेने का कष्ट न उठाया । सब दौड-भाग में थे । गोखले के देख लेने से औरो ने देखने-सुनने की जरूरत न समझी ।

सुबह हुई ।

मुझे तो अपने भाषण की पडी थी । पाँच मिनट में क्या कहूँगा ? मैंने अपनी तरफ से तैयारी तो ठीक-ठीक की थी, परन्तु आवश्यक शब्द न सूझते थे । इधर यह निश्चय कर लिया था कि कुछ भी हो लिखित भाषण न पढूँगा । पर ऐसा प्रतीत हुआ, मानो दक्षिण अफ्रीका में बोलने की जो निःसकोचता आ गई थी वह यहाँ खो गई ।

मेरे प्रस्ताव का समय आया और सर दीनशा ने मेरा नाम पुकारा । मैं खडा हुआ, सिर चक्कर खाने लगा । ज्यो-त्यो करके प्रस्ताव पढा । किसी कवि ने अपनी एक कविता समस्त प्रतिनिधियो में बाँटी थी । उसमें विदेश जाने और समुद्र-यात्रा करने की स्तुति की गई थी । मैंने उसे पढ सुनाया और दक्षिण अफ्रीका के दुःखो की कुछ बात सुनाई । इतने में सर दीनशा ने घटी बजाई । मुझे निश्चय था कि अभी पाँच मिनट नही हुए है । पर मै यह नही जानता था कि यह घण्टी तो मुझे चेतावनी देने के लिए दो मिनिट पहले ही बजा दी गई थी । मैंने बहुतो को आध-आध घण्टे तक बोलते सुना था, पर घण्टी न बजती थी । इससे

दु:ख हुआ। घण्टी बजते ही मैं बैठ गया। परन्तु मेरी अल्प बुद्धि ने उस समय मान लिया कि उस कविता के द्वारा सर फिरोजशाह को उत्तर मिल गया था।

प्रस्ताव के पास होने के सम्बन्ध तो पूछना ही क्या? उस समय प्रेक्षक और प्रतिनिधि का भेद क्वचित ही था। प्रस्तावों का विरोध भी कोई न करता था। सब हाथ ऊँचा कर लेते थे। तमाम प्रस्ताव एक-मत से पास होते थे। मेरे प्रस्ताव का भी यही हाल हुआ। इस कारण मुझे इस प्रस्ताव का महत्व न जँचा, फिर भी महासभा में उस प्रस्ताव का होना ही मेरे आनन्द के लिए बस था। महासभा की मुहर जिस पर लग गई उसपर सारे भारतवर्ष की मुहर है—यह ज्ञान किसके लिए काफी नहीं है?

: १६ :

लार्ड कर्जन का दरबार

महासभा तो समाप्त हुई, परन्तु मुझे दक्षिण अफ्रिका के काम के लिए कलकत्ते में रहकर 'चेम्बर ऑफ कामर्स' इत्यादि संस्थाओं से मिलना था, इसलिए मैं एक महीना कलकत्ते ठहर गया। इस बार होटल में ठहरने के बदले, परिचय प्राप्त करके 'इण्डिया क्लब' में रहने का प्रबन्ध किया। इसमें मुझे लोभ यह था कि यहाँ गण्यमान्य हिन्दुस्तानी ठहरा करते हैं, अतएव उनके संपर्क में आकर दक्षिण अफ्रिका के काम में उनकी दिलचस्पी पैदा कर सकूँगा। इस क्लब में गोखले हमेशा नहीं तो कभी कभी बिलियर्ड खेलने आते थे। उन्हें इस बात की खबर मिलते ही कि मैं कलकत्ता में रहनेवाला हूँ, उन्होंने मुझे अपने साथ रहने का निमन्त्रण दिया। मैंने उसे सादर स्वीकार किया। परन्तु अपने-आप वहाँ जाना मुझे ठीक न मालूम हुआ। एक दो दिन राह देखी थी कि गोखले खुद आकर अपने साथ मुझे ले गये। मेरी संकोचवृत्ति देखकर उन्होंने कहा—

"गांधी, तुम्हे तो इसी देश में रहना है, इसलिए ऐसी शरम से काम न चलेगा। जितने लोगो के सपर्क में आसको, तुम्हे आना चाहिए। मुझे तुमसे महासभा का काम लेना है।"

गोखले के यहा जाने से पहले का, 'इडियां क्लब' का एक अनुभव यहाँ दे देता हूँ।

इन्ही दिनो लार्ड कर्जन का दरबार था। उसमें जाने वाले जो राजा-महाराजा इस क्लब में थे, मैं उन्हे हमेशा क्लब में उम्दा बगाली धोती-कुरता पहने तथा चादर डाले देखता था। आज उन्होने पतलून, चोगा, खानसामा जैसी पगडी और चमकीले बूट पहने। यह देखकर मुझे दु ख हुआ और इस वेशान्तर का कारण उनसे पूछा।

"हमारा दु ख हम ही जानते है। हमारी धन-सम्पत्ति और उपाधियो को कायम रखने के लिए हमें जो-जो अपमान सहन करने पडते हैं, उन्हे आप कैसे जान सकते है ?" उत्तर मिला।

"परन्तु यह खानसामा जैसी पगड़ी और बूट-क्यो ?"

"हममें और खानसामा में आपने फर्क क्या समझा ? वे हमारे खानसामा है, तो हम लार्ड कर्जन के खानसामा है ? यदि मैं दरबार में गैर-हाजिर रहूँ तो मुझे उसका फल भोगना पडे। अपने मामूली लिबास में जाऊँ तो वह अपराध समझा जाय। और वहा जाकर भी क्या मैं लार्ड कर्जन से बात-चीत कर सकूँगा ? बिलकुल नही।"

मुझे इस शुद्ध-हृदय भाई पर दया आई।

इसी तरह का एक और दरबार याद आता है। जब काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय का शिलारोपण लार्ड हार्डिञ्ज के हाथो हुआ, तब उनके लिए दरबार किया गया था। उसमें राजा-महाराजा तो थे ही, भारत-भूषण मालवीयजी ने मुझे भी उसमें उपस्थित रहने के लिए खास तौर पर आग्रह किया था। मैं वहाँ गया। राजा-महाराजाओ के वस्त्राभूषणो को, जो केवल स्त्रियो को ही शोभा दे सकते थे, देखकर मुझे बडा दुःख हुआ। रेशमी पजामे, रेशमी अगरखे और गले में हीरे-मोतियो की मालायें बांह पर बाजूबन्द और पगडियो पर हीरे-मोतियो की लडियाँ और तुर्रे !

इन सबके साथ कमर में सोने मूठ की तलवार लटकती रहती। किसीने कहा—ये इनके राज्याधिकार के नही बल्कि गुलामी के चिन्ह हैं। मैं समझता था कि ऐसे नामर्दी के आभूषण वे स्वेच्छा से पहनते होगे। परन्तु मुझे मालूम हुआ कि ऐसे समारोह में अपने तमाम कीमती वस्त्राभूषण पहनकर आना उनके लिए लाजिमी था। मुझे पता लगा कि कितने ही राजाओ को तो ऐसे वस्त्राभूषणो से नफरत थी, और ऐसे दरबार के अवसर के अलावा वे कभी उन्हें नहीं पहनते थे। मैं नही कह सकता कि यह बात कहाँ तक सच है। दूसरे अवसरो पर वे चाहे पहनते हो या न पहनते हो, स्त्रियोचित आभूषण पहनकर उन्हें जाना पडता है, यही काफी दुःखदायक है। धन, सत्ता और मान मनुष्यत्व से क्या-क्या पाप और अनर्थ नही कराते ?

: १७ :

गोखले के साथ एक मास—१

पहले ही दिन गोखले ने मुझे मेहमान न समझने दिया, मुझे अपने छोटे भाई की तरह रक्खा। मेरी तमाम जरूरतें मालूम करलीं और उनका प्रबन्ध कर दिया। खुश-किस्मती से मेरी जरूरतें बहुत कम थीं। सब काम खुद कर लेने की आदत डाल ली थी, इसलिए औरो से मुझे बहुत ही कम काम कराना पडता था। स्वावलम्बन की मेरी इस आदत की, उस समय के मेरे कपडे-लत्ते की सुघड़ता की, मेरी उद्योगशीलता और नियमितता की बड़ी गहरी छाप उनपर पडी और उनकी इतनी स्तुति करने लगे कि मैं परेशान हो जाता।

मुझे यह न मालूम हुआ कि उनकी कोई बात मुझसे गुप्त थी। जो कोई बडे आदमी उनसे मिलने आते उनका परिचय वह मुझसे कराते थे। इन परिचयो में जो आज सबसे प्रधानरूप से मेरी नजरो के सामने खडे हो जाते है वह है डॉ० प्रफुल्लचन्द्र राय। वह गोखले के मकान के पास ही रहते थे और प्राय हमेशा आया करते थे।

"यह है प्रोफेसर राय, जो ८००) मासिक पाते हैं, पर अपने खर्च के लिए सिर्फ ४०) लेकर बाकी सब लोक-सेवा में लगा देते है। उन्होने शादी नही की है, न करना ही चाहते है।" इन शब्दो में गोखले ने मुझे उनका परिचय कराया।

आज के डा० राय में और उस समय के प्रो० राय मे मुझे थोडा ही भेद दिखाई देता है। जैसे कपडे उस समय पहनते थे आज भी लगभग वैसे ही पहनते है। हाँ, अब खादी आ गई। उस समय खादी तो थी ही नही। स्वदेशी मिलो के कपडे होगे। गोखले और प्रो० राय की बाते सुनते हुए मैं न अघाता था, क्योकि उनकी बाते या तो देश-हित के सबध में होती या होती ज्ञान-चर्चा। कितनी ही बाते दु खद भी होती, क्योकि उनमें नेताओ की आलोचना भी होती थी। जिन्हे मै महान् योद्धा मानना सीखा था, वे छोटे दिखाई देने लगे।

गोखले की काम करने की पद्धति से मुझे जितना आनन्द हुआ उतना ही बहुत-कुछ सीखा भी। वह अपना एक भी क्षण व्यर्थ न जाने देते थे। मैंने देखा कि उनके तमाम सबंध देश-कार्य के ही लिए होते थे। बाते भी तमाम देश-कार्य के ही निमित्त होती थी। बातो में कही भी मलिनता दम्भ या असत्य न दिखाई दिया। हिन्दुस्तान की गरीबी और पराधीनता उन्हे प्रतिक्षण चुभती थी। अनेक लोग उन्हें अनेक बातो में दिलचस्पी कराने आते। वे उन्हे एक ही उत्तर देते—"आप इस काम को कीजिए, मुझे तो देश की स्वाधीनता प्राप्त करनी है। उसके बाद मुझे दूसरी बाते सूझेंगी। अभी तो इस काम से मुझे एक क्षण फुरसत नही रहती।"

रानडे के प्रति उनका पूज्य भाव बात-बात में टपक पडता था। 'रानडे ऐसा कहते थे,' यह तो उनकी बातचीत का मानो 'सूत-उवाच' ही था। मेरे वहाँ रहते हुए रानडे की जयन्ती (या पुण्यतिथि, अब ठीक याद नही है) पडती थी। ऐसा जान पडा, मानो गोखले सर्वदा उसको मनाते हो। उस समय मेरे अलावा उनके मित्र प्रोफेसर काथवटे तथा दूसरे एक सज्जन थे। उन्हें उन्होने जयन्ती मनाने के लिए निमन्त्रित किया और उस अवसर पर उन्होंने हमें रानडे के कितने ही सस्मरण कह

सुनाये । रानडे, तैलंग और माण्डलिक की तुलना की थी । ऐसा याद पडता है कि तैलंग की भाषा की स्तुति की थी । माण्डलिक की सुधारक के रूप में प्रशंसा की थी । अपने मवक्किलों की वह कितनी चिन्ता रखते थे, इसका एक उदाहरण दिया । एक बार गाडी चूक गई, तो माण्डलिक स्पेशल ट्रेन करके गये । यह घटना कह सुनाई । रानडे की सर्वांगीण शक्ति का वर्णन करके बताया कि वह तत्कालीन अग्रणियो में सर्वोपरि थे । रानडे अकेले न्यायमूर्ति न थे । वह इतिहासकार थे, अर्थशास्त्री थे । सरकारी जज होते हुए भी महासभा में प्रेक्षक के रूप में निर्भय होकर आते थे । फिर उनकी समझदारी पर लोगो का इतना विश्वास था कि सब उनके निर्णयो को मानते थे । इन बातो का वर्णन करते हुए गोखले के हर्ष का ठिकाना न रहता था ।

गोखले घोडा-गाडी रखते थे । मैंने उनसे शिकायत की । मैं उनकी कठिनाइयाँ न समझ सका था । "क्या आप सब जगह ट्राम में नहीं जा सकते ? क्या इससे नेताओ की प्रतिष्ठा कम हो जायगी ?"

कुछ दुःखित होकर उन्होने उत्तर दिया—"क्या तुम भी मुझे न पहचान सके ? बडी धारासभा मे जो कुछ मुझे मिलता है उसे मैं अपने काम में नहीं लेता । तुम्हारे ट्राम के सफर पर मुझे ईर्ष्या होती है । पर मैं ऐसा नही कर सकता । जब तुमको मेरे जितने लोग पहचानने लग जावेंगे तब तुम्हे भी ट्राम में बैठना असम्भव नही तो मुश्किल जरूर हो जायगा । नेता लोग जो कुछ करते है, केवल आमोद-प्रमोद ही के लिए करते है, यह मानने का कोई कारण नही । तुम्हारी सादगी मुझे पसन्द है । मैं भरसक सादगी से रहता हूँ । पर यह बात निश्चित समझना कि कुछ कार्य तो मुझ जैसो के लिए अनिवार्य हो जाता है ।"

इस तरह मेरी एक शिकायत तो ठीक तरह से रद्द होगई, पर मुझे एक दूसरी शिकायत भी थी और उसका वह सन्तोष-जनक उत्तर न दे सके ।

"पर आप घूमने भी तो पूरे नही जाते । ऐसी हालत में आप बीमार क्यो न रहें ? क्या देश-कार्य से व्यायाम के लिए भी फुरसत नहीं मिल सकती ?" मैंने कहा ।

"मुझे तुम कब फुरसत में देखते हो कि जिस समय मैं घूमने जाता ?" उत्तर मिला।

गोखले के प्रति मेरे मन में इतना आदर-भाव था कि मैं उनकी बातों का जवाब न देता था। इस उत्तर से मुझे सन्तोष न हुआ, पर मैं चुप रहा। मैं मानता था और अब भी मानता हूँ कि जिस तरह हम भोजन-पान के लिए समय निकालते हैं उसी तरह व्यायाम के लिए भी निकालना चाहिए। मेरी यह नम्र सम्मति है कि उससे देश-सेवा कम नहीं, अधिक होती है।

: १८ :

गोखले के साथ एक मास—२

गोखले की छत्रच्छाया में रहकर यहाँ मैंने अपना सारा समय घर में बैठ कर नहीं बिताया।

मैंने अपने दक्षिण अफ्रीका वाले ईसाई मित्रों से कहा था कि भारत में मैं अपने देशी-ईसाइयों से जरूर मिलूँगा और उनकी स्थिति को जानूँगा। कालीचरण बनर्जी का नाम मैंने सुना था। राष्ट्रीय महासभा में वह आगे बढ-बढकर काम करते थे, इसलिए उनके प्रति मेरे मन में आदर-भाव हो गया था। क्योंकि हिन्दुस्तानी ईसाई आम तौर पर महासभा से और हिन्दुओं तथा मुसलमानों से अलग रहते थे, इसलिए जो अविश्वास उनके प्रति था, वह कालीचरन बनर्जी के प्रति न दिखाई दिया। मैंने गोखले से कहा कि मैं उनसे मिलना चाहता हूँ। उन्होंने कहा—"वहाँ जाकर तुम क्या करोगे ? वह हैं तो बहुत भले आदमी, परन्तु मैं समझता हूँ कि उनसे मिलकर तुम्हें सन्तोष न होगा। मैं उनको खूब जानता हूँ। फिर भी तुम जाना चाहो तो खुशी से जा सकते हो।"

मैंने कालीबाबू से मिलने का समय मांगा। उन्होंने तुरन्त समय दिया और मैं मिलने गया। घर में उनकी धर्मपत्नी मृत्युशय्या पर पडी हुई थी। वहां सर्वत्र सादगी फैली हुई थी। महासभा में वह कोट-पतलून

पहने हुए थे, पर घर में बंगाली धोती व कुरता पहने हुए देखा। यह सादगी मुझे भाई। उस समय यद्यपि मैं पारसी कोट-पतलून पहने हुए था, तथापि उनकी पोशाक और सादगी मुझे बहुत ही प्रिय लगी। मैंने और बातों में उनका समय न लेकर अपनी उलझनें उनके सामने पेश कीं।

उन्होंने मुझसे पूछा, "आप यह बात मानते हैं या नहीं कि हम अपने पापों को साथ लेकर जन्म पाते हैं?"

मैंने उत्तर दिया—"हाँ, जरूर।"

"तो इस मूल पाप के निवारण का उपाय हिन्दू-धर्म में नहीं, ईसाई-धर्म में है।"

यह कहकर उन्होंने कहा—"पाप का बदला है मौत। बाइबल कहती है कि इस मौत से बचने का मार्ग है ईसा की शरण में जाना।"

मैंने भगवद्गीता का भक्ति-मार्ग उनके सामने उपस्थित किया, परन्तु मेरा यह उद्योग निरर्थक था। मैंने उनकी सज्जनता के लिए उनको धन्यवाद दिया। मुझे संतोष तो न हुआ, फिर भी इस मुलाकात से लाभ ही हुआ।

इसी महीने में मैंने कलकत्ते की एक-एक गली की खाक छान डाली। प्राय पैदल ही जाता था। इसी समय मैं न्यायमूर्ति मित्र से मिला। सर गुरुदास बनर्जी से भी मिला। इन सज्जनों की सहायता दक्षिण अफ्रीका के काम के लिए आवश्यक थी। राजा सर प्यारीमोहन मुकर्जी के दर्शन भी इसी समय हुए।

कालीचरण बनर्जी ने मुझसे काली-मन्दिर का जिक्र किया था। उसे देखने की मुझे प्रबल इच्छा थी। एक पुस्तक में मैंने वहाँ का वर्णन भी पढ़ा। सो एक दिन वहाँ चला गया। न्यायमूर्ति मित्र का मकान उसी मुहल्ले में था। इसलिए मैं जिस दिन उनसे मिला, उसी दिन काली-मंदिर गया। रास्ते में बलिदान के बकरों की कतार जाती हुई देखी। मन्दिर की गली में पहुँचते ही भिखारियों की भीड़ दिखाई दी। बाबा-बैरागी तो थे ही। उस समय भी मेरा यह नियम था कि हट्टे-कट्टे भिखारी को कुछ न दिया जाय; पर भिखारी तो बहुत ही पीछे पड़े थे।

एक बाबाजी एक चौतरे पर बैठे थे। उन्होने मुझे बुलाया, "क्यो बेटा, कहाँ जाते हो ?" मैंने यथोचित उत्तर दिया। उन्होंने मुझे तथा मेरे साथी को बैठने के लिए कहा। हम बैठ गये।

मैंने पूछा—"इन बकरो के बलिदान को आप धर्म समझते है ?"

उन्होने कहा—"जीवन-हत्या को धर्म कौन मानेगा ?"

"तो आप यहाँ बैठे-बैठे लोगो को उपदेश क्यो नही देते ?"

"यह हमारा काम नही। हम तो यहाँ बैठकर भगवद्भक्ति करते है।"

"पर आपको भक्ति के लिए यही स्थान मिला, दूसरा नही ?"

"कही भी बैठें, हमारे लिए सब जगह एकसी है। लोगो को क्या, वे तो भेड-बकरी के झुण्ड की तरह है, जिधर हाँकें, उधर चले जायें। हम साधुओ को इससे क्या मतलब ?" बाबाजी बोले।

मैंने सम्वाद आगे न बढाया। इसके बाद हम मन्दिर में पहुँचे। सामने लहू की नदी बह रही थी। दर्शन करने के लिए खडे रहने की इच्छा न रही। मेरे मन में बडा क्षोभ उत्पन्न हुआ। मै छटपटाने लगा। इस दृश्य को मैं अबतक नही भूल सका हूँ।

उसी समय बगाली मित्रो की एक पार्टी में मुझे निमन्त्रण था, वहाँ मैंने एक सज्जन से इस बात की पूजा के सम्बन्ध में बातचीत की। उन्होंने कहा, "वहाँ बलिदान के समय खूब नौबत बजती है, जिसकी गूँज में बकरो को कुछ मालूम नही होता। यह मानते है कि ऐसी गूँज में चाहे जिस तरह मारे, उन्हे तकलीफ नही होती।"

मुझे यह बात न जँची। मैंने कहा, "यदि वे बकरे बोल सके तो इससे भिन्न बात कहेगे।" मुझे बुद्धदेव वाली कथा याद आई; परन्तु मैंने देखा कि यह काम मेरे सामर्थ्य के बाहर था।

उस समय इस सम्बन्ध में मेरी जो धारणा हुई वह अब भी मौजूद है। मेरे नजदीक बकरे के प्राण की कीमत मनुष्य के प्राण से कम नहीं है। मनुष्य-देह को कायम रखने के लिए बकरे का खून करने को मै कभी तैयार न होऊँगा। मै मानता हूँ कि जो प्राणी जितना ही अधिक असहाय होगा, वह मनुष्य की घातकता से बचने के लिए मनुष्य के आश्रय का

उतना ही अधिक अधिकारी है। परन्तु इसके लिए काफी योग्यता का अधिकार प्राप्त किये बिना मनुष्य आश्रय देने में समर्थ नहीं हो सकता। बकरों को इस क्रूर होम से बचाने के लिए मुझे बहुत आत्मशुद्धि और त्याग की आवश्यकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि अभी तो इस शुद्धि और त्याग का रटन करते-करते ही मुझे यह देह छोड़नी पड़ेगी। परमात्मा करे ऐसा कोई तेजस्वी पुरुष अथवा कोई तेजस्वी सती उत्पन्न हो, जो इस महापातक से मनुष्य को बचाये. निर्दोष जीवों की रक्षा करे और मन्दिर को शुद्ध करे। मैं निरन्तर यह प्रार्थना किया करता हूँ। ज्ञानी, बुद्धिमान, त्याग-वृत्ति और भावना-प्रधान बंगाल क्योंकर इस हत्या को सहन कर रहा है।

: १९ :

गोखले के साथ एक मास—३

काली-माता के निमित्त यह जो विकराल यज्ञ हो रहा है, उसको देखकर बंगाली-जीवन का अध्ययन करने की मेरी इच्छा तीव्र हुई। उसमें ब्रह्म-समाज के विषय में तो मैंने ठीक तौर पर साहित्य पढ़ा था और सुना भी था। प्रतापचन्द्र मजूमदार के जीवन-वृत्तान्त से मैं थोड़ा-बहुत परिचित था। उनके व्याख्यान सुने थे। उनका लिखा केशवचन्द्रसेन का जीवनचरित्र लेकर बड़े चाव से पढ़ा और साधारण ब्रह्म-समाज तथा आदि ब्रह्म-समाज का भेद मालूम किया। पण्डित शिवनाथ शास्त्री के दर्शन किये। महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर के दर्शन करने प्रो० काथवटे और मैं गये। पर उस समय वह किसीसे मिलते-जुलते न थे। अतएव हम उनके दर्शन न कर सके। उनके यहाँ ब्रह्म-समाज का उत्सव था। उसमें हम भी निमन्त्रित किये गये थे। वहाँ ऊँचे दर्जे का बंगाली संगीत सुना। तभी से बंगाली संगीत से मेरा अनुराग हो गया।

ब्रह्म-समाज का, जितना हो सकता था, अध्ययन करने के बाद भला यह कैसे हो सकता था कि स्वामी विवेकानन्द के दर्शन न करता? बड़ी

उत्सुकता के साथ मैं बेलूर-मठ तक प्राय पैदल गया। कितना पैदल चला था, यह अब याद नही पडता है। मठ का एकान्त स्थान मुझे बडा सुहावना मालूम हुआ। वहाँ जाने पर मालूम हुआ कि स्वामीजी बीमार है, उनसे मुलाकात नही हो सकती, और वह अपने घर कलकत्ते में है। यह समाचार सुनकर मैं निराश हुआ। भगिनी निवेदिता के घर का पता पूछा। चौरगी के एक महल में उनके दर्शन हुए। उनकी शान को देखकर मै भौंचक्का रह गया। बातचीत में भी हमारी पटरी न बैठी। मैंने गोखले से इसका जिक्र किया तो उन्होने कहा, 'वह देवी बडी तेज है, तुम्हारी उसकी पटरी बैठनी मुश्किल है।'

एक बार और उनसे मेरी भेंट पेस्तनजी पादशाह के यहाँ हुई थी। जिस समय मै वहाँ पहुँचा, वह पेस्तनजी की वृद्धा माता को उपदेश दे रही थी, इसलिए मै अनायास उनका दुभाषिया बन गया। यद्यपि भगिनी का और मेरा मेल न बैठता था, तथापि मै इतना अवश्य देख सका कि हिन्दू-धर्म के प्रति उनका प्रेम अगाध है। उनकी पुस्तकें मैंने बाद को पढी।

अपने दैनिक कार्यक्रम के मैंने दो विभाग किये थे। आधा दिन दक्षिण अफ्रिका के काम के सिलसिले में कलकत्ते के नेताओ से मिलने में बिताता, और आधा दिन कलकत्ते की धार्मिक सस्थाओ तथा दूसरी सार्वजनिक सस्थाओ को देखने में। एक दिन मैंने डा० मल्लिक की अध्यक्षता में एक व्याख्यान दिया। उसमें मैंने यह बताया कि बोअर-युद्ध के समय हिन्दुस्तानियो के परिचारक-दल ने क्या काम किया था। 'इग्लिशमैन' के साथ जो मेरा परिचय था, वह इस समय भी सहायक साबित हुआ। मि० साण्डर्स का स्वास्थ्य इन दिनो खराब रहता था, फिर भी १८९६ की तरह इस समय भी उनसे मुझे उतनी ही मदद मिली। मेरा यह भाषण गोखले को पसन्द आया और जब डा० राय ने मेरे व्याख्यान की तारीफ उनसे की तो उसे सुनकर वह बडे प्रसन्न हुए थे।

इस तरह गोखले की छत्रच्छाया रहने के कारण बगाल में मेरा काम बहुत सरल हो गया। बगाल के अग्रगण्य परिवारो से मेरा परिचय आसानी से हो गया, और बगाल के साथ मेरा निकट सम्बन्ध हुआ।

इस चिरस्मरणीय महीने के कितने सस्मरण मुझे छोड देने पडेंगे। उसी महीने में ब्रह्मदेश में भी गोता लगा आया था। वहाँ के फुंगियो से मिल उनके आलस्य को देखकर बडा दु ख हुआ। सुवर्ण पेगोडे के भी दर्शन किये। मन्दिर में असख्य छोटी-छोटी मोमबत्तियाँ जल रही थी, वे कुछ जँची नही। मन्दिर के गर्भ-गृह में चूहो को दौडते हुए देखकर स्वामी दयानन्द का अनुभव याद आया। ब्रह्मदेश की महिलाओ की स्वतन्त्रता और उत्साह को देखकर मुग्ध होगया और पुरुषो की मन्दता देखकर दु ख हुआ। उसी समय मैंने देख लिया कि जैसे बम्बई हिन्दुस्तान नही, उसी तरह रगून ब्रह्मदेश नही है, और जिस प्रकार हिन्दुस्तान में हम अग्रेज-व्यापारियो के कमीशन-एजेंट बन गये है, उसी तरह ब्रह्मदेश में अग्रेजो के साथ मिलकर हमने ब्रह्मदेश-वासियो को कमीशन-एजेंट बनाया है।

ब्रह्मदेश से लौटकर मैंने गोखले से बिदा माँगी। उनका वियोग मेरे लिए दु सह था, परन्तु मेरा बगाल का, अथवा सच पूछिए तो यहाँ कल-कत्ते का, काम समाप्त हो गया था।

मेरा यह विचार था कि पहले मैं थोडा-बहुत सफर तीसरे दर्जे में करूँ, जिससे तीसरे दर्जे के मुसाफिरो की हालत को मैं जान लूँ और दु खो को समझ लूँ। गोखले के सामने मैंने अपना यह विचार रक्खा। पहले-पहल तो उन्होंने इसे हँसी में टाल दिया, पर जब मैंने यह बताया कि इसमें मैंने क्या-क्या बातें सोच रक्खी है, तब उन्होंने, खुशी से मेरी योजना को स्वीकार किया। सबसे पहले मैंने काशी जाकर विदुषी ऐनी बेसेंट के दर्शन करना स्थिर किया। वह उस समय बीमार थीं।

तीसरे दर्जे की यात्रा के लिए मुझे नया साज-समाज जुटाना था। पीतल का एक डिब्बा गोखले ने खुद ही दिया और उसमें मेरे लिए मगज के लड्डू और पूरी रखवा दीं। बारह आने का एक केनवास का बेग खरीदा। छाया (पोरबन्दर के नजदीक के एक गाँव) के ऊन का एक लम्बा कोट बनवाया था, बेग में यह कोट, तौलिया, कुर्ता और धोती रक्खी। ओढने के लिए एक कम्बल साथ लिया। इसके अलावा एक लोटा भी साथ रक्खा था। इतना सामान लेकर मैं रवाना हुआ।

गोखले और डा० राय मुझे स्टेशन पहुँचाने आये। मैंने दोनों से अनुरोध किया था कि वे न आवें, पर उन्होंने एक न सुनी। "तुम यदि पहले दर्जे में सफर करते तो मैं नहीं आता, पर अब तो जरूर चलूँगा"— गोखले बोले।

प्लेटफार्म पर जाते हुए गोखले को तो किसीने न रोका। उन्होंने सिर पर अपना रेशमी साफा बाँधा था, और धोती तथा कोट पहना था। डा० राय बंगाली लिबास में थे, इसलिए टिकट बाबू ने अन्दर आते हुए पहले तो रोका, पर गोखले ने कहा, 'मेरे मित्र हैं।' तब डा० राय भी अन्दर आ सके। इस तरह दोनों ने मुझे विदा दी।

: २० :

काशी में

यह सफर कलकत्ते से राजकोट तक का था। इसमें काशी, आगरा, जयपुर, और पालनपुर होते हुए राजकोट जाना था। इन स्थानों को देख लेने के सिवाय अधिक समय नहीं दे सकता था। हरएक जगह में एक-एक दिन रहा। पालनपुर को छोडकर और सब जगह में यात्रियों की तरह धर्मशाला में या पण्डों के मकान पर ठहरा था। जहाँ तक मुझे याद है, इस यात्रा में रेल-किराये सहित इकत्तीस रुपये लगे थे। तीसरे दर्जे में प्रवास करते हुए भी मैं अक्सर डाकगाडी में नहीं जाता था, क्योंकि मैं जानता था कि उसमें भीड ज्यादा होती है और तीसरे दर्जे के किराये के हिसाब से वहाँ पैसे भी अधिक देने पडते थे। मेरे लिए यह अडचन भी थी ही।

तीसरे दर्जे के डिब्बों में जो गन्दगी और पाखानों की बुरी हालत इस समय है, वही पहले भी थी। शायद इन दिनों कुछ सुधार हो गया हो, पर तीसरे और पहले दर्जे की सुविधाओं में जो अन्तर है वह इन दर्जों के किराये के अन्तर की अपेक्षा बहुत अधिक मालूम हुआ। तीसरे दर्जे के यात्री तो मानो भेड-बकरी होते हैं, और उनके बैठने के डब्बे भी

भेड़-बकरियों के लायक होते हैं। यूरोप में तो मैंने अपनी सारी यात्रा तीसरे दर्जे में ही की थी, केवल अनुभव के लिए एक बार मैं पहले दर्जे में बैठा था, पर वहाँ मुझे पहले और तीसरे दर्जे के बीच यहाँ का-सा अन्तर न दिखाई दिया। दक्षिण अफ्रिका में तो तीसरे दर्जे के डब्बों के मुसाफिर प्रायः हबशी लोग होते हैं; पर फिर भी वहाँ के तीसरे दर्जे के डब्बों में यात्रियों के आराम का ध्यान अधिक रक्खा जाता है। कहीं-कहीं तो मुसाफिरों के लिए तीसरे दर्जे के डिब्बों में सोने का भी प्रबन्ध है, और बैठकों पर गद्दी भी लगी रहती है। प्रत्येक खाने में बैठने वाले यात्रियों की सख्या की मर्यादा का पालन किया जाता है, पर यहाँ तो मुझे कभी ऐसा अनुभव नहीं हुआ कि यात्रियों की सख्या की इस मर्यादा का पालन किया गया हो।

रेलवे-विभाग की इन असुविधाओं के अलावा यात्रियों की खराब आदतें भी सुघड़ यात्रियों के लिए तीसरे दर्जे की यात्रा को दण्ड-स्वरूप बना देती हैं। चाहे जहाँ थूक दिया, जहाँ चाहा कचरा फेंक दिया, जब जी में आया और जिस तरह चाहा बीड़ी फूँकने लगे, पान और जरदा चबा कर जहाँ बैठे हों वहीं पिचकारी लगा दी, जूठन वहीं फर्श पर डाल दी, जोर-जोर से बातें करना, पास बैठे मनुष्य की परवा न करना, और गन्दी भाषा वगैरा, यह तीसरे दर्जे का सार्वजनिक अनुभव है।

तीसरे दर्जे की मेरी १९२० ई० की यात्रा के अनुभव में और १९१५ से १९१९ तक के दूसरी बार के अखण्ड अनुभव में मुझे कोई विशेष अन्तर नहीं दिखाई दिया। इस महाव्याधि का तो मुझे एक ही उपाय दिखाई देता है, वह यही कि शिक्षित समाज तीसरे दर्जे में ही यात्रा करके इन लोगों की आदतें सुधारने का यत्न करे। इसके सिवाय रेलवे के अधिकारियों को शिकायतें कर-करके तग कर डालना, अपने लिए सुविधा प्राप्त करने या सुविधा की रक्षा के लिए किसी प्रकार की रिश्वत न देना, और खिलाफ कानून बात को बर्दाश्त न करना—ये भी उपाय हैं। मेरा अनुभव है कि ऐसा करने से बहुत-कुछ सुधार हो सकता है। अपनी बीमारी के कारण १९२० ई० से मुझे तीसरे दर्जे की यात्रा प्रायः

बन्द करनी पडी है । इस पर मुझे सर्वदा दु ख और लज्जा मालूम होती रहती है । यह तीसरे दर्जे की यात्रा मुझे ऐसे समय पर वन्द करनी पडी, जव कि तीसरे दर्जे के यात्रियो की कठिनाइयाँ दूर करने का काम रास्ते पर आता जाता था । रेलवे और जहाज में प्रवास करनेवाले गरीवो को जो कष्ट और एव असुविधायें होती है, और जो उनकी निजी कुटेवो के कारण और भी अधिक हो जाती है, साथ ही सरकार की ओर से विदेशी व्यापारियो के लिए जो अनुचित सुविधायें की जाती है, इत्यादि बाते हमारे सार्वजनिक जीवन में एक स्वतन्त्र और महत्वपूर्ण प्रश्न वन वैठी है, और इमे हल करने के लिए यदि एक-दो सुदक्ष और उद्योगी सज्जन अपना सारा समय दे डाले तो वह अधिक नही होगा ।

अव तीसरे दर्जे की यात्रा की चर्चा यही छोडकर काशी के अनुभव सुनिए । सुवह मै काशी उतरा । मै किसी पण्डे के यहाँ उतरना चाहता था । कई ब्राह्मणो ने मुझे चारो ओर से घेर लिया । उनमें से जो मुझे साफ-सुथरा दिखाई दिया, उसके घर जाना मैने पसन्द किया । मेरी पसन्दगी ठीक भी निकली । ब्राह्मण के आँगन में गाय वँधी थी । घर दुमजिला था । ऊपर मुझे ठहराया । मै यथाविधि गगा-स्नान करना चाहता था और तवतक निराहार रहना था । पण्डे ने सारी तैयारी कर दी । मैंने पहले से कह रक्खा था कि १) से अधिक दक्षिणा मै नही दे सकूँगा, इसलिए उसी योग्य तैयारी करना । पण्डे ने विना किसी झगडे के मेरी वात मान ली । कहा—"हम तो क्या गरीव और क्या अमीर, सवसे एकही-सी पूजा करवाते है । यजमान अपनी इच्छा और श्रद्धा के अनुसार जो दे दे, वही सही ।" मुझे ऐसा नही मालूम कि पण्डे ने पूजा में कोई कोर-कसर रक्खी हो । बारह बजे तक पूजा-स्नान से निवृत होकर मै काशी-विश्वनाथ के दर्शन करने गया, पर वहाँ जो कुछ देखा उससे मन में वडा दु ख हुआ ।

सन् १८९१ ई० में जव मै वम्बई में वकालत करता था, एक दिन प्रार्थना-समाज मन्दिर में 'काशी-यात्रा' पर एक व्याख्यान सुना था । इस लिए कुछ निराशा के लिए तो वही से तैयार हो गया था; पर प्रत्यक्ष

देखने पर जो निराशा हुई वह तो धारणा से अधिक थी। सकड़ी-फिसलनी गली से होकर जाना पड़ता था। शान्ति का कहीं नाम नहीं। मक्खियाँ चारों ओर भिनभिना रही थीं। यात्रियों और दुकानदारों का हो-हल्ला असह्य मालूम हुआ।

जिस समय मनुष्य ध्यान एवं भगवच्चिन्तन की आशा रखता हो, वहाँ उनका नामोनिशान नहीं, ध्यान करना हो तो वह अपने अन्तर में करले। हाँ, ऐसी भावुक बहनें मैंने जरूर देखीं, जो ऐसी ध्यान-मग्न थीं कि उन्हें अपने आस-पास का कुछ भी हाल मालूम न होता था; पर इसका श्रेय मन्दिर के संचालकों को नहीं मिल सकता। संचालकों का कर्तव्य तो यह है कि काशी-विश्वनाथ के आस-पास शान्त, निर्मल, सुगंधित स्वच्छ वातावरण—क्या बाह्य और क्या आन्तरिक—उत्पन्न करें, और उसे बनाये रक्खें, पर इसकी जगह मैंने देखा कि वहाँ गुण्डे लोगों की नये-से-नये तर्ज की मिठाई और खिलौनों की दुकानें लगी हुई थीं।

मन्दिर पर पहुँचते ही मैंने देखा कि दरवाजे के सामने सड़े हुए फूल पड़े थे और उनमें से दुर्गन्ध निकल रही थी। अन्दर बढ़िया संगमरमरी फर्श था। उस पर किसी अन्ध-श्रद्धालु ने रुपये जड़ रक्खे थे, और उनमें मैला-कुचरा घुसा रहता था।

मैं ज्ञान-वापी के पास गया। वहाँ मैंने ईश्वर की खोज की। वह होगा; पर मुझे न मिला। इससे मैं मन-ही-मन घुट रहा था। ज्ञान-वापी के पास भी गन्दगी देखी। भेंट रखने की मेरी जरा भी इच्छा न हुई, इसलिए मैंने तो सचमुच ही एक पाई वहाँ चढ़ाई। इसपर पण्डाजी उखड़ पड़े! उन्होंने पाई उठाकर फेंक दी और दो-चार गालियाँ सुनाकर बोले—"तू इस तरह अपमान करेगा तो नरक में पड़ेगा।"

मैं चुप रहा। मैंने कहा—"महाराज, मेरा तो जो होना होगा वह होगा; पर आपके मुँह से हलकी बात शोभा नहीं देती। यह पाई लेना हो तो ले, वर्ना इसे भी गँवायेंगे।"

"जा तेरी पाई मुझे नहीं चाहिए"—कह कर उन्होंने ज्यादा भला-बुरा कहा। मैं पाई लेकर चलता हुआ। मैंने सोचा कि महाराज ने पाई गँवाई

और मैंने बचाली। पर महाराज पाई खोने वाले न थे। उन्होंने मुझे फिर बुलाया और कहा—"अच्छा रखदे, मैं तेरे जैसा नहीं होना चाहता। मैं न लूं तो तेरा बुरा होगा।"

मैंने चुपचाप पाई देदी और एक लम्बी सांस लेकर चलता बना। इसके बाद भी दो-एक बार काशी-विश्वनाथ गया, पर वह तो तब, जब 'महात्मा' बन चुका था। इसलिए १९०२ के अनुभव भला कैसे मिलते? खुद मेरे ही दर्शन करनेवाले मुझे क्या दर्शन करने देते? 'महात्मा' के दुःख तो मुझ-जैसे 'महात्मा' ही जान सकते हैं, किन्तु गन्दगी और हो-हल्ला तो जैसे-के-तैसे ही वहाँ देखे।

परमात्मा की दया पर जिसे शका हो, वह ऐसे तीर्थ-क्षेत्रों को देखे। वह महायोगी अपने नाम पर होनेवाले कितने ढोंग, अधर्म और पाखण्ड इत्यादि को सहन करते हैं। उन्होंने तो कह रखा है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

"अर्थात्, जैसा करना वैसा भरना।" कर्म को कौन मिथ्या कर सकता है? फिर भगवान् को बीच में पड़ने की क्या जरूरत है? वह तो अपने कानून बतलाकर अलग होगया।

यह अनुभव लेकर मैं मिसेज़ बेसेण्ट के दर्शन करने गया। वह अभी बीमारी से उठी थीं। यह मैं जानता था। मैंने अपना नाम पहुँचाया। वह तुरन्त मिलने आईं। मुझे तो सिर्फ दर्शन ही करने थे। इसलिए मैंने कहा—

"मुझे आपकी तबियत का हाल मालूम है, मैं तो सिर्फ आपके दर्शन करने आया हूँ। तबियत खराब होते हुए भी आपने मुझे दर्शन दिये, केवल इसीसे मैं सन्तुष्ट हूँ, अधिक कष्ट मैं आपको नहीं देना चाहता।"

इसके बाद मैंने उनसे विदा ली।

: २१ :

बम्बई में स्थिर हुआ

गोखले की बड़ी इच्छा थी कि मैं बम्बई रह जाऊँ, वहीं बैरिस्टरी करूँ, और उनके साथ सार्वजनिक जीवन में भाग लूँ। उस समय सार्वजनिक जीवन का मतलब था, महासभा का काम। उनकी प्रस्थापित संस्था का सारा काम महासभा के तंत्र का संचालन था।

मेरी भी यही इच्छा थी, पर यह काम मिल जाने के विषय में मुझे आत्म-विश्वास न था। पहले अनुभव की याद भूला न था, और खुशामद करना तो मेरे लिए मानो ज़हर था।

इसलिए पहले तो मैं राजकोट ही रहा। वहाँ मेरे पुराने हितैषी और मुझे विलायत भेजनेवाले केवलराम मावजी दवे थे। उन्होंने मुझे तीन मुकदमे दिये। दो अपीलें काठियावाड़ के ज्युडिशियल असिस्टेन्ट के इजलास में थीं, और खास मुकदमा जामनगर में था। यह मामला महत्व का था। इस मामले की ज़िम्मेदारी लेने में मैंने आनाकानी की, तब केवलराम बोल उठे—"हारेंगे तो हम हारेंगे न ? तुमसे जितना हो सके करना, और मैं भी तुम्हारे साथ ही रहूँगा।"

इस मामले में प्रतिपक्षी की तरफ स्व० समर्थ थे। मेरी तैयारी भी ठीक थी। यहाँ के कानून की तो मुझे ठीक जानकारी न थी, पर इस सम्बन्ध में मुझे केवलराम दवे ने पूरा तैयार कर दिया था। दक्षिण अफ्रिका जाने से पहले मित्र लोग मुझे कहा करते थे।—"एविडेन्स-ऐक्ट (साक्षी-विधान) फिरोजशाह की जबान पर रक्खा है, और यही उनकी सफलता की चाबी है।" यह मैंने ध्यान में रक्खा, और दक्षिण अफ्रिका जाते समय मैंने भारत के इस कानून को टीका-सहित पढ़ लिया था। इसके अतिरिक्त दक्षिण अफ्रिका का अनुभव तो था ही।

मुकद्दमे में मेरी जीत हुई। इसमे मुझे कुछ विश्वास हुआ। पहली

दो अपीलो के विषय में तो मुझे पहले से ही भय न था। मन में सोचा कि अब बम्बई जाने पर वहाँ भी कोई हर्ज नही है।

इस विषय पर अधिक लिखने से पहले जरा अँग्रेज अधिकारियो के अविचार और अज्ञान का अनुभव भी कह डालूँ। ज्युडिशियल असिस्टेण्ट कही एक जगह नही बैठते थे। उनकी सवारी घूमती रहती थी, और जहाँ यह साहब जाते, वही वकील और मवक्किलो को भी जाना ही पड़ता। और वकील की फीस जितनी उसके रहने की जगह पर हो, बाहर उससे अधिक होती है। इसलिए मवक्किल को सहज ही दुगुना खर्च पडता, पर इसका विचार करने की जज को जरूरत ?

इस अपील की सुनवाई वेरावल में होने वाली थी। वेरावल में उस वक्त प्लेग कसरत से था। जहाँतक मुझे याद है, रोज ५० मृत्यु होती थी। वहाँ की बस्ती ५,५०० के लगभग थी। करीब-करीब सारा गाँव खाली होगया था। मेरे ठहरने का स्थान वहाँ की निर्जन धर्मशाला में था। गाँव से वह धर्मशाला कुछ दूरी पर थी; पर मवक्किलो का क्या हाल ? यदि वे गरीब हो तो उनका मालिक बस ईश्वर ही समझिए।

मुझे वकील मित्रो ने तार दिया कि मैं साहब से प्रार्थना करूँ कि प्लेग के कारण अदालत का स्थान बदल दें। प्रार्थना करने पर साहब ने पूछा—"क्या तुम्हे प्लेग से डर लगता है।"

मैंने कहा—"यह मेरे डरने का प्रश्न नही है। मुझे अपने बचने का तरीका मालूम है, पर मवक्किलो का क्या होगा ?"

साहब बोले—"प्लेग ने तो हिन्दुस्तान में घर कर लिया है, उससे क्या डरना ? वेरावल की हवा तो कितनी सुन्दर है! (साहब गाँव से दूर दरिया-किनारे महल के समान एक तम्बू में रहते थे।) लोगो को इस प्रकार बाहर रहना सीखना चाहिए।"

इस फिलासफी के सामने मेरी क्या चलने लगी ? साहब ने सरिश्ते-दार से कहा—"मि० गाँधी का कहना ध्यान में रखना। यदि वकील-मवक्किलो को ज्यादा तकलीफ मालूम दे, तो मेरा ध्यान आकर्षित करना।"

इसमें साहब ने तो स्पष्ट रूप से अपनी मति के माफिक उचित ही किया, पर उसे दीन हिन्दुस्तान की असुविधाओ का अन्दाज कैसे हो? वह बेचारा हिन्दुस्तान की आवश्यकताओ, आदतो, कुटेवो और रिवाजो को क्या समझे? पन्द्रह रुपये की मुहर की गिनती करनेवाला पाई की गिनती कैसे झट लगा सकता है? अच्छे-से-अच्छा हेतु होने पर भी जैसे हाथी चीटी के लिए विचार करने में असमर्थ होता है उसी प्रकार हाथी के समान जरूरतवाला अग्रेज भी चीटियो के समान जरूरतवाले हिन्दुस्तानी के लिए विचार करने और नियम-निर्माण करने में असमर्थ ही होगा।

अब खास विषय पर आता हूँ। इस प्रकार सफलता मिलने पर भी थोडे समय राजकोट में ही रहने का विचार कर रहा था। इतने में एक दिन केवलराम मेरे पास आये, और बोले—"अब तुमको यहाँ न रहने देंगे? तुम्हे तो बम्बई में ही रहना पडेगा।"

"पर वहाँ मेरी पूछ ही ज्यादा न होगी, क्या आप मेरा खर्च चलायेंगे?" मैंने कहा।

"हाँ, हाँ, मैं तुम्हारा खर्च चलाऊँगा, तुम्हें बड़े-बडे बैरिस्टरो की तरह किसी वक्त यहाँ लाऊँगा, और लिखने-लिखाने का काम तो तुम्हारे लिए वही भेज दिया करूँगा। बैरिस्टरो को बडे-छोटे बनाने का काम तो हम वकीलो का है न? तुमने जामनगर और वेरावल में जैसा काम किया है, इससे मैं बेफिकर हूँ। तुम जो लोक-सेवा करने के लिए पैदा हुए हो, उसे हम यहाँ काठियावाड में दफन नही होने देंगे। बोलो, कब जा रहे हो?"

"नेटाल से मेरे कुछ रुपये आने बाकी है, उनके आने पर जाऊँगा।"

दो-एक सप्ताह में रुपये आगये और मैं बम्बई चला गया। वहाँ मैंने पेईन गिल्बर्ट और सयानी के आफिस में "चेम्बर्स" किराये पर लिये और वही स्थिर हो गया।

: २२ :

धर्म-संकट

आफिस के अलावा मैंने गिरगांव में घर भी लिया, परन्तु ईश्वर ने मुझे स्थिर नही रहने दिया। घर लिये बहुत दिन नही हुए थे कि मेरा दूसरा लडका बीमार हो गया। काल-ज्वर ने उसे घेर लिया था। बुखार उतरता नही था। घबराहट तो थी ही, पर रात को सन्निपात के लक्षण भी दिखाई देने लगे। इस व्याधि से पहले, बचपन में, उसे शीतला भी खूब निकल चुकी थी।

डाक्टर की सलाह ली। डाक्टर ने कहा—"इसके लिए दवा का उपयोग नही हो सकता; अब तो इसे अण्डे और मुर्गी का शोरवा देने की जरूरत है।"

मणिलाल की उम्र दस साल की थी, उससे तो क्या पूछना था ? जिम्मेदार तो मैं ही था, मुझे ही निर्णय करना था। डाक्टर एक भले पारसी सज्जन थे। मैंने कहा—"डाक्टर, हम तो सब अन्नाहारी हैं। मेरा विचार तो मेरे लडके को इन दोनो में से एक भी वस्तु देने का नहीं है। दूसरी ही कोई वस्तु न बतलायेंगे।"

डाक्टर बोले—"तुम्हारे लडके की जान खतरे में है। दूध और पानी मिलाकर दिया जा सकता है, पर उससे पूरा संतोष नही हो सकता। तुम जानते हो कि मैं तो बहुत-से हिन्दू-परिवारो में जाया करता हूँ, पर दवा के लिए तो हम जो चाहते है वही चीज उन्हें देते हैं, और वे उसे लेते भी हैं। मैं समझता हूँ कि तुम भी अपने लडके के साथ ऐसी सख्ती न करो तो अच्छा होगा।"

"आप जो कहते हैं वह तो ठीक है, और आपको ऐसा कहना ही चाहिए, पर मेरी जिम्मेदारी बहुत बडी है। यदि लडका बडा होता तो जरूर उसकी इच्छा जानने का प्रयत्न भी करता और जो वह चाहता

वही उसे करने देता, पर यहाँ तो इसके लिए मुझे ही विचार करना पड रहा है। मैं तो समझता हूँ कि मनुष्य के धर्म की कसौटी ऐसे ही समय होती है। चाहे ठीक हो चाहे ग़लत, मैंने तो इसको धर्म माना है कि मनुष्य को मासादि न खाना चाहिए। जीवन के साधनो की भी सीमा होती है। जीने के लिए भी अमुक वस्तुओ को हमें नही ग्रहण करना चाहिए। मेरे धर्म की मर्यादा मुझे और मेरे लोगो को भी ऐसे समय पर मास इत्यादि का उपयोग करने से रोकती है। इसलिए आप जिस खतरे को देखते है मुझे उसे उठाना ही चाहिए। पर आपसे मै एक बात चाहता हूँ। आपका इलाज तो मै नही करूँगा, पर मुझे इस बालक की नाडी और हृदय को देखना नही आता है। जल-चिकित्सा की मुझे थोडी जानकारी है। उन उपचारो को मै करना चाहता हूँ, परन्तु जो आप नियम से मणिलाल की तबियत देखने को आते रहे और उसके शरीर में होनेवाले फेरफारो से मुझे अभिज्ञ करते रहेंगे, तो मै आपका उपकार मानूँगा।

सज्जन डाक्टर मेरी कठिनाइयो को समझ गये और मेरी इच्छानुसार उन्होने मणिलाल को देखने के लिए आना मजूर कर लिया।

यद्यपि मणिलाल अपनी राय कायम करने लायक नही था तो भी डाक्टर के साथ जो मेरी बात-चीत हुई थी वह उसे मैंने सुनाई और अपने विचार प्रकट करने को कहा।

"आप सुखपूर्वक जल-चिकित्सा कीजिए। मै शोरवा नही पीऊँगा, और न अण्डे ही खाऊँगा।" उसके इन वाक्यो से मै प्रसन्न हो गया, यद्यपि मै जानता था कि अगर मै उसे दोनो चीजें खाने को कहता तो वह खा भी लेता।

मै क्यूनी के उपचारो को जानता था, उनका उपयोग भी किया था। बीमारी में उपवास का स्थान बडा है, वह मै जानता था। क्यूनी की पद्धति के अनुसार मैंने मणिलाल को कटि-स्नान कराना शुरू किया। तीन मिनट मे ज्यादा उसे मै टब में नही रखता। तीन दिन तो सिर्फ नारगी के रस मे पानी मिलाकर देना रहा और उसीपर रक्खा।

बुखार दूर नही होता था और रात को वह कुछ-कुछ बडबडाता था।

बुखार १०४ डिग्री तक हो जाता था। मैं घबराया। यदि बालक को खो बैठा तो जगत् में लोग मुझे क्या कहेंगे? बडे भाई क्या कहेंगे? दूसरे डाक्टरों को क्यो न बुलाया जाय? क्यो न बुलाऊँ? माँ-बाप को अपनी अधूरी अकल आजमाने का क्या हक है?

ऐसे विचार उठते। पर ये विचार भी उठते—"जीव! जो तू अपने लिए करता है, वही लडके के लिए भी कर। इससे परमेश्वर सन्तोष मानेंगे। मुझे जल-चिकित्सा पर श्रद्धा है, दवा पर नही। डाक्टर जीवन-दान तो देते नही। उनके भी तो आखिर में प्रयोग ही न है। जीवन की डोरी तो एकमात्र ईश्वर के ही हाथ में है। ईश्वर का नाम ले और उसपर श्रद्धा रख। अपने मार्ग को न छोड।"

मन में इस तरह उथल-पुथल मचती रही। रात हुई। मैं मणिलाल को अपने पास लेकर सोया हुआ था। मैंने निश्चय किया कि उसे भिगोकर निचोडे हुए कपडो में रक्खा जाय। मैं उठा, कपडा लिया, ठडे पानी में उसे डुबोया और निचोड कर उसमें पैर से लेकर सिर तक उसे लपेट दिया; और ऊपर से दो कम्मल ओढा दिये; सिर पर भीगा हुआ टुवाल भी रख दिया। शरीर तवे की तरह तप रहा था, पसीना तो आता ही न था।

मैं खूब थक गया था। मणिलाल को उसकी माँ को सौप कर मैं आध घण्टे के लिए खुली हवा में ताजगी और शान्ति प्राप्त करने के इरादे से चौपाटी की तरफ गया। रात के दस बजे होंगे। मनुष्यो की आमद-रफ्त कम हो गई थी, पर मुझे इसका खयाल न था! विचार-सागर में गोते लगा रहा था—"हे ईश्वर! इस धर्म-सकट में तू मेरी लाज रखना।" मुँह से 'राम-राम' का रटन तो चल ही रहा था। कुछ देर के बाद मैं वापस लौटा! मेरा कलेजा धडक रहा था। घर में घुसते ही मणिलाल ने आवाज दी—"बापू! आगये?"

"हाँ, भाई।"

"मुझे इसमें से निकालिए न? मैं तो मारे आग के मरा जा रहा हूँ।"

"क्यो पसीना छूट रहा है क्या?"

"अजी, मैं तो पसीने से तर हो गया। अब तो मुझे निकालिए न?"

मैंने मणिलाल का सिर देखा। उसपर मोती की तरह पसीने की बूंदें चमक रही थीं। बुखार कम हो रहा था। मैंने ईश्वर को धन्यवाद दिया।

"मणिलाल, घबड़ा मत। अब तेरा बुखार चला जायगा, पर कुछ और पसीना आजावे तो कैसा?" मैंने उससे कहा।

उसने कहा—"नहीं बापू! अब तो मुझे छुड़ाइए। फिर दूसरे वक्त देखा जायगा।"

मुझे धैर्य आगया था, इसीलिए बातों ही में कुछ मिनट गुजार दिये। सिर से पसीने की धारा बह चली। मैंने चद्दर को अलग किया, और शरीर को पोंछ कर सूखा कर दिया। फिर बाप-बेटे दोनों सो गये। दोनों खूब सोये।

सुबह देखा तो मणिलाल का बुखार बहुत कम हो गया है। दूध, पानी तथा फलों पर चालीस दिन तक रहा। मैं निडर हो गया था। बुखार हठीला था, पर वह काबू में आगया था। आज मेरे लड़कों में मणिलाल ही सब से अधिक स्वस्थ और मजबूत है।

इसका निर्णय कौन कर सकता है कि यह रामजी की कृपा है या जल-चिकित्सा, अल्पाहार अथवा और किसी उपाय की? भले ही सभी अपनी-अपनी श्रद्धा के अनुसार बरतें, पर उस वक्त मेरी तो ईश्वर ने ही लाज रक्खी। यही मैंने माना, और आज भी मानता हूँ।

: २३ :

फिर दक्षिण अफ्रिका

मणिलाल तो अच्छा होगया, पर मैंने देखा कि गिरगांववाला मकान रहने लायक न था। उसमें सील थी। प्रकाश भी काफी न था। इसलिए रेवाशंकर भाई से सलाह करके हम दोनों ने बम्बई के किसी खुली जगह वाले मुहल्ले में मकान लेने का निश्चय किया। मैं बांदरा, सान्ताक्रूज

वगैरा में भटका। बांदरा में कसाई-खाना था, इसलिए वहां रहने की हमारी इच्छा न हुई। घाटकोपर वगैरा समुद्र से दूर मालूम हुए। साताक्रुज में एक सुन्दर बँगला मिल गया। वहाँ रहने गये। हमे मालूम हुआ कि आरोग्य की दृष्टि से हम सुरक्षित होगये। चर्चगेट जाने के लिए मैंने वहाँ से पहले दर्जे का पास ले लिया। मुझे स्मरण है कि कई बार पहले दर्जे में अकेला ही रहता। इसलिए मुझे कुछ अभिमान भी होता। कई बार बांदरा से चर्चगेट जानेवाली खास गाडी पकडने के लिए साताक्रुज से चलकर जाता। मेरा धन्धा आर्थिक दृष्टि से भी ठीक चलता हुआ मालूम होने लगा। दक्षिण अफ्रिका के मवक्किल भी मुझे कुछ काम देते थे। मुझे मालूम हुआ कि इससे मेरा खर्च सहूलियत से निकल सकेगा।

हाईकोर्ट का काम तो अभी मुझे नही मिलता था, पर उस समय वहाँ पर जो 'मूट' (चर्चा) चलती रहती थी, उसमें मैं जाया करता था, पर उसमे भाग लेने की मेरी हिम्मत नही होती थी। मुझे याद है कि उसमें जमीयतराम नानाभाई काफी भाग लेते थे। दूसरे नये बैरिस्टरो की भाँति मैं भी हाईकोर्ट के मुकदमे सुनने के लिए जाने लगा, पर वहाँ कुछ जानने के बदले समुद्र की फर-फर चलनेवाली हवा में झोके खाने मे अच्छा आनन्द मिलता था। दूसरे साथी भी ऊँघते ही थे, इससे मुझे शर्म भी न आती। मैंने देखा कि ऊँघना भी 'फैशन' में शुमार है।

हाईकोर्ट के पुस्तकालय का उपयोग शुरू किया, और वहाँ कुछ जान-पहचान भी शुरु की। मुझे लगा कि थोडे ही समय मे मैं भी हाईकोर्ट मे काम करनेवाला हो जाऊँगा।

इस प्रकार एक ओर मुझे अपने धन्धे के विषय में कुछ निश्चिन्तता होने लगी, दूसरी तरफ गोखले की नजर तो मुझपर थी ही। सप्ताह में दो-तीन बार चेम्बर में आकर वह मेरी खबर ले जाते, और कभी-कभी अपने खास मित्रो को भी ले आते थे। बीच-बीच वह अपने काम करने के ढग से भी मुझे वाकिफ करते जाते थे।

पर मेरे भविष्य के विषय में यह कहना ठीक होगा कि ईश्वर ने ऐसा कोई काम नही होने दिया, जिसे करने का मैंने पहले सोच रक्खा हो।

जैसे ही मैंने स्थिर होने का निश्चय किया और स्वस्थता का अनुभव करने लगा, एकाएक दक्षिण अफ्रिका से तार आ गया—"चेम्बरलेन यहां आ रहे है, तुम्हें शीघ्र आना चाहिए।" मेरे वचन मुझे याद थे। मैंने तार दिया—"खर्च भेजिए, मैं आने को तैयार हूं।" उन्होंने तत्काल रुपये भेजे और मैं आफिस समेटकर रवाना होगया।

मैंने सोचा था कि मुझे वहां एक वर्ष तो यों ही लग जायगा। बँगला रहने दिया और बाल-बच्चों को भी वहीं रखना ठीक समझा।

मैं यह मानता था कि जो युवक देश में कमाई न करते हो और साहसी हो उन्हें विदेशों में जाना चाहिए। इसलिए मैं अपने साथ चार-पाँच युवकों को भी ले गया। उनमें मगनलाल गांधी भी थे।

गांधी-कुटुम्ब बड़ा था, आज भी है। मेरी इच्छा थी कि उसमें से जो लोग स्वतन्त्र होना चाहें वे स्वतन्त्र हो जायँ। मेरे पिता कइयों का निर्वाह करते थे; पर वह थे रजवाड़ों की नौकरी में। मैं चाहता था कि वह इस नौकरी से निकल सकें तो ठीक हो। यह हो नहीं सकता था कि मैं उन्हें दूसरी नौकरी दिलवाने का यत्न करता; शक्ति होने पर भी इच्छा न थी। मेरी धारणा तो यह थी कि वह स्वयं और दूसरे भी स्वावलम्बी बनें तो अच्छा।

पर अन्त में तो ज्यों-ज्यों मेरे आदर्श आगे बढ़े (यह मैं मानता हूँ) त्यों-त्यों उन युवकों के आदर्श को बनाना भी मैंने आरम्भ किया। उनमें मगनलाल गांधी को बनाने में मुझे बड़ी सफलता मिली—पर इस विषय पर आगे चलकर लिखा जायगा।

बाल-बच्चों का वियोग, जमा हुआ काम तोड़ देना, निश्चितता से अनिश्चितता में प्रवेश करना—यह सब क्षणभर के लिए खटका; पर मैं तो अनिश्चित जीवन का आदी होगया था। इस दुनिया में ईश्वर या सत्य, कुछ भी कहिए, उसके सिवा दूसरी कोई चीज निश्चित नहीं। यहां निश्चितपन का मानना ही भ्रम है। यह सब जो अपने आसपास हमें दिखाई पड़ता है, और बनता रहता है, अनिश्चित और क्षणिक है, उसमें जो एक परमतत्त्व निश्चित-रूप से छिपा हुआ है, उसकी 'झांकी'

सर्वदा हो और उसपर श्रद्धा बनी रहे, तभी हमारा जीवन सार्थक हो सकता है। उसकी खोज ही परम-पुरुषार्थ है।

मैं डरबन एक दिन भी पहले पहुँचा, यह नहीं कहा जा सकता। मेरे लिए तो काम तैयार ही रक्खा था। मि० चेम्बरलेन से मिलनेवाले डेप्यूटेशन की तारीख तय हो चुकी थी। मुझे उनके सामने पढ़ने के लिए अर्जी तैयार करनी थी और डेप्यूटेशन के साथ जाना था।

चौथा भाग

: १ :

किया-कराया स्वाहा ?

मिस्टर चेम्बरलेन तो दक्षिण अफ्रिका से साढ़े तीन करोड़ पौण्ड लेने के लिए तथा अंग्रेजों का और हो सके तो बोअरों का भी, मनहरण करने के लिए आये थे। इसलिए हिन्दुस्तानी प्रतिनिधियों को उनकी ओर से यह ठण्डा जवाब मिला—

"आप तो जानते ही हैं कि उत्तरदायित्व-पूर्ण उपनिवेशों पर साम्राज्य-सरकार की सत्ता नाम मात्र की है। हां, आपकी शिकायतें अलबत्ता सच मालूम होती हैं, सो मैं अपने बस-भर उनको दूर करने की चेष्टा करूँगा, पर आप एक बात न भूलें। जिस तरह हो सके आपको यहां के गोरों को राजी रखकर ही रहना है।"

इस जवाब को सुनकर प्रतिनिधियों पर तो मानो ठण्डा पानी बरस गया। मैंने भी आशा छोड़ दी। मैंने तो इसका तात्पर्य समझ लिया कि अब फिर से 'हरि ओम्' करना पड़ेगा। और मैंने अपने साथियों पर भी यह बात अच्छी तरह स्पष्ट कर दी, पर मि० चेम्बरलेन का जवाब क्या झूठा था? गोल-मोल कहने के बदले उन्होंने साफ बात कह दी। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का नियम उन्होंने कुछ मधुर शब्दों में बता दिया। पर हमारे पास तो लाठी ही कहां थी? लाठी तो दूर, लाठी की चोट सहने लायक शरीर भी मुश्किल से हमारे पास थे।

मि० चेम्बरलेन कुछ ही हफ्ते यहां रहनेवाले थे। दक्षिण अफ्रिका कोई छोटा-सा प्रान्त नहीं, उसे तो एक देश, एक महाद्वीप ही समझना चाहिए। अफ्रिका खण्ड में तो कितने ही उपखण्ड समाये हुए हैं। कन्या-

कुमारी से श्रीनगर यदि १९०० मील है, तो डरबन से केपटाउन ११०० मील से कम नही। इस इतने बडे खण्ड में उन्हें 'पवन-वेग' से घूमना था। वह ट्रासवाल रवाना हुए। मुझे सारी तैयारी करके भारतीयो का पक्ष उनके सामने उपस्थित करना था। अब यह समस्या खडी हुई कि मै प्रिटोरिया किस तरह पहुंचूं। मेरे समय पर पहुँच सकने की इजाजत लेने का काम हमारे लोगो से हो नही सकता था।

बोअर-युद्ध के बाद ट्रासवाल करीब-करीब ऊजड हो गया था। वहाँ न खाने-पीने के लिए अनाज रह गया था, न पहनने-ओढने के लिए कपडे ही। बाजार खाली और दुकाने बन्द मिलती थीं। उनको फिर से भरना और खुली करना था, और यह काम तो धीरे-ही-धीरे हो सकता था और ज्यो-ज्यो माल आता-जाता त्यों-ही-त्यो उन लोगो को जो घरबार छोड-कर भाग गये थे, उन्हे आने दिया जा सकता था। इस कारण प्रत्येक ट्रासवालवासी को परवाना लेना पडता था। अब गोरे लोगो को तो परवाना मांगते ही तुरन्त मिल जाता; परन्तु हिन्दुस्तानियो को बडी मुसीबत का सामना करना पडता था।

लडाई के दिनो में हिन्दुस्तान और लका से बहुतेरे अफसर और सिपाही दक्षिण अफ्रिका में आ गये थे। उनमें से जो लोग वहीं बसना चाहते थे उनके लिए सुविधा कर देना ब्रिटिश-अधिकारियो का कर्त्तव्य माना गया था। इधर एक नवीन अधिकारी-मण्डल की रचना उन्हें करनी थी। सो ये अनुभवी कर्मचारी सहज ही उनके काम आ गये। इन कर्मचारियो की तीव्र-बुद्धि ने एक नये महकमे की सृष्टि कर डाली और इस काम में वे अधिक पटु तो थे ही। हब्शियो के लिए ऐसा एक अलग महकमा पहले ही से था, तो फिर इन लोगों ने अकल भिडाई कि एशिया-वासियो के लिए भी अलग महकमा क्यो न कर लिया जाय? सब उनकी इस दलील से क़ायल हो गये। यह नया महकमा, मेरे जाने से पहले ही, खुल चुका था और धीरे-धीरे अपना जाल फैला रहा था। जो अधिकारी भागे हुए लोगो को परवाना देते थे, वे ही सबको दे सकते थे, परन्तु यह उन्हे पता कैसे चल सकता है कि एशियावासी कौन है? यदि इस

नवीन महकमे की सिफारिश पर ही उसको परवाना दिया जाय तो उस अधिकारी की जिम्मेदारी कम हो जाती है और उसके काम का बोझ भी कुछ घट जाता है, यह दलील पेश की गई। बात दरअसल यह थी कि इस नये महकमे को कुछ काम की, और कुछ दाम की, (धन की) जरूरत थी। यदि काम न हो तो इस महकमे की आवश्यकता सिद्ध नहीं हो सकती और अन्त को उसे बन्द करना पड़े। तो इसलिए उसे यह काम सहज ही मिल गया।

तरीका यह था कि हिन्दुस्तानी पहले इस महकमे में अर्जी दें। फिर बहुत दिनों में जाकर उसका जवाब मिलता। इधर ट्रांसवाल जाने की इच्छा रखनेवालों की संख्या बहुत थी। फलत उनके लिए दलालों का एक दल बन गया। इन दलालों और अधिकारियों में बेचारे गरीब हिन्दुस्तानियों के हजारों रुपये लुट गये। मुझसे कहा गया कि बिना किसी जरिये के परवाना नहीं मिलता और जरिया होने पर भी कितनी ही बार तो सौ-सौ पौण्ड फी आदमी खर्च हो जाता है। ऐसी हालत में भला मेरी दाल कैसे गलती ?

तब मैं अपने पुराने मित्र, डरबन के पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट, के यहाँ पहुँचा और उनसे कहा,—"आप परवाना देनेवाले अधिकारी से मेरा परिचय करा दीजिए और मुझे परवाना दिला दीजिए। आप यह तो जानते ही है कि मैं ट्रांसवाल में रह चुका हूँ।" उन्होंने तुरन्त सिर पर टोपी रक्खी और मेरे साथ चलकर परवाना दिला दिया। इस समय ट्रेन छूटने का मुश्किल से एक घंटा था। मैंने अपना सामान वगैरा बाँध-बूँध कर पहले ही से तैयार रक्खा था। इस कष्ट के लिए मैंने सुपरिन्टेन्डेन्ट अलेक्जेण्डर को धन्यवाद दिया और प्रिटोरिया जाने के लिए रवाना हो गया।

इस समय तक वहाँ की कठिनाइयों का अन्दाज मुझे ठीक-ठीक हो गया था। प्रिटोरिया पहुँचकर मैंने एक दरख्वास्त तैयार की। मुझे यह याद नहीं पड़ता कि डरबन में किसीसे प्रतिनिधियों के नाम पूछे गये थे। यहाँ तो नया ही महकमा काम कर रहा था। इसलिए प्रतिनिधियों के

नाम मेरे आने के पहले ही पूछ लिये गये थे। इसका आशय यह था कि मुझे इस मामले से दूर रक्खा जाय; पर इस बात का पता प्रिटोरिया के हिन्दुस्तानियो को लग गया था।

यह दु:खदायक किन्तु मनोरंजक कहानी अगले प्रकरण में।

: २ :

एशियाई नवाबशाही

इस नये महकमे के कर्मचारी यह न समझ सके कि मैं ट्रांसवाल में किस तरह आ पहुँचा। जो हिन्दुस्तानी उसके पास आते-जाते रहते थे उनसे उन्होंने पूछ-ताछ भी की, पर वे बेचारे क्या जानते थे? तब कर्मचारियो ने अनुमान लगाया कि हो-न-हो अपनी पुरानी जान-पहचान की वजह से मैं बिना परवाना लिये ही आ घुसा हूँ, और यदि ऐसा ही हो तो, उन्होंने सोचा, इसे हम क़ैद भी कर सकते हैं।

जब कोई भारी लड़ाई लड़ी जाती है तब उसके बाद कुछ समय के लिए राज-कर्मचारियो को विशेष अधिकार दिये जाते हैं। यहाँ दक्षिण अफ्रीका में भी ऐसा ही हुआ था। शान्ति रक्षा के लिए एक क़ानून बनाया गया था। इसमें एक धारा यह भी थी कि यदि कोई बिना परवाने के ट्रान्सवाल में आ जाय तो वह गिरफ्तार और क़ैद किया जा सकता है। इस धारा के अनुसार मुझे गिरफ्तार करने के लिए सलाह-मशविरा होने लगा, पर किसीको यह साहस न हुआ कि आकर मुझसे परवाना माँगे।

इन कर्मचारियो ने डरबन तार भेजकर भी पुछवाया था। वहाँ से जब उन्हें खबर पड़ी कि मैं तो परवाना लेकर अन्दर आया हूँ, तब बेचारे निराश हो रहे; परन्तु इस महकमे के लोग ऐसे न थे जो इस निराशा से थककर बैठ जाते। हालाँकि मैं ट्रांसवाल में आ चुका था, परन्तु फिर भी उनके पास ऐसी तरकीबें थी जिनसे वे मेरा मि० चेम्बरलेन से मिलना जरूर रोक सकते थे।

इस कारण सबने पहले शिष्टमण्डल के प्रतिनिधियों के नाम माँगे

गये। यो तो दक्षिण अफ्रिका में रग-द्वेष का अनुभव जहाँ जाते वही हो रहा था, पर यहाँ तो हिन्दुस्तान के जैसी गदगी और खटपट की वदवू आने लगी। अफ्रिका में आम महकमो का काम लोक-हित के खयाल से चलाया जाता है। इससे राज-कर्मचारियो के व्यवहार में एक प्रकार की सरलता और नम्रता दिखाई पडती थी। इसका लाभ, थोडे-बहुत अश में काले-पीले चमडे वालो को भी अपने-आप मिल जाता था। पर अब जवकि यहाँ एशिया के कर्मचारियो का दौर-दौरा हुआ तब तो वहाँ के जैसी 'जो-हुक्मी' और खटपट वगैरा बुराइयाँ भी उसमें आ घुसी। दक्षिण अफ्रिका में एक प्रकार की प्रजासत्ता थी, पर अब तो एशिया से सोलहो आने नवावशाही आ गई, क्योकि एशिया में तो प्रजासत्ता थी नही, वल्कि उल्टे प्रजा पर ही सत्ता चलाई जाती थी। इसके विपरीत दक्षिण अफ्रिका में गोरे घर वनाकर बस गये थे, इसलिए वे वहाँ के प्रजाजन हो गये थे, और इसलिए राज-कर्मचारियो पर उनका अकुश रहता था, पर अब इसमें आ मिले थे एशिया के निरकुश राजकर्मचारी जिन्होने बेचारे हिन्दुस्तानी लोगो की हालत सरौते में सुपारी की तरह करदी थी।

मुझे भी इस सत्ता का खासा अनुभव हो गया। पहले तो मैं इस महकमे के बडे अफसर के पास तलब किया गया। यह साहब लका से आ गये थे। मेरे 'तलब किया गया' इन शब्दो में कही अत्युक्ति का आभास न हो, इसलिए अपना आशय जरा ज्यादा स्पष्ट कर देता हूँ। मैं चिट्ठी लिखकर नही बुलाया गया था। मुझे वहाँ के प्रमुख हिन्दुस्तानियो के यहाँ तो निरन्तर जाना पडता ही था। स्वर्गीय सेठ तैयव हाजी खानमोहम्मद भी ऐसे अगुवाओ में से थे। उनसे इन साहब ने पूछा—"यह गाधी कौन है ? यहाँ किसलिए आया है ?"

तैयब सेठ ने जवाव दिया, "वह हमारे सलाहकार है और हमारे बुलाने से यहाँ आये है।"

"तो फिर हम सव यहाँ किस काम के लिए है ? क्या हमारी जरूरत यहाँ आपकी रक्षा के ही लिए नही हुई है ? गाँधी यहाँ का हाल क्या जाने ?" साहब ने कहा। तैयव सेठ ने जैसे-तैसे करके इस प्रहार का भी

जवाब दिया,—"हां, आप तो है ही, पर गांधीजी तो हमारे ही अपने ठहरे न ? वे हमारी भाषा जानते है, हमारे भावो को, हमारे पहलू को, समझते हैं। और आप कैसे ही क्यो न हो, आखिर है तो राज-कर्मचारी ही न ?"

इसपर साहब ने हुक्म फरमाया —"गांधी को मेरे पास ले आना।"

तैयब सेठ वगैरा के साथ मै साहब से मिलने गया। वहां हम लोगों को कुर्सी तो भला मिल ही कैसे सकती थी ? सबको खड़े-खड़े ही बाते करनी पड़ी।

"कहिए, आप यहां किस गरज से आये है ?" साहब ने मेरी ओर आंख उठाकर पूछा।

'मेरे इन भाइयो के बुलाने से, इन्हे सलाह देने के लिए, आया हूं।" मैने उत्तर दिया।

"पर आप जानते नही कि आपको यहां आने का कोई हक नहीं है आपको जो परवाना मिला है वह तो भूल से दे दिया गया है। आप यहां के बाशिन्दा तो है नही। आपको वापिस लौट जाना पड़ेगा। आप मि. चैम्बरलेन से नहीं मिल सकते। यहांके हिन्दुस्तानियों की हिफाजत के ही लिए तो हमारा यह महकमा खास तौर पर खोला गया है। अच्छा तो आप जाइए।"

इतना कह कर साहब ने मुझे विदा किया। और तो ठीक, पर मुझे जवाब तक देने का अवसर न दिया।

पर मेरे साथियों को उन्होंने रोक रक्खा और धमकाया; सलाह दी कि गांधी को ट्रान्सवाल से विदा कर दो।

वे सब अपना-सा मुंह लेकर वापिस आये। अब मेरे सामने एक नई समस्या खड़ी हो गई। [illegible] इस तरह अचानक

: ३ :

जहर की घूंट पीनी पड़ी

इस अपमान से मेरे दिल को बड़ी चोट पहुँची, पर इससे पहले मैं ऐसे अपमान सहन कर चुका था, सो उसका कुछ आदी हो रहा था। अतएव इस अपमान की परवा न करके तटस्थ-भाव से जो कुछ कर्त्तव्य दिखाई पड़ा उसे करने का निश्चय मैंने किया। इसके बाद पूर्वोक्त अफसर की सही से एक चिट्ठी मिली कि डरबन मे मि० चैम्बरलेन गाँधीजी से मिल चुके है, इसलिए अब इनका नाम प्रतिनिधियो में से निकाल डालना जरूरी है।

मेरे साथियो को यह चिट्ठी बड़ी ही नागवार हुई। उन्होने कहा—"तो ऐसी हालत में हमें शिष्ट-मण्डल ले जाने की भी जरूरत नहीं।" तब मैंने उन्हें यहाँके लोगो की विषम-अवस्था का भली प्रकार परिचय कराया—"यदि आप लोग मि० चैम्बरलेन से मिलने न जायेंगे तो इसका यह अर्थ लिया जायगा कि यहाँ पर किसी किस्म का जुल्म नही है, फिर जबानी तो कुछ कहना है नही, लिखा हुआ तैयार है, मैंने पढ़ा क्या, और दूसरे ने पढ़ा क्या? मि० चैम्बरलेन वहाँ उस पर बहस थोड़ी ही करेंगे। मेरा जो कुछ अपमान हुआ है उसे हमें पी जाना चाहिए।"

इतना मैं कह ही रहा था कि सैयद सेठ बोल उठे—"पर आपका अपमान क्या सारी कौम का अपमान नहीं है? हम यह कैसे भूल सकते हैं कि आप हमारे प्रतिनिधि है?'

मैंने कहा—"आपका कहना तो ठीक है, पर ऐसे अपमान तो कौम को भी पी जाना पड़ेंगे—बताइए, हमारे पास इसका दूसरा इलाज ही क्या है?'

"जो-कुछ होना होगा सो हो जायगा। पर खुद-ब-खुद हम और अपमान क्यों मोल ले? मामला बिगड़ तो यों भी रहा ही है। और हमें

अधिकार भी ऐसे कौन से मिल गये है ?" तैयब सेठ ने उत्तर दिया

तैयब सेठ का यह जोश मुझे पसन्द तो आ रहा था; पर मैं यह देख रहा था कि उससे फायदा नही उठाया जा सकता। लोगो की मर्यादा का अनुभव मुझे था। इसलिए इन साथियो को मैने शान्त करके उन्हें यह सलाह दी कि मेरे बजाय आप (अब स्वर्गीय) जार्ज गाडफ्रे को साथ ले जाइए। वह हिन्दुस्तानी बैरिस्टर थे।

इस तरह श्री गाडफ्रे की अध्यक्षता में यह शिष्ट-मण्डल मि० चैम्बरलेन से मिलने गया। मेरे बारे मे भी मि० चैम्बरलेन ने कुछ चर्चा की थी। "एक ही आदमी की बात दुबारा सुनने की अपेक्षा नये आदमी की बात सुनना मैंने ज्यादा मुनासिब समझा—" आदि कह कर उन्होंने हमारे जख्म पर मरहम पट्टी करने की कोशिश की।

पर इससे मेरा और क़ौम का काम पूरा होने के बजाय उलटा बढ़ गया। अब तो फिर 'अ-आ, इ-ई' से शुरुआत करने की नौबत आ पहुँची। "आप के ही कहने से तो हम लोग इस लडाई-झगड़े में पडे। और आखिर नतीजा यही निकला!" इस तरह ताने-तिरछे भी मुझ पर बरसने लगे। पर मेरे मन पर इनका कुछ असर न होता था। मैंने कहा—"मुझे तो अपनी सलाह पर पश्चात्ताप नहीं होता। मैं तो अब भी यह मानता हूँ कि हम इस काम में पडे, यह अच्छा ही हुआ। ऐसा करके हमने अपने कर्त्तव्य का पालन किया है। चाहे इसका फल हम खुद न देख सकें, पर मेरा तो यह दृढ विश्वास है कि शुभ-कार्य का फल सदा शुभ होता है और होगा। अब तो हमें गई गुजरी बातों को छोड कर इस बात पर विचार करना चाहिए कि हमारा कर्त्तव्य क्या है। यही अधिक लाभप्रद है।"

दूसरे मित्रो ने भी इस बात का समर्थन किया।

मैंने कहा—"सच पूछिए तो जिस काम के लिए मैं यहाँ बुलाया गया था वह तो पूरा हो गया समझना चाहिए, पर मेरी अन्तरात्मा कहती है कि अब आप लोग यदि मुझे यहाँ से छुट्टी दे भी दें तो भी जहाँ तक मेरा बस चलेगा, मैं ट्रान्सवाल से नहीं हट सकता। मेरा काम अब नेटाल से नहीं, बल्कि यहीं से चलना चाहिए। अब मुझे एक-मैं-एक राम...

तक यहाँ से लौट जाने का विचार त्याग देना चाहिए और मुझे यहाँ वकालत करने की सनद प्राप्त कर लेना चाहिए। इस नये महकमे के मामले को तय करा लेने की हिम्मत मैं अपने अन्दर पाता हूँ। यदि इस मामले का तस्फिया न कराया तो कौम के लुट जाने, और ईश्वर न करे, यहाँ से उसका नामोनिशान मिट जाने, का अन्देशा मुझे है। उसकी हालत तो दिन-दिन घटती ही जायगी, इसमें मुझे कोई सन्देह नहीं। मि० चैम्बरलेन का मुझसे न मिलना, उस अधिकारी का मेरे साथ तिरस्कार का वर्ताव करना—ये वातें तो सारी कौम की—सारे समाज की मान-हानि के मुकाविले में कुछ भी नहीं है। हम यहाँ कुत्ते की तरह दुम हिलाते रहे, यह कैसे वरदाश्त किया जा सकता है ?"

मैंने इस तरह अपनी बात लोगो के सामने रक्खी। प्रिटोरिया और जोहान्सवर्ग में रहने वाले भरतीय अगुओ के साथ सलाह-मशवरा करके अन्त में जोहान्सवर्ग में अपना दफ्तर रखनें का निश्चय किया।

ट्रान्सवाल में भी मुझे यह तो शक था ही कि वकालत की सनद मिलेगी भी या नहीं ? परन्तु, ईश्वर ने खैर की। यहाँ के वकील-मंडल की ओर से मेरी दरख्वास्त का विरोध नहीं किया गया और वड़ी अदालत ने मेरी दरख्वास्त मंजूर कर ली।

वहाँ एक भारतवासी के दफ्तर के लिए अच्छी जगह मिलना भी मुश्किल था; परन्तु मि० रीच के साथ मेरा खासा परिचय हो गया था। उस समय वह व्यापारी-वर्ग में थे। उनकी जान-पहचान के हाउस-एजेंट—मकानो के दलाल—के मार्फत दफ्तर के लिए अच्छी जगह मिल गई और मैंने वकालत शुरू करदी।

: ४ :

त्याग-भाव की वृद्धि

ट्रान्सवाल में लोगो के हकों की रक्षा के लिए किस तरह लड़ना पड़ा और एशियाई महकमे के अधिकारियो के साथ किस तरह पेश आना

पड़ा, इसका अधिक वर्णन करने के पहले मेरे जीवन के दूसरे पहलू प नजर डाल लेने की आवश्यकता है।

अबतक कुछ-न-कुछ धन इकट्ठा कर लेने की इच्छा मन में रहा करती थी। मेरे परमार्थ के साथ यह स्वार्थ का मिश्रण भी रहता था।

बम्बई में जब मैंने अपना दफ्तर खोला था तब एक अमरीकन बीमा एजेंट मुझसे मिलने आया था। उसका चेहरा खुशनुमा था। उसकी बातें बड़ी मीठी थी। उसने मुझसे मेरे भावी कल्याण की बातें इस तरह की मानो वह मेरा कोई बहुत दिनों का मित्र हो। "अमरीका में तो आपकी हैसियत के सब लोग अपनी जिन्दगी का बीमा करवाते हैं। आपको भी उनकी तरह अपने भविष्य के लिए निश्चिन्त हो जाना चाहिए। जिन्दगी का आखिर क्या भरोसा ? हम अमरीकावासी तो बीमा कराना अपना धर्म समझते हैं, तो क्या आपको मैं एक छोटी-सी पालिसी कराने के लिए भी न ललचा सकूँ ?"

अबतक क्या हिन्दुस्तान में और क्या दक्षिण अफ्रिका में कितने ही एजेंट मेरे पास आये, पर मैंने किसीको दाद न दी थी, क्योंकि मैं समझता था कि बीमा कराना मानो अपनी भीरुता का और ईश्वर के प्रति अविश्वास का परिचय देना था, पर इस बार मैं लालच में आगया। वह एजेंट ज्यों-ज्यों अपना जादू घुमाता जाता, त्यों-त्यों मेरे सामने अपनी पत्नी और पुत्रों की तस्वीर खड़ी होने लगी। मन में यह भाव उठा कि "अरे, तुमने पत्नी के लगभग सब गहने-पत्ते बेच डाले हैं। अब अगर यह शरीर कुछ-का-कुछ हो जाय तो इन पत्नी और बालबच्चों के भरण-पोषण का भार आखिर तो उसी गरीब भाई पर न जा पड़ेगा, जो आज तुम्हारे पिताजी के स्थान की पूर्ति कर रहा है, और खूबी के साथ कर रहा है ? क्या यह उचित होगा ?" इस तरह मैंने अपने मन को समझा कर १०,०००) का बीमा करा लिया।

पर दक्षिण अफ्रिका में मेरे मन की हालत यह न रह गई थी और मेरे विचार भी बदल गये थे। दक्षिण अफ्रिका की नई आपत्ति के समय मैंने जो-कुछ किया वह ईश्वर को साक्षी रखकर ही किया था। मुझे इस बा

की कुछ खबर न थी कि दक्षिण अफ्रिका में मुझे कितने समय रहना पड़ेगा। मेरी तो यह धारणा होगई थी कि अब मैं हिन्दुस्तान को वापस न लौट पाऊँगा। इसलिए मुझे बाल-बच्चो को अपने साथ ही रखना चाहिए। उनको अब अपनेसे दूर रखना उचित नही। उनके भरण-पोषण का प्रबन्ध भी दक्षिण-अफ्रिका में ही होना चाहिए। यह विचार मन में आते ही वह पालिसी उलटे मेरे दु ख का कारण बन गई। मुझे मन में इस बात पर शर्म आने लगी कि मैं उस एजेण्ट के चक्कर में कैसे आगया। मैंने इस विचार को अपने मन में स्थान ही कैसे दिया कि जो भाई मेरे लिए पिता के बराबर है उन्हें अपने सगे छोटे भाई की विधवा का बोझ नागवार होगा? और यह भी कैसे मान लिया कि पहले तुम ही मर जाओगे? आखिर सब का पालन करने वाला तो वह ईश्वर ही है, न तो तुम हो, न तुम्हारे भाई हैं। बीमा करवाके तुमने अपने बाल-बच्चो को भी पराधीन बना दिया। वे क्यो स्वावलम्बी नही हो सकते? इन असख्य गरीबो के बाल-बच्चो का आखिर क्या होता है? तुम अपने को उन्हींके-जैसा क्यो नही समझ लेते?"

इस प्रकार मन में विचारो की धारा बहने लगी, पर उसके अनुसार व्यवहार सहसा ही नही कर डाला। मुझे ऐसा याद पडता है कि बीमे की एक किश्त तो मैंने दक्षिण अफ्रिका से भी जमा कराई थी।

परन्तु इस विचार-धारा को बाहरी उत्तेजन मिलता गया। दक्षिण अफ्रिका की पहली यात्रा के समय मैं ईसाइयो के वातावरण मे कुछ आ चुका था और उसके फल-स्वरूप धर्म के विषय में जाग्रत रहने लगा। इस बार थियॉसफी के वातावरण में आया। मि० रीच थियॉसफिस्ट थे। उन्होने जोहान्सबर्ग की सोसाइटी से मेरा सम्बन्ध करा दिया। मेरा थियॉसफी के सिद्धान्तो से मत-भेद था, इसलिए मैं उसका सदस्य तो नहीं बना, पर फिर भी लगभग प्रत्येक थियॉसफिस्ट से मेरा गाढा-परिचय हो गया था। उनके साथ रोज़ धर्म-चर्चा हुआ करती। थियॉसफी की पुस्तकें पढ़ी जाती और उनके मण्डल में कभी-कभी मुझे बोलना भी पडता। थियॉसफी में भ्रातृ-भाव पैदा करना और बढाना मुख्य बात है। इस

विषय पर हम बहुत चर्चा करते और मैं जहां-जहां इस मान्यता ... सम्बों के आचरण में भेद देखता वहां उसकी आलोचना भी करता। ... आलोचना का प्रभाव खुद मुझपर बड़ा अच्छा पड़ा। इससे मुझे ... निरीक्षण की लगन लग गई।

: ५ :

निरीक्षण का परिणाम

जब १८९३ में मैं ईसाई-मित्रों के निकट-परिचय में आया, तब ... एक विद्यार्थी की स्थिति में था। ईसाई-मित्र मुझे बाइबिल का सन्दे... सुनाने, समझाने और मुझसे स्वीकार कराने का उद्योग कर रहे थे। ... नम्र-भाव से, एक तटस्थ की तरह, उनकी शिक्षाओं को सुन और सम... रहा था। इसके बदौलत मैंने हिन्दू-धर्म का यथाशक्ति अध्ययन कर ... और दूसरे धर्मों को भी समझाने की कोशिश की, पर अब १९०३ ... स्थिति बदल गई। थियॉसफिस्ट मित्र मुझे अपनी सभा में खींचने की इच्छा तो जरूर कर रहे थे; परन्तु वह एक हिन्दू के तौर पर मुझसे कुछ प्राप्त करने के उद्देश्य से। थियॉसफी की पुस्तकों पर हिन्दू-धर्म की छाया और उसका प्रभाव बहुत-कुछ पड़ा है, इसलिए इन भाइयों ने यह मान लिया कि मैं उनकी सहायता कर सकूंगा। मैंने उन्हें समझाया कि मेरा संस्कृत का अध्ययन नाम ही है। मैंने हिन्दू-धर्म के प्राचीन ग्रन्थों को संस्कृत में नहीं पढ़ा है और अनुवादों के द्वारा भी मेरा पठन कम हुआ है। फिर भी, चूंकि वे संस्कारों को और पुनर्जन्म को मानते हैं, उन्होंने अपना यह खयाल बना लिया कि मेरी थोड़ी-बहुत मदद तो उन्हें अवश्य ही मिल सकती है। और इस तरह मैं—'रूख नहीं तहँ रेंड प्रधान' बन गया। किसीके साथ विवेकानन्द का 'राजयोग' पढ़ने लगा तो किसीके साथ मणिलाल नथुभाई का 'राजयोग'। एक मित्र के साथ 'पातंजलि-योगदर्शन' भी पढ़ना पड़ा। बहुतों के साथ गीता का अध्ययन शुरू किया। एक छोटा-सा 'जिज्ञासु-मण्डल' भी बनाया गया और नियम-पूर्वक अध्ययन

आरम्भ हुआ। गीताजी के प्रति मेरा प्रेम और श्रद्धा तो पहले ही से थी। अब उसकी गहराई के साथ रहस्य समझने की आवश्यकता दिखाई दी। मेरे पास एक-दो अनुवाद रक्खे थे। उनकी सहायता से मूल संस्कृत समझने का प्रयत्न किया और नित्य एक या दो श्लोक कण्ठ करने का निश्चय किया।

सुबह का दतौन और स्नान का समय मैं गीताजी कण्ठ करने में लगाता। दतौन में १५ और स्नान में २० मिनट लगते। दतौन अंग्रेजी रिवाज के मुताबिक खड़े-खड़े करता। सामने दीवार पर गीताजी के श्लोक लिखकर चिपका देता और उन्हें देख-देखकर रटता रहता। इस तरह रटे हुए श्लोक स्नान करने तक पक्के हो जाते। बीच में पिछले श्लोकों को भी दुहरा जाता। इस प्रकार मुझे याद पड़ता है कि १३ अध्याय तक गीता बर-ज़बान करली थी; पर बाद को काम की झंझटें बढ़ गईं। सत्याग्रह का जन्म हो गया और उस बालक की परवरिश का भार मुझपर आ पड़ा, जिससे विचार करने का समय भी उसके लालन-पालन में बीता, और कह सकते हैं कि अब भी बीत रहा है।

इस गीता-पाठ का असर मेरे सहाध्यायियों पर तो जो-कुछ पड़ा हो वह वही बता सकते हैं, किन्तु मेरे लिए तो गीता आचार की एक प्रौढ़ मार्गदर्शिका बन गई है। वह मेरा धार्मिक कोष हो गई है। अपरिचित अंग्रेजी शब्द के हिज्जे या अर्थ को देखने के लिए जिस तरह मैं अंग्रेजी कोष को खोलता, उसी तरह आचार-सम्बन्धी कठिनाइयों और उसकी अटपटी गुत्थियों को गीताजी के द्वारा सुलझाता। उसके अपरिग्रह, समभाव इत्यादि शब्दों ने मुझे गिरफ्तार कर लिया। यही धुन रहने लगी कि समभाव कैसे प्राप्त करूँ, कैसे उसका पालन करूँ? जो अधिकारी हमारा अपमान करे, जो रिश्वतखोर है, रास्ते चलते जो विरोध करते हैं, जो कल के साथी हैं, उनमें और उन सज्जनों में जिन्होंने हम पर भारी उपकार किया है, क्या कुछ भेद नहीं है? अपरिग्रह का पालन किस तरह मुमकिन है? क्या यह हमारी देह ही हमारे लिए कम परिग्रह है। स्त्री-पुरुष आदि यदि परिग्रह नहीं हैं तो फिर क्या है? क्या पुस्तकों से भरी इन अलमारियों में आग लगा दूँ? पर यह तो घर जलाकर तीर्थ

करना हुआ ! अन्दर से तुरन्त उत्तर मिला—हाँ, घर-बार को खाक किये बिना तीर्थ नही किया जा सकता। इसमें अंग्रेजी कानून के अध्ययन ने मेरी सहायता की। स्नेल-रचित कानून के सिद्धान्तो की चर्चा याद आई। 'ट्रस्टी' शब्द का अर्थ गीताजी के अध्ययन की बदौलत, अच्छी तरह समझ में आया। कानून-शास्त्र के प्रति मन में आदर बढा। उसके अन्दर भी मुझे धर्म का तत्व दिखाई पडा। 'ट्रस्टी' यो करोडो की सम्पत्ति रखते है, फिर भी उसकी एक पाई पर उनका अधिकार नहीं होता। इसी तरह मुमुक्षु को अपना आचरण रखना चाहिए—यह पाठ मैंने गीताजी से सीखा। अपरिग्रही होने के लिए सम-भाव रखने के लिए, हेतु का और हृदय का परिवर्तन आवश्यक है, यह बात मुझे दीपक की तरह स्पष्ट दिखाई देने लगी। बस, तुरन्त रेवाशकर भाई को लिखा कि बीमा की पालिसी बन्द कर दीजिए। कुछ रुपया वापस मिल जाय तो ठीक, नही तो खैर। बाल-बच्चो और गृहिणी की रक्षा वह ईश्वर करेगा, जिसने उनको और हमको पैदा किया है। यह आशय मेरे उस पत्र का था। पिता के समान अपने बडे भाई को लिखा—"आजतक मै जो कुछ बचाता रहा आपके अर्पण करता रहा, अब मेरी आशा छोड दीजिए। अब जो-कुछ बच रहेगा वह यहीं के सार्वजनिक कामो में लगेगा।"

इस बात का औचित्य मै भाई साहब को जल्दी न समझा सका। शुरू में तो उन्होने बडे कडे शब्दो मे मुझे अपने प्रति मेरे धर्म का उपदेश दिया—"पिताजी से बढकर अक्ल दिखाने की तुम्हे जरूरत नही। क्या पिताजी अपने कुटुम्ब का पालन-पोषण नहीं करते थे। तुम्हे भी उसी तरह घर-बार सम्हालना चाहिए।" आदि—मैंने विनय-पूर्वक उत्तर दिया—"मै तो वही काम कर रहा हूँ, जो पिताजी करते थे। यदि कुटुम्ब की व्याख्या हम जरा व्यापक कर दें तो मेरे इस कार्य का औचित्य तुरन्त आपके खयाल में आ जायगा।"

अब भाईसाहब ने मेरी आशा छोड दी। करीब-करीब अ-बोला ही रक्खा। मुझे इससे दुःख हुआ, परन्तु जिस बात को मैंने अपना धर्म मान लिया उसे यदि छोडता हूँ तो उससे भी अधिक दुःख होता था।

अतएव मैंने इस थोडे दुख को सहन कर लिया। फिर भी भाई साहब के प्रति मेरी भक्ति उसी तरह निर्मल और प्रचण्ड रही। मैं जानता था कि भाई साहब के इस दुख का मूल है उनका प्रेम-भाव। उन्हे रुपये-पैसे की अपेक्षा मेरे सद्व्यवहार की अधिक चाह थी।

पर अपने अन्तिम दिनो में भाई साहब मुझपर पसीज गये थे। जब वह मृत्यु-शय्या थे तब उन्होने मुझे सूचित कराया कि मेरा कार्य ही उचित और धर्म्य था। उनका पत्र बडा ही करुणाजनक था। यदि पिता पुत्र से माफी माँग सकता हो तो उन्होंने उसमें मुझसे माफी माँगी थी। लिखा कि मेरे लडको का तुम अपने ढग से लालन-पालन और शिक्षण करना। वह मुझसे मिलने के लिए बडे अधीर हो गये थे। मुझे तार दिया। मैंने तार द्वारा उत्तर दिया—'जरूर आजाइए।' पर हमारा मिलाप ईश्वर को मजूर न था।

अपने पुत्रो के लिए जो इच्छा उन्होने प्रदर्शित की थी वह भी, पूरी न हुई। भाई साहब ने तो देश में ही अपना शरीर छोडा था। लडको पर उनके पूर्व-जीवन का असर पड चुका था। उनके सस्कारो में परिवर्तन न हो पाया। मैं उन्हें अपने पास न खीच सका। इसमें उनका दोष नही है। स्वभाव को कौन बदल सकता है? बलवान् सस्कारो को कौन मिटा सकता है? हम अक्सर यह मानते है कि जिस तरह हमारे विचारो में परिवर्तन हो जाता है, हमारा विकास हो जाता है, उसी तरह हमारे आश्रित लोगो या साथियो में भी हो जाना चाहिए; पर यह मिथ्या है।

माता-पिता होनेवालो की जिम्मेदारी कितनी भयकर है, यह बात इस उदाहरण से कुछ समझ में आ सकती है।

: ६ :

निरामिषाहार की वेदी पर—

जीवन में ज्यो-ज्यो त्याग और सादगी बढती गई और धर्म-जागृति की वृद्धि होती गई; त्यो-त्यो निरामिषाहार का और उसके प्रचार का शौक

बढ़ता गया। प्रचार मैं एक ही तरह से करना जानता हूँ—आचार द्वारा, और आचार के साथ-ही-साथ जिज्ञासु के साथ वार्तालाप करके।

जोहान्सबर्ग में एक निरामिषाहारी गृह था। उसका संचालक जर्मन था, जोकि क्यूनी के जलोपचार का कायल था। मैंने वहाँ जाना शु किया और जितने अंग्रेज मित्रों को वहाँ ले जा सकता था, ले जाता था परन्तु मैंने देखा कि यह भोजनालय बहुत दिनों तक नहीं चल सकेगा क्योंकि रुपये-पैसे की तंगी उसमें रहा ही करती थी। जितना मुझे वाजि मालूम हुआ, मैंने उसमें मदद दी। कुछ गँवाया भी। अन्त को वह बं हो गया। थियॉसफिस्ट बहुतेरे निरामिषाहारी होते हैं; कोई पूरे और को अधूरे। इस मण्डल में एक बहन साहसी थी उसने बड़े पैमाने पर ए निरामिष-भोजनालय खोला। यह बहन कला-रसिक थी, शाहखर्च थी, औ हिसाब-किताब का भी बहुत खयाल रखती थी। उनके मित्र-मण्डल की संख्या अच्छी कही जा सकती थी। पहले तो उसका काम छोटे पैमाने से शुरू हुआ; परन्तु बाद को उसने उसे बढ़ाने का और बड़ी जगह ले जा का निश्चय किया। इस काम में उसने मेरी सहायता चाही। उस सम उसके हिसाब-किताब की हालत का मुझे कुछ पता न था। मैंने मान लिया कि उसके हिसाब और अटकल में कोई भूल न होगी। मेरे पास रुपये-पैसे की सुविधा रहती थी। बहुतेरे मवक्किलों के रुपये मेरे पास रहते थे। उनमें से एक सज्जन की इजाजत लेकर लगभग एक हजार पौंड मैंने उसे दे दिये। वह मवक्किल बड़े उदार-हृदय और विश्वासशील थे। वह पहले-पहल गिरमिट आये थे। उन्होंने कहा—'भाई, आपका दिल चाहे तो पैसे दे दो। मैं कुछ नहीं जानता। मैं तो आपही को जानता हूँ।" उनका नाम था बदरी। उन्होंने सत्याग्रह में बहुत योग दिया था। जेल भी काटी थी। इतनी सम्मति पाकर ही मैंने उसमें रुपये लगा दिये। दो-तीन महीने में ही मैं जान गया कि ये रुपये वापस आनेवाले नहीं हैं; इतनी बड़ी रकम खो देने की सामर्थ्य मुझमें न थी। मैं इस रकम को दूसरे काम लगा सकता था। वह रकम आखिर उसीमें डूब गई; परन्तु मैं इस बात को कैसे गवारा कर सकता था कि वह विश्वासी बदरी का रुप

चला जाय ? वह तो मुझको ही पहचानता था। अपने पास से मैंने यह रकम भर दी।

एक मवक्किल मित्र से मैंने इस रुपये की बात की। उन्होंने मुझे मीठा उलहना देकर सचेत किया—

"भाई, (दक्षिण अफ्रिका में मैं 'महात्मा' नही बन गया था और न 'बापू' ही बना था, मुवक्किल मित्र मुझे 'भाई' ही सम्बोधन करते थे।) आपको ऐसे झगडो में न पडना चाहिए। हम तो ठहरे आपके विश्वास पर चलने वाले। ये रुपये आपको वापस नही मिलने के। बदरी को तो आप बचा लोगे, पर आपकी रकम बट्टे-खाते में समझिए। पर ऐसे सुधार के कामो में यदि आप मवक्किलो का रुपया लगाने लगेंगे तो मवक्किल बेचारे पिस जायेंगे और आप भिखारी बन कर घर बैठ रहेंगे। इससे आपके सार्वजनिक काम को भी धक्का पहुँचेगा।"

सद्भाग्य से यह मित्र अभी मौजूद हैं। दक्षिण अफ्रिका में तथा दूसरी जगह इनसे अधिक स्वच्छ आदमी मैंने दूसरा नही देखा। किसीके प्रति यदि उनके मन में सन्देह उत्पन्न होता और बाद को उन्हे मालूम हो-जाता कि वह बे-बुनियाद था तो तुरन्त जाकर उससे माफी मागते और अपना दिल साफ कर लेते। मुझे इनकी यह चेतावनी बिलकुल ठीक मालूम हुई। बदरी का रुपया तो मैं चुका सका था, परन्तु यदि उस समय और एक हजार पौण्ड बरबाद किया होता तो उसको चुकाने की हैसियत मेरी बिलकुल नही थी और माथे कर्ज ही करना पडता। कर्ज के चक्कर में मैं अपनी जिन्दगी में कभी नही पडा और उससे मुझे हमेशा अरुचि ही रही है। इससे मैंने यह सबक सीखा कि सुधार कार्यों के लिए भी हमें अपनी ताकत के बाहर पाँव न बढाना चाहिए। मैंने यह भी देखा कि इस कार्य में गीता के तटस्थ निष्काम कर्म के मुख्य पाठ का अनादर किया था। इस भूल ने आगे को मेरे लिए प्रकाश स्तम्भ का काम दिया।

निरामिषाहार के प्रचार की वेदी पर मुझे इतना बलिदान करना पडेगा, इसका अनुमान मुझे न था। मेरे लिए यह अनिच्छित पुण्य था।

: ७ :

मिट्टी और पानी के प्रयोग

ज्यो-ज्यो मेरे मेरे जीवन में सादगी वढती गई त्यो-त्यो बीमारियो के लिए दवा लेने की ओर जो अरुचि मुझे पहले ही से थी वह भी वढती गई। जब मैं डरबन में वकालत करता था तब डाक्टर प्राणजीवनदास मेहता मुझसे मिलने आये थे। उस समय मुझे कमजोरी रहा करती थी और कभी-कभी बदन सूज भी जाया करता था। उसका इलाज उन्होंने किया था और उससे मुझे लाभ भी हुआ था। इसके बाद देश आ जाने तक मुझे नही याद पडता कि मुझे कहने लायक कोई बीमारी हुई हो।

परन्तु जोहान्सवर्ग में मुझे कब्ज रहा करता था और जब-तब [illegible] में भी दर्द हुआ करता था। इधर-उधर की दस्तावर दवाये ले-ला[illegible] तबियत को सम्हालता रहता था। खाने-पीने में तो मै परहेजगार शुरू ही रहा हूं, पर उससे मै कतई रोग-मुक्ति नही हुआ। मन बरावर य[illegible] कहता रहता था कि इस दवा के जजाल से छूट जाऊं तो वडा काम हो[illegible] लगभग इसी समय मैन्चेस्टर में 'नो ब्रेकफास्ट एसोसियेशन' की स्थाप[illegible] के समाचार मैंने पढे। उसकी खास दलील यह थी कि अंग्रेज लोग बहु[illegible] वार खाते है और बहुतेरा खा जाते है, रात के वारह-बारह बजे त[illegible] खाया करते है और फिर डाक्टरो का घर खोजते फिरते है। इस बखे[illegible] से यदि वे अपना पिण्ड छुडाना चाहे तो उन्हे ब्रेक-फास्ट अर्थात् सुब[illegible] का नाश्ता छोड देना चाहिए। यह वात मुझपर सर्वांश में तो नही पर कुछ अश में जरूर घटित होती थी। मै तीन बार पेट भर कर खाता और दो पहर को चाय भी पीता। मै कभी अल्पाहारी न था। निरामिषाहारी होते हुए भी और बिना मसाले का खाना खाते हुए भी मै जितनी हो सके चीजो को स्वादिष्ट बनाकर खाता था। छ-सात बजे के पहले शायद ही कभी उठता। इससे मैंने यह नतीजा निकाला कि यदि मै भी सुबह

का खाना छोड दूँ तो जरूर मेरे सिर का दर्द जाता रहे। मैंने ऐसा ही किया भी। कुछ दिन जरा मुश्किल तो मालूम पडा, पर साथ ही सिर का दर्द बिलकुल चला गया। इससे मुझे निश्चय हो गया कि मेरी खुराक जरूर आवश्यकता से अधिक थी।

परन्तु, कब्ज की शिकायत तो इस परिवर्तन से भी दूर नही हुई। क्यूनी के कटिस्नान का प्रयोग किया। उससे कुछ फर्क पडा, पर जितना चाहिए उतना नही। इसी अरसे में उस जर्मन भोजनालय वाले ने या किसी दूसरे मित्र ने मेरे हाथ में जुस्ट-लिखित 'रिटर्न टू नेचर (प्रकृति की ओर लौटो) नामक पुस्तक ला कर दी। उसमें मिट्टी के इलाज का वर्णन था। लेखक ने इस बात का भी बहुत समर्थन किया है कि हरे और सूखे फल ही मनुष्य का स्वाभाविक भोजन है। केवल फलाहार का प्रयोग तो मैंने इस समय नही किया, पर मिट्टी का इलाज तुरन्त शुरू कर दिया। उसका जादू की तरह मुझपर असर हुआ। उसकी विधि इस प्रकार है। खेतों की साफ लाल या काली मिट्टी लाकर उसे आवश्यकता-नुसार ठडे पानी में भिगो लेना चाहिए। फिर साफ पतले भीगे कपडे में उसे लपेटकर पेट पर रखकर बाँध लेना चाहिए। मैं यह पट्टी रात को सोते समय बाँधता और सुबह अथवा रात को जब नीद खुल जाती उसे निकाल डालता। उससे मेरा कब्ज निर्मूल हो गया। उसके बाद मैंने मिट्टी के ये प्रयोग खुद अपने पर तथा अपने साथियो पर किये हैं, किन्तु मुझे ऐसा याद पडता है कि शायद ही कभी उनसे लाभ न पहुँचा हो।

पर, हाँ, यहाँ देश में आने बाद ऐसे उपचारों पर से मैं आत्म-विश्वास खो बैठा हूँ। प्रयोग करने का, एक जगह स्थिर होकर बैठने का मुझे अवसर भी नहीं मिल सका है। फिर भी मिट्टी और पानी के उपचारो पर मेरा विश्वास बहुतांश में उतना ही बना हुआ है, जितना कि आरम्भ में था। आज भी एक सीमा के अन्दर रहकर, खुद अपने पर मिट्टी के प्रयोग करता हूँ और मौका पड जाने पर अपने साथियों को भी उसकी सलाह देता हूँ। मैं अपनी जिन्दगी में दो बार सख्त बीमार

बीमार पड चुका हूँ। फिर भी मेरी यह दृढ धारणा है कि मनुष्य को दवा लेने की शायद ही आवश्यकता होती है। पथ्य और पानी, मिट्टी इत्यादि के घरेलू उपचारो से ही हजार में नौ-सौ-निन्यानवे बीमारियाँ अच्छी हो सकती हैं।

बार-बार वैद्य, हकीम या डाक्टर के यहाँ दौड-दौड कर जाने से और शरीर मे अनेक चूर्ण और रसायन भर ने से मनुष्य अपने जीवन को कम कर देता है। इतना ही नही, बल्कि अपने मन पर से अपना अधिकार भी खो बैठता है। इससे वह अपने मनुष्यत्व को भी गँवा देता है और शरीर का स्वामी रहने के बजाय उसका गुलाम बन जाता है।

यह अध्याय मैं रोग-शय्या पर पडा हुआ लिख रहा हूँ। इससे कोई इन विचारो की अवहेलना न करे। अपनी बीमारियो के कारणों का मुझे पता है। मैं अपनी ही खराबियो के कारण बीमार पडा हूँ, इस बात का ज्ञान और भान मुझे है और मैं इसी कारण अपना धीरज नही छोड बैठा हूँ। इस बीमारी को मैंने ईश्वर का अनुग्रह माना है और दवा-दारू करने के लालचो से दूर रहा हूँ। मैं यह भी जानता हूँ कि मैं अपनी इस हठ-धर्मी के कारण अपने डाक्टर-मित्रो का जी उकता देता हूँ, पर वे उदार भाव से मेरी हठ को सहन कर लेते हैं और मुझे छोड नही देते।

पर मुझे अपनी वर्तमान स्थिति का लम्बा-चौडा वर्णन करने की यहाँ आवश्यकता नही। इसलिए अब हम फिर १९०४-५ में आ जावे।

परन्तु, इस विषय में आगे बढने के पहले पाठक को एक चेतावनी देना जरूरी है। इसको पढकर जो लोग जुस्ट की पुस्तक ले, वे उसकी सब बातो को वेद-वाक्य न समझ लें। सभी लेखो और पुस्तकों में लेखक की दृष्टि प्राय. एकागी रहती है। मेरे खयाल में हरएक चीज कम-से-कम सात दृष्टिबिन्दुओ से देखी जा सकती है और उन-उन दृष्टिबिन्दुओ के अनुसार यह बात सच भी होती है, परन्तु यह याद रखना चाहिए कि सभी दृष्टिबिन्दु एक ही समय और एक ही मुकाम पर सही नही होते। फिर कितनी ही पुस्तको में बिक्री के और नाम के लालच की बुराई भी रहती है। इसलिए जो सज्जन इस पुस्तक को पढना चाहें वे इसे विवेक-

पूर्वक पढ़ें और यदि कोई प्रयोग करना चाहे तो किसी अनुभवी की सलाह से करे, या धीरज रख कर विशेष अभ्यास करने के बाद प्रयोग की शुरुआत करे।

: ८ :

एक चेतावनी

अपनी इस कथा के धारा-प्रवाह को फिलहाल एक अध्याय तक रोक कर पहले इसी विषय पर कुछ और रोशनी डालने की आवश्यकता है।

पिछले अध्याय में मिट्टी के प्रयोगो के सम्बन्ध में मैंने जो कुछ लिखा है उसी तरह भोजन के भी प्रयोग मैंने किये हैं। इसलिए उनके सम्बन्ध में भी यहाँ कुछ लिख डालना उचित है। इस विषय की और जो कुछ बाते हैं वे प्रसग-प्रसग पर सामने आती जावेगी।

भोजन-सम्बन्धी मेरे प्रयोगो और विचारो का सविस्तर वर्णन नही किया जा सकता, क्योकि इस विषय पर मैंने अपनी 'आरोग्य सम्बन्धी सामान्य ज्ञान'[1] नामक पुस्तक में विस्तार-पूर्वक लिखा है। यह पुस्तक मैंने 'इण्डियन ओपीनियन' के लिए लिखी थी। मेरी छोटी-छोटी पुस्तिकाओ में यह पुस्तक पश्चिम में, तथा यहाँ भी सबसे अधिक प्रसिद्ध हुई है। इसका कारण मैं आजतक नही समझ सका हूँ। यह पुस्तक महज 'इण्डियन ओपीनियन' के पाठको के लिए ही लिखी गई थी, परन्तु उसे पढकर वहुतेरे भाई-वहनो ने अपने जीवन में परिवर्तन किया है और मेरे साथ चिट्ठी-पत्री भी की है, और कर रहे हैं। इसलिए उसके सम्बन्ध में कुछ लिखने की आवश्यकता पैदा हो गई है।

इसका कारण यह है कि यद्यपि उसमें लिखे अपने विचारो को वदलने की आवश्यकता मुझे अभी तक नही दिखाई पडी है, फिर भी अपने आचार में मैंने वहुत-कुछ परिवर्तन कर लिया है, जिसे इस पुस्तक के वहुतेरे पढनेवाले नही जानते और यह आवश्यक है कि वे उसे जल्दी जान ले।

१ यह पुस्तक मण्डल से प्रकाशित हो रही है। दाम ।)

इस पुस्तक को मैंने धार्मिक-भावना से प्रेरित होकर लिखा है, जिस तरह कि मैंने और लेख भी लिखे हैं और यही धर्मभाव मेरे प्रत्येक कार्य में आज भी वर्तमान है। इसलिए इस बात पर मुझे बड़ा खेद रहता है और बड़ी शर्म मालूम होती है कि आज मैं उनमें से कितने ही विचारों पर पूरा अमल नहीं कर सकता हूँ।

मेरा दृढ विश्वास है कि मनुष्य जबतक बालक रहता है तबतक माता का जितना दूध पी लेता है उसके अलावा फिर उसे दूसरे दूध की आवश्यकता नहीं है। मनुष्य का भोजन वन के पके फल, हरे और सूखे के सिवा दूसरा नहीं है। बादामादि बीज तथा अंगूरादि फलों से उसे शरीर और बुद्धि के पोषण के लिए आवश्यक द्रव्य मिल जाते हैं। जो मनुष्य ऐसे भोजन पर रह सकता है उसके लिए ब्रह्मचर्यादि आत्म-संयम बहुत आसान हो जाता है। 'जैसा आहार वैसी डकार', 'जैसा भोजन वैसा जीवन' इस कहावत में बहुत तथ्य है। यह मेरे तथा मेरे साथियों के अनुभव की बात है। इन विचारों का सविस्तर प्रतिपादन मैंने अपनी आरोग्य-सम्बन्धी पुस्तक में किया है।

परन्तु मेरी तकदीर में यह नहीं लिखा था कि हिन्दुस्तान में अपने प्रयोगों को पूर्णता तक पहुँचा दूं। खेड़ा जिले में सैन्य-भर्ती का काम कर रहा था, कि अपनी एक भूल की बदौलत मृत्यु-शय्या पर जा पड़ा। बिना दूध के जीवित रहने के लिए मैंने अबतक बहुतेरे निष्फल प्रयत्न किये हैं। जिन-जिन वैद्य-डाक्टरों और रसायनशास्त्रियों से मेरी जान-पहचान थी, उनसे सबसे मैंने मदद माँगी। किसीने मूंग का पानी, किसीने महुए का तेल, किसीने बादाम का दूध सुझाया। इन तमाम चीजों का प्रयोग करते हुए मैंने अपने शरीर को निचोड़ डाला, परन्तु मैं रोगशय्या से न उठ सका।

वैद्यों ने तो मुझे चरक इत्यादि से ऐसे प्रमाण भी खोज कर बताये कि रोग-निवारण के लिए खाद्याखाद्य में दोष नहीं, और काम पड़ने पर मांसादि भी खा सकते हैं। ये वैद्य भला मुझे दूध त्यागने पर मजबूत बने रहने में कैसे मदद दे सकते थे! जहाँ 'बीफ टी' और 'ब्राण्डी' भी

जायज समझी जाती हो, वहाँ मुझे दूध-त्याग में कहाँ मदद मिल सकती है ? गाय-भैंस का दूध तो मैं ले ही नहीं सकता था, क्योंकि मैंने व्रत ले रक्खा था। व्रत का हेतु तो यही था कि दूध-मात्र छोड़ दूं, परन्तु व्रत लेते समय मेरे सामने गाय और भैंस माता ही थी, इस कारण तथा जीवित रहने की आशा के मन को ज्यों-त्यों करके फुसला लिया। इससे व्रत के अक्षरार्थ को ले बकरी का दूध लेने का निश्चय किया, यद्यपि बकरी माता का दूध लेते समय भी मेरा मन कह रहा था कि व्रत की आत्मा का यह हनन है।

पर मुझे तो रौलट-ऐक्ट के खिलाफ आन्दोलन खड़ा करना था। यह मोह मुझे नहीं छोड़ रहा था। इससे जीने की भी इच्छा बनी रही और, जिसे मैं अपने जीवन का महा प्रयोग मानता हूँ, वह बात रुक गई।

खाने-पीने के साथ आत्मा का कुछ सम्बन्ध नहीं। वह न खाती है न पीती है। जो चीज पेट में जाती है वह नहीं, बल्कि जो वचन अन्दर से निकलते हैं वे लाभ-हानि करते है, इत्यादि दलीलों को मैं जानता हूँ। इनमें तथ्यांश है, परन्तु दलीलों के झगड़े में पड़े बिना ही यहाँ तो मैं अपना निश्चय ही लिख रखना चाहता हूँ कि जो मनुष्य ईश्वर से डर कर चलना चाहता है, जो ईश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन करना चाहता है, उस साधक या मुमुक्षु के लिए अपनी खुराक का चुनाव, त्याग और ग्रहण— उतना ही आवश्यक है जितना कि विचार और वाचा का चुनाव, त्याग और ग्रहण आवश्यक है।

पर जिन बातों में मैं खुद गिर गया हूँ उनमें दूसरों को मैं अपने सहारे चलने की सलाह न दूंगा। यही नहीं, बल्कि चलने से रोकूंगा। इस कारण 'आरोग्य-सबंधी सामान्य ज्ञान' के आधार पर प्रयोग करने वाले भाई बहनों को मैं सावधान कर देना चाहता हूँ। जब दूध का त्याग सर्वांश में लाभदायक मालूम हो अथवा अनुभवी वैद्य-डाक्टर उसके छोड़ने की सलाह दें तब तो ठीक, नहीं तो सिर्फ मेरी पुस्तक पढ़ कर कोई सज्जन दूध न छोड़ दें। हिन्दुस्तान का मेरा अनुभव अबतक तो मुझे यही बताता है कि जिनकी जठराग्नि मन्द हो गई हो और जो बिछौने पर ही पड़े रहने

आदी हो गये हैं उनके लिए दूध के बराबर हलका और पोषक पदार्थ दूसरा नहीं। इसलिए पाठकों से मेरी विनती और सलाह है कि इस पुस्तक में जो दूध की मर्यादा सूचित की गई है, उसपर वे अटके न रहें।

इन प्रकरणों को पढ़ने वाले कोई वैद्य, डाक्टर, हकीम या दूसरे अनुभवी सज्जन दूध की एवज में उतनी ही पोषक और पाचक वनस्पति—अपने अध्ययन के आधार पर ही नहीं, बल्कि अनुभव के आधार पर—जानते हों तो मुझे सूचित कर उपकृत करें।

: ९ :

जबरदस्त से मुकाबिला

अब एशियाई कर्मचारियों की ओर दृष्टिपात करें। इन कर्मचारियों का सब से बड़ा थाना जोहान्सबर्ग में था। मैं देखता था कि इन थानों में हिन्दुस्तानी, चीनी आदि लोगों का रक्षण नहीं, बल्कि भक्षण होता था। मेरे पास रोज शिकायतें आतीं—"जिन लोगों को आने का अधिकार है वे तो दाखिल नहीं हो सकते और जिन्हें अधिकार नहीं है वे सौ-सौ पौण्ड देकर आते रहते हैं। इसका इलाज यदि आप न करेंगे तो कौन करेगा ?" मेरा भी मन भीतर से यही कहता था। यह बुराई यदि दूर न हुई तो मेरा ट्रान्सवाल में रहना बेकार समझना चाहिए।

मैं इसके सबूत इकट्ठे करने लगा। जब मेरे पास काफी सबूत जमा हो गए तब मैं पुलिस-कमिश्नर के पास पहुँचा। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि उसमें दया और न्याय का भाव है। मेरी बातों को एकदम उड़ा देने के बजाय उसने मन लगाकर सुनीं और कहा कि इनका सबूत पेश कीजिए। मैंने जो गवाह पेश किये उनके बयान उसने खुद लिये। उसे मेरी बात का इत्मीनान हो गया, परन्तु जैसा कि मैं जानता था वैसे ही वह भी जानता था कि दक्षिण अफ्रिका में गोरे पञ्चों के द्वारा गोरे अपराधियों को दण्ड दिलाना मुश्किल था, पर उसने कहा—

"लेकिन फिर भी हमें अपनी तरफ से तो कोशिश करनी चाहिए।

इस भय से कि ये अपराधी ज्यूरी के हाथो छूट जायँगे, उन्हे गिरफ्तार न कराना भी ठीक नही। मैं तो उन्हे जरूर पकडवा लूँगा।"

मुझे तो विश्वास था ही। दूसरे अफसरो के ऊपर मुझे शक तो था, लेकिन मेरे पास उनके खिलाफ कोई सबल प्रमाण नही था। दो के विषय मे तो मुझे लेशमात्र सन्देह न था। इसलिए उन दोनो के नाम वारण्ट जारी हुए।

मेरा काम तो ऐसा ही था, जो छिपा नही रह सकता था। बहुत-से लोग यह देखते थे कि मैं रोज पुलिस-कमिश्नर के पास जाता हूँ। इन दो कर्मचारियों के छोटे-बडे कुछ जासूस लगे ही रहते थे। वे मेरे दफ्तर के आस-पास मँडराया करते और मेरे आने-जाने के समाचार उन कर्मचारियो को सुनाते रहते। यहाँ मुझे यह भी कह देना चाहिए कि उन कर्मचारियो की ज्यादती यहाँ तक बढ गई कि उन्हे बहुत जासूस नही मिलते थे। हिन्दुस्तानियो और चीनियो की यदि मुझे मदद न मिलती तो ये कर्मचारी नही पकडे जा सकते थे।

उन दो कर्मचारियों में से एक भाग निकला। पुलिस-कमिश्नर ने उसके नाम वारण्ट निकाल कर उसे पकड मगाया और मुकदमा चला। सबूत भी काफी पहुँच गया था। इधर ज्यूरी के प स एक के भाग जाने का तो प्रमाण भी था। फिर भी वे दोनो बरी हो गये!

इससे मैं स्वभावत बहुत निराश हुआ। पुलिस-कमिश्नर को भी दु ख हुआ। वकीलो के रोजगार के प्रति मेरे मन में घृणा उत्पन्न हुई। बुद्धि का उपयोग अपराध को छिपाने में देख मुझे यह बुद्धि ही खलने लगी।

उन दोनो कर्मचारियो के अपराध की शोहरत इतनी फैल गई थी कि उनके छूट जाने पर भी सरकार उन्हे अपने पद पर न रख सकी। वे दोनो अपनी जगह से निकाले गये। इससे एशियाई थाने की गन्दगी कुछ कम हुई और लोगो को भी अब धीरज बँधा और हिम्मत भी आई।

इससे मेरी प्रतिष्ठा बढ गई। मेरी वकालत भी चमकी। लोगों के जो सैकडो पौण्ड रिश्वत में जाते थे, वे सब के सब नही तो भी बहुत अधिक बच गये। रिश्वतखोर तो अब भी हाथ मार ही लेते थे, पर यह

कहा जासकता है कि ईमानदार लोगो के लिए अपने ईमान को कायम रखने की सुविधा हो गई थी।

वे कर्मचारी इतने अधम थे, लेकिन, मैं कह सकता हूं, उनके प्रति मेरे मन में कुछ भी दुर्भाव नही था। मेरे इस स्वभाव को वे जानते थे। और जब उनकी असहाय अवस्था में सहायता करने का मुझे अवसर मिला तो मैंने उनकी सहायता भी की है। जोहान्सवर्ग की म्युनिसिपैलिटी में यदि मैं उनका विरोध न करूँ तो उन्हे नौकरी मिल सकती थी। इसके लिए उनका एक मित्र मुझसे मिला और मैंने उन्हे नौकरी दिलाने में मदद करना मजूर किया। और उनको नौकरी लग भी गई।

इसका यह असर हुआ कि जिन गोरे लोगो के सपर्क में मैं आया वे मेरे विषय में नि शक होने लगे। और यद्यपि उनके महकमो के विरुद्ध मुझे कई बार लड़ना पड़ता, कठोर शब्द कहने पड़ते, फिर भी वे मेरे साथ मधुर सम्बन्ध रखते थे। ऐसा वर्ताव करना मेरा स्वभाव ही बन गया है, इसका ज्ञान मुझे उस समय न था। ऐसा वर्ताव सत्याग्रह की जड है, यह अहिसा का ही एक अग-विशेष है, यह तो मैं बाद को समझा-हूं।

मनुष्य और उसका काम ये दो जुदा चीजें हैं। अच्छे काम के प्रति मन में आदर और बुरे के प्रति तिरस्कार अवश्य ही होना चाहिए, पर अच्छे-बुरे काम करने वाले के प्रति हमेशा मन में आदर अथवा दया का भाव होना चाहिए। यह बात समझने में तो बड़ी सरल है, लेकिन उसके अनुसार आचरण बहुत कम होता है। यही कारण है जो इस जगत् मे हम इतना जहर फैला हुआ देखते हैं।

सत्य की खोज के मूल में ऐसी अहिसा व्याप्त है। यह मैं प्रतिक्षण अनुभव करता हूं कि जबतक यह अहिसा हाथ न लगेगी, तबतक सत्य हाथ नही आ सकता। किसी तन्त्र या प्रणाली का विरोध तो अच्छा है, लेकिन उसके सचालक का विरोध करना मानो खुद अपना ही विरोध करना है। कारण यह है कि हम सब की सृष्टि एक ही कूँची के द्वारा हुई है। हम सब एक ही ब्रह्मदेव की प्रजा है। सञ्चालक अर्थात् उस व्यक्ति के अन्दर तो अनत शक्ति भरी हुई है; इसलिए यदि हम

उसका अनादर—तिरस्कार करेंगे तो उसकी शक्तियों का, गुणो का भी अनादर होगा। ऐसा करने से तो उस सञ्चालक को एवं प्रकारान्तर से सारे जगत् को हानि पहुँचेगी।

: १० :

एक पुण्यस्मरण और प्रायश्चित्त

मेरे जीवन में ऐसी अनेक घटनाये होती रही है, जिनके कारण मैं अनेक धार्मिको तथा जातियो के निकट परिचय में आ सका हूँ। इन सब अनुभवो पर से यह कह सकते है कि मैंने घर के या बाहर के, देशी या विदेशी, हिन्दू या मुसलमान तथा ईसाई, पारसी या यहूदियो मे भेद-भाव का खयाल तक नही किया। मै कह सकता हूँ कि मेरा हृदय इस प्रकार के भेद-भाव को जानता ही न था। इसको मै अपना एक गुण नही मानता हूँ, क्योंकि जिस प्रकार अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रहादि यम-नियमो के अभ्यास का तथा उनके लिए अब भी प्रयत्न करते रहने का पूर्ण ज्ञान मुझे है उसी प्रकार इस भेद-भाव को बढ़ाने के लिए मैंने कोई खास प्रयत्न किया हूँ ऐसा मुझे याद नही पड़ता।

जिस समय डरबन मे मै वकालत करता था उस समय बहुत बार मेरे कारकुन मेरे साथ ही रहते थे। वे खासकर हिन्दू और ईसाई होते थे, अथवा प्रान्तो के हिसाब से कहूँ तो गुजराती और मद्रासी। मुझे याद नही आता कि कभी उनके विषय में मेरे मन में भेद-भाव पैदा हुआ हो। मै उन्हें बिलकुल घर के जैसा ही समझता और उसमें मेरी धर्मपत्नी की ओर से यदि कोई विघ्न उपस्थित होता तो मै उनसे लड़ता था। मेरा एक कारकुन ईसाई था। उसके माँ-बाप पंचम जाति के थे। हमारे घर की बनावट पश्चिमी ढंग की थी। इस कारण कमरे में मोरी नही होती थी—और न होनी चाहिए थी। ऐसा मेरा मत है। इस कारण कमरो में-मोरियो की जगह पेशाब के लिए एक अलग बर्तन होता था। उसे साफ करने का काम हम दोनो—दम्पती का था, नौकरो का नहीं। हाँ,

जो कारकुन लोग अपने को हमारा कुटुम्बी-सा मानने लगते थे वे तो खुद ही उसे साफ कर भी डालते थे; लेकिन पंचम जाति में जन्मा यह कारकुन नया था। उसका बर्तन हमें ही उठा कर साफ करना चाहिए था। और बर्तन तो कस्तूरबाई उठा कर साफ कर देती, लेकिन इन भाई का बर्तन उठाना उसे असह्य मालूम हुआ। इससे हम दोनों की आपस में खूब चली। यदि मैं उठाता हूँ तो उसे अच्छा नहीं मालूम होता था और खुद उसके लिए उठाना कठिन था। फिर भी आँखों से मोती की बूँदें टपक रही हैं, एक हाथ में बर्तन और अपनी लाल-लाल आँखों से उलाहना देती हुई कस्तूरबाई सीढ़ियों से उतर रही हैं! यह चित्र मैं आज भी ज्यों-का-त्यों खींच सकता हूँ।

परन्तु मैं जैसा सहृदय और प्रेमी पति था वैसा ही निष्ठुर और कठोर भी था। मैं अपने को उसका शिक्षक मानता था। इससे, अपने अन्धप्रेम के अधीन हो, मैं उसे खूब सताता था। इस कारण महज उसके बरतन उठा ले जाने-भर से मुझे सन्तोष न हुआ। मैंने यह भी चाहा कि वह हँसते और हुलसते हुए उसे ले जाय। इसलिए मैंने उसे डाँटा-डपटा भी। मैंने उत्तेजित होकर कहा—"देखो, यह बखेड़ा मेरे घर में न चल सकेगा।"

मेरा यह बोल कस्तूरबाई को तीर की तरह लगा। उसने धधकते दिल से कहा—"तो लो, रखो यह अपना घर। मैं चली।"

उस समय मैं ईश्वर को भूल गया था। दया का लेशमात्र मेरे हृदय में न रह गया था। मैंने उसका हाथ पकड़ा। सीढ़ी के सामने ही बाहर जाने का दरवाजा था। मैं उस दीन अबला का हाथ पकड़ कर दरवाजे तक खींच कर ले गया। दरवाजा आधा खोला होगा कि आँखों से गंगा-जमुना बहाती हुई कस्तूरबाई बोली—

'तुम्हें तो कुछ शरम है नहीं; पर मुझे है। जरा तो लजाओ। मैं बाहर निकल कर आखिर जाऊँ कहाँ? माँ-बाप भी यहाँ नहीं कि उनके पास चली जाऊँ। मैं ठहरी स्त्री-जाति। इसलिए मुझे तुम्हारी धौंस सहनी ही पड़ेगी। अब जरा शरम करो और दरवाजा बन्द करो—कोई देख लेगा तो दोनों की फजीहत होगी।"

मैंने अपना चेहरा तो सुर्ख बनाये रक्खा, पर मन में शरमा जरूर गया। दरवाजा बन्द कर दिया। जबकि पत्नी मुझे छोड नही सकती थी तब मैं भी उसे छोड कर कहाँ जा सकता था ? इस तरह हमारे आपस में लडाई-झगडे कई बार हुए है, परन्तु उनका परिणाम सदा अच्छा ही निकला है। उनमें पत्नी ने अपनी अद्भुत सहनशीलता के द्वारा विजय प्राप्त की है।

ये घटनायें हमारे पूर्व-युग की है, इसलिए उनका वर्णन मै आज अलिप्त-भाव से करता हूँ। आज मै तबकी तरह मोहान्ध पति नही हूँ, न उसका शिक्षक ही हूँ। यदि चाहे तो कस्तूरबाई आज मुझे धमका सकती है। हम आज एक-दूसरे के भुक्त-भोगी मित्र है, एक-दूसरे के प्रति निर्विकार रहकर जीवन बिता रहे हैं। कस्तूरबाई आज ऐसी सेविका बन गई है, जो मेरी बीमारियो मे बिना प्रतिफल की इच्छा किये सेवा-सुश्रूषा करती है।

यह घटना १८९८ की है। उस समय मुझे ब्रह्मचर्य-पालन के विषय में कुछ ज्ञान न था। वह समय ऐसा था जबकि मुझे इस बात का स्पष्ट ज्ञान न था कि पत्नी तो केवल सहधर्मिणी, सहचारिणी और सुख-दुःख की साथिन है। मैं यह समझ कर बरताव करता था कि पत्नी विषय-भोग की भाजन है, उसका जन्म पति की हर तरह की आज्ञाओ का पालन करने के लिए हुआ है।

किन्तु १९०० ईस्वी से मेरे इन विचारो में गहरा परिवर्तन हुआ। १९०६ में उसका परिणाम प्रकट हुआ। परन्तु इसका वर्णन आगे प्रसग आने पर होगा। यहाँ तो सिर्फ इतना बताना काफी है कि ज्यो-ज्यो मैं निर्विकार होता गया त्यो-त्यो मेरा घर-ससार शान्त, निर्मल और सुखी होता गया और अब भी होता जाता है।

इस पुण्य-स्मरण से कोई यह न समझ ले कि हम आदर्श दम्पती हैं, अथवा मेरी धर्म-पत्नी में किसी किस्म का दोप नही है, अथवा हमारे आदर्श अब एक हो गये हैं। कस्तूरबाई अपना स्वतन्त्र आदर्श रखती है या नही, यह तो वह बेचारी खुद भी शायद न जानती होगी। बहुत

संभव है कि मेरे आचरण की बहुतेरी बातें उसे अब भी पसन्द न आती हो, परन्तु अब हम उनके बारे में एक-दूसरे से चर्चा नहीं करते, करने में कुछ सार भी नहीं है। उसे न तो उसके माँ-बाप ने शिक्षा दी है, न मैं ही, जब समय था, शिक्षा दे सका, परन्तु उसमें एक गुण बहुत बड़े परिमाण में है, जो दूसरी कितनी ही हिन्दू-स्त्रियों में थोड़ी-बहुत मात्रा में पाया जाता है। मन से हो या बे-मन से, जान में हो या अनजान में मेरे पीछे-पीछे चलने में उसने अपने जीवन की सार्थकता मानी है और स्वच्छ जीवन बिताने के मेरे प्रयत्नों में उसने कभी बाधा नहीं डाली। इस कारण यद्यपि हम दोनों की बुद्धि-शक्ति में बहुत अन्तर है, फिर भी मेरा खयाल है कि हमारा जीवन सतोषी, सुखी और ऊर्ध्वगामी है।

: ११ :

अंग्रेजों से गाढ़ परिचय

इस अध्याय तक पहुँचने पर, अब ऐसा समय आगया है जब मुझे पाठकों को बताना चाहिए कि सत्य के प्रयोगों की यह कथा किस तरह लिखी जा रही है। जब कथा लिखने की शुरुआत की थी तब मेरे पास उसका कोई ढाँचा तैयार न था। न अपने साथ पुस्तकें, डायरी अथवा दूसरे काग़ज-पत्र रख कर ही इन अध्यायों को लिख रहा हूँ। जिस दिन लिखने बैठता हूँ उस दिन अन्तरात्मा जैसी प्रेरणा करती है, वैसा लिखता जाता हूँ। यह तो निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता कि जो क्रिया मेरे अन्दर चलती रहती है वह अन्तरात्मा की ही प्रेरणा है, परन्तु बरसों से मैं जो अपने छोटे-छोटे और बड़े-बड़े कहे जानेवाले कार्य करता आया हूँ उनकी जब छान-बीन करता हूँ तो मुझे यह कहना अनुचित नहीं मालूम होता कि वे अन्तरात्मा के प्रेरणा के ही फल हैं।

अन्तरात्मा को न तो मैंने देखा है, न जाना है। संसार की ईश्वर पर जो श्रद्धा है उसे मैंने अपनी बनाली है। यह श्रद्धा ऐसी नहीं है जो किसी प्रकार मिटाई जा सके। इसलिए अब वह मेरे नजदीक श्रद्धा नहीं, बल्कि

अनुभव हो गया है। फिर भी अनुभव के रूप में उसका परिचय कराना एक प्रकार से सत्य पर प्रहार करना है। इसलिए यही कहना शायद अधिक उचित होगा कि उसके शुद्ध रूप का परिचय देनेवाला शब्द मेरे पास नहीं है। मेरी यह धारणा है कि इसी अदृष्ट अन्तरात्मा के वश-वर्ती होकर मैं यह कथा लिख रहा हूँ।

पिछला अध्याय जब मैंने शुरू किया तब उसका नाम रक्खा था—'अंग्रेजों से परिचय', परन्तु उस अध्याय को लिखते हुए मैंने देखा कि उस परिचय का वर्णन करने के पहले मुझे 'पुण्यस्मरण' लिखने की आवश्यकता है। तब 'पुण्यस्मरण' लिखा और बाद को उसका वह पहला नाम बदलना पड़ा।

अब इस प्रकरण को लिखते हुए फिर एक नया धर्म-संकट पैदा होगया है। अंग्रेजों के परिचयों का वर्णन करते समय क्या-क्या लिखूं और क्या-क्या न लिखूं, यह महत्व का प्रश्न उपस्थित होगया है। यदि आवश्यक बात न लिखी जाय तो सत्य को दाग लग जाने का अन्देशा है, परन्तु सम्भव है कि इस कथा का लिखना भी आवश्यक न हो—ऐसी दशा में आवश्यक और अनावश्यक के झगड़े का न्याय सहसा कर देना कठिन हो जाता है।

आत्मकथायें इतिहास के रूप में कितनी अपूर्ण होती हैं और उनके लिखने में कितनी कठिनाइयाँ आती हैं—इसके विषय में पहले मैंने कहीं पढ़ा था, पर उसका अर्थ मैं आज अधिक अच्छी तरह समझ रहा हूँ। सत्य के प्रयोगों की इस आत्म-कथा में मैं वे सभी बातें नहीं लिख रहा हूँ जिन्हें मैं जानता हूँ। कौन कह सकता है कि सत्य को दर्शाने के लिए मुझे कितनी बातें लिखनी चाहिएँ और कितनी नहीं। या यों कहें कि एकतर्फा अधूरे सबूत की न्याय-मन्दिर में क्या कीमत हो सकती है? इन पिछले लिखे प्रकरणों पर यदि कोई फुरसतवाला आदमी मुझसे जिरह करने लगे तो न जाने कितनी रोशनी इन प्रकरणों पर पड़ सकती है। और यदि फिर एक आलोचक की दृष्टि से कोई उसकी छान-बीन करे तो वह कितनी ही 'पोल' खोल कर दुनिया को हँसा सकता है और खुद फूलकर कुप्पा बन सकता है।

इन बातो पर जब विचार उठने लगते है तो ऐसा मालूम होता है कि इन अध्यायो को लिखने का विचार स्थगित कर दिया जाय तो क्या ठीक न होगा ? परन्तु जब तक यह साफ तौर पर न मालूम हो कि स्वीकृत अथवा आरम्भित कार्य अनीतिमय है तबतक उसे न छोडना चाहिए। इस न्याय के आधार पर जबतक अन्तरात्मा मुझे न रोके तबतक इन अध्यायो को लिखते जाने का निश्चय कायम रखता हूँ।

यह कथा टीकाकारो को सन्तुष्ट करने के लिए नही लिखी जाती है। सत्य के प्रयोगो में इसे भी एक प्रयोग ही समझ लेना चाहिए। फिर इसमें यह दृष्टि तो हुई है कि मेरे साथियो को इसके द्वारा कुछ-न-कुछ आश्वासन मिलेगा। इसका आरम्भ ही उनके सन्तोष के लिए किया है। स्वामी आनन्द और जयरामदास मेरे पीछे न पडते तो इसकी शुरूआत भी शायद ही हो पाती। इस कारण यदि इस कथा के लिखने में कुछ बुराई होती हो तो इसके दोष-भागी वे भी है।

अब इस अध्याय के मूल विषय पर आता हूँ। जिस तरह मैंने हिन्दुस्तानी कारकुनो तथा दूसरे लोगो को अपने घर में बतौर कुटुम्बी के रक्खा था, उसी तरह अंग्रेजो को भी रखने लगा। मेरा यह व्यवहार मेरे साथ रहने वाले दूसरे लोगो के लिए अनुकूल न था, परन्तु मैंने उनकी परवा न करके उन्हे रक्खा। यह नही कहा जा सकता कि सबको इस तरह रखकर मैंने हमेशा बुद्धिमानी का ही काम किया है। कितने ही लोगो से ऐसा सम्बन्ध बांधने का कटु अनुभव भी हुआ है; परन्तु ऐसे अनुभव तो क्या देशी या क्या विदेशी सबके सम्बन्ध में हुए है। उन कटु अनुभवो पर मुझे पश्चात्ताप नहीं हुआ है। कटु अनुभवो के होते रहते भी और यह जानते हुए भी कि दूसरे मित्रो को असुविधा होती है, उन्हे कष्ट सहना पडता है मैंने अपने इस रवैये को नहीं बदला, और मित्रो ने मेरी इस ज्यादती को उदारतापूर्वक सहन किया है। नये-नये लोगो से बांधे गये ऐसे सम्बन्ध जब-जब मित्रो के लिए कष्टदायी साबित हुए है तब-तब उन्हींको मैंने बेखटके कोसा है; क्योंकि मैं यह मानता हूँ कि आस्तिक मनुष्य तो अपने अन्तरस्थ ईश्वर को सबमें देखना चाहता

है और इसलिए उसके अन्दर सबके साथ अलिप्तता से रहने की क्षमता अवश्य आनी चाहिए और उस शक्ति को प्राप्त करने का उपाय ही यह है कि जब-जब ऐसे अनचाहे अवसर आवे तब-तब उनसे दूर न भागते हुए नये-नये सम्बन्धो मे पडें और फिर भी अपने को राग-द्वेष से ऊपर उठाए रक्खें।

इस कारण जब बोअर-ब्रिटिश-युद्ध शुरू हुआ तब यद्यपि मेरा सारा घर भरा हुआ था तथापि मैंने जोहान्सबर्ग से आये दो अंग्रेजो को अपने यहाँ रक्खा। दोनो थियॉसफिस्ट थे। उनमें से एक का नाम था किचन, जिनके बारे में हमें और आगे जानना होगा। इन मित्रो के सहवास ने भी धर्मपत्नी को रुला कर छोडा था। मेरे निमित्त रोने के अवसर उसकी तकदीर में बहुतेरे आये है। बिना किसी परदे या परहेज के इतने निकट-सम्बन्ध में अंग्रेजो को घर में रखने का यह मुझे पहला अवसर था। हाँ, इग्लैण्ड मे अलबत्ता मैं उनके घरो में रहा था, पर वहाँ तो मैंने अपने को उनकी रहन-सहन के अनुकूल बना लिया था और वहाँ का रहना लगभग वैसा ही था जैसा कि होटल में रहना, पर यहाँ की हालत वहाँ से उलटी थी। ये मित्र मेरे कुटुम्बी बन कर रहे थे। बहुताश में उन्होंने भारतीय रहन-सहन को अपना लिया था। मेरे घर का बाहरी साज-सामान यद्यपि अंग्रेजी ढग का था फिर भी भीतरी रहन-सहन और खान-पान आदि प्रधानत. हिन्दुस्तानी था। यद्यपि मुझे याद पडता है कि उनके रखने से हमें बहुतेरी कठिनाइयाँ पैदा हुई थी; फिर भी मैं यह कह सकता हूँ कि वे दोनो सज्जन हमारे घर के दूसरे लोगो के साथ मिल-जुल गये थे। डरबन की अपेक्षा जोहान्सबर्ग के ये सम्बन्ध बहुत आगे बढ गये थे।

: १२ :

अंग्रेजों का परिचय

जोहान्सबर्ग में मेरे पास एक बार चार हिन्दुस्तानी मुन्शी हो गये थे। उन्हे मुन्शी कहूँ या बेटा कहूँ, यह कहना कठिन है; परन्तु इतने से मेरा

काम न चला। टाइपिंग के बिना तो काम चल ही नहीं सकता था। हममें से सिर्फ मुझीको टाइपिंग का थोडा ज्ञान था। सो इन चार युवकों में से दो को टाइपिंग सिखाया, परन्तु वे अंग्रेजी कम जानते थे। इससे उनका टाइपिंग कभी शुद्ध और अच्छा न हो सका। फिर इन्हींमें से मुझे हिसाब लेखक तैयार करना था। इधर नेटाल से मैं अपने मन-माफिक किसीको बुला नहीं सकता था, क्योंकि परवाने के बगैर कोई हिन्दुस्तानी वहाँ आ नहीं सकता था। और अपनी सुविधा के लिए मैं राजकर्मचारियों से कृपा-भिक्षा माँगने को तैयार न था।

इससे मैं सोच में पड गया। काम इतना बढ गया कि पूरी-पूरी मेहनत करने पर भी मैं इधर वकालत का और उधर सार्वजनिक काम का भार सम्हाल नहीं पाता था।

अंग्रेज कारकुन—फिर वह स्त्री हो या पुरुप—मिल जाने से भी मेरा काम चल सकता था, पर शंका यह थी कि 'काले' आदमी के पास भला कोई गोरा कैसे नौकरी करेगा? परन्तु मैंने तय किया कि कम से-कम कोशिश तो कर देखनी चाहिए। टाइप-राइटिंग-एजेण्ट से मेरा कुछ परिचय था। मै उससे मिला और कहा कि यदि कोई टाइपिस्ट भाई या बहन ऐसा हो जिसे 'काले' आदमी के यहाँ काम करने में कोई उज्र न हो तो मेरे लिए तलाश कर दें। दक्षिण अफ्रिका में लघु-लेखन (शोर्टहैण्ड) अथवा टाइपिंग का काम करनेवाली अधिकांश में स्त्रियाँ ही होती है। पूर्वोक्त एजेण्ट ने मुझे आश्वासन दिया कि मैं एक शोर्टहैण्ड-टाइपिस्ट आपको खोज दूँगा। मिस डिक नामक एक स्कॉच कुमारी उसके हाथ लगी। वह हाल ही स्काटलैंड से आई थी। जहाँ भी कही प्रामाणिक नौकरी मिल जाय वहाँ करने में उसे कोई आपत्ति न थी। उसे काम में लगने की भी जल्दी थी। उस एजेण्ट ने उस कुमारिका को मेरे पास भेजा। उसे देखते ही मेरी नजर उसपर ठहर गई। मैंने उससे पूछा—

"तुमको एक हिन्दुस्तानी के यहाँ काम करने में आपत्ति तो नहीं है?"

उसने दृढता के साथ उत्तर दिया—"बिलकुल नहीं।"

"क्या वेतन लोगी?"

"साढ़े सत्रह पौंड अधिक तो न होंगे ?"

"तुमसे मैं जिस काम की आशा रखता हूँ वह ठीक-ठीक कर दोगी तो इतनी रकम बिलकुल ज्यादा नहीं है। तुम कब काम पर आ सकोगी ?"

"आप चाहें तो अभी।"

इस बहन को पाकर मैं बड़ा प्रसन्न हुआ और उसी समय उसे अपने सामने बैठाकर चिट्ठियाँ लिखवाने लगा। इस कुमारी ने अकेले मेरे कारकुन का ही नहीं, बल्कि सगी लड़की या बहन का भी स्थान सहज ही प्राप्त कर लिया। मुझे उसे कभी किसी बात पर डाँटना-डपटना नहीं पड़ा। शायद ही कभी उसके काम में गलती निकालनी पड़ी हो। हजारों पौंड के देन-लेन का काम एकबार उसके हाथ में था और उसका हिसाब-किताब भी वही रखती थी। वह हर तरह से मेरे विश्वास की पात्र हो गई थी। यह तो ठीक, पर मैं उसकी गुह्यतम भावनाओं को जानने योग्य उसका विश्वास प्राप्त कर सका था और यह मेरे नजदीक एक बड़ी बात थी। अपना जीवन-साथी पसन्द करने में उसने मेरी सलाह ली थी। कन्यादान करने का सौभाग्य भी मुझी को प्राप्त हुआ था। मिस डिक जब मिसेज मैकडॉनल्ड हो गईं तब उन्हें मुझसे अलग होना आवश्यक था। फिर भी, विवाह के बाद भी, जब-जब जरूरत होती मुझे उनसे सहायता मिलती थी।

परन्तु दफ्तर में एक शोर्टहैण्ड-राइटर की जरूरत तो थी ही। वह भी पूरी हो गई। उस बहन का नाम था मिस श्लेशिना। मि० कैलनबेक उसे मेरे पास लाये थे। मि० कैलनबेक का परिचय पाठकों को आगे मिलेगा। यह बहन आज ट्रांसवाल में किसी हाईस्कूल में शिक्षा का काम करती है। जब मेरे पास वह आई थी तब उसकी उम्र १७ वर्ष की होगी। उसकी कितनी ही विचित्रताओं के आगे मैं और मि० कैलनबेक हार खा जाते। वह नौकरी करने नहीं आई थी। उसे तो अनुभव प्राप्त करना था। उसके रगोरेशे में कहीं रंग-द्वेष का नाम न था। न उसे किसी की परवा ही थी। वह किसी का अपमान करने से भी नहीं हिचकती थी। अपने मन में जिसके सम्बन्ध में जो विचार आते हों वह कह डालने में

जरा सकोच न रखती थी। इस स्वभाव के कारण वह कई वार मुझे कठिनाइयो में डाल देती थी, परन्तु उसका हृदय शुद्ध था, इससे कठिनाइयाँ दूर भी हो जाती थीं। उसका अग्रेजी-ज्ञान मैंने अपने से हमेशा अच्छा माना था, फिर उसकी वफादारी पर भी मेरा पूर्ण विश्वास था। इससे उसके टाइप किये हुए कितने ही पत्रो पर विना दोहराये दस्तखत कर दिया करता था।

उसके त्याग-भाव की सीमा न थी। वहुत समय तक तो उसने मुझसे सिर्फ ६ पौंड महिना ही लिया और अन्त में जाकर १० पौंड से अधिक लेने से इन्कार कर दिया। यदि मै कहता कि ज्यादा लेलो तो मुझे डाँट देती और कहती—"मैं यहाँ वेतन लेने नहीं आई हूँ। मुझे तो आपके साथ काम करना अच्छा लगता है और मुझे आपके आदर्श प्रिय है। इस कारण मैं आपके साथ रह रही हूँ।"

एक वार आवश्यकता पड़ने पर मुझसे उसने ४० पौंड उधार लिए थे—और पिछले साल सारी रकम उसने मुझे लौटा दी।

त्याग-भाव उसका जैसा तीव्र था वैसी ही उसकी हिम्मत भी जवरदस्त थी। मुझे स्फटिक की तरह पवित्र और वीरता में क्षत्रिय को भी लज्जित करनेवाली जिन महिलाओ से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है उनमें मैं इस वालिका की गिनती करता हूँ। आज तो वह प्रौढ कुमारिका है। उसकी वर्त्तमान मानसिक स्थिति से मैं परिचित नहीं हूँ, परन्तु वालिका का अनुभव मेरे लिए सदा एक पुण्य स्मरण रहेगा और यदि मैं उसके सम्बन्ध में अपना अनुभव न प्रकाशित करूँ तो मैं सत्य का द्रोही वनूँगा।

काम करने में वह न दिन देखती थी न रात। रात में जव भी कभी हो अकेली चली जाती-और यदि मैं किसी को साथ भेजना चाहता तो लाल-पीली आँखें दिखाती। हजारो डाढी वाले भारतीय उसे आदर की दृष्टि से देखते थे। और उसकी वात मानते थे। जव हम सव जेल मे थे, जवकि जिम्मेदार आदमी-शायद ही कोई वाहर रहा था, तव उस अकेली ने सारी लडाई का काम सम्हाल लिया था। लाखो का हिसाव उसके हाथ में, सारा पत्र-व्यवहार उसके हाथ में और 'इण्डियन ओपिनियन'

भी उसीके हाथ में—ऐसी स्थिति आ पहुँची थी; पर वह थकना नहीं जानती थी।

मिस श्लेशिना के बारे में लिखते हुए मैं नहीं थक सकता, पर यहाँ तो सिर्फ गोखले का प्रमाणपत्र देकर इस अध्याय को समाप्त करता हूँ। गोखले ने मेरे तमाम साथियों से परिचय कर लिया था और उसमें उन्हें बहुतों से बहुत संतोष हुआ था। उन्हें सबके चरित्र के बारे में अन्दाज लगाने का शौक था। मेरे तमाम भारतीय और यूरोपीय साथियों में उन्होंने मिस श्लेशिना को पहला नम्बर दिया था। "इतना त्याग, इतनी पवित्रता, इतनी निर्भयता और इतनी कुशलता मैंने बहुत कम लोगों में देखी है। मेरी नजर में तो मिस श्लेशिना का नम्बर तुम्हारे सब साथियों में पहला है।"

: १३ :

'इण्डियन ओपिनियन'

अभी और यूरोपियनों के गाढ़ परिचय का वर्णन करना बाकी है, किन्तु उसके पहले दो-तीन जरूरी बातों का उल्लेख कर देना आवश्यक है।

एक परिचय तो यहीं दे देता हूँ। अकेली मिस डिक के ही आ जाने से मेरा काम पूरा नहीं हो सकता था। मि० रिच का जिक्र मैं पहले कर चुका हूँ। उनके साथ तो मेरा खासा परिचय था ही। वह एक व्यापारी गद्दी के व्यवस्थापक थे। मैंने उन्हें सुझाया कि वह उस काम को छोड़कर मेरे साथ काम करें। उन्हें यह पसन्द हुआ और वह मेरे दफ्तर में काम करने लगे। इससे मेरे काम का बोझ हलका हुआ।

इसी अरसे में श्री मदनजीत ने 'इण्डियन ओपिनियन' नामक अखबार निकालने का इरादा किया। उन्होंने उसमें मेरी सलाह और मदद माँगी। छापाखाना तो उनका पहले से ही चल रहा था। इसलिए अखबार निकालने के प्रस्ताव से मैं सहमत होगया। बस १९०४ में 'इण्डियन ओपिनियन' का जन्म होगया। मनसुखलाल नाजर उसके संपादक हुए,

पर सच पूछिए तो सम्पादन का असली बोझ मुझपर ही आ पड़ा। मेरे नसीब में तो हमेशा प्राय दूर रहकर ही पत्र-सचालन का काम रहा है।

पर यह बात नही कि मनसुखलाल नाजर सम्पादन का काम नही कर सकते थे। वह देश के कितने ही अखबारो में लिखा करते थे, परन्तु दक्षिण अफ्रिका के अटपटे प्रश्नो पर मेरे मौजूद रहते हुए स्वतन्त्र-रूप से लेख लिखने की हिम्मत उन्हे न हुई। मेरी विवेकशीलता पर उनका अतिशय विश्वास था। इसलिए जिन-जिन विषयो पर लिखना आवश्यक होता उनपर लेखादि लिखने का बोझ वह मुझी पर रख देते।

'इडियन ओपिनियन' साप्ताहिक था और आज भी है। पहले-पहल वह गुजराती, हिन्दी, तामिल और अग्रेजी इन चार भाषाओ में निकलता था, परन्तु मैंने देखा कि तामिल और हिन्दी-विभाग नाम-मात्र के लिए थे। मैंने यह भी अनुभव किया कि उनके द्वारा भारतीयो की सेवा नही हो रही थी। इन विभागो को कायम रखने में मुझे झूठ का आश्रय लेने का आभास हुआ—इस कारण उन्हें बन्द करके शान्ति प्राप्त की।

मुझे यह खयाल न था कि इस अखबार में मुझे रुपया भी लगाना पडेगा, परन्तु थोडे ही अरसे के बाद मैंने देखा कि यदि मैं उसमें रुपया नही लगाता हूँ तो वह बिलकुल चल ही नही सकता था। यद्यपि उसका सम्पादक मैं न था फिर भी भारतीय और गोरे सब लोग इस बात को जान गये थे कि उसके लेखो की जिम्मेदारी मुझ ही पर है। फिर अगर अखबार नहीं निकला होता तो एक बात थी पर निकल चुकने के बाद उसके बन्द होने से सारे भारतीय-समाज की बदनामी होती थी और उसे हानि पहुंचने का भी पूरा भय था।

इसलिए मैं उसमें रुपये लगाता गया और अन्त को यहाँ तक नौबत आगई कि मेरे पास जो कुछ बच जाता था सब उसके अर्पण होता था। ऐसा भी समय मुझे याद है जब उसमें प्रति मास ७५ पौंड मुझे भेजना पडता था।

परन्तु इतना अरसा हो जाने के बाद मुझे प्रतीत होता है इस अखबार के द्वारा भारतीय-समाज की अच्छी सेवा हुई है। उसके द्वारा धन उपार्जन करने का तो इरादा ठेठ से ही किसी का न था।

जबतक उसका सूत्र मेरे हाथ में था तबतक उसमे जो कुछ परिवर्तन हुए वे मेरे जीवन के परिवर्तनो के सूचक थे। जिस प्रकार आज 'यग-इण्डिया' और 'नवजीवन' मेरे जीवन के कितने ही अश का निचोड है उसी प्रकार 'इण्डियन ओपिनियन' भी था। उसमें मै प्रति सप्ताह अपनी आत्मा को उँडेलता और उस चीज को समझाने का प्रयत्न करता जिसे मै सत्याग्रह के नाम से पहचानता था। जेल के दिनो को छोड कर दस वर्ष तक अर्थात् १९१४ तक के 'इडियन ओपिनियन' का शायद ही कोई अक ऐसा गया हो जिसमें मैने एक भी शब्द विना विचारे, विना तौले लिखा हो अथवा महज किसीको खुश करने के लिए लिखा हो या जान-बूझकर अत्युक्ति की हो। यह अखवार मेरे लिए सयम की तालीम का काम देता था, मित्रो के लिए मेरे विचार जानने का साधन हो गया था और टीकाकारो को उसमें से टीका करने की सामग्री बहुत थोडी मिल सकती थी। मै जानता हूँ कि उसके लेखो की वदौलत टीकाकारो को अपनी कलम पर अकुश रखना पडता था। यदि यह अखवार न होता तो सत्याग्रह-सग्राम न चल सकता। पाठक इसे अपना पत्र समझते थे और इसमे उन्हे सत्याग्रह सग्राम का तथा दक्षिण अफ्रिका-स्थित हिन्दुस्तानियो की दशा का सच्चा चित्र दिखाई पडता था।

इस पत्र के द्वारा मुझे रग-विरगे मनुष्य-स्वभाव को परखने का बहुत अवसर मिला। इसके द्वारा मै सम्पादक और ग्राहक के बीच निकट और स्वच्छ सम्बध वाँधना चाहता था। इसलिए मेरे पास ढेर-की-ढेर चिट्ठियाँ ऐसी आती जिनमें लेखक अपने अन्तर को मेरे सामने खोलते थे। इस सिलसिले में तीखे, कडवे, मीठे तरह-तरह के पत्र और लेख मेरे पास आते। उन्हे पढना, उनपर विचार करना, उनके विचारो का सार निकालकर उन्हे जवाव देना, यह मेरे लिए वडा शिक्षादायक काम हो गया था। इसके द्वारा मुझे ऐसा अनुभव होता था मानो मै वहाँ की वातो और विचारो को अपने कानो से सुनता हूँ। इससे मै सम्पादक की जिम्मेदारी को खूब समझने लगा और अपने समाज के लोगो पर जो नियत्रण मेरा हो सका उसके वदौलत भावी सग्राम शक्य, सुशोभित और प्रबल हुआ।

'इण्डिन ओपिनियन' के प्रथम मास के कार्य-काल में ही मुझे यह अनुभव हो गया था कि समाचार पत्रों का सचालन सेवा-भाव से ही होना चाहिए। समाचार पत्र एक भारी शक्ति है; परन्तु जिस प्रकार निरकुश जल-प्रवाह कई गाँवो को डुबो देता और फसल को नष्ट-भ्रष्ट कर देता है उसी प्रकार निरकुश कलम की धारा भी सत्यानाश कर देती है। यह अकुश यदि बाहरी हो तो वह इस निरकुशता से भी अधिक जहरीला साबित होता है। अत लाभदायक तो अन्दर का ही अंकुश हो सकता है।

यदि इस विचार-सरणि में कोई दोष न हो तो, भला बताइए ससार के कितने अखबार कायम रह सकते हैं ? परन्तु सवाल यह है कि ऐसे फ़िजूल अखबारो को बन्द भी कौन कर सकता है ? और कौन किसको फिजूल बता सकता है ? सच बात यह है कि काम की और फिजूल दोनो बातें ससार में एकसाथ चलती रहेंगी। मनुष्य के बस में तो सिर्फ इतना ही है कि वह काम की और अच्छी चीजो को ही पसद करता रहे और अपनाता रहे।

: १४ :

'कुली लोकेशन' या भंगी-टोला ?

हिन्दुस्तान में हम उन लोगो को जो सबसे बडी समाज-सेवा करते है, भगी मेहतर, ढेड आदि कहते हैं और उन्हे अछूत मानकर उनके मकान गाँव के बाहर बनवाते हैं। उनके निवास स्थान को भगी-टोला कहते हैं और उसका नाम लेते ही हमें घिन आने लगती है। इसी तरह ईसाइयों के यूरप में एक जमाना था जब यहूदी लोग अछूत माने जाते थे और उनके लिए जो अलग मुहल्ला बसाया जाता था उसे 'घेटो' कहते थे। यह नाम अमंगल समझा जाता था। इसी प्रकार से दक्षिण अफ्रिका में हम हिन्दुस्तानी लोग वहाँ के भंगी—अस्पृश्य—बन गये हैं। अब यह देखना है कि एण्डरूज साहब ने हमारे लिए वहाँ जो त्याग किया है और

शास्त्रीजी ने जो जादू की लकडी घुमाई है उसके फल-स्वरूप हम वहाँ अछूत न रहकर सभ्य माने जायँगे या नही ?

हिन्दुओ की तरह यह भी अपने को ईश्वर के लाडले मानते थे और दूसरो को उसकी दृष्टि और सृष्टि में हेय समझते थे। अपने इस अपराध की सजा उन्हे विचित्र और अकल्पित रीति से मिली। लगभग इसी तरह हिन्दुओ ने भी अपने को सस्कृति अथवा आर्य समझकर खुद अपने ही एक अग को प्राकृत, अनार्य या अछूत मान रक्खा है इस पाप का फल वे विचित्र रीति से—चाहे वह अनुचित रीति से क्यो न हो–दक्षिण अफ्रिका इत्यादि उपनिवेशो में पा रहे है और मै मानता हूँ कि उसमें उनके पडौसी मुसलमान और पारसी भी, जोकि उन्ही के रग और देश के है, उनके साथ दुख भोग रहे है।

अब पाठक कुछ समझ सकेगे कि क्यो यह एक अध्याय जोहान्सवर्ग के 'कुली लोकेशन' पर लिखा जा रहा है। दक्षिण अफ्रिका में हम हिन्दुस्तानी लोग 'कुली' के नाम से 'प्रसिद्ध' है। भारत मे तो 'कुली' शब्द का अर्थ है सिर्फ मजदूर, परन्तु दक्षिण अफ्रिका में वह तिरस्कारवाचक है और यह तिरस्कार भगी, चमार, पचम इत्यादि शब्दो के द्वारा ही व्यक्त किया जा सकता है। दक्षिण अफ्रिका में जो स्थान 'कुलियो' के रहने के लिए अलग रक्खा जाता है उसे 'कुली लोकेशन' कहते है। ऐसा एक लोकेशन जोहान्सवर्ग में था। दूसरी जगह तो जो 'लोकेशन' रक्खे गये और अब भी है वहाँ हिन्दुस्तानियो को हक-मिल्कियत नही है, परन्तु इस जोहान्सवर्ग के लोकेशन में जमीन का ९९ साल का पट्टा कर दिया गया था। इसमें हिन्दुस्तानियो की बड़ी खचाखच वस्ती थी। आवादी तो वढती जाती थी, किन्तु लोकेशन जितने का उतना ही वना था। उसके पखाने तो ज्यो-त्यो करके साफ किये जाते थे, परन्तु इसके अलावा म्युनिसिपैलिटी की तरफ से और कोई देखभाल नही होती थी। ऐसी दशा में सडक और रोशनी का तो पता ही कैसे चल सकता था ? इस तरह जहाँ लोगो के पाखाने-पेशाव की सफाई के विपय में ही परवाह नही की जाती थी तहाँ दूसरी सफाई का तो पूछना ही क्या ? फिर जो

हिन्दुस्तानी वहां रहते थे वे नगर-सुधार, स्वच्छता, आरोग्य इत्यादि के नियमो के जानकार सुशिक्षित और आदर्श भारतीय नहीं थे कि जिन्हें म्युनिसिपैलिटी की सहायता की अथवा उनकी रहन-सहन पर देखभाल करने की जरूरत न थी। हां, यदि वहां ऐसे भारतवासी जा बसे होते जो जगल में मगल कर सकते है, जो मिट्टी में से मेवा पैदा कर सकते हैं, तब तो उनका इतिहास जुदा ही होता। ऐसे बहु-संख्यक लोग दुनिया में कहीं भी देश छोडकर विदेशो में मारे-मारे फिरते देखे ही नहीं जाते। आम तौर पर लोग धन और धन्धे के लिए विदेशो में भटकते है, परन्तु हिन्दुस्तान से तो वहां अधिकाश में अपढ गरीब दीन-दुखी मजूर लोग ही गये थे। इन्हें तो कदम-कदम पर रहनुमाई और रक्षण की आवश्यकता थी। हां, उनके पीछे वहां व्यापारी तथा दूसरी श्रेणियो के स्वतन्त्र भारतवासी भी गये, परन्तु वे तो उनके मुकाबिले में मुट्ठी-भर थे।

इस तरह स्वच्छता-रक्षक विभाग की अक्षम्य गफलत से और भारतीय निवासियो के अज्ञान से लोकेशन की स्थिति आरोग्य की दृष्टि से अवश्य बहुत खराब थी। उसे सुधारने की जरा भी उचित कोशिश सुधार-विभाग ने न की। इतना ही नहीं, बल्कि अपनी ही इस गलती से उत्पन्न खराबी का बहाना बनाकर उसने इस लोकेशन को मिटा देने का निश्चय किया और उस जमीन पर क़ब्जा कर लेने की सत्ता वहां की धारा-सभा से प्राप्त कर ली। जब मैं जोहान्सबर्ग में रहने गया तब यह स्थिति वहां की हो रही थी।

वहां के निवासी अपनी-अपनी जमीन के मालिक थे। इसलिए उन्हें कुछ हरजाना देना जरूरी था। हरजाने की रकम तय करने के लिए एक खास पचायत बैठाई गई थी। म्युनिसिपैलिटी जितना हरजाना देना चाहती उतनी रकम यदि मकान-मालिक लेना मजूर न करे तो उसका फैसला यह पचायत करती और मालिक को वह मजूर करना पडता। यदि पचायत म्युनिसिपैलिटी ने ज्यादा रकम देना तय करे तो मकान-मालिक के वकील का खर्च म्युनिसिपैलिटी को चुकाना पडता था।

ऐसे बहुतेरे दावो में मकान-मालिको ने मुझे अपना वकील बनाया

था। पर मैं इसके द्वारा रुपया पैदा करना नही चाहता था। मैंने उनसे पहले ही कह दिया था—"यदि तुम्हारी जीत होगी तो म्युनिसिपैलिटी की ओर से खर्च की जो-कुछ रकम मिलेगी उसीपर मैं सन्तोष कर लूंगा। तुम तो मुझे फी पट्टा दस पौण्ड दे देना, बस। फिर तुम्हारी जीत हो या हार।" इसमें से भी लगभग आधी रकम गरीबो के लिए अस्पताल बनवाने या ऐसे ही किसी सार्वजनिक काम में लगाने का अपना इरादा मैंने उन पर प्रकट कर दिया था। स्वभावत ही इससे सब लोग बहुत खुश हुए।

लगभग ७० दावो में सिर्फ एक में मेरे मवक्किल की हार हुई। इससे फीस में मुझे भारी रकम मिल गई। परन्तु इसी समय 'इण्डियन-ओपिनियन' की मांग मेरे सिर पर सवार ही थी। इसलिए, मुझे याद पडता है कि लगभग १६०० पौण्ड का चेक उसीमें काम आगया था।

इन दावो की पैरवी में मैंने अपने खयाल के अनुसार काफी परिश्रम किया था। मवक्किलो की तो मेरे आस-पास भीड ही लगी रहती थी। इनमें से लगभग सब या तो विहार इत्यादि उत्तर तरफ के या तामिल तेलगू इत्यादि दक्षिण प्रदेश के लोग थे। वे पहली गिरमिट में आये थे और अब मुक्त होकर स्वतन्त्र पेशा कर रहे थे।

इन लोगो ने अपने दु खो को मिटाने के लिए, भारतीय व्यापारी-वर्ग से पृथक् अपना एक मण्डल बनाया था। उसमें कितने ही बडे सच्चे दिल के, उदारभाव रखनेवाले और सच्चरित्र भारतवासी थे। उनके अध्यक्ष का नाम था श्री जेरामसिंह, और अध्यक्ष न रहते हुए भी अध्यक्ष के जैसे ही दूसरे सज्जन थे श्री बदरी। अब दोनो स्वर्गवासी हो चुके हैं। दोनो की तरफ से मुझे अतिशय सहायता मिली थी। श्री बदरी के परिचय में मैं बहुत ज्यादा आया था और उन्होने सत्याग्रह में आगे बढकर हिस्सा लिया था। इन तथा ऐसे भाइयो के द्वारा मैं उत्तर-दक्षिण के बहु-सख्यक भारतवासियो के गाढ सम्पर्क में आया और मैं केवल उनका वकील नहीं, बल्कि भाई बनकर रहा और उनके तीनो प्रकार के दु खो में उनका साझी हुआ। सेठ अबदुल्ला ने मुझे 'गांधी' नाम से सम्बोधन करने से इन्कार कर दिया। और 'साहब' तो मुझे कहता और मानता ही कौन ? इसलिए

उन्होंने एक बड़ा ही प्रिय शब्द ढूँढ़ निकाला। मुझे वे लोग 'भाई' कह कर पुकारने लगे। यह नाम अन्त तक दक्षिण अफ्रिका में चला। पर जब ये गिरमिट-मुक्त भारतीय मुझे 'भाई' कहकर बुलाते तब मुझे उसमें एक खास मिठास मालूम होती थी।

: १५ :

महामारी—१

इस लोकेशन का क़ब्ज़ा म्युनिसिपैलिटी ने ले तो लिया, परन्तु तुरन्त ही हिन्दुस्तानियों को वहाँ से हटाया नहीं था। हाँ, यह तय जरूर हो गया था कि उन्हें दूसरी अनुकूल जगह दे दी जायगी। अबतक म्युनिसिपैलिटी वह जगह निश्चित न कर पाई थी। इस कारण भारतीय लोग उन 'गन्दे' लोकेशन में ही रहते थे। इससे दो बातों में फ़र्क़ हुआ। एक तो यह कि भारतवासी मालिक न रहकर सुधार-विभाग के किरायेदार बने, और दूसरे गन्दगी पहले से अधिक बढ़ गई। इनसे पहले तो भारतीय लोग मालिक समझे जाते थे, इससे वे अपनी राजी से नहीं तो डर से ही पर कुछ-न-कुछ तो सफ़ाई रखते थे, किन्तु अब 'सुधार' का किसे डर था? मकानों में किरायेदारों की भी तादाद बढ़ी और उसके साथ ही गन्दगी और अव्यवस्था की भी बढ़ती हुई।

यह हालत हो रही थी, भारतवासी अपने मन में झल्ला रहे थे, कि एकाएक 'काला प्लेग' फैल निकला। यह महामारी मारक थी। यह फेफड़े का प्लेग था और गाँठवाले प्लेग की अपेक्षा भयकर समझा जाता था।

किन्तु खुशक़िस्मती से इस प्लेग का कारण यह लोकेशन न था, बल्कि एक सोने की खान थी। जोहान्सबर्ग के आसपास सोने की अनेक खानें हैं। उनमें अधिकांश हब्शी लोग काम करते हैं। उनकी सफ़ाई की जिम्मेदारी थी सिर्फ़ गोरे मालिकों के सिर। इन खानों पर कितने ही हिन्दुस्तानी भी काम करते थे। उनमें से २३ एकाएक प्लेग के शिकार

हुए और अपनी भयंकर अवस्था लेकर वे लोकेशन में अपने घर आये।

इन दिनों भाई मदनजीत 'इण्डियन ओपिनियन' के ग्राहक बनाने और चन्दा वसूल करने यहाँ आये हुए थे। वह लोकेशन में चक्कर लगा रहे थे। वह काफी हिम्मतवर थे। इन बीमारों को देखते ही उनका दिल टूक-टूक होने लगा। उन्होंने मुझे पेन्सिल से लिखकर एक चिट भेजी, जिसका भावार्थ यह था—

"यहाँ एकाएक काला प्लेग फैल गया है। आपको तुरन्त यहाँ आकर कुछ सहायता करनी चाहिए, नहीं तो बड़ी खराबी होगी। तुरन्त आइए।"

मदनजीत ने बेधड़क होकर एक खाली मकान का ताला तोड़ डाला और उसमें इन बीमारों को लाकर रक्खा। मैं साइकिल पर चढ़ कर 'लोकेशन' में पहुँचा। वहाँ से टाउन-क्लर्क को खबर भेजी और कहलाया कि किस हालत में मकान का ताला तोड़ लेना पड़ा।

डाक्टर विलियम गाडफ्रे जोहान्सबर्ग में डाक्टरी करते थे। वह खबर मिलते ही दौड़ आये और बीमारों के डाक्टर और परिचारक दोनों बन गये। परन्तु बीमार थे २३ और सेवक थे हम तीन। इतने से काम चलना कठिन था।

अनुभवों के आधार पर मेरा यह विश्वास बन गया है कि यदि नीयत साफ हो तो संकट के समय सेवक और साधन कहीं-न-कहीं से आ जुटते हैं। मेरे दफ्तर में कल्याणदास, मणिकलाल और दूसरे दो हिन्दुस्तानी थे। आखिरी दो के नाम इस समय मुझे याद नहीं हैं। कल्याणदास को उसके बाप ने मुझे सौंप रक्खा था। उनके जैसे परोपकारी और केवल आज्ञा-पालन से काम रखने वाले सेवक मैंने वहाँ बहुत थोड़े देखे होंगे। सौभाग्य से कल्याणदास उस समय ब्रह्मचारी थे। इसलिए उन्हें मैं कैसे भी खतरे का काम सौंपते हुए कभी न हिचकता। दूसरे व्यक्ति माणिकलाल मुझे जोहान्सबर्ग में ही मिले थे। मेरा खयाल है कि वह भी कँवारे ही थे। इन चारों को चाहे कारकुन कहिए, चाहे साथी या पुत्र कहिए, मैंने इसमें होम देने का निश्चय कर लिया। कल्याणदास से तो पूछने की जरूरत ही नहीं थी, और दूसरे लोग पूछते ही तैयार हो गये। "जहाँ आप तहाँ हम" यह उनका संक्षिप्त और मीठा जवाब था।

मि० रीच का परिवार बड़ा था। वह खुद तो कूद पड़ने के लिए तैयार थे, किन्तु खुद मैंने उन्हें इससे रोका। उन्हें इस खतरे में डालने के लिए मैं बिलकुल तैयार न था, मेरी हिम्मत ही नहीं होती थी। अतएव उन्होंने ऊपर का सब काम सम्हाला।

शुश्रूषा की वह रात भयानक थी। मैं इससे पहले बहुत से रोगियों की सेवा-शुश्रूषा कर चुका था। परन्तु प्लेग के रोगी की सेवा करने का अवसर मुझे कभी न मिला था। डाक्टरों की हिम्मत ने हमें निडर बना दिया था। रोगियों की शुश्रूषा का काम बहुत न था। उन्हें दवा देना, दिलासा देना, पानी-वानी दे देना, उनका मैला वगैरा साफ कर देना—इसके सिवा अधिक काम न था।

इन चारों नवयुवकों के प्राण-पण से किये गये परिश्रम और ऐसे साहस और निडरता को देखकर मेरे हर्ष की सीमा न रही।

डाक्टर गाडफ्रे की हिम्मत समझ में आ सकती है, मदनजीत की भी समझ में आ जाती है—पर इन युवकों की हिम्मत पर आश्चर्य होता है। ज्यों-त्यों करके रात बीती। जहांतक मुझे याद पड़ता है, उस रात को हमने एक भी बीमार को नहीं खोया।

परन्तु यह प्रसंग जितना ही करुणाजनक है उतना ही मनोरंजक और मेरी दृष्टि में धार्मिक भी है। इस कारण इसके लिए अभी दो और अध्यायों की आवश्यकता होगी।

: १६ :

महामारी—२

अपने बस-भर जरूर आपकी सहायता करेगी।" परन्तु वहां की म्युनिसिपैलिटी उचित प्रबन्ध करने के लिए सावधान हो चुकी थी और उसने बीमारो का प्रबन्ध करने में अपनी तरफ से विलंब न होने दिया।

दूसरे दिन एक खाली गोदाम हमारे हवाले किया गया और कहा गया कि उसमें सब बीमार रक्खे जायँ। उसे साफ करने की जिम्मेदारी म्युनिसिपैलिटी ने न ली। मकान बडा मैला और गन्दा था। हम लोगो ने खुद भिड कर उसे साफ किया। उदारचेता भारतीयो की सहायता मे चारपाई इत्यादि मिल गईं और उस समय काम चलाने के लिए एक खासा अस्पताल बन गया। म्युनिसिपैलिटी ने एक नर्स—परिचारिका—भेजी और उसके साथ बराडी की बोतल और बीमारो के लिए अन्य आवश्यक चीजें दी। डॉक्टर गाडफ्रे ज्यो के त्यो तैनात रहे।

नर्स को हम शायद ही कही रोगियो को छूने देते थे। उसे खुद तो छूने से परहेज न था, वह थी भी भली मानुस। किन्तु हमारी कोशिश यही रही कि जहाँ तक हो वह खतरे में न पडे। तजवीज यह हुई थी कि बीमारो को समय-समय पर बराडी पिलाई जाय। हम से भी नर्स कहती कि बीमारी से अपनेको बचाने के लिए आप लोग भी थोडी-थोडी बराडी पियां करो। वह खुद तो पीती ही थी। पर मेरा मन गवाही नहीं देता था कि बीमारो को भी बराडी पिलाई जाय। तीन बीमार ऐसे थे जो बिना बराडी के रहने को तैयार थे। डा० गाडफ्रे की इजाजत से मैंने उन पर मिट्टी के प्रयोग किये। छाती में जहाँ-जहाँ दर्द होता था तहाँ-तहाँ मैंने मिट्टी की पट्टी बंधवाई। इनमें से दो बच गये और शेष सब चल बसे। बीस रोगी तो इस गोदाम में ही मर गये।

म्युनिसिपैलिटी की ओर से दूसरे प्रबन्ध भी जारी थे। जोहान्सबर्ग से सात मील दूर एक लेजरेटो अर्थात् संक्रामक रोगियों का अस्पताल था, वहाँ तम्बू खड़ा किया गया था और उसमें ये तीन रोगी ले जाये गये थे। प्लेग के दूसरे रोगी हो तो उन्हे भी वही ले जाने का इन्तजाम करके हम इस कार्य से मुक्त हो गये। थोडे ही दिन बाद हमे मालूम हुआ कि उस भली नर्स को भी प्लेग हो गया और उसीमें बेचारी का देहान्त हो गया।

यह कहना कठिन है कि ये रोगी क्यो बच गये और हम लोग प्लेग के शिकार क्यो न हो सके ? पर इससे मिट्टी के उपचार पर मेरा विश्वास और दवा के तौर पर भी बराडी का उपयोग करने में मेरी अश्रद्धा बहुत बढ गई। मै जानता हूँ कि इस श्रद्धा और अश्रद्धा को निराधार कह सकते है। पर उस समय इन दो बातो की जो छाप मेरे दिल पर पडी और जो अबतक कायम है, उसे मैं मिटा नही सकता और इस मौके पर उसका जिक्र कर देना आवश्यक समझता हूँ।

इस महामारी के फैल निकलते ही मैंने एक कडा पत्र अखबारो में लिखा था। उसमें यह बताया गया था कि लोकेशन के म्युनिसिपैलिटी के कब्जे में आने के बाद जो लापरवाही वहाँ दिखाई गई उसकी तथा जो प्लेग फैला उसकी जिम्मेदार म्युनिसिपैलिटी है। इस पत्र के बदौलत मि० हेनरी पोलक से मेरी मुलाकात हुई और वही स्वर्गीय जोसेफ डोक से भी मुलाकात होने का एक कारण बन गया था।

पिछले अध्याय में मैं इस बात का जिक्र कर चुका हूँ कि मैं एक निरामिष भोजनालय में भोजन करने जाता था। वहाँ मिस्टर आल्बर्ट वेस्ट से मेरी भेंट हुई थी। रोज हम साथ ही भोजनालय में जाते और खाने के बाद साथ ही घूमने निकलते। मि० वेस्ट एक छोटे से छापेखाने में साझीदार थे। उन्होने अखबारो में प्लेग-सम्बन्धी मेरा वह पत्र पढा और जब भोजन के समय भोजनालय में मुझे नहीं पाया तो बेचैन हो उठे।

मैंने तथा मेरे साथी सेवकों ने प्लेग के दिनों में अपनी खुराक कम करली थी। बहुत समय से मैंने यह नियम बना रक्खा था कि जबतक किसी संक्रामक रोग का प्रकोप हो तबतक पेट जितना हलका रक्खा जा सके उतना ही अच्छा। इसलिए मैंने शाम का खाना बन्द कर दिया था। और दोपहर को भी ऐसे समय जाकर वहाँ भोजन कर आता जब कि इस तरह के खतरों से अपनेको बचाने की इच्छा करने वाले कोई भोजनालय में न आते हो। भोजनालय के मालिक के साथ तो मेरा घनिष्ट परिचय था ही। उनसे मैंने यह बात कह रक्खी थी कि मैं इन दिनों प्लेग में

रोगियों की सेवा-शुश्रूषा में लगा हुआ हूं, इसलिए औरों को अपनी छूत से दूर रखना चाहता हूं।

इस तरह भोजनालय में मुझे न देख कर मि० वेस्ट दूसरे या तीसरे ही दिन सुबह मेरे यहां आ धमके। मैं अभी बाहर निकलने की तैयारी कर ही रहा था कि उन्होंने आकर मेरे कमरे का दरवाजा खटखटाया। दरवाजा खोलते ही वेस्ट बोले—

"आपको भोजनालय में न देख कर मैं चिन्तित हो उठा कि कहीं आप भी प्लेग के सपाटे में न आ गये हों! इसलिए इस समय इसी विश्वास से आया हूं कि आपसे अवश्य भेंट हो जायगी। मेरी किसी मदद की जरूरत हो तो जरूर कहिएगा। मैं रोगियों की सेवा-शुश्रूषा के लिए भी तैयार हूं। आप जानते ही हैं कि मुझ पर सिवा अपना पेट भरने के और किसी तरह की जिम्मेदारी नहीं है।

मैंने मि० वेस्ट को इसके लिए धन्यवाद दिया। मुझे नहीं याद पड़ता कि मैंने एक मिनट भी विचार किया होगा। मैंने कहा—

"नर्स का काम तो मैं आप से नहीं लेना चाहता। यदि और लोग बीमार न हों तो हमारा काम एक-दो दिन में ही पूरा हो जायगा। पर एक काम आपके लायक जरूर है।"

"सो क्या है?"

"आप डरबन जाकर 'इंडियन ओपिनियन' प्रेस का काम देख सकेंगे? मदनजीत तो अभी यहां रुके हुए हैं। वहां किसी-न-किसी के जाने की आवश्यकता तो हुई है। यदि आप वहां चले जायें तो वहां के काम से मैं बिल्कुल निश्चिन्त हो जाऊं।"

वेस्ट ने जवाब दिया—"आप जानते हैं कि मेरे खुद एक छापाखाना है। बहुत करके तो मैं वहां जाने के लिए तैयार हो सकूंगा, पर निश्चित उत्तर आज शाम को दे सकूं तो हर्ज तो नहीं है? आज शाम को घूमने चल सकें तो बातें कर लेंगे।"

उनके आश्वासन से मुझे आनन्द हुआ। उसी दिन शाम को कुछ बातचीत हुई। यह तय पाया कि वेस्ट को १० पौंड मासिक वेतन और

छापखाने के मुनाफे का कुछ अंश दिया जाय। महज वेतन के लिए वेस्ट वहां नहीं जा रहे थे। इसलिए वह सवाल उनके सामने नहीं था। अपनी उगाही मुझे सौंप कर दूसरे ही दिन रात की मेल से वेस्ट डरबन रवाना होगये। तबसे लेकर मेरे दक्षिण अफ्रिका छोड़ने तक वह मेरे दुःख-सुख के साथी रहे। वेस्ट का जन्म विलायत के लाउथ नामक गांव में एक किसान कुटुम्ब में हुआ था। पाठशाला में उन्होंने बहुत मामूली शिक्षा प्राप्त की थी। वह अपने ही परिश्रम से अनुभव की पाठशाला में पढ़कर और तालीम पाकर होशियार हुए थे। मेरी दृष्टि में वह एक शुद्ध, संयमी, ईश्वर-भीरु, साहसी और परोपकारी अंग्रेज थे। उनका व उनके कुटुम्ब का परिचय अभी हमें इन अध्यायों में और होगा।

: १७ :

लोकेशन की होली

रोगियों की सेवा-शुश्रूषा से यद्यपि मैं और मेरे साथी फारिग हो गये थे, तथापि इस प्लेग-प्रकरण के बदौलत दूसरे नये काम भी हमारे लिए पैदा होगये थे।

वहां की म्युनिसिपैलिटी लोकेशन के सम्बन्ध में भले ही लापरवाही रखती हो, किन्तु गोरे-निवासियों के आरोग्य के विषय में तो उसे चौबीसों घण्टे सतर्क रहना पड़ता था। उनके आरोग्य की रक्षा के लिए रुपया फूंकने में भी उसने कोताही नहीं की थी। और इस समय तो प्लेग को वहां न फैलने देने के लिए उसने पानी की तरह पैसा बहाया। भारतीयों के प्रति इस म्युनिसिपैलिटी के व्यवहार की मुझे बहुत शिकायत थी, फिर भी गोरों की रक्षा के लिए वह जितनी चिन्ता कर रही थी उसके प्रति अपना आदर प्रदर्शित किये बिना मैं न रह सका और उसके इस शुभ प्रयत्न में मुझसे जितनी मदद हो सकी मैंने दी। मैं मानता हूं कि यदि वह मदद मैंने न दी होती तो म्युनिसिपैलिटी को दिक्कत पड़ती और शायद उसे बन्दूक के बल का प्रयोग करना पड़ता, और अपनी

इष्ट-सिद्धि के लिए ऐसा करने में वह बिलकुल न हिचकती।

परन्तु ऐसा करने की नौवत न आने पाई। उस समय भारतीयो के व्यवहार से म्युनिसिपैलिटी के अधिकारी सन्तुष्ट हो गए और उसके बाद का काम बहुत सरल होगया। म्युनिसिपैलिटी की मांग को हिन्दुस्तानियो से पूरा कराने में मैंने अपना सारा प्रभाव खर्च कर डाला था। यह काम भारतीयो के लिए था तो बडा दुष्कर, परन्तु मुझे याद नही पडता कि किसी एक ने भी मेरे वचन को टाला हो।

लोकेशन के चारो ओर पहरा बैठा दिया गया था। बिना इजाजत न कोई अन्दर जा पाता था, न बाहर आ सकता था। मुझे तथा मेरे साथियो को बिना रुकावट वहाँ आने-जाने के लिए पास दे दिये गए थे। म्युनिसिपैलिटी की तजवीज यह थी कि लोकेशन के सब लोगो को जोहान्सबर्ग से तेरह मील दूर खुले मैदान में तम्बुओं में रक्खा जाय और लोकेशन में आग लगा दी जाय। डेरे-तम्बुओ का ही क्यो न हो, पर वह एक नया गाँव बसाना पडा था और वहाँ खाद्य आदि सामग्री का प्रबन्ध करने में कुछ समय लगना स्वाभाविक था। तबतक के लिए यह पहरे का प्रबन्ध किया गया था।

इससे लोगो में बडी चिन्ता फैली, परन्तु मैं उनके साथ, उनका सहायक था—इससे उन्हें बहुत तस्कीन थी। इनमें कितने ही ऐसे गरीब लोग भी थे, जो अपना रुपया-पैसा घर में गाडकर रखते थे। अब उसे खोदकर उन्हे कही रखना था। वे न बैंक को जानते थे, न बैंक उन्हे। मैं उनका बैंक बना। मेरे घर रुपयो का ढेर होगया। ऐसे समय मे मैं भला मेहनताना क्या ले सकता था? किसी तरह मुश्किल से इसका प्रबन्ध कर पाया। हमारे बैंक के मैनेजर के साथ मेरा अच्छा परिचय था। मैंने उन्हे कहलाया कि मुझे बैंक में बहुतेरे रुपये जमा कराने है। बैंक आम तौर पर तांबे या चाँदी के सिक्के लेने के लिए तैयार नही होती। फिर यह भी अन्देशा था कि प्लेग-स्थानो से आये सिक्को को छूने में क्लर्क लोग आनाकानी करे। किन्तु मैनेजर ने मेरे लिए सब तरह की सुविधा कर दी। यह बात तय पाई कि रुपये-पैसे जन्तु-नाशक पानी

में धोकर बैंक में जमा कराए जायें। इस तरह मुझे याद पड़ता है कि लगभग ६०,००० पौंड बैंक में जमा हुए थे। मेरे जिन मवक्किलों के पास अधिक रकम थी उन्हें खुद मैंने एक निश्चित अवधि के लिए बैंक में जमा कराने की सलाह दी, जिससे उन्हें अधिक ब्याज मिल सके। इससे कितने ही रुपये उन मवक्किलों के नाम से बैंक में जमा हुए। इसका परिणाम यह हुआ कि कितने ही लोगों को बैंकों में रुपया रखने की आदत पड़ी।

जोहान्सबर्ग के पास 'क्लिपस्प्रुट फार्म' नामक एक स्थान है। लोकेशन निवासियों को वहाँ एक स्पेशल ट्रेन से ले गये। वह म्युनिसिपैलिटी ने उन्हें अपने खर्च से घर बैठे पानी पहुँचाया। इस तम्बू के गाँव का नजारा सैनिकों के पड़ाव की तरह था। लोग ऐसी स्थिति में रहने के आदी नहीं थे, इससे इन्हें मानसिक दुःख तो हुआ, नई जगह अटपटी मालूम हुई, किन्तु उन्हें कोई खास कष्ट नहीं उठाना पड़ा। मैं रोज बाइसिकल पर जाकर वहाँ एक चक्कर लगा आता। तीन सप्ताह तक इस तरह खुली हवा में रहने से लोगों की तन्दुरुस्ती पर जरूर अच्छा असर हुआ और मानसिक दुःख तो प्रथम चौबीस घण्टे पूरे होने के पहले ही चला गया था। फिर तो वे आनन्द से रहने लगे। मैं जहाँ जाता वहाँ कहीं भजन-कीर्तन और कहीं खेल-कूद आदि होते हुए देखता।

जहाँ तक मुझे याद है, लोकेशन जिस दिन खाली कराया गया, या तो उस दिन या उसके दूसरे दिन उसमें आग लगा दी गई। एक भी चीज को वहाँ से बचा लाने का लोभ म्युनिसिपैलिटी ने नहीं किया। इन्हीं दिनों में और इसी कारण म्युनिसिपैलिटी ने अपने मार्केट की सारी लकड़ी की इमारतें भी जला डालीं, जिससे उसे कोई १० हजार पौंड की हानि सहनी पड़ी। मारकेट में मरे चूहे पाये गये थे—इसलिए म्युनिसिपैलिटी को इतने साहस का काम करना पड़ा। इसमें नुकसान तो बहुत बरदाश्त करना पड़ा, किन्तु यह फल जरूर हुआ कि प्लेग आगे न बढ़ पाया और शहरवासी निर्भय हो गये।

: १८ :

एक पुस्तक का चमत्कारी प्रभाव

इस प्लेग के बदौलत गरीब भारतवासियो पर मेरा प्रभाव, मेरी वकालत और मेरी जिम्मेदारी बहुत बढ गई। फिर यूरोपियन लोगो से जो मेरा परिचय था वह भी इतना निकट होता गया कि उससे भी मेरी नैतिक जवाबदेही बढने लगी।

जिस तरह वेस्ट से मेरी मुलाकात निरामिष भोजनालय में हुई। उसी तरह पोलक से भी हो गई। एक दिन मेरे खाने की मेज से दूर की मेज पर एक नवयुवक भोजन कर रहा था। उसने मुझसे मिलने की इच्छा से अपना नाम मुझ तक पहुँचाया। मैंने उन्हे अपनी मेज पर खाने के लिए बुलाया और वह आये।

'मैं 'क्रिटिक' का उप-सपादक हूँ। प्लेग-सम्बन्धी आपका पत्र पढने के बाद आपसे मिलने की मुझे बडी उत्कण्ठा हुई। आज आपसे मिलने का अवसर मिला है।'

मि० पोलक के शुद्ध भाव ने मुझे उनकी ओर खीचा। उस रात को हमारा एक-दूसरे से परिचय हो गया और जीवन सम्बन्धी अपने विचारो मे हम दोनो को बहुत साम्य दिखाई दिया। सादा जीवन उन्हें पसन्द था। किसी बात के पट जाने के बाद तुरन्त उस पर अमल करने की उनकी शक्ति आश्चर्यजनक मालूम हुई। उन्होने अपने जीवन में कितने ही परिवर्तन तो एकदम कर डाले।

'इण्डियन ओपिनियन' का खर्च बढता जाता था। वेस्ट ने जो विवरण वहाँ का पहली ही बार भेजा उसने मेरे कान खडे कर दिये। उन्होंने लिखा कि जैसा आपने कहा था वैसा मुनाफा इस काम में नहीं है। मुझे तो उल्टा नुकसान दिखाई पडता है। हिसाब-किताब की व्यवस्था ठीक नही है। लेना बहुत है, पर वह बेसिर-पैर का है। बहुतेरा रद्दोबदल करना होगा। परन्तु यह हाल पढकर आप चिन्ता न करे; मुझसे जितना हो

सकेगा अच्छा प्रबन्ध करूँगा। मुनाफा न होने के कारण मैं इस काम को छोड न दूंगा।

जब कि मुनाफ़ा नहीं दिखाई दिया था तब वेस्ट चाहते तो वहाँ वे काम को छोड सकते थे, और मैं उन्हे किसी तरह दोष नही दे सकता था। इतना ही नहीं, उल्टा उन्हे अधिकार था कि वह मुझे बिना पूछताछ किये उस काम मे मुनाफा बताने का दोष-भागी ठहराते। इतना होते हुए भी उन्होने मुझे कभी इसका उलाहना तक न दिया, पर मैं समझता हूँ कि इस बात के मालूम होने पर वेस्ट की नजर में मैं एक जल्दी में विश्वास कर लेने वाला आदमी जँचा हूंगा। मदनजीत की राय को मान कर बिना पूछ-ताछ किये ही मैंने वेस्ट से मुनाफे का जिक्र किया था। पर मेरी यह राय है कि सार्वजनिक कार्यकर्ताओ को वही बात दूसरे से कहनी चाहिए, जिसकी खुद उन्होंने जाँच कर ली हो। सत्य के पुजारी को तो बहुत सावधानी रखने की आवश्यकता है। बिना अपना इत्मीनान किये किसी के दिल पर आवश्यकता से अधिक असर डालना भी सत्य को दाग लगाना है। मुझे यह कहते हुए बहुत दु'ख होता है कि इस बात को जानते हुए भी जल्दी में विश्वास रख कर काम लेने की अपनी प्रकृति को मैं पूरा-पूरा सुधार नही सका। इसका कारण है शक्ति से अधिक काम करने का लोभ। यह दोष है। इस लोभ से कई बार मुझे दु ख हुआ है और मेरे साथियो को तो मुझसे भी अधिक मन क्लेश सहना पड़ा है।

वेस्ट का ऐसा पत्र पाकर मैं नेटाल के लिए रवाना हुआ। पोलक मेरी सब बातो को जान गये थे। स्टेशन पर मुझे पहुँचाने आये और रस्किन-रचित 'अन्टु दिस लास्ट' नामक पुस्तक मेरे हाथो में रखकर कहा—"यह पुस्तक रास्ते में पढने लायक़ है। आपको जरूर पसन्द आयेगी।"

पुस्तक को मैंने जो एक बार पढना शुरू किया तो खतम किये बिना न छोड़ सका। उसने तो बस मुझे पकड़ ही लिया। जोहान्सबर्ग से नेटाल २४ घण्टे का रास्ता है। ट्रेन शाम को डरबन पहुँचती थी। पहुँचने के बाद रात-भर नीद न आई। इस पुस्तक के विचारों के अनुसार जीवन बनाने की धुन लग रही थी।

इससे पहले मैंने रस्किन की एक भी पुस्तक नही पढी थी। विद्यार्थी-जीवन में पाठ्य-पुस्तको के अलावा मेरा वाचन नही के बरावर समझना चाहिए। और कर्म-भूमि में प्रवेश करने के वाद तो समय ही वहुत कम रहता है। इस कारण आजतक भी मेरा पुस्तक-ज्ञान वहुत ही थोडा है। मै मानता हूँ कि इस अनायास के अथवा जवर्दस्ती के सयम से मुझे कुछ भी नुकसान नही पहुँचा है। पर, हाँ, यह कह सकता हूँ कि जो-कुछ थोडी पुस्तके मैंने पढी है उन्हे ठीक तौर पर हजम करने की कोशिश अलवत्ता मैंने की है। और मेरे जीवन में यदि किसी पुस्तक ने तत्काल महत्वपूर्ण रचनात्मक परिवर्तन कर डाला हो तो वह यही पुस्तक है। वाद को मैंने इसका गुजराती में अनुवाद किया था और वह 'सर्वोदय' के नाम से प्रकाशित भी हुआ है।

मेरा यह विश्वास है कि जो चीज मेरे अन्तरतर में वसी हुई थी उसका स्पष्ट प्रतिविम्व मैंने रस्किन के इस ग्रन्थ-रत्न मे देखा और इस कारण उसने मुझपर अपना साम्राज्य जमा लिया एव अपने विचारो के अनुसार मुझसे आचरण करवाया। हमारी अन्तस्थ सुप्त भावनाओ को जागृत करने का सामर्थ्य जिसमें होता है वह कवि है। सव कवियो का प्रभाव सव पर एकसा नही होता। क्योकि सव लोगो में नभी अच्छी भावनायें एक मात्रा में नही होती।

'सर्वोदय' के सिद्धान्त को मै इस प्रकार समझा—

१—सव के भले में अपना भला है।

२—वकील और नाई दोनो के काम की कीमत एकसी होनी चाहिए, क्योकि आजीविका का हक दोनो को एकसा है।

३—सादा, मजदूर का और किसान का, जीवन ही सच्चा जीवन है।

पहली वात तो मै जानता था। दूसरी का मुझे आभास हुआ करता था। पर तीसरी तो मेरे विचार-क्षेत्र में आई तक न थी। पहली वात में पिछली दोनो वाते समाविष्ट है, यह वात 'सर्वोदय' ने मुझे सूर्य-प्रकाश की तरह स्पष्ट दिखाई देने लगी। सुवह होते ही मै उसके अनुसार अपने जीवन को वनाने की चिन्ता में लगा।

: १६ :

फिनिक्स की स्थापना

सुबह होते ही मैंने सबसे पहले वेस्ट से इस सम्बन्ध में बातें की। 'सर्वोदय' का जो प्रभाव मेरे मन पर पडा वह मैंने उन्हे कह सुनाया और सुझाया कि 'इण्डियन ओपिनियन' को एक खेत पर ले जायें तो कैसा? वहाँ सब एक साथ रहें, एकसा भोजन-खर्च ले, अपने लिए सब खेती कर लिया करे और वचत के समय में 'इण्डियन ओपिनियन' का काम करे। वेस्ट को यह वात पसन्द हुई। भोजन-खर्च का हिसाब लगाया गया तो कम-से-कम तीन पौण्ड प्रति मनुष्य आया। उसमें काले-गोरे का भेद-भाव नहीं रक्खा गया था।

परन्तु प्रेस में काम करनेवाले तो कुल ८-१० आदमी थे। फिर सवाल यह था कि जगल में जाकर बसने में सबको सुविधा होगी या नहीं? दूसरा सवाल यह था कि सब एकसा भोजन-खर्च लेने के लिए तैयार होंगे या नहीं? आखिर हम दोनो ने तो यही तय किया कि जो इस तजवीज में शरीक न हो सके वे अपना वेतन ले लिया करें—किन्तु आदर्श यही रक्खा जाय कि धीरे-धीरे सब कार्यकर्ता संस्थावासी होजायें।

इसी दृष्टि से मैंने समस्त कार्य-कर्ताओं से बातचीत शुरू की। मदनजीत को यह बात बिलकुल पसन्द न हुई। उन्हे अन्देशा हुआ कि जिस चीज में उन्होंने अपना जी-जान लगाया उसे मैं कहीं अपनी मूर्खता से एकाध महीने में ही मिट्टी में न मिला दूं। उन्हे भय हुआ कि इस तरह 'इण्डियन ओपिनियन' बन्द हो जायगा, प्रेस भी टूट जायगा और सब कार्यकर्ता भाग खड़े होंगे।

मेरे भतीजे छगनलाल गांधी उस प्रेस में काम करते थे। उनसे भी मैंने वेस्ट के साथ ही बात की थी। उन पर परिवार का बोझ था; किन्तु बचपन से ही उन्होंने मेरे नीचे तालीम लेना और काम करना पसन्द

किया था। मुझ पर उनका बहुत विश्वास था। इसलिए उन्होंने तो बिना दलील और हुज्जत के ही 'हाँ' करली और तब से आज तक वह मेरे साथ ही हैं।

तीसरे थे एक गोविंदसामी मशीनमैन। वह भी शामिल हो गये। दूसरे लोग यद्यपि सन्थावासी न बने, पर फिर भी उन्होंने जहाँ प्रेस जाय वहाँ जाना स्वीकार किया।

इस तरह कार्यकर्ताओ के साथ बात-चीत करने में दो से अधिक दिन गये हो, ऐसा याद नही पडता। तुरन्त ही मैंने अखबार में विज्ञापन दिया कि डरबन के नजदीक किसी भी स्टेशन के पास जमीन की आवश्यकता है। उत्तर में फिनिक्स की जमीन का सन्देसा आया। वेस्ट और मैं जमीन देखने गये और सात दिन के अन्दर २० एकड जमीन ले ली। उसमें एक छोटा-सा पानी का झरना भी था। कुछ आम के और नारगी के पेड थे। पास ही ८० एकड का एक और टुकडा था। उसमें फलो के पेड ज्यादा थे और एक झोपडा भी था। कुछ समय बाद उसे भी खरीद लिया। दोनो के मिलकर १००० पौंड लगे।

सेठ-पारसी रुस्तमजी मेरे ऐसे तमाम साहस के कामो में मेरे साथी होते थे। उन्हें मेरी यह तजवीज पसन्द आई। इसलिए उन्होंने अपने एक गोदाम के टीन वग़ैरा, जो उनके पास पडे थे, मुफ्त में हमें दे दिये। कितने ही हिन्दुस्थानी बढई और राज, जो मेरे साथ लडाई में थे, इसमें मदद देने लगे और कारखाना बनने लगा। एक महीने में मकान तैयार होगया। ७५ फीट लम्बा और ५० फीट चौडा था। वेस्ट वगैरा अपने शरीर को खतरे में डाल कर भी बढई आदि के साथ रहने लगे।

फिनिक्स में घास खूब थी और आबादी बिलकुल नहीं थी। इससे साँप आदि का उपद्रव रहता था, और खतरा भी था। शुरु में तो हम लोग तम्बू तानकर ही रहने लगे।

मुख्य मकान तैयार होते ही हम लोग एक सप्ताह में बहुतेरा सामान गाडियो पर लाद कर फिनिक्स चले गये। डरबन और फिनिक्स में तेरह मील का फासला था। फिनिक्स स्टेशन से ढाई मील दूर था। इस स्थान-

परिवर्तन के कारण सिर्फ एक ही सप्ताह 'इण्डियन ओपिनियन' को मरक्यूरी प्रेस में छपाना पड़ा था।

मेरे साथ मेरे जो-जो रिश्तेदार वग़ैरा वहाँ गये और व्यापार आदि में लग गये थे उन्हें अपने मत में मिलाने का और फ़िनिक्स में दाखिल करने का प्रयत्न मैंने शुरू किया। वे सब तो धन जमा करने की उमग से दक्षिण अफ्रिका आये थे। उनको राजी करलेना बड़ा कठिन काम था। परन्तु कितने ही लोगों को मेरी बात जँच गई। इन सबमें से आज तो मगन-लाल गांधी का नाम मैं चुनकर पाठकों के सामने रखता हूँ, क्योंकि दूसरे लोग जो राजी हुए थे, वे थोड़े-बहुत समय फिनिक्स में रहकर फिर धन-सचय के फेर में पड़ गये। मगनलाल गाँधी तो अपना काम छोड कर जो मेरे साथ आये, सो अब तक रह रहे हैं और अपने बुद्धि-बल से, त्याग से, शक्ति से एव अनन्य भक्ति-भाव से मेरे आन्तरिक प्रयोगों में मेरा साथ देते हैं एव मेरे मूल साथियों में आज उनको स्थान सबमें प्रधान है। फिर एक स्वयं-शिक्षित कारीगर के रूप में तो उनका स्थान मेरी दृष्टि में अद्वितीय है।

इस तरह १९०४ ईस्वी में फिनिक्स की स्थापना हुई, और विघ्नो और कठिनाइयों के रहते हुए भी फ़िनिक्स-संस्था एवं 'इण्डियन ओपिनियन' दोनो आज तक चल रहे हैं। परन्तु इस संस्था के आरम्भ-काल की मुसीबतें और उस समय की आशा-निराशायें जानने लायक़ है। उन पर हम अगले अध्याय में विचार करेंगे।

: २० :

पहली रात

फिनिक्स में 'इण्डियन ओपिनियन' का पहला अक प्रकाशित करना आसान साबित न हुआ। यदि दो बातों में मैंने पहले ही से सावधानी न रक्खी होती तो अंक एक साप्ताह बन्द रहता या देर से निकलता। इस सस्था में मेरी यह इच्छा कम ही रही थी कि एञ्जिन से चलनेवाले यन्त्रादि-

मँगाये जायँ। मेरी भावना यह थी कि जब हम खेती भी खुद हाथों से ही करने की चाह रखते हैं तब फिर छापे की कल भी ऐसी ही लाई जाय जो हाथ से चल सके। पर उस समय यह अनुभव हुआ कि यह बात सध न सकेगी। इसलिए ऑयल एञ्जिन मँगाया गया था। परन्तु मुझे यह खटका रहा कि कहीं वहाँ पर यह एंजिन बन्द न हो जाय, सो मैंने वेस्ट को सुझाया कि ऐसे समय के लिए कोई ऐसे काम-चलाऊ साधन भी हम अभी से जुटा रक्खें तो अच्छा। इसलिए उन्होंने हाथ से चलाने का भी एक चक्र मँगा रक्खा था, और ऐसी तजवीज कर रक्खी थी कि मौक़ा पड़ने पर उससे छापे की कल चलाई जा सके। फिर 'इण्डियन-ओपिनियन' का आकार दैनिकपत्र के बराबर लम्बा-चौड़ा था। और यदि बड़ी कल अड़ जाय तो ऐसी सुविधा वहाँ नहीं थी कि इतने बड़े आकार का पत्र तुरन्त छापा जा सके। इससे पत्र के उस वक्त के बन्द रहने का ही अन्देशा था। इस दिक्कत को दूर करने के लिए अखबार का आकार छोटा कर दिया कि कठिनाई के समय पर छोटी कल को भी पैरों से चला कर अखबार, थोड़े ही पन्ने का क्यों न हो, प्रकाशित हो सके।

आरम्भ-काल में 'इण्डियन ओपिनियन' की प्रकाशन-तिथि की अगली रात को सबको थोड़ा-बहुत जागरण करना ही पड़ता था। पन्नों को भाँजने में छोटे-बड़े सब लग जाते और रात को दस-बारह बजे यह काम खतम होता। परन्तु पहली रात तो इस प्रकार बीती जिसे कभी नहीं भूल सकते। पन्नों का चौकठा तो मशीन पर कस गया, पर एञ्जिन अड़ गया, उसने चलने से इन्कार कर दिया। एञ्जिन को जमाने और चलाने के लिए एक इञ्जिनियर बुलाया गया था। उसने और वेस्ट ने खूब माथा-पच्ची की, पर एञ्जिन टस से मस न हुआ। तब सब चिन्ता में अपना सा मुँह लेकर बैठ गये। अन्त को वेस्ट निराश होकर मेरे पास आये। उनकी आँखें आँसुओं से छलछला रही थीं। उन्होंने कहा "अब आज तो एञ्जिन के चलने की आशा नहीं, और इस सप्ताह हम अखबार समय पर न निकाल सकेंगे।"

"अगर यही बात है तब तो अपना कुछ बस नहीं, पर इस तरह

आंसू बहाने की कोई आवश्यकता नहीं। और कुछ कोशिश कर सकते हों तो कर देखें। हां, वह हाथ से चलाने का चक्र जो हमारे पास रखा है, वह किस दिन काम आयेगा?" यह कहकर मैंने उन्हें आश्वासन दिया।

वेस्ट ने कहा—"पर उस चक्र को चलानेवाले आदमी हमारे पास कहां हैं? हम लोग जितने हैं उनसे वह नहीं चल सकता, उसे चलाने के लिए पारी-पारी से चार-चार आदमियों की जरूरत है। और इधर हम लोग थक भी चुके हैं।"

बढ़ई लोगों का काम अभी पूरा नहीं हुआ था, इससे वे लोग अभी छापेखाने में ही सो रहे थे। उनकी तरफ इशारा करके मैंने कहा—"ये मिस्त्री लोग मौजूद हैं। इनकी मदद क्यों न लें? और आज की रातभर हम सब जागकर छापने की कोशिश करेंगे। बस इतना ही कर्तव्य हमारा और बाकी रह जाता है।"

"मिस्त्रियों को जगाने की और उनसे मदद मांगने की मेरी हिम्मत नहीं होती। और हमारे जो लोग थक गये हैं उन्हें भी कैसे कहूं?"

"यह काम मेरे जिम्मे रहा", मैंने कहा।

"तब तो मुमकिन है कि सफलता मिल जाय।"

मैंने मिस्त्रियों को जगाया और उनकी मदद मांगी, मुझे उनकी मिन्नत-खुशामद नहीं करनी पड़ी। उन्होंने कहा—"वाह! ऐसे वक्त हम यदि काम न आवें तो हम आदमी ही क्या? आप आराम कीजिए, हम लोग घोड़ा (चक्र) चला देंगे। हमें इसमें कुछ मिहनत नहीं है।" और इधर छापेखाने के लोग तैयार थे ही।

अब तो वेस्ट के हर्ष की सीमा न रही। वह काम करते-करते भजन गाने लगे। घोड़ा चलाने में मैंने भी मिस्त्रियों का साथ दिया और दूसरे लोग भी बारी-बारी से चलाने लगे। साथ ही पन्ने भी छपने लगे।

सुबह के सात बजे होंगे। मैंने देखा कि अभी बहुत काम बाकी पड़ा है। मैंने वेस्ट से कहा—"अब हम इंजिनियर को क्यों न जगा लें? अब दिन की रोशनी में वह और फिर मेहनत कर देखे तो अच्छा हो। अगर इंजिन चल जाय तो अपना काम समय पर पूरा हो जायगा।"

वेस्ट ने इञ्जिनियर को जगाया। वह उठ खड़ा हुआ और एञ्जिन के कमरे में गया। शुरू करते ही एञ्जिन चल निकला। प्रेस हर्षनाद से गूँज उठा। सब कहने लगे, "यह कैसे हो गया? रात को इतनी मिहनत करने पर भी नही चला और अब हाथ लगते ही इस तरह चल पड़ा, मानो कुछ बिगड़ा ही न था।"

वेस्ट ने या इञ्जिनियर ने जवाब दिया—"इसका उत्तर देना कठिन है। ऐसा जान पड़ता है, मानो यन्त्र भी हमारी तरह आराम चाहते हैं। कभी-कभी तो उनकी हालत ऐसी ही देखी जाती है।"

मैंने तो यह माना कि एञ्जिन का न चलना हमारी परीक्षा थी और ऐन मौके पर उसका चल जाना हमारी शुद्ध मिहनत का शुभ फल था।

इसका परिणाम यह हुआ कि 'इण्डियन ओपिनियन' नियत समय पर स्टेशन पहुँच गया, और हम सब निश्चिन्त हुए।

हमारे इस आग्रह का फल यह हुआ कि 'इण्डियन ओपिनियन' की नियमितता की छाप लोगो के दिल पर पड़ी और फिनिक्स में मेहनत का वातावरण फैला। इस सस्था के जीवन में ऐसा भी एक युग आगया था, जब जान-बूझकर एञ्जिन बन्द रखा गया था और दृढतापूर्वक हाथ के चक्र से ही काम चलाया गया था। मैं कह सकता हूँ कि फिनिक्स के जीवन में वह ऊँचे-से-ऊँचा नैतिक काल था।

: २१ :

पोलक भी कूद पड़े

फिनिक्स जैसी सस्था स्थापित करने के बाद मैं खुद थोड़े ही समय उसमे रह सका। इस बात पर मुझे हमेशा बड़ा दुःख रहा है। उसकी स्थापना के समय मेरी यह कल्पना थी कि मैं भी वही बसूँगा। अपनी आजीविका भी उसीमे से प्राप्त करूँगा। धीरे-धीरे वकालत छोड दूँगा, फिनिक्स में रहकर जो-कुछ सेवा हो सकेगी वह करूँगा, और फिनिक्स की सफलता को ही अपनी सेवा समझूँगा। परन्तु इन विचारो के अनुसार

निश्चित व्यवहार न हो सका। अपने अनुभव में मैंने यह बहुत बार देखा है कि हम सोचते कुछ हैं और हो कुछ और जाता है। परन्तु इसके साथ ही मैंने यह भी अनुभव किया है कि जहाँ सत्य की ही चाह और उपासना है वहाँ परिणाम चाहे हमारी धारणा के अनुसार न निकले, कुछ और ही निकले, परन्तु वह अनिष्ट—बुरा—नहीं होता और कभी-कभी तो आशा से भी अधिक अच्छा हो जाता है। फिनिक्स में जो अकल्पित परिणाम पैदा हुए और फिनिक्स को जो अकल्पित रूप प्राप्त हुआ, वह मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि अनिष्ट नहीं। हाँ, यह बात अलबत्ता निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता कि उन्हें अधिक अच्छा कह सकते हैं या नहीं।

हमारी धारणा यह थी कि हम लोग खुद मिहनत करके अपनी रोजी कमायेंगे, इसलिए छापेखाने के आस-पास हर एक निवासी को तीन-तीन एकड़ जमीन का टुकड़ा दिया गया। इसमें एक टुकड़ा मेरे लिए भी नापा गया। हम सब लोगों की इच्छा के खिलाफ उनपर टीन के घर बनाये गये। इच्छा तो हमारी यह थी कि हम मिट्टी और फूस के, किसानों के लायक, अथवा ईंट के मकान बनावें, पर वह न हो सका। उसमें अधिक रुपया लगता था, और अधिक समय भी जाता था। फिर सब लोग इस बात के लिए आतुर थे कि कब अपने घर बसा लें और काम में लग जावें।

यद्यपि 'इण्डियन ओपिनियन' के सम्पादक तो मनसुखलाल नाजर ही माने जाते थे, तथापि वह इस योजना में सम्मिलित नहीं हुए थे। उनका घर डरबन में ही था। डरबन में 'इण्डियन ओपिनियन' की एक छोटी-सी शाखा भी थी।

छापेखाने में कम्पोज करने यानी अक्षर जमाने के लिए यद्यपि वैतनिक कार्यकर्ता थे, फिर भी उनमें दृष्टि यह रखी गई थी कि अक्षर जमाने की क्रिया सब संस्थावासी जानलें और करें। क्योंकि वह है तो आसान, पर इसमें समय बहुत जाता है; इसलिए जो लोग कम्पोज करना नहीं जानते थे वे सब तैयार हो गये। मैं इस काम में अन्त तक सबसे ज्यादा पिछड़ा हुआ रहा और मगनलाल गांधी सबसे आगे निकल

गये । मेरा यह मत रहा है कि उन्हें अपनी शक्ति का ज्ञान नही रहता ा। उन्होने इससे पहले छापेखाने का कोई काम नही किया था, फिर ी वह एक कुशल कपोजिटर बन गये और अपनी गति भी बहुत बढा ी। इतना ही नही, बल्कि थोडे ही समय में छापेखाने की सब क्रियाओ ें काफी प्रवीणता प्राप्त करके, उन्होने मुझे आश्चर्य चकित कर दिया।

यह काम अभी ठिकाने लगा ही न था, मकान भी अभी तैयार न ुए थे कि इतने में ही इस नये रचे कुटुम्ब को छोडकर मुझे जोहान्सबर्ग भागना पडा। ऐसी हालत न थी कि मै वहाँ का काम बहुत समय तक यो ही पटक रखता।

जोहान्सबर्ग आकर मैने पोलक को इस महत्वपूर्ण परिवर्तन की सूचना दी। अपनी दी हुई पुस्तक का यह परिणाम देखकर उनके आनन्द की सीमा न रही। उन्होने बडी उमग के साथ पूछा—"तो क्या मै भी इसमें किसी तरह योग नही दे सकता?"

मैने कहा—"हाँ, क्यो नही, अवश्य दे सकते है।। आप चाहें तो इस योजना में भी शरीक हो सकते हैं।"

"मुझे आप शामिल कर ले तो मुझे तैयार ही समझिए।" पोलक ने जवाब दिया।

उनकी इस दृढता ने मुझे मुग्ध कर लिया। पोलक ने 'क्रिटिक' के मालिक को एक महीने का नोटिस देकर अपना इस्तीफा पेश कर दिया और मियाद खतम होने पर फिनिक्स आ पहुँचे। अपनी मिलनसारी से उन्होंने सबका मन हर लिया और हमारे कुटुम्बी बनकर वहाँ बस गये। सादगी तो उनके रगोरेशे में भरी हुई थी इसलिए उन्हे फिनिक्स का जीवन जरा भी अटपटा या कठिन न मालूम हुआ, बल्कि स्वाभाविक और रुचिकर जान पडा।

पर खुद मै ही उन्हे वहाँ अधिक समय तक न रख सका। मि० रीच ने विलायत में रहकर कानून के अध्ययन को पूरा करने का निश्चय किया। दफ्तर के काम का बोझा मुझ अकेले के बस का न था। इस-लिए मैने पोलक से दफ्तर में रहने और वकालत करने के लिए कहा।

इसमें मैंने यह सोचा था कि उनके वकील हो जाने के बाद अन्त को हम दोनो फिनिक्स में आ पहुँचेगे।

हमारी ये सब कल्पनायें अन्त को झूठी साबित हुईं, परन्तु पोलक के स्वभाव में एक प्रकार की ऐसी सरलता थी कि जिसपर उनका विश्वास बैठ जाता उसके साथ वह हुज्जत न करते और उसकी सम्मति के अनुकूल चलने का प्रयत्न करते। पोलक ने मुझे लिखा—"मुझे तो यही जीवन पसन्द है और मैं यही सुखी हूँ। मुझे आशा है कि हम इस संस्था का खूब विकास कर सकेगे। परन्तु यदि आपका यह खयाल हो कि मेरे वहाँ आने से हमारे आदर्श जल्दी सफल होंगे, तो मैं आने को भी तैयार हूँ।"

मैंने इस पत्र का स्वागत किया और पोलक फिनिक्स छोडकर जोहान्सबर्ग आये और मेरे दफ्तर में मेरे सहायक का काम करने लगे। इसी समय मेकिनटायर नामक एक स्कॉच युवक हमारे साथ शरीक हुआ। वह थियॉसफिस्ट था और उसे मैं क़ानून की परीक्षा की तैयारी में मदद करता था। मैंने उसे पोलक का अनुकरण करने का निमन्त्रण दिया था।

इस तरह फिनिक्स के आदर्श को शीघ्र प्राप्त कर लेने के शुभ उद्देश्य से मैं उसके विरोधक जीवन में दिन-दिन गहरा पैठता गया और यदि ईश्वरीय संकेत दूसरा न होता तो सादे जीवन के बहाने फैलाये इस मोह-जाल में मैं खुद ही फँस जाता।

परन्तु हमारे आदर्श की रक्षा इस तरह हुई कि जिसकी हममें से किसीने कल्पना भी नहीं की थी। परन्तु उस प्रसग का वर्णन करने के पहले अभी कुछ और अध्याय लिखने पड़ेंगे।

: २२ :

'जाको राखे साइयाँ'

इस समय तो मैंने निकट भविष्य में देश जाने की अथवा वहाँ जाकर स्थिर होने की आशा छोड दी थी। इधर मैं पत्नी को एक साल

का दिलासा देकर दक्षिण अफ्रिका आया था, परन्तु साल तो बीत गया और मैं लौट न सका, इसलिए निश्चय किया कि बाल-बच्चो को यही बुलवा लूँ।

बाल-बच्चे आ गये। उनमें मेरा तीसरा पुत्र रामदास भी था। रास्ते में जहाज़ के नाखुदा के साथ वह खूब हिल-मिल गया था और उसके साथ खिलवाड करते हुए उसका हाथ टूट गया था। कप्तान ने उसकी खूब सेवा की थी। डाक्टर ने हड्डी जोड दी थी, और जब वह जोहान्सबर्ग पहुँचा तो उसका हाथ लकडी की पट्टी से बाँधकर रूमाल में लटकाया हुआ अधर रक्खा गया था। जहाज़ के डाक्टर की हिदायत थी कि जख्म का इलाज किसी डाक्टर से ही कराना चाहिए।

परन्तु यह ज़माना मेरे मिट्टी के प्रयोगो के दौर-दौरे का था। अपने जिन मवक्किलो का विश्वास मुझ अनाडी वैद्य पर था उनसे भी मैं मिट्टी और पानी का प्रयोग कराता था। तब रामदास के लिए दूसरा क्या इलाज हो सकता था? रामदास की उमर उस समय आठ वर्ष की थी। मैंने उससे पूछा—"मैं तुम्हारे ज़ख्म की मरहम-पट्टी खुद करूँ तो तुम डरोगे तो नही?" रामदास ने हँसकर मुझे प्रयोग करने की छुट्टी दे दी। इस उम्र में उसे अच्छे-बुरे की पहचान नही हो सकती थी, फिर भी डाक्टर और 'नीम-हकीम' का भेद वह अच्छी तरह जानता था। इसके अलावा उसे मेरे प्रयोगो का हाल मालूम था और मुझपर उसका विश्वास था। इसलिए उसको कुछ डर नही मालूम हुआ।

मैंने उसकी पट्टी खोली। पर उस समय मेरे हाथ काँप रहे थे और दिल धडक रहा था। मैंने जख्म को धोया और साफ मिट्टी की पट्टी रख कर पूर्ववत् पट्टी बाँध दी। इस तरह रोज मैं जख्म साफ करके मिट्टी की पट्टी चढा देता। कोई महीनेभर में घाव सूख गया। किसी भी दिन उसमें कोई खराबी पैदा न हुई और दिन-दिन वह सूखता ही गया। जहाज़ के डाक्टर ने भी कहा था कि डाक्टरी मरहम-पट्टी से भी इतना समय तो लग ही जायगा।

इससे घरेलू इलाज पर मेरा विश्वास और उसका प्रयोग करने का

मेरा साहस बढ गया। इसके बाद तो मैंने अपने प्रयोगो की सीमा बहुत बढा दी थी। जख्म बुखार, अजीर्ण, पीलिया इत्यादि रोगो पर मिट्टी, पानी और उपवास के प्रयोग कई छोटे-बडे स्त्री-पुरुषो पर किये और उनमें अधिकांश में सफलता मिली। इतने पर भी जो हिम्मत इस विषय में मुझे दक्षिण अफ्रिका में थी वह अब नही रही, और अनुभव से ऐसा भी देखा गया है कि इन प्रयोगो में खतरा तो है ही।

इन प्रयोगो के वर्णन में मेरा हेतु यह नहीं है कि इनकी सफलता सिद्ध करूं। मैं ऐसा दावा नही कर सकता कि इनमें से एक भी प्रयोग सर्वांश में सफल हुआ हो, पर कोई डाक्टर भी तो अपने प्रयोगो के लिए ऐसा दावा नहीं कर सकता। मेरे कहने का भाव सिर्फ यही है कि जो लोग नये अपरिचित प्रयोग करना चाहते हैं उन्हें अपने ही से उसकी शुरुआत करनी चाहिए। ऐसा करने से सत्य जल्दी प्रकाशित होता है और ऐसे प्रयोग करने वाले को ईश्वर खतरो से बचा लेता है।

मिट्टी के प्रयोगो में जो जोखिम थी वही यूरोपियन लोगो के निकट समागम में भी थी। भेद सिर्फ दोनो के प्रकार का था। परन्तु इन खतरो का तो मेरे मन में विचार तक नहीं आया।

पोलक को मैंने अपने साथ रहने का निमन्त्रण दिया और हम सगे भाई की तरह रहने लगे। पोलक का विवाह जिस देवी के साथ हुआ उससे उनकी मैत्री बहुत समय से थी। उचित समय पर विवाह कर लेने का निश्चय दोनो ने कर रक्खा था, परन्तु मुझे याद पडता है कि पोलक कुछ रुपया जुटा लेने की फिराक में थे। रस्किन के ग्रन्थो का अध्ययन और विचारो का मनन उन्होंने मुझसे बहुत अधिक कर रक्खा था; परतु पश्चिम के वातावरण मे रस्किन के विचारो के अनुसार जीवन बिताने की कल्पना मुश्किल से ही हो सकती थी। एक रोज मैंने उनसे कहा, "जिसके साथ प्रेम-गांठ बँध गई है उसका वियोग केवल धनाभाव से सहना उचित नहीं है। इस तरह अगर विचार किया जाय तब तो कोई ग़रीब बेचारा विवाह कर ही नहीं सकता। फिर आप तो मेरे साथ रहते हैं। इसलिए घर-खर्च का सवाल ही नही है। सो मुझे तो यही उचित मालूम पडता

है कि आप शादी कर लें।"

पोलक से मुझे कभी कोई बात दुबारा कहने का मौका नही आया। उन्हें तुरन्त मेरी दलील पट गई। भावी श्रीमती पोलक विलायत में थी, उनके साथ चिट्ठी-पत्री हुई। वह सहमत हुई और थोडे ही महीनो में वह विवाह के लिए जोहान्सबर्ग आगईं।

विवाह में खर्च कुछ भी नहीं करना पडा। विवाह के लिए खास कपडे तक नही बनाये गये और धर्म-विधि की भी कोई आवश्यकता नही समझी। श्रीमती पोलक जन्मत ईसाई और पोलक यहूदी थे। दोनो नीति-धर्म के मानने वाले थे।

परन्तु इस विवाह के समय एक मनोरंजक घटना हो गई थी। ट्रान्स-वाल में जो कर्मचारी गोरो के विवाह की रजिस्ट्री करता वह काले के विवाह की नही करता था। इस विवाह में दोनो का पुरोहित या साक्षी मैं ही था। हम चाहते तो किसी गोरे-मित्र की भी तजवीज कर सकते थे, परन्तु पोलक इस बात को बरदाश्त नही कर सकते थे, इसलिए हम तीनो उस कर्मचारी के पास गये। जिस विवाह का मध्यस्थ एक काला आदमी हो उसमें वर-वधू दोनो गोरे ही होंगे, इस बात का विश्वास सहसा उस कर्मचारी को कैसे हो सकता था? उसनें कहा कि मैं जाँच करने के बाद विवाह रजिस्टर करूँगा। दूसरे दिन बडे दिन का त्यौहार था। विवाह की सारी तैयारी किये हुए वर-वधू के विवाह की रजिस्ट्री की तारीख का इस तरह बदला जाना सबको बडा नागवार गुजरा। बडे मजिस्ट्रेट से मेरा परिचय था। वह इस विभाग का अफसर था। मैं इन दम्पती को लेकर उनके पास गया। किस्सा सुन कर वह हँसे और चिट्ठी लिखदी। तब जाकर यह विवाह रजिस्टर हुआ।

आज तक तो थोडे-बहुत परिचित गोरे पुरुष ही हम लोगो के साथ रहे थे, पर अब एक अपरिचित अंग्रेज-महिला हमारे परिवार में दाखिल हुई। मुझे तो बिलकुल याद नही पडता कि खुद मेरा कभी उनके साथ कोई झगडा हुआ हो, परन्तु जहाँ अनेक जाति के और प्रकृति के हिन्दु-स्तानी आया-जाया करते थे और जहाँ मेरी पत्नी को अभी ऐसे जीवन

का अनुभव थोड़ा था, वहाँ उन दोनों को कभी-कभी उद्वेग के अवसर मिले हों तो आश्चर्य नहीं, परन्तु मैं कह सकता हूँ कि एक ही जाति और कुटुम्ब के लोगों में कटु अनुभव जितने होते हैं, उनसे तो अधिक इन विजातीय कुटुम्ब में नहीं हुए, बल्कि ऐसे जिन प्रसंगों का स्मरण मुझे है वे बहुत मामूली कहे जा सकते हैं। बात यह है कि सजातीय-विजातीय हमारे मन की तरंगें हैं, वास्तव में तो हम सब एक ही परिवार के लोग हैं।

अब, वेस्ट का विवाह भी यहीं क्यों न मना लूं ? उस समय ब्रह्मचर्य-विषयक मेरे विचार परिपक्व नहीं हुए थे। इसलिए कुँवारे मित्रों का विवाह करा देना उन दिनों मेरा एक पेशा ही बैठा था। वेस्ट जब अपनी जन्मभूमि में पितृ-यात्रा के लिए गए तो मैंने उन्हें सलाह दी थी कि जहाँ तक हो सके विवाह करके ही लौटना, क्योंकि फिनिक्स हम सब का घर हो गया था, और हम सब किसान बन बैठे थे, इसलिए विवाह या वंश-वृद्धि हमारे लिए भयंकर विषय नहीं था।

वेस्ट लेस्टर की एक सुन्दरी विवाह लाये। इस कुमारिका के परिवार के लोग लेस्टर के जूते के एक बड़े कारखाने में काम करते थे। श्रीमती वेस्ट भी कुछ समय तक उस जूते के कारखाने में काम कर चुकी थीं। इसे मैंने सुन्दरी कहा है; क्योंकि मैं उनके गुणों का पुजारी हूँ, और सच्चा सौन्दर्य तो मनुष्य का गुण ही होता है। वेस्ट अपनी सास को भी साथ लाये थे। यह भली बुढ़िया अभी जिन्दा है। अपनी उद्यमशीलता और हँसमुख स्वभाव से यह हम सबको शर्मिंदा करती थी।

इधर तो मैंने गोरे मित्रों का विवाह कराया, उधर हिन्दुस्तानी मित्रों को अपने बाल-बच्चों को बुला लेने के लिए उत्साहित किया। इससे फिनिक्स एक छोटा-सा गाँव बन गया था। वहाँ पाँच-सात हिन्दुस्तानी-कुटुम्ब रहने और वृद्धि पाने लगे थे।

: २३ :

घर में फेरफार और बाल-शिक्षा

डरबन में जो घर बनाया था उसमें भी कितने ही फेरफार कर डाले थे; पर वहाँ खर्च बहुत रक्खा था। फिर भी झुकाव सादगी की ही तरफ था, परन्तु जोहान्सबर्ग में 'सर्वोदय' के आदर्श और विचारों ने बहुत परिवर्तन कराया।

एक बैरिस्टर के घर में जितनी सादगी रक्खी जा सकती थी उतनी तो रक्खी ही गई थी, फिर भी कितनी ही सामग्री के बिना काम चलाना कठिन था। सच्ची सादगी तो मन की बढ़ी। हर काम हाथ से करने का शौक बढ़ा और उसमें बालकों को भी शामिल करने का उद्योग किया गया।

बाजार से रोटी (डबल रोटी) खरीदने के बदले घर में हाथ से बिना खमीर की रोटी, क्यूने की बताई पद्धति से, बनाना शुरू किया। ऐसी रोटी में मिल का आटा काम नहीं दे सकता। फिर मिल के आटे के बजाय हाथ का आटा इस्तैमाल करने में सादगी, तन्दुरुस्ती और धन, सबकी अधिक रक्षा होती थी। इसलिए ७ पौण्ड खर्च करके हाथ से आटा पीसने की एक चक्की खरीदी। इसका पहिया भारी था। इसलिए एक को दिक्कत होती थी और दो आदमी आसानी से चला सकते थे। चक्की चलाने का काम खासकर पोलक, मैं और बच्चे करते थे। कभी-कभी कस्तूरबाई भी आ जाती। प्राय वह उस समय रसोई करने में लगी रहती। श्रीमती पोलक के आने पर वह भी उसमें जुट जाती। यह कसरत बालकों के लिए बहुत अच्छी साबित हुई। उनसे मैंने यह अथवा दूसरा काम कभी जबरदस्ती नहीं करवाया, परन्तु वे एक खेल समझ कर उसका पहिया घुमाते रहते। थक जाने पर पहिया छोड देने की उन्हें छुट्टी थी। मैं नहीं कह सकता क्या बात है कि क्या बालक क्या दूसरे लोग, जिनका परिचय हम

आगे करेंगे, सबने मुझे तो हमेशा बहुत ही काम दिया है।

यह नहीं कि मन्द और ढीठ लड़के मेरे नसीब में न हों, परन्तु इस युग के ऐसे थोड़े ही बालक मुझे याद पड़ते हैं, जिन्होंने उस समय कहा हो कि 'अब तो हम थक गये।'

घर साफ रखने के लिए एक नौकर था। वह कुटुम्बी की तरह रहता था और बच्चे उसके काम में पूरी-पूरी मदद करते थे। पाखाना उठा ले जाने के लिए म्युनिसिपैलिटी का नौकर आता था, परन्तु पाखाने का कमरा साफ रखना, बैठक धोना वगैरा काम नौकर से नहीं लिया जाता था और न इसकी आशा ही रक्खी जाती थी। यह काम हम लोग खुद करते थे; क्योंकि उसमें भी बच्चों को तालीम मिलती थी। इसका फल यह हुआ कि मेरे किसी भी लड़के को ठेठ से ही पाखाना साफ़ करने की घिन न रही और आरोग्य के सामान्य नियम भी वे सहज ही सीख गये। जोहान्सबर्ग में कोई बीमार तो शायद ही पड़ते, परन्तु यदि कोई बीमार होता तो उसकी सेवा आदि में बालक अवश्य शामिल होते और वे इस काम को बड़ी खुशी से करते। यह तो नहीं कह सकते कि उनके अक्षर-ज्ञान अर्थात् पुस्तकी-शिक्षा की मैंने कोई परवाह नहीं की, परन्तु हाँ, मैंने उसका त्याग करने में कुछ संकोच नहीं किया। इस कमी के लिए मेरे लड़के मेरी शिकायत कर सकते हैं और कई बार उन्होंने अपना असन्तोष प्रदर्शित भी किया है। मैं मानता हूँ कि इसमें कुछ अंश तक मेरा दोष है। उन्हें पुस्तकी शिक्षा देने की इच्छा मुझे बहुत हुआ करती, कोशिश भी करता, परन्तु इस काम में हमेशा कुछ-न-कुछ विघ्न आ खड़ा होता। उनके लिए घर पर दूसरी शिक्षा का प्रबन्ध नहीं किया था। इसलिए मैं उन्हें अपने साथ पैदल दफ्तर ले जाता। दफ्तर ढाई मील था। इसलिए सुबह-शाम मिलाकर पाँच मील की कसरत उनको और मुझे हो जाया करती। रास्ते चलते हुए उन्हें कुछ सिखाने की कोशिश करता, पर यह भी तभी जब दूसरे कोई साथ चलनेवाले न होते। दफ्तर में मवक्किलों और मुंशियों के सम्पर्क में वे आते, मैं पढ़ा देता था तो कुछ पढ़ते, इधर-उधर घूमते, बाज़ार से कोई सामान-सौदा लाना हो

तो लाते। सबसे जेठे हरिलाल को छोडकर सब बच्चे इसी तरह परवरिश पाये। हरिलाल देश में रह गया था। यदि मैं अक्षर-ज्ञान के लिए एक घण्टा भी नियमित रूप से दे पाता तो मैं मानता कि उन्हे आदर्श शिक्षण मिला है; किन्तु मै यह नियम न रख सका, इसका दुःख उनको और मुझको रह गया है। सबसे बडे बेटे ने तो अपने जी की जलन मेरे तथा सर्वसाधारण के सामने प्रकट की है। दूसरो ने अपने हृदय की उदारता से काम लेकर, इस दोष को अनिवार्य समझकर, उसको सहन कर लिया है, पर इस कमीके लिए मुझे पछतावा नही होता और यदि कुछ है भी तो इतना ही कि मै एक आदर्श पिता साबित न हुआ, परन्तु यह मेरा मत है कि मैंने अक्षर-ज्ञान की आहुति भी लोक-सेवा के लिए दी है। हो सकता है कि उसके मूल में अज्ञान हो; पर मैं इतना कह सकता हूँ कि वह सद्भावपूर्ण थी। उनके चरित्र और जीवन के निर्माण करने के लिए जो-कुछ उचित और आवश्यक था, उसमे मैंने कोई कसर नही रहने दी है और मैं मानता हूँ कि प्रत्येक माता-पिता का यह अनिवार्य कर्त्तव्य है। मेरी इतनी कोशिश के बाद भी मेरे बालको के जीवन में जो खामियाँ दिखाई दी है, मेरा यह दृढ मत है कि, वे हम दम्पती की खामियो का प्रतिबिम्ब है।

बालको को जिस तरह माँ-बाप की आकृति विरासत में मिलती है उसी तरह उनके गुण-दोष भी विरासत में मिलते है। हाँ, आस-पास के वातावरण के कारण तरह-तरह की घटा-बढी जरूर हो जाती है, परन्तु मूल पूंजी तो वही रहती है, जो उन्हे बाप-दादो से मिली होती है। यह भी मैंने देखा है कि कितने ही बालक दोषो की इस विरासत से अपने को बचा लेते है, पर यह तो आत्मा का मूल स्वभाव है। उसकी बलिहारी है।

मेरे और पोलक के दरमियान इन लडको के अंग्रेजी-शिक्षण के विषय में गरमागरम बात-चीत होती रही है। मैंने शुरू से ही यह माना है कि जो हिन्दुस्तानी माता-पिता अपने बालको को बचपन से ही अंग्रेजी पढना और बोलना सिखा देते है वे उनका और देश का द्रोह करते है। मेरा

यह भी मत है कि इससे बालक अपने देश की धार्मिक और सामाजिक विरासत से वंचित रह जाते हैं और उस देश की और जगत् की सेवा करने के कम योग्य अपने को बनाते हैं। इस कारण मैं हमेशा जान-बूझकर बालकों के साथ गुजराती में ही बात-चीत करता। पोलक को यह पसन्द न आया। वह कहते—'आप बालकों के भविष्य को बिगाड़ते हैं।' वह मुझे बड़े आग्रह और प्रेम से समझाते कि अंग्रेजी-जैसी व्यापक भाषा को यदि बच्चे बचपन से ही सीख लें तो संसार में जो आज जीवन-संघर्ष चल रहा है उसकी एक बड़ी मंजिल वे आज सहज ही में तय कर लेंगे। मुझे यह दलील न पटी। अब मुझे याद नहीं पड़ता कि अन्त को मेरा जवाब उन्हें जँच गया था मेरी हठ को देखकर वह खामोश हो रहे। कोई २० बरस पहले की वह बातचीत है। फिर मेरे उस समय के विचार अनुभव से और भी दृढ़ होगये हैं और यद्यपि मेरे बालक अक्षर-ज्ञान में कच्चे रह गये हों, फिर भी उन्हें मातृ-भाषा का जो सामान्य ज्ञान सहज ही मिल गया है उससे उनको और देश को लाभ ही हुआ है और आज वे परदेशी-जैसे नहीं हो रहे हैं। वे दुभाषिया तो आसानी से होगये थे, क्योंकि बड़े अंग्रेज मित्र-मण्डल के सहवास में आने से और ऐसे देश में रहने से जहाँ अंग्रेजी विशेषरूप से बोली जाती है, वे अंग्रेजी बोलना और मामूली लिखना सीख गये थे।

: २४ :

जुलू बलवा

घर बनाकर बैठने के बाद जमकर एक जगह बैठना मेरे नसीब में लिखा ही नहीं। जोहान्सबर्ग में जमने लगा था कि एक ऐसी घटना हो गई जिसकी कल्पना भी नहीं थी। समाचार आये कि जुलू लोगों ने बलवा खड़ा कर दिया है। मुझे जुलू लोगों से कोई दुश्मनी नहीं थी। उन्होंने एक भी हिन्दुस्तानी को नुकसान नहीं पहुँचाया था। खुद बलवे के विषय में भी मुझे सन्देह था; परन्तु मैं उस समय अंग्रेजी सल्तनत को

संसार के लिए कल्याण-कारी मानता था। मैं हृदय से उसका वफादार था। उनका क्षय मैं नहीं चाहता था। इसलिए बल-प्रदर्शन-विषयक नीति-अनीति के विचार मुझे रोक नही सकते थे। नेटाल पर आपत्ति आवे तो उसके पास रक्षा के लिए स्वयसेवक-सेना थी और आपत्ति के समय उसमें जरूरत के लायक और भरती भी हो सकती थी। मैंने अखबारो मे पढा कि स्वयसेवक-सेना इस बलवे को मिटाने के लिए चल पडी थी।

मैं अपने को नेटाल-वासी मानता था और नेटाल के साथ मेरा निकट सम्बन्ध तो था ही। इसलिए मैंने वहाँके गवर्नर को पत्र लिखा कि यदि जरूरत हो तो मैं घायलो की सेवा-शुश्रूपा करने के लिए हिन्दुस्तानियो की एक टुकडी लेकर जाने को तैयार हूँ। गवर्नर ने तुरत ही इसको स्वीकार कर लिया। मैंने अनुकूल उत्तर की अथवा इतनी जल्दी उत्तर आ जाने की आशा नही की थी। फिर भी यह पत्र लिखने के पहले मैंने अपना इन्तजाम कर ही लिया था। यह तय किया था कि यदि गवर्नर हमारे प्रस्ताव को स्वीकार कर ले तो जोहान्सवर्ग का घर तोड दें। पोलक एक अलग छोटा घर लेकर रहे और कस्तूरवाई फिनिक्स जाकर रहें। कस्तूरवाई इस योजना से पूर्ण सहमत हुईं। ऐसे कामो में उसकी तरफ से कभी रुकावट का आने स्मरण मुझे नही होता। गवर्नर का जवाब आते ही मैंने मकान-मालिक को घर खाली करने का एक महीने का वाकायदा नोटिस दे दिया। कुछ सामान फिनिक्स गया और कुछ पोलक के पास रह गया।

डरवन पहुँचकर मैंने आदमी माँगे। बहुत लोगो की जरूरत न थी। हम चौबीस आदमी तैयार हुए। उनमें मेरे अलावा चार गुजराती थे। शेष मदरास प्रान्त के गिरमिट-मुक्त हिन्दुस्तानी थे और एक पठान था।

मुझे औषधि-विभाग के मुख्य अधिकारी ने इस टुकडी में 'सारजन्ट मेजर' का स्थायी पद दिया और मेरे पसन्द किये दूसरे दो सज्जनो को 'सारजन्ट' की और एक को 'कारपोरल' की पदवियाँ दी। वर्दी भी सरकार की तरफ से मिली। इसका कारण यह था कि एक तो काम करनेवालो

के आत्म-सम्मान की रक्षा हो, दूसरे काम सुविधा-पूर्वक हो, और तीसरे, ऐसी पदवी देने का वहां रिवाज भी था।

इस टुकडी ने छ सप्ताह तक सतत सेवा की। 'बलवे' के स्थल पर जाकर मैंने देखा कि वहां 'बलवा'-जैसा कुछ नही था। कोई सामना करता हुआ दिखाई नही पडा। उसे 'बलवा' मानने का कारण यह था कि एक जुलू सरदार ने जुलू लोगो पर बैठाये नये कर को न देने की सलाह उन्हें दी थी और एक सारजन्ट को, जो वहां पर वसूल करने के लिए गया था, काट डाला था। जो हो, मेरा हृदय तो इन जुलूओ की तरफ था और अपनी छावनी पर पहुंचने पर जब हमें खास करके जुलू घायलो ही की शुश्रूषा का काम दिया गया तब तो मुझे बडी खुशी हुई। उस डाक्टर-अधिकारी ने हमारी इस सेवा का स्वागत करते हुए कहा—"गोरे लोग इन घायलो की सेवा करने के लिए तैयार नहीं होते। मैं अकेला क्या करता ? इनके घाव खराब हो रहे हैं। आप आ गये, यह अच्छा हुआ। इसे मैं इन निरपराध लोगो पर ईश्वर की कृपा ही समझता हूं।" यह कहकर मुझे पट्टियां और जन्तु-नाशक पानी दिया और उन घायलों के पास ले गये। घायल देखकर बडे आनन्दित हुए। गोरे सिपाही जंगले में से झांक-झांक कर हमको घाव धोने से रोकने की चेष्टा करते और हमारे न सुनने पर वे जुलू लोगो को जो बुरी-बुरी गालियां देते उन्हें सुन कर हमें कानों में उंगलियां देनी पडतीं।

धीरे-धीरे इन गोरे सिपाहियो के साथ भी मेरा परिचय हुआ और फिर उन्होंने मुझे रोकना बन्द कर दिया। इस सेना में कर्नल स्पार्क्स और कर्नल वायली थे, जिन्होंने १८९६ में मेरा घोर विरोध किया था। वे मुझे इस काम में सम्मिलित देख कर चकित हो गये। मुझे खास तौर पर बुला कर उन्होंने धन्यवाद दिया और जनरल मॅकेन्जी के पास ले जा कर उनसे मेरी मुलाकात करवाई।

पाठक यह न समझें कि ये लोग फौज में पेशेवरों के तौर पर काम करते थे। कर्नल वायली का पेशा था वकालत। कर्नल स्पार्क्स कसाईखाने के एक प्रसिद्ध मालिक थे। जनरल मॅकेन्जी नेटाल के एक

प्रसिद्ध किसान थे। ये सब स्वयं-सेवक थे और स्वयं-सेवक बन कर ही उन्होंने सैनिक शिक्षा और अनुभव प्राप्त किया था।

जिन रोगियो की शुश्रूषा का काम हमे सौंपा गया था, वे लडाई मे घायल लोग न थे। उनमें एक हिस्सा तो था उन कैदियो का जो शुबह पर पकडे गये थे। जनरल ने उन्हे कोडे मारने की सजा दी थी। इससे उन्हे जख्म पड गये थे और उनका इलाज न होने के कारण पक गये थे। दूसरा हिस्सा था उन लोगो का, जो जुलू-मित्र कहलाते थे। ये मित्रतादर्शक चिन्ह पहने हुए थे। फिर भी इन्हे सिपाहियो ने भूल से जख्मी कर दिया था।

इसके उपरान्त खुद मुझे गोरे सिपाहियो के लिए दवा लाने का और उन्हे दवा देने का काम सौंपा गया था। पाठको को याद होगा कि डाक्टर बूथ के छोटे-से अस्पताल में मैंने एक साल तक इसकी तालीम हासिल की थी। इसलिए यहां मुझे दिक्कत न पडी। इसकी बदौलत बहुतेरे गोरो से मेरा परिचय हो गया।

परन्तु युद्ध-स्थल पर गई हुई सेना एक ही जगह नही पडी रहती। जहां-जहां से खतरे के समाचार आते वही जा दौडती। उनमें बहुतेरे तो घुड-सवार थे।

हमारी फौज अपने पडाव से चली। उसके पीछे-पीछे हम भी डोलियां कधो पर रख कर चले। दो-तीन बार तो एक दिन में चालीस मील तक चलने का प्रसग आ गया था। यहां भी हमें तो बस वही प्रभु का ही काम मिला। जो जुलू-मित्र भूल से घायल हो गये थे उन्हे डोलियों में उठाकर पडाव पर ले जाना था और वहां उनकी शुश्रूषा करनी थी।

: २५ :

हृदय-मन्थन

'जुलू-विद्रोह' में मुझे बहुतेरे अनुभव हुए और विचार करने की बहुत सामग्री मिली। बोअर-सग्राम में युद्ध की भयकरता मुझे उतनी नही

मालूम हुई जितनी इस बार। यह लडाई नही, मनुष्य का शिकार था। अकेले मेरा ही नही, बल्कि दूसरे अँग्रेजो का भी यही खयाल था। सुबह होते ही हमें उन सैनिको की गोले-बारी की आवाज पटाखे की तरह सुनाई पडती, जो गाँवो में जाकर गोलियाँ झाडते।

इन शब्दो को सुनना और ऐसी स्थिति में रहना मुझे बहुत बुरा मालूम हुआ। परन्तु मैं इस कडवी घूँट को पीकर रह गया और ईश्वर-कृपा से काम भी जो मुझे मिला वह भी जूलू लोगो की सेवा का ही। मेरा यह तो विश्वास हो गया था कि यदि हमने इस काम के लिए कदम न बढाया होता तो दूसरे कोई इसके लिए तैयार न होते। इस बात को स्मरण करके मैंने अन्तरात्मा को शान्त किया।

इस विभाग में आबादी बहुत कम थी। पहाडो और कन्दराओं में भले, सादे और जगली कहलानेवाले जूलू लोगो के कूबो (झोपडे) के सिवा वहाँ कुछ नही था। इससे वहाँ का दृश्य बडा भव्य दिखाई पडता था। मीलो तक जब हम बिना बस्ती के प्रदेश में लगातार किसी घायल को लेकर अथवा खाली हाथ मजिल तय करते तब मेरा मन तरह-तरह के विचारो में डूब जाता।

यहाँ ब्रह्मचर्य-विषयक मेरे विचार परिपक्व हुए। अपने साथियो के साथ भी मैंने उसकी चर्चा की। हाँ, यह बात अभी मुझे स्पष्ट नही दिखाई देती थी कि ईश्वर-दर्शन के लिए ब्रह्मचर्य अनिवार्य है। परन्तु यह बात मैं अच्छी तरह जान गया कि सेवा के लिए उसकी बहुत आवश्यकता है। मैं जानता था कि इस प्रकार की सेवायें मुझे दिन-दिन अधिकाधिक करनी पड़ेंगी और यदि मैं भोग-विलास में, प्रजोत्पत्ति में और सतति-पालन में लगा रहा तो मैं पूरी तरह सेवा न कर सकूँगा। मैं दो घोडो पर सवारी नही कर सकता। यदि पत्नी इस समय गर्भवती होती तो मैं निश्चिन्त होकर आज इस सेवा-कार्य में नही कूद सकता था। यदि ब्रह्मचर्य का पालन न किया जाय तो कुटुम्ब-वृद्धि मनुष्य के उस प्रयत्न की विरोधक होजाय, जो उसे समाज के अभ्युदय के लिए करना चाहिए, पर यदि विवाहित होकर भी ब्रह्मचर्य का पालन हो सके तो कुटुम्ब-सेवा

समाज-सेवा की विरोधक नहीं हो सकती। मैं इन विचारों के भँवर में पड़ गया और ब्रह्मचर्य का व्रत ले लेने के लिए कुछ अधीर हो उठा। इन विचारों से मुझे एक प्रकार का आनन्द हुआ और मेरा उत्साह बढ़ा। इस समय कल्पना ने सेवा का क्षेत्र बहुत विशाल कर दिया।

ये विचार अभी मैं अपने मन में गढ़ रहा था और शरीर को कस ही रहा था कि इतने में कोई यह अफवाह लाया कि 'बलवा' शान्त हो गया है और अब हमें छुट्टी मिल जायगी। दूसरे ही दिन हमें घर जाने का हुक्म हुआ और थोड़े ही दिनों बाद हम सब अपने-अपने घर पहुँच गये। इसके थोड़े ही दिन बाद गवर्नर ने इस सेवा के निमित्त मेरे नाम धन्यवाद का एक खास पत्र भेजा।

फिनिक्स में पहुँचकर मैंने ब्रह्मचर्य-विषयक अपने विचार बड़ी तत्परता से छगनलाल, मगनलाल, वेस्ट इत्यादि के सामने रक्खे। सबको वे पसन्द आये। सबने ब्रह्मचर्य की आवश्यकता समझी। परन्तु सबको उसका पालन बड़ा कठिन मालूम हुआ। कितनों ही ने प्रयत्न करने का साहस किया। और मैं मानता हूँ कि कुछ तो उसमें अवश्य सफल हुए हैं।

मैंने तो उसी समय व्रत ले लिया कि आज से जीवन-पर्यन्त ब्रह्मचर्य का पालन करूँगा। इस व्रत का महत्व और उसकी कठिनता मैं उस समय पूरी तरह न समझ सका था। कठिनाइयों का अनुभव तो मैं आज तक भी करता रहता हूँ। साथ ही उस व्रत का महत्व भी दिन-दिन अधिकाधिक समझता जाता हूँ। ब्रह्मचर्य-हीन जीवन मुझे शुष्क और पशुवत् मालूम होता है। पशु स्वभावतः निरंकुश है, परन्तु मनुष्यत्व इसी बात में है कि वह स्वेच्छा से अपने को अंकुश में रक्खे। ब्रह्मचर्य की जो स्तुति धर्म-ग्रन्थों में की गई है उसमें पहले मुझे अत्युक्ति मालूम होती थी। परन्तु अब दिन-दिन यह अधिकाधिक स्पष्ट होता जाता है कि वह बहुत ही उचित और अनुभव-सिद्ध है।

वह ब्रह्मचर्य जिसके ऐसे महान् फल प्रकट होते हैं, कोई हँसी-खेल नहीं है, केवल शारीरिक वस्तु नहीं है।

शारीरिक अंकुश से तो ब्रह्मचर्य का श्रीगणेश होता है। परन्तु शुद्ध ब्रह्मचर्य में तो विचार तक की मलिनता न होनी चाहिए। पूर्ण ब्रह्मचारी स्वप्न में भी बुरे विचार नहीं करता। जबतक बुरे सपने आया करते हैं, स्वप्न में भी विकार प्रबल होता रहता है, तबतक यह मानना चाहिए कि अभी ब्रह्मचर्य बहुत अपूर्ण है।

मुझे तो कायिक ब्रह्मचर्य के पालन में भी महा-कष्ट सहना पड़ा। इस समय तो यह कह सकता हूँ कि मैं अपने ब्रह्मचर्य के विषय में निर्भय हो गया हूँ, परन्तु अपने विचारों पर अभी पूर्ण विजय प्राप्त नहीं कर सका हूँ। मैं नहीं समझता कि मेरे प्रयत्न में कहीं कसर हो रही है, परन्तु मैं अब तक नहीं जान सका कि ऐसे-ऐसे विचार, जिन्हें हम नहीं चाहते हैं, कहाँ से और किस तरह हम पर चढ़ाई कर देते हैं। हाँ, इस बात में मुझे कुछ भी संदेह नहीं है कि विचारों को भी रोक लेने की कुंजी मनुष्य के पास है। पर अभी तो मैं इस निर्णय पर पहुँचा हूँ कि वह चाबी प्रत्येक को अपने लिए खोजनी पड़ती है। महापुरुष जो अनुभव अपने पीछे छोड़ गये हैं वे हमारे लिए मार्ग-दर्शक हैं, उन्हें हम पूर्ण नहीं कह सकते। पूर्णता मेरी समझ में केवल प्रभु-प्रसादी है और इसीलिए भक्त लोग अपनी तपश्चर्या से पुनीत करके रामनामादि मंत्र हमारे लिए छोड़ गये हैं। मुझे विश्वास होता है कि अपने को पूर्णरूप से ईश्वरार्पण किये बिना विचारों पर पूरी विजय कभी नहीं मिल सकती। समस्त धर्म-पुस्तकों में मैंने ऐसे वचन पढ़े हैं और अपने ब्रह्मचर्य के सूक्ष्मतम पालन के प्रयत्न के सम्बन्ध में मैं उनकी सत्यता का अनुभव भी कर रहा हूँ।

परन्तु मेरी इस छटपटाहट का थोड़ा-बहुत इतिहास अगले अध्यायों में आने ही वाला है, इसलिए इस प्रकरण के अन्त में तो इतना ही कह देता हूँ कि अपने उत्साह के आवेश में पहले-पहल भी मुझे इस व्रत का पालन सरल मालूम हुआ। परन्तु एक बात तो मैंने व्रत लेते ही शुरू कर दी थी। पत्नी के साथ एक-शय्या अथवा एकान्त-सेवन का त्याग कर दिया था। इस तरह इच्छा या अनिच्छा से जिस ब्रह्मचर्य का पालन मैं १९०० से करता आया हूँ उसका आरम्भ व्रत के रूप में १९०६ के मध्य में हुआ।

: २६ :

सत्याग्रह की उत्पत्ति

जोहान्सबर्ग में मेरे लिए ऐसी रचना तैयार हो रही थी कि मेरी यह एक प्रकार की आत्म-शुद्धि मानो सत्याग्रह के ही निमित्त हुई हो। ब्रह्मचर्य का व्रत ले लेने तक मेरे जीवन की तमाम मुख्य घटनायें मुझे छिपे-छिपे सत्याग्रह के लिए ही तैयार कर रही थी, ऐसा अब दिखाई पडता है।

'सत्याग्रह' शब्द की उत्पत्ति होने के पहले सत्याग्रह वस्तु की उत्पत्ति हुई है। जिस समय उसकी उत्पत्ति हुई उस समय तो मै खुद भी नही जान सका कि यह चीज दरअसल क्या है।

गुजराती में हम उसे 'पैसिव रेजिस्टेन्स' इस अग्रेजी नाम से पहचानने लगे, पर जब एक गोरो की सभा में मैने देखा कि 'पैसिव रेजिस्टेन्स' का सकुचित अर्थ किया जाता है, वह निर्बल का हथियार समझा जाता है, उसमें द्वेष के अस्तित्व की भी सम्भावना है और उसका अन्तिम रूप हिंसा में परिणत हो सकता है, तब मुझे इस शब्द का विरोध करना पडा और भारतीयो के सग्राम का सच्चा रूप लोगो को समझाना पडा—और उस समय हिन्दुस्तानियो को अपने सग्राम का परिचय कराने के लिए एक नया शब्द गढने की जरुरत पडी।

परन्तु मुझे इसके लिए कोई स्वतत्र शब्द सूझ नहीं पडता था। अतएव उसके नाम के लिए एक इनाम रक्खा गया और 'इडियन ओपिनियन' के पाठको में उसके लिए एक होड शुरू कराई। इसके फलस्वरूप मगनलाल गाँधी ने 'सत्+आग्रह=सदाग्रह' शब्द बना कर भेजा। उन्हे इनाम मिला, परन्तु सदाग्रह शब्द को अधिक स्पष्ट करने के लिए मैंने बीच में 'य' जोडकर सत्याग्रह शब्द बनाया, और फिर इस नाम से वह संग्राम पुकारा जाने लगा।

इस युद्ध के इतिहास को दक्षिण अफ्रिका के मेरे जीवन का और

स्थिति मेरी भी थी। जननेन्द्रिय और स्वादेन्द्रिय पर कब्जा करते हुए मुझे बहुत विडम्बनायें सहनी पडी हैं और अब भी मैं यह दावा नही कर सकता कि इन दोनो पर मैंने पूरी विजय प्राप्त कर ली है। मैंने अपने को अल्पाहारी माना है। मित्रो ने जिसे मेरा सयम माना है उसे मैंने कभी वैसा नही माना। जितना अकुश मैं रख सका हूँ उतना यदि न रख सका होता तो मैं पशु से भी गया-बीता होकर अबतक कभी का नाश को प्राप्त हो गया होता। मैं अपनी खामियो को ठीक-ठीक जानता हूँ और कह सकता हूँ कि उन्हें दूर करने के लिए मैंने भारी प्रयत्न किये हैं। और उसीसे मैं इतने साल तक इस शरीर को टिका सका हूँ और उससे कुछ काम ले सका हूँ।

इस बात का भान होने के कारण और इस प्रकार की सगति अनायास मिल जाने के कारण मैंने एकादशी के दिन फलाहार अथवा उपवास शुरू किये। जन्माष्टमी इत्यादि दूसरी तिथियो पर भी उपवास करने लगा परन्तु सयम की दृष्टि से फलाहार और अन्नाहार में मुझे बहुत भेद दिखाई न दिया। अनाज के नाम से हम जिन वस्तुओ को जानते हैं उन में से जो रस मिलता है वही फलाहार से भी मिलता है और आदत पडने के बाद तो मैंने देखा कि उनसे अधिक ही रस मिलता है। इस कारण इन तिथियो के दिन सूखा उपवास अथवा एकासने[1] को अधिक महत्व देता गया। फिर प्रायश्चित्त आदि का भी कोई निमित्त मिल जाता तो उस दिन भी एकासना कर डालता। इससे मैंने यह अनुभव किया कि शरीर के अधिक स्वच्छ हो जाने से रसो की वृद्धि हुई, भूख बढी और मैंने देखा कि उपवासादि जहाँ एक ओर सयम के साधन हैं वही दूसरी ओर वे भोग के साधन भी बन सकते हैं। यह ज्ञान होजाने पर इसके समर्थन में उसी प्रकार के मेरे तथा दूसरो के कितने ही अनुभव हुए हैं। मुझे तो यद्यपि अपना शरीर अधिक अच्छा और सुगठित बनाना था तथापि अब तो मुख्य हेतु था सयम को साधना और रसो को जीतना। इसलिए भोजन की चीजो में और उनकी मात्रा में परिवर्तन करने लगा, परन्तु

१ 'एकासना'—दिन में एक बार भोजन करना।

रस तो हाथ धोकर पीछे पड़े रहते। एक वस्तु को छोडकर जब उसकी जगह दूसरी वस्तु लेता तो उसेमें से भी नये और अधिक रस उत्पन्न होने लगते। इन प्रयोगो में मेरे साथ और साथी भी थे। हरमन केलनबेक इनमें मुख्य थे। इनका परिचय दक्षिण अफ्रिका के सत्याग्रह के इतिहास में दे चुका हूँ। इसलिए फिर यहाँ देने का इरादा छोड़ दिया है। उन्होंने मेरे प्रत्येक उपवास में, एकासने में एव दूसरे परिवर्तनो में मेरा साथ दिया था। जब हमारे आन्दोलन का रग खूब जमा था तब तो मैं उन्हीं के घर में रहता था। हम दोनों अपने इन परिवर्तनों के विषय में चर्चा करते और नये परिवर्तनों में पुराने रसों से भी अधिक रस पीते। उस समय तो ये संवाद बड़े मीठे लगते थे। यह नहीं मालूम होता था कि उनमें कोई बात अनुचित होती थी। पर अनुभव ने सिखाया कि ऐसे रसो में गोते खाना भी अनुचित था। इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य को रस के लिए नहीं बल्कि शरीर को क़ायम रखने के लिए ही भोजन करना चाहिए। प्रत्येक इन्द्रिय जब केवल शरीर के और शरीर के द्वारा आत्मा के दर्शन के ही लिए काम करती है तब उसके रस शून्यवत् हो जाते है। और तभी कह सकते हैं कि वह स्वाभाविक रूप में अपना काम करती है।

ऐसी स्वाभाविकता प्राप्त करने के लिए जितने प्रयोग किये जायँ उतने ही कम हैं और ऐसा करते हुए यदि अनेक शरीरो की आहुति देना पड़े तो भी हमें उसकी परवा न करनी चाहिए। अभी आज-कल उल्टी गगा बह रही है। नाशवान् शरीर को सुशोभित करने, और उसकी आयु को बढाने के लिए हम अनेक प्राणियो का बलिदान करते हैं। पर यह नहीं समझते कि उससे शरीर और आत्मा दोनो का हनन होता है। एक रोग को मिटाते हुए, इन्द्रियो के भोगों को भोगने का उद्योग करते हुए, हम नये-नये रोग पैदा करते हैं और अन्त को भोग भोगने की शक्ति भी खो बैठते है। एवं सबसे बढकर आश्चर्य की बात तो यह है कि इस क्रिया को अपनी आँखो के सामने होते हुए देखकर भी हम उसे देखना नहीं चाहते।

भोजन के प्रयोगो का अभी मै और वर्णन करना चाहता हूं, इसलिए उसका उद्देश्य और तद्-विपयक मेरी विचार-सरणि पाठको के सामने रख देना आवश्यक था।

: २८ :

पत्नी की दृढता

कस्तूरबाई पर तीन घाते हुईं और तीनो में वह घरेलू इलाज से बच गई। पहली बात तो तब की है जब सत्याग्रह-सग्राम चल रहा था। उसको बार-बार रक्तस्राव हुआ करता। एक डाक्टर मित्र ने नश्तर लगवाने की सलाह दी थी। बडी आनाकानी के बाद वह नश्तर के लिए राजी हुई। शरीर बहुत क्षीण होगया था। डाक्टर ने बिना ही बेहोश किये नश्तर लगाया। उस समय उसे दर्द तो हो रहा था, पर जिस धीरज से कस्तूरबाई ने उसे सहन किया है उसे देखकर मै दातो तले उंगली देने लगा। नश्तर अच्छी तरह लग गया। डाक्टर और उनकी धर्मपत्नी ने कस्तूरबाई की खूब शुश्रूषा की।

यह घटना डरबन की है। दो या तीन दिन बाद डाक्टर ने मुझे निश्चिन्त होकर जोहान्सबर्ग जाने की छुट्टी देदी। मै चला भी गया, पर थोडे ही दिन मे समाचार मिले कि कस्तूरबाई का शरीर बिलकुल सिमटता नही है और वह बिछौने से उठ-बैठ भी नही सकती। एक बार बेहोश भी हो गई थी। डाक्टर जानते थे कि मुझसे पूछे बिना कस्तूरबाई को शराब या मांस—दवा मे अथवा भोजन मे—नही दिया जा सकता। सो उन्होने मुझे जोहान्सबर्ग टेलीफोन किया—

"आपकी पत्नी को मै मांस का शोरबा और 'बीफटी' देने की जरूरत समझता हूँ। मुझे इजाजत दीजिए।"

मैने जवाब दिया, "मै तो इजाजत नही दे सकता। परन्तु कस्तूरबाई आजाद है। उसकी हालत पूछने लायक हो तो पूछ देखिए और वह लेना चाहे तो जरूर दीजिए।"

"बीमार से ऐसी बातें नहीं पूछना चाहता। आप खुद यहाँ आ जाइए। जो चीजें मैं बताता हूँ उनके खाने की इजाजत यदि आप न दें तो आपकी पत्नी की जिन्दगी के लिए मैं जिम्मेदार नहीं हूँ।"

यह सुनकर मैं उसी दिन डरबन रवाना हुआ। डाक्टर से मिलने पर उन्होंने कहा—"मैंने तो शोरबा पिलाकर आपको टेलीफोन किया था।"

मैंने कहा—"डाक्टर, यह तो विश्वासघात है।"

"इलाज करते वक्त मैं दगा-वगा कुछ नहीं समझता। हम डाक्टर लोग ऐसे समय बीमार को या उसके रिश्तेदारों को धोखा देना पुण्य समझते हैं। हमारा धर्म तो है, जिस तरह हो सके रोगी को बचाना।" डाक्टर ने दृढ़तापूर्वक उत्तर दिया।

यह सुनकर मुझे बड़ा दुःख हुआ। पर मैंने शान्ति धारण की। डाक्टर मित्र थे, सज्जन थे। उनका और उनकी पत्नी का मुझपर बड़ा अहसान था। पर मैं उनके इस व्यवहार को बर्दाश्त करने के लिए तैयार न था।

"डाक्टर, अब साफ-साफ बातें कर लीजिए। बताइए, आप क्या करना चाहते हैं? मेरी पत्नी को बिना उसकी इच्छा के मांस नहीं देने दूंगा, उसके न लेने से यदि वह मरती हो तो इसे सहन करने के लिए मैं तयार हूँ।"

डाक्टर बोले—"आपका यह ज्ञान मेरे घर नहीं चल सकता। मैं तो आपसे कहता हूँ कि आपकी पत्नी जबतक मेरे यहाँ है तबतक मैं मांस अथवा जो कुछ देना मुनासिब समझूंगा जरूर दूंगा। अगर आपको यह मंजूर नहीं है तो आप अपनी पत्नी को यहाँ से ले जाइए। अपने ही घर में मैं इस तरह उन्हें नहीं मरने दूंगा।"

"तो क्या आपका यह मतलब है कि मैं पत्नी को अभी ले जाऊँ?"

"मैं कहाँ कहता हूँ कि ले जाओ। मैं तो यह कहता हूँ कि मुझपर कोई शर्त न लादो तो हम दोनों से इनकी जितनी सेवा हो सकेगी करेंगे और आप आराम से जाइए। जो यह सीधीसी बात समझ में न आती हो तो मुझे मजबूरी से कहना होगा कि आप अपनी पत्नी को मेरे घर से ले जाइए।"

मेरा खयाल है कि मेरा पुत्र उस समय मेरे साथ था। उससे मैंने पूछा, तो उसने कहा—"हाँ, आपका कहना ठीक है। वा (माँ) को मास कैसे दे सकते हैं ?"

फिर मैं कस्तूरबाई के पास गया। वह बहुत कमजोर थी। उससे कुछ भी पूछना मेरे लिए दुखदायी था। पर अपना धर्म समझकर मैंने ऊपर की बातचीत उसे थोड़े में समझा दी। उसने दृढ़तापूर्वक जवाब दिया—"मैं मास का शोरबा नही लूंगी। यह मनष्य-देह बार-बार नही मिला करती। आपकी गोदी में मैं मर जाऊँ तो परवाह नही, पर अपनी देह को मैं भ्रष्ट नही होने दूंगी।"

मैंने-उसे बहुतेरा समझाया और कहा कि तुम मेरे विचारो के अनुसार चलने के लिए बाध्य नही हो। मैंने उसे यह भी बता दिया कि कितने ही अपने परिचित हिन्दू भी दवा के लिए शराब और मास लेने में परहेज नही करते। पर वह अपनी बात से न टिगी और मुझसे कहा—"मुझे यहाँ से ले चलो।"

यह देखकर मैं बड़ा खुश हुआ। किन्तु ले जाते हुए बडी चिन्ता हुई। पर मैंने तो निश्चय कर ही डाला और डाक्टर को भी पत्नी का निश्चय सुना दिया।

वह बिगड़कर बोले—"आप तो बड़े घातक पति मालूम होते हैं। ऐसी नाजुक हालत मे उस बेचारी से ऐसी बात करते हुए आपको शरम नही मालूम हुई ? मैं कहता हूँ कि आपकी पत्नी की हालत यहाँ से लेजाने लायक नही है। उनके शरीर की हालत ऐसी नही है कि जरा भी धक्का सहन कर सके। रास्ते ही में दम निकल जाय तो ताज्जुब नहीं। फिर भी आप हठ-धर्मी से न माने तो आप जाने। यदि शोरबा न देने दें तो एक रात भी उन्हे मेरे घर मे रखने का जिम्मा मैं नही लेता।"

रिमझिम-रिमझिम मेह बरस रहा था। स्टेशन दूर था। डरबन से फिनिक्स तक रेल रास्ते और फिनिक्स से लगभग डेढ मील तक पैदल जाना था। खतरा पूरा-पूरा था। पर मैंने यही सोच लिया कि ईश्वर सब तरह मदद करेगा। पहले एक आदमी को फिनिक्स भेज दिया। फिनिक्स

मे हमारे यहां एक हैमक था। हैमक कहते है जालीदार कपडे की झोली अथवा पालने को। उसके सिरो को बांस से बांध देने पर बीमार उसमें आराम से झूला करता है। मैंने वेस्ट को कहलाया कि वह हैमक, एक बोतल गरम दूध, एक बोतल गरम पानी और छ आदमियो को लेकर फिनिक्स स्टेशन पर आ जायं।

जब दूसरी ट्रेन चलने का समय हुआ, तब मैंने रिक्शा मंगाई, और उसमें उस भयंकर स्थिति में पत्नी को लेकर चल दिया।

पत्नी को हिम्मत दिलाने की मुझे जरूरत नही पडी, उल्टा मुझी को हिम्मत दिलाते हुए उसने कहा—"मुझे कुछ नुकसान न होगा, आप चिन्ता न करे।"

इस ठठरी में वजन तो कुछ रही नहीं गया था। खाना पेट में जाता ही न था। ट्रेन के डब्बे तक पहुंचने के लिए स्टेशन के लम्बे-चौडे प्लेट-फार्म पर दूर तक चलकर जाना था, क्योकि रिक्शा वहां तक पहुंच नहीं सकती थी। मै उसे सहारा देकर डब्बे तक ले गया। फिनिक्स स्टेशन पर तो वह झोली आ गई थी, उसमें हम रोगी को आराम से घर तक ले गये। वहां केवल पानी के उपचार से धीरे-धीरे उसका शरीर बनने लगा। फिनिक्स पहुंचने के दो-तीन दिन बाद एक स्वामीजी हमारे यहां पधारे। जब हमारी हठ-धर्मी की कथा उन्होने सुनी तो हमपर उनको बडी तरस आई और वह हम दोनो को समझाने लगे।

मुझे जहां तक याद पडता है, मणिलाल और रामदास भी उस समय मौजूद थे। जब स्वामीजी आये, स्वामीजी ने मासाहार की निर्दोषता पर एक व्याख्यान झाडा, मनुस्मृति के श्लोक सुनाये। पत्नी के सामने जो इसकी बहस उन्होंने छेडी, यह मुझे अच्छा न मालूम हुआ, परन्तु शिष्टा-चार की खातिर मैंने उसमें दखल न दिया। मुझे मांसाहार के समर्थन में मनुस्मृति के प्रमाणो की आवश्यकता न थी। उनका पता मुझे था। मैं यह भी जानता था कि ऐसे लोग भी है जो उन्हें प्रक्षिप्त समझते है। यदि वे प्रक्षिप्त न हो तो अन्नाहार-सम्बन्धी मेरे विचार स्वतन्त्र-रूप से बन चुके थे। पर कस्तूरबाई की तो श्रद्धा ही काम कर रही थी, वह बेचारी

शास्त्रो के प्रमाणो को क्या जानती ? उसके नजदीक तो परम्परागत रूढि ही धर्म था। लड़को को अपने पिता के धर्म पर विश्वास था, इससे वे स्वामीजी के साथ विनोद करते जाते थे। अन्त को कस्तूरबाई ने यह कहकर इस बहस को बन्द कर दिया—

"स्वामीजी आप कुछ भी कहिए,मैं मास का शोरवा खाकर चंगी होना नही चाहती। अब बडी दया होगी, अगर आप मेरा सिर न खपावे। मैंने तो अपना निश्चय आप से कह दिया। अब और बाते रह गई हो तो आप इन लड़को के बाप से जाकर कीजिएगा।"

: २९ :

घर में सत्याग्रह

१९०८ में मुझे पहली बार जेल का अनुभव हुआ। उस समय मुझे यह बात मालूम हुई कि जेल में जो कितने ही नियम कैदियो से पालन कराये जाते हैं, वे एक सयमी को अथवा ब्रह्मचारी को स्वेच्छा-पूर्वक पालन करना चाहिए।[१] जैसे कि कैदियो को सूर्यास्त के पहले पाँच बजे तक भोजन कर लेना चाहिए। उन्हे—फिर वे हब्शी हो या हिन्दुस्तानी—चाय या काफी न दी जाय, नमक खाना हो तो अलहदा ले, स्वाद के लिए कोई चीज न खिलाई जाय। जब मैंने जेल के डाक्टर से कैदियो के लिए 'करी पाउडर' माँगा और नमक रसोई पकाते वक्त ही डालने के लिए कहा, तो उन्होंने जवाब दिया कि "आप लोग यहाँ स्वादिष्ट चीजें खाने के लिए नहीं आये है। आरोग्य के लिए 'करी पाउडर' की बिलकुल जरूरत नही। आरोग्य के लिए नमक चाहे ऊपर से लिया जाय, चाहे पकाते वक्त डाल दिया जाय, एक ही बात है।"

खैर, वहाँ तो बडी मुश्किल से हम लोग भोजन मे आवश्यक परि-

१ ये अनुभव हिन्दी में 'मेरे जेल के अनुभव' के नाम से प्रताप-प्रेस कानपुर, से पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुके है। १९१६-१७ में मैंने इनका अनुवाद प्रताप-प्रेस के लिए किया था।—अनुवादक

वर्तन करा पाये थे, परन्तु सयम की दृष्टि से जब उनपर विचार करते हैं तो मालूम होता है कि ये दोनो प्रतिबन्ध अच्छे ही थे। किसीकी जबरदस्ती से नियमो का पालन करने से उसका फल नही मिलता। परन्तु स्वेच्छा से ऐसे प्रतिबन्ध का पालन किया जाय तो वह बहुत उपयोगी हो सकता है। अतएव जेल से निकलने के बाद मैंने तुरन्त इन बातो का पालन शुरु कर दिया। जहां तक हो सके चाय पीना बन्द कर दिया और शाम के पहले भोजन करने की आदत डाली, जो आज स्वाभाविक हो बैठी है।

परन्तु ऐसी भी एक घटना घटी, जिसके बदौलत मैंने नमक भी छोड दिया था। वह क्रम लगभग १० बरस तक नियमित रूप से जारी रहा। अन्नाहार-सम्बन्धी कुछ पुस्तको में मैंने पढा था कि मनुष्य के लिए नमक खाना आवश्यक नहीं है, जो नमक नही खाता है आरोग्य की दृष्टि से उसे लाभ ही होता है। और मेरी तो यह भी कल्पना दौड गई थी कि ब्रह्मचारी को भी उससे लाभ होगा। जिसका शरीर निर्बल हो उसे दाल न खानी चाहिए, यह मैंने पढा था और अनुभव भी किया था। परन्तु मैं उसी समय उन्हे छोड न सका था। क्योंकि दोनो चीजें मुझे प्रिय थीं।

नश्तर लगाने के बाद यद्यपि कस्तूरबाई का रक्तस्राव कुछ समय के लिए बन्द हो गया था, तथापि बाद को वह फिर जारी हो गया। अबकी वह किसी तरह मिटाये न मिटा। पानी के इलाज बेकार साबित हुए। मेरे इन उपचारो पर पत्नी की बहुत श्रद्धा न थी, पर साथ ही तिरस्कार भी न था। दूसरा इलाज करने का भी उसे आग्रह न था, इसलिए जब मेरे दूसरे उपचारो में सफलता न मिली, तब मैंने उसको समझाया कि दाल और नमक छोड दो। मैंने उसे समझाने की हद कर दी, अपनी बात के समर्थन में कुछ साहित्य भी पढकर सुनाया, पर वह नही मानती थी। अन्त को उसने झुंझला कर कहा—"दाल और नमक छोडने के लिए तो आपसे कोई भी कहे तो आप भी न छोडेंगे।"

इस जवाब को सुनकर, एक ओर जहा मुझे दुःख हुआ, तहा दूसरी ओर हर्ष भी हुआ। क्योंकि इससे मुझे अपने प्रेम का परिचय देने का अवसर मिला। उस हर्ष में मैंने तुरन्त कहा, "तुम्हारा खयाल गलत है,

में यदि बीमार होऊँ और मुझे यदि वैद्य इन चीजों को छोडने के लिए कहे तो जरूर छोड दूँ। पर ऐसा क्यों ? लो, तुम्हारे लिए मैं आज ही से दाल और नमक एक साल तक छोड देता हूँ। तुम छोडो या न छोडो, मैंने तो छोड दिया।"

यह देखकर पत्नी को बडा पश्चात्ताप हुआ। वह कह उठी—"माफ करो, आपका मिजाज जानते हुए भी यह बात मेरे मुँह से निकल गई। अब मैं तो दाल और नमक न खाऊँगी, पर आप अपना वचन वापस ले लीजिए। यह तो मुझे भारी सजा दे दी।"

मैंने कहा—"तुम दाल और नमक छोड दो तो बहुत ही अच्छा होगा। मुझे विश्वास है कि उससे तुम्हे लाभ ही होगा, परन्तु मैं जो प्रतिज्ञा कर चुका हूँ वह नही टूट सकती। मुझे भी उससे लाभ ही होगा। हर किसी निमित्त से मनुष्य यदि सयम का पालन करता है तो इसमे उसे लाभ ही होता है। इसलिए तुम इस बात पर जोर न दो। क्योकि इससे मुझे भी अपनी आजमाइश कर लेने का मौका मिलेगा और तुमने जो इनको छोडने का निश्चय किया है, उसपर दृढ रहने में भी तुम्हे मदद मिलेगी।" इतना कहने के बाद तो मुझे मनाने की आवश्यकता रह नही गई थी। "आप तो बडे हठी है, किसीका कहा मानना आपने सीखा ही नही" यह कहकर वह आँसू बहाती हुई चुप हो रही।

इसको मै पाठको के सामने सत्याग्रह के तौर पर पेश करना चाहता हूँ और मैं कहना चाहता हूँ कि मैं इसे अपने जीवन की मीठी स्मृतियो में गिनता हूँ।

इसके बाद तो कस्तूरबाई का स्वास्थ्य खूब सम्हलने लगा। अब यह नमक और दाल के त्याग का फल है, या उस त्याग से हुए भोजन के छोटे-बडे परिवर्तनों का फल था, या उसके बाद दूसरे नियमो का पालन कराने की मेरी जागरूकता का फल था, या इस घटना के कारण जो मानसिक उल्लास हुआ उसका फल था, यह मैं नही कह सकता। परन्तु यह बात जरूर हुई कि कस्तूरबाई का सूखा शरीर फिर पनपने लगा। रक्तस्राव बन्द हो गया और 'वैद्यराज' के नाम से मेरी साख कुछ बढ गई।

खुद मुझपर भी इन दोनो चीजो को छोड देने का अच्छा ही असर हुआ। छोड देने के बाद तो नमक या दाल खाने की इच्छा तक न रही। यो एक साल बीतते देर न लगी। इससे इन्द्रियो की शान्ति का अधिक अनुभव होने लगा और संयम की वृद्धि की तरफ मन अधिक दौडने लगा। एक वर्ष पूरा हो जाने पर भी दाल और नमक का त्याग तो ठेठ देश में आने तक जारी रहा। हाँ, बीच में सिर्फ एक ही बार विलायत में १९१४ में, दाल और नमक खाया था। इस पर घटना का तथा देश में आने के बाद इन चीजो को शुरू करने के कारणो का वर्णन पीछे करूँगा।

नमक और दाल छुड़ाने के प्रयोग मैंने दूसरे साथियो पर खूब किये है और दक्षिण अफ्रिका में तो उसके परिणाम अच्छे ही आये थे। वैद्यक की दृष्टि से इन दोनो चीजो के त्याग के सम्बन्ध में दो मत हो सकते है। परन्तु सयम की दृष्टि से तो इनके त्याग में लाभ ही है, इसमे सन्देह नही। भोगी और सयमी का भोजन और मार्ग अवश्य ही जुदा-जुदा होना चाहिए। ब्रह्मचर्य पालन करने की इच्छा करनेवाले लोग भोगी का जीवन बिताकर ब्रह्मचर्य को कठिन और कितनी ही बार प्राय अशक्य कर डालते है।

: ३० :

संयम की ओर

पिछले अध्याय में यह बात कह चुका हूँ कि भोजन में कितने ही परिवर्तन कस्तूरबाई की बीमारी की बदौलत हुए। पर अब तो दिन-दिन उसमें ब्रह्मचर्य की दृष्टि से परिवर्तन करता गया।

पहला परिवर्तन हुआ दूध का त्याग। दूध से इन्द्रिय-विकार पैदा होते है, यह बात मैं पहले-पहल रायचन्द भाई से समझा था। अन्नाहार-सम्बन्धी अंग्रेजी पुस्तकें पढने से इस विचार में वृद्धि हुई। परन्तु जबतक ब्रह्मचर्य का व्रत नहीं लिया था तबतक दूध छोड़ने का इरादा खास तौर पर नहीं कर सका था। यह बात तो मैं कभीसे समझ गया था कि शरीर-रक्षा के लिए दूध की आवश्यकता नहीं है, पर उसका सहसा छूट जाना कठिन था। एक ओर मैं यह बात अधिकाधिक समझता ही जा

रहा था कि इन्द्रिय-दमन के लिए दूध छोड़ देना चाहिए, कि दूसरी ओर कलकत्ता से ऐसा साहित्य मेरे पास पहुँचा जिसमें ग्वाले लोगों के द्वारा गाय-भैसों पर होनेवाले अत्याचारों का वर्णन था। इस साहित्य का बड़ा बुरा असर मुझपर हुआ और उसके सम्बन्ध में मैंने मि० केलनबेक से भी बात-चीत की।

हालाँकि मि० केलनबेक का परिचय मैं 'सत्याग्रह के इतिहास' में करा चुका हूँ और पिछले एक अध्याय में भी उनका उल्लेख कर गया हूँ, परन्तु यहाँ उनके सम्बन्ध में दो शब्द अधिक कहने की आवश्यकता है। उनकी मेरी मुलाक़ात अनायास हो गई थी। मि० खान के वह मित्र थे। मि० खान ने देखा कि उनके अन्दर गहरा वैराग्यभाव था। इसलिए मेरा खयाल है कि उन्होंने उनसे मेरी मुलाकात कराई। जिन दिनों उनसे मेरा परिचय हुआ उन दिनों के उनके शौक और शाह-खर्ची को देखकर मैं चौंक उठा था, परन्तु पहली ही मुलाकात में मुझसे उन्होंने धर्म के विषय में प्रश्न किया। उसमें बुद्ध भगवान् की बात सहज ही निकल पड़ी। तब से हमारा सम्पर्क बढ़ता गया। वह इस हद तक कि उनके मन में यह निश्चय हो गया कि जो काम मैं करूँ वह उन्हें भी अवश्य करना चाहिए। वह अकेले थे। अकेले के लिए मकान-खर्च के अलावा लगभग १२००) रुपये मासिक खर्च करते थे। ठेठ यहाँ से अन्त को इतनी सादगी पर आ गये कि उनका मासिक खर्च १२०) रुपये हो गया। मेरे घर-बार बिखेर देने और जेल से आने के बाद तो हम दोनों एकसाथ रहने लगे थे। उस समय हम दोनों अपना जीवन अपेक्षाकृत बहुत कड़ाई के साथ बिता रहे थे।

दूध के सम्बन्ध में जब मेरा उनसे वार्तालाप हुआ तब हम शामिल रहते थे। एक बार मि० केलनबेक ने कहा कि "जब हम दूध में इतने दोष बताते हैं तो फिर उसे छोड़ क्यों न दें? वह अनिवार्य तो है ही नहीं।" उनकी इस राय को सुनकर मुझे बड़ा आनन्द और आश्चर्य हुआ। मैंने तुरन्त उनकी बात का स्वागत किया और हम दोनों ने टाल्स्टाय-फार्म में उसी क्षण दूध का त्याग कर दिया। यह बात १९१२ की है।

: ३१ :

उपवास

जिन दिनो दूध और अनाज को छोडकर फलाहार का प्रयोग शुरू किया उन्ही दिनो सयम के उद्देश्य से उपवास भी शुरू किया। इसमें भी मि० केलनबेक मेरे साथी हुए। पहले जो उपवास करता था वह केवल आरोग्य की दृष्टि से। देह-दमन के लिए उपवास करने की आवश्यकता है, यह बात मै एक मित्र की प्रेरणा से समझा। वैष्णव-कुटुम्ब में जन्म होने के कारण मेरी माता कठिन-कठिन व्रत किया करती थी इससे एकादशी इत्यादि व्रत मैने देश में किये थे, परन्तु वह तो देखा-देखी अथवा माता-पिता को खुश करने के हेतु से। उस समय मै यह नही समझा था, कि ऐसे व्रतो से कुछ लाभ होता है, परन्तु इन मित्र को देखकर, तथा अपने ब्रह्मचर्य-व्रत के सहारे के लिए, मैं उनका अनुकरण करने के लगा और एकादशी के दिन उपवास करने का निश्चय किया। आम तौर पर लोग एकादशी के दिन दूध और फल खाकर मानते है कि एकादशी करली; परन्तु मै तो यह फलाहार वाला उपवास नित्य ही करता था। इसलिए पानी पीने की छुट्टी रखकर मैंने निराहार उपवास शुरू किया।

जिन दिनो इन उपवास के प्रयोगो का आरम्भ हुआ, श्रावण मास पडता था। उस साल रमजान और श्रावण मास एक साथ आये थे। गाधी-कुटुम्ब में वैष्णव व्रतों के साथ शैव व्रतो का भी पालन किया जाता था। हमारे परिवार के लोग जिस प्रकार वैष्णव देवालयो में जाते उसी प्रकार शिवालयो में भी जाते। श्रावण-मास में प्रदोप तो हर साल कुटुम्ब में कोई-न-कोई रखता ही था। इसलिए मैने इस बार श्रावण मास के व्रत रखने का इरादा किया।

इस महत्त्वपूर्ण प्रयोग का आरम्भ टॉलस्टाय-आश्रम में हुआ। वहाँ सत्याग्रही कैदियो के कुटुम्बो को एकत्र कर मै और केलनबेक रहते थे।

उनमें बालक और नवयुवक भी थे। उनके लिए एक पाठशाला रखी थी। इन नवयुवकों में चार-पांच मुसलमान भी थे। उन्हें मैं इस्लाम के नियम पालने में मदद करता और उत्तेजन देता। नमाज वगैरा की सहूलियत कर देता। आश्रम में पारसी और ईसाई भी थे। नियम यह था कि सबको अपने-अपने धर्मों के अनुसार चलने के लिए प्रोत्साहन दिया जाय। इसलिए मुसलमान नवयुवकों को मैंने रोजा रखने में उत्तेजन दिया, और मुझे तो प्रदोष रखने ही थे, परन्तु हिंदुओं, पारसियों, और ईसाइयों को भी मैंने मुसलमान नवयुवकों का साथ देने की सलाह दी। मैंने उन्हें समझाया कि संयम-पालन में सबका साथ देना स्तुत्य है। बहुतेरे आश्रम-वासियों ने मेरी बात पसन्द की। हिन्दू और पारसी लोग मुसलमान साथियों का पूरा-पूरा अनुकरण नहीं करते थे। करने की आवश्यकता भी नहीं थी। मुसलमान इधर सूरज डूबने की राह देखते, तब-तक दूसरे लोग उनसे पहले भोजन कर लेते कि जिससे वे मुसलमानों को परोस सकें और उनके लिए खास चीजें तैयार कर सकें। इसके अलावा मुसलमान सरगही करते—अर्थात् रोजे के दिनों में सबेरे सूर्योदय से पहले भोजन करते थे; पर दूसरे लोग उसमें शामिल नहीं होते थे। इसी तरह मुसलमान तो दिन में भी पानी नहीं पीते थे, पर दूसरे लोग जब चाहें पी लिया करते।

इस प्रयोग का एक फल यह निकला कि उपवास और एकाशन का महत्त्व सब लोग समझने लगे। एक-दूसरे के प्रति उदारता और प्रेम का भाव बढ़ा। आश्रम में अन्नाहार का ही नियम था, पर मुझे यह कहना चाहिए कि [illegible] के साथ स्वीकार करना चाहिए कि इस नियम को [illegible] [illegible]

अपने उपवास का वर्णन करते हुए यह विषयान्तर मैंने जान-बूझकर किया है, क्योंकि मैं इस मधुर प्रसंग का वर्णन दूसरी जगह नही कर सकता था। और इस विषयान्तर के द्वारा मैंने अपनी एक टेव का वर्णन भी यहां कर डाला है। जब मुझे यह मालूम होता है कि जो काम मैं कर रहा हूँ वह अच्छा है तो मैं अपने साथियो को भी हमेशा उसमें शामिल करने का प्रयत्न करता हूँ। यह उपवास और एकासना के प्रयोग यद्यपि एक नई चीज थी, फिर भी प्रदोष और रमजान के बहाने मैंने उसमें सब को घसीट मारा।

इस प्रकार आश्रम में संयम का वातावरण अनायास बढा। दूसरे उपवास और एकासने में भी आश्रमवासी शामिल होने लगे और मैं मानता हूँ कि इसका परिणाम भी अच्छा ही निकला। यह बात मैं निश्चयपूर्वक नही कह सकता कि संयम का असर सबके हृदय पर कितना हुआ, सबके विषयो को रोकने में कितना भाग उपवास आदि का था, पर मेरा तो यही अनुभव है कि मुझपर तो आरोग्य और इन्द्रिय-दमन दोनो दृष्टियो से उसका अच्छा असर हुआ है। फिर भी मैं यह जानता हूँ कि उपवास आदि का असर सबपर अवश्य हो, यह अनिवार्य नियम नही है। हां, जो उपवास इन्द्रिय-दमन के उद्देश्य से किये जाते है उनसे विषयो में रुकावट हो सकती है। कितने ही मित्रो का तो यह भी अनुभव है कि उपवास के अन्त में विषयेच्छा और स्वादेच्छा तीव्र हो जाती है। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि उपवास के दिनो में विषयो को रोकने की और स्वाद को जीतने की सतत भावना रहे तभी शुभ फल होता है। बिना इस हेतु के और बिना मन के किये शारीरिक उपवास का फल ऐसा होगा कि जिससे विषयो का वेग रुक जाय, यह मानना बिलकुल भ्रमपूर्ण है। गीता के दूसरे अध्याय का यह श्लोक इस प्रसग पर बहुत विचार करने योग्य है—

> विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिन ।
> रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥

उपवासी के विषय (उपवास के दिनो में) शमन हो जाते है; परन्तु

उनका रस नही जाता। रस तो ईश्वर-दर्शन से ही—ईश्वर-प्रसाद से ही शमन होते है।

इससे हम इस नतीजे पर पहुँचे कि उपवास आदि सयमी के मार्ग में एक साधन के रूप में आवश्यक है, परन्तु वही सब-कुछ नही है। और यदि शारीरिक उपवास के साथ मन का उपवास न हो तो उसकी परिणति दम्भ में हो सकती है और वह हानिकारक साबित हो सकती है।

: ३२ :

मास्टर साहब

सत्याग्रह के इतिहास में जो बात नहीं आ सकी अथवा आंशिक रूप में आई है वही इन अध्यायो में लिखी जा रही है। इस बात को पाठक याद रखेंगे तो इन अध्यायो का पूर्वापर सम्बन्ध वे समझ सकेंगे।

टॉलस्टाय-आश्रम में लडको और लडकियो के लिए कुछ शिक्षण-प्रबन्ध आवश्यक था। मेरे साथ हिन्दू, मुसलमान, पारसी और ईसाई नवयुवक थे, और कुछ हिन्दू लडकियाँ भी थी। इनके लिए खास शिक्षक रखना असम्भव था और मुझे अनावश्यक भी मालूम हुआ। असम्भव तो इसलिए था कि सुयोग्य हिन्दुस्तानी शिक्षको का वहाँ अभाव था, और मिले भी तो काफी वेतन के बिना डरबन से २१ मील दूर कौन आने लगा? मेरे पास रुपयो की बहुतायत नही थी और बाहर से शिक्षक बुलाना अनावश्यक माना गया, क्योकि वर्तमान शिक्षा-प्रणाली मुझे पसन्द न थी और वास्तविक पद्धति क्या है, इसका मैंने अनुभव नही कर देखा था। इतना जानता था कि आदर्श स्थिति में सच्ची शिक्षा माता-पिता की देख-रेख में ही मिल सकती है। आदर्श स्थिति में बाह्य सहायता कम-से-कम होनी चाहिए। टॉल्स्टाय-आश्रम एक कुटुम्ब था और मैं उसमें पिता के स्थान पर था। इसलिए मैंने सोचा कि इन नवयुवकों के जीवन-निर्माण की जवाब-देही भरसक मुझीको उठानी चाहिए।

मेरी इस कल्पना में तो बहुतेरे दोष तो थे ही। ये सब नवयुवक

जन्म ही से मेरे पास नही रहे थे। सब अलग-अलग वातावरण मे परवरिश पाये हुए थे। फिर सब एक-धर्म के भी नही थे। ऐसी स्थिति में जो बालक-बालिका रह रहे थे उनका पिता अपने को मानकर भी मै उनके साथ कैसे न्याय कर सकता था।

परन्तु मैंने हृदय की शिक्षा को अर्थात् चरित्र के विकास को हमेशा प्रथम स्थान दिया है, और वह यह विचार करके कि ऐसी शिक्षा का परिचय जिस उम्र में चाहे और चाहे जैसे वातावरण में परिवरिश पाये बालक-बालिकाओ को थोडा-बहुत कराया जा सकता है। इन लडके-लडकियो के साथ मैं दिन-रात पिता के रूप में रहता था। सच्चरित्रता को मैंने उनकी शिक्षा का आधार-स्तम्भ माना था। बुनियाद यदि मजबूत है तो दूसरी बातें बालकों को समय पाकर खुद अथवा दूसरो की सहायता से मिल जाती हैं। फिर भी मै यह समझता था कि थोडा-बहुत अक्षर-ज्ञान भी जरूर कराना चाहिए। इसलिए पढाई शुरू की और उसमें मैंने मि० केलनबेक तथा प्रागजी देशाई की सहायता ली।

मै शारीरिक-शिक्षा की भी आवश्यकता समझता था, परन्तु वह शिक्षा तो उन्हें अपने-आप ही मिल रही थी, क्योंकि आश्रम में नौकर तो रक्खे ही नही गये थे। पाखाने से लेकर खाना पकाने तक के सब काम आश्रमवासी ही करते थे। आश्रम में फलो के वृक्ष बहुत थे। नई खेती भी करनी थी। आश्रम में मि० केलनबेक को खेती का शौक था। वह खुद सरकारी आदर्श खेतो में कुछ समय रहकर खेती का काम सीखे हुए थे। रोज कुछ समय तक उन सब छोटे-बडे लोगो को, जो रसोई के काम में लगे न होते, बगीचे में काम करने जाना पडता था। इनमें बालको का एक बडा भाग था। बडे गढे खोदना, कलम करना, बोझ उठाकर ले जाना इत्यादि कामो में उनका शरीर सुगठित होता रहता। उसमें उनको आनन्द भी आता था, जिससे उन्हे दूसरी कसरत या खेल की आवश्यकता नही रहती थी। काम करने में कुछ विद्यार्थी और कभी-कभी सब विद्यार्थी नखरे करते, काहिली भी कर जाते। बहुत बार मैं इन बातो की ओर आँखें मूंद लिया करता। कितनी ही बार उनसे सख्ती से

भी काम लेता। जब सख्ती करता और उन्हे देखता कि वे उकता उठे तो भी मुझे नहीं याद पड़ता कि सख्ती का विरोध कभी उन्होंने किया हो। जब-जब मैं उनपर सख्ती करता तभी तब उन्हे समझाता और उन्हीं से कबूल करवाता कि काम के समय खेलना अच्छी आदत नहीं। वे उस समय समझ जाते पर दूसरे ही क्षण भूल जाते। इस तरह काम चलता रहता, परन्तु उनके शरीर बनते जाते थे।

आश्रम में शायद ही कोई बीमार होता। कहना होगा कि इसका बडा कारण था वहाँ की आबहवा और अच्छा तथा नियमित भोजन। शारीरिक-शिक्षा के सिलसिले में ही शारीरिक व्यवसाय की शिक्षा का भी समावेश कर लेता हूँ। इरादा यह था कि सबको कुछ-न-कुछ उपयोगी धन्धा सिखाना चाहिए। इसलिए मि० केलनबेक 'ट्रैपिस्ट मठ' में चप्पल बनाना सीख आये थे। उनसे मैने सीखा और मैंने उन बालकों को सिखाया, जो इस हुनर को सीखने के लिए तैयार थे। मि० केलनबेक को बढईगीरी का भी कुछ अनुभव था और आश्रम में बढई का काम जानने वाला एक साथी भी था। इसलिए यह काम भी थोड़े-बहुत अश में सिखाया जाता। रसोई बनाना तो लगभग सब ही लडके सीख गये थे।

ये सब काम इन बालकों के लिए नये थे। उन्होंने तो कभी स्वप्न में भी यह न सोचा होगा कि ऐसा काम सीखना पड़ेगा, दक्षिण अफ्रिका में हिन्दुस्तानी बालकों को केवल प्राथमिक अक्षर-ज्ञान की ही शिक्षा दी जाती थी। टॉल्स्टाय-आश्रम में पहले से ही यह रिवाज डाला था कि जिस काम को हम शिक्षक लोग न करें वह बालकों से न कराया जाय और हमेशा उनके साथ-साथ कोई-न-कोई शिक्षक काम करता। इससे वे बडी उमग के साथ सीख सके।

चारित्र्य और अक्षर-ज्ञान के सम्बन्ध में अब इसके बाद।

: ३३ :

अक्षर-शिक्षा

पिछले अध्याय में हमने यह देख लिया कि शारीरिक शिक्षा और उसके साथ कुछ हुनर सिखाने का काम टॉलस्टाय-आश्रम में किस तरह शुरू हुआ। यद्यपि इस काम को मैं इस तरह नही कर सका कि जिससे मुझे संतोष होता, फिर भी उसमें थोडी-बहुत सफलता मिल गई थी, परन्तु अक्षर-ज्ञान देना तो कठिन मालूम हुआ। मेरे पास उसके प्रबन्ध के लिए आवश्यक सामग्री न थी। मेरे पास उतना समय भी नही था, जितना मैं देना चाहता था, और न इस विषय का ज्ञान ही था। दिन-भर शारीरिक काम करते-करते मैं थक जाता था और जिस समय जरा आराम करने की इच्छा होती उसी समय पढाना पडता। इससे मैं तरोताजा रहने के बदले ठोक-पीटकर सचेत भर रह सकता था। सुबह का समय खेती और घर के काम में जाता था, इसलिए दोपहर को भोजन के बाद ही पाठशाला शुरू होती। इसके सिवा दूसरा समय अनुकूल नही था। अक्षर-ज्ञान के लिए अधिक-से-अधिक तीन घण्टे रखते थे। फिर वर्गों में हिन्दी, तामिल, गुजराती, और उर्दू इतनी भाषायें सिखानी पडती, क्योंकि यह नियम रखा गया था कि शिक्षण प्रत्येक बालक को उसकी भाषा के द्वारा ही दिया जाय, फिर अंग्रेजी भी सबको सिखाई ही जाती थी। इसके अलावा गुजराती, हिन्दू बालकों को कुछ संस्कृत का और सब लडकों को हिन्दी का परिचय कराना, इतिहास, भूगोल और गणित सबको सिखाना, इतना क्रम रखा गया था। तामिल और उर्दू पढाना मेरे जिम्मे था।

मुझे तामिल का ज्ञान जहाजों और रेलों में मिला था। उसमें भी पोप-कृत उत्तम 'तामिल-स्वयं-शिक्षक' से आगे मैं नहीं बढ सका था। उर्दू-लिपि का ज्ञान तो उतना ही था, जितना जहाज में प्राप्त कर सका था। और खास अरबी-फारसी शब्दों का ज्ञान भी उतना ही था,

जितना कि मुसलमान मित्रो के परिचय से मै प्राप्त कर चुका था। सस्कृत उतनी ही जानता था, जितनी कि मैंने हाई स्कूल में पढी थी और गुजराती भी स्कूली ही थी।

इतनी पूंजी से मुझे अपना काम चलाना था और इसमें जो मेरे सहायक थे वे मुझसे भी कम जानते थे, परन्तु देशी भाषाओ पर मेरा प्रेम, अपनी शिक्षा-शक्ति पर मेरा विश्वास, विद्यार्थियों का अज्ञान और उससे भी बढकर उनकी उदारता, ये मेरे काम में सहायक साबित हुए।

इन तामिल विद्यार्थियो का जन्म दक्षिण अफ्रीका में ही हुआ था, इससे वे तामिल बहुत कम जानते थे। लिपि का तो उन्हे बिलकुल ही ज्ञान न था, इसलिए मेरा काम था उन्हे लिपि सिखाना और व्याकरण के मूल्य-तत्त्वो का ज्ञान कराना। यह सहज काम था। विद्यार्थी लोग इस बात को जानते थे कि तामिल बातचीत में वे मुझे सहज ही हरा सकते है और जब कोई तामिलभाषी मुझसे मिलने आते तो वे मेरे दुभाषिया का काम देते थे, परन्तु मेरा काम चल निकला; क्योकि विद्यार्थियो से मैंने कभी अपने अज्ञान को छिपाने का प्रयत्न नही किया। वे मुझे सब बातो में वैसा ही जान गये थे; जैसा कि वास्तव में था। इससे पुस्तक-ज्ञान की भारी कमी रहते हुए भी मैंने उनके प्रेम और आदर को कभी न हटने दिया था।

परन्तु मुसलमान बालकों को उर्दू पढाना इससे आसान था, क्योकि वे लिपि जानते थे। उनके साथ तो मेरा इतना ही काम था कि उन्हे पढ़ने का शौक बढा दूं और उनका खत अच्छा करवा दूं।

मुख्यत ये सब बालक निरक्षर थे, और किसी पाठशाला मे पढे न थे। पढाते-पढाते मैंने देखा कि उन्हें पढाने का काम तो कम ही होता है। उनका आलस्य छुडवाना, उनसे अपने-आप पढवाना, उनके सबक याद करने की चौकीदारी करना, यही काम ज्यादा था; पर इतने से मै सन्तोष पाता था, और यही कारण है जो मै भिन्न-भिन्न अवस्था और भिन्न-भिन्न विषयवाले विद्यार्थियों को ही कमरे में बैठाकर पढा सकता था।

पाठ्य पुस्तको की पुकार चारो ओर से सुनाई पडा करती है, किन्तु मुझे उनकी भी जरूरत न पडी। जो पुस्तकें थी भी, मुझे नहीं याद

पडता कि उनसे भी बहुत काम लिया गया हो। प्रत्येक बालक को बहुतेरी पुस्तकें देने की जरूरत मुझे नही दिखाई दी।

मेरा यह खयाल रहा है कि शिक्षक ही विद्यार्थियो की पाठ्य-पुस्तक है। शिक्षको ने पुस्तको द्वारा मुझे जो-कुछ पढाया उसका बहुत थोडा अश मुझे आज याद है, परन्तु जबानी शिक्षा जिन लोगो ने दी है वह आज भी याद रह गई है। बालक आँख के द्वारा जितना ग्रहण करते है उससे अधिक कान से सुना हुआ, और सो भी थोडे परिश्रम से ग्रहण कर सकते है। मुझे याद नही कि बालको को मैंने एक भी पुस्तक शुरू से आखीर तक पढाई हो।

मैंने तो खुद जो-कुछ बहुतेरी पुस्तको को पढकर हजम किया था वही उन्हे अपनी भाषा में कहता गया और मै मानता हूँ कि वह उन्हे आज भी याद होगा। मैंने देखा कि पुस्तक पर से पढाया हुआ याद रखने में उन्हे दिक्कत होती थी, परन्तु मेरा जबानी कहा हुआ याद रख कर वे मुझे फिर सुना देते थे। पुस्तक पढने में उनका जी नही लगता था। जिस किसी दिन थकावट के कारण अथवा किसी दूसरी वजह से मै मन्द न होता, अथवा मेरी पढाई नीरस न होती, तो वे मेरी कही और सुनाई बातो को चाव से सुनते और उसमें रस लेते। बीच-बीच में जो शकायें उनके मन में उठती उनसे मुझे उनकी ग्रहण-शक्ति का अन्दाजा लग जाता।

: ३४ :

आत्मिक शिक्षा

विद्यार्थियो के शरीर और मन को तालीम देने की अपेक्षा आत्मा पर सस्कार डालने में मुझे बहुत परिश्रम करना पडा। उनकी आत्मा का विकास करने के लिए मैंने धार्मिक पुस्तको का बहुत कम सहारा लिया था। मै यह मानता था कि विद्यार्थियो को अपने-अपने धर्मो के मूल तत्त्वो समझ लेना चाहिए, अपने-अपने धर्म-ग्रन्थो का साधारण ज्ञान होना

चाहिए। इसलिए मैंने उन्हें ऐसा ज्ञान प्राप्त करने की सुविधा कर दी थी; परन्तु उसे मैं बौद्धिक शिक्षा का अंग मानता हूँ। आत्मा की शिक्षा एक अलग ही बात है। और यह बात मैंने टॉलस्टाय-आश्रम में बालकों को पढ़ाने लगने के पहले ही जान ली थी। आत्मा के विकास करने का अर्थ है 'चरित्र-निर्माण करना', 'ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करना', 'आत्म-ज्ञान संपादन करना'। इस ज्ञान को प्राप्त करने में बालकों को बहुत सहायता की आवश्यकता है और मैं मानता था कि उसके बिना दूसरा सब ज्ञान व्यर्थ है, और हानिकारक भी हो सकता है।

हमारे समाज में एक यह वहम घुस गया है कि आत्म-ज्ञान तो मनुष्य को चौथे आश्रम में मिलता है; परन्तु मेरी समझ में जो लोग चौथे आश्रम तक इस अमूल्य वस्तु को रोक सकते हैं उन्हें आत्म-ज्ञान तो नहीं मिलता, उलटा बुढ़ापा, और इससे भी अधिक दया-जनक बचपन प्राप्त करके वे पृथ्वी पर भार-रूप होकर जीते हैं। सब जगह यह अनुभव देखा जाता है; १९११-१२ में शायद इन विचारों को मैं प्रदर्शित न कर सकता, परन्तु मुझे यह बात अच्छी तरह से मालूम है कि उस समय मेरे विचार इसी तरह के थे।

अब सवाल यह है कि आत्मिक-शिक्षा दी किस तरह जाय? इसके लिए मैं बालकों से भजन गवाता था, नीति की पुस्तकें पढ़कर सुनाता था; परन्तु इससे मन को संतोष नहीं होता था। ज्यों-ज्यों मैं उनके अधिक संपर्क में आता गया त्यों-त्यों मैंने देखा कि यह ज्ञान पुस्तकों द्वारा नहीं दिया जा सकता। शारीरिक शिक्षा शरीर की कसरत द्वारा दी जा सकती है और बौद्धिक शिक्षा बुद्धि की कसरत द्वारा। इसी प्रकार आत्मिक शिक्षा आत्मा की कसरत के द्वारा ही दी जा सकती है, और आत्मा की कसरत तो बालक शिक्षक के आचरण से ही सीखते हैं। अतएव युवक विद्यार्थी चाहे हाजिर हों या न हों, शिक्षक को तो सदा सावधान ही रहना चाहिए। लंका में बैठा हुआ शिक्षक अपने आचरण के द्वारा अपने शिष्यों की आत्मा को हिला सकता है। यदि मैं खुद तो झूठ बोलूं; पर अपने शिष्यों को सच्चा बनाने का प्रयत्न करूं तो वह

फिजूल होगा। डरपोक शिक्षक अपने शिष्यो को वीरता नही सिखा सकता। व्यभिचारी शिक्षक शिष्यो को सयम की शिक्षा कैसे दे सकता है? इसलिए मैंने देखा कि मुझे तो अपने साथ रहनेवाले युवक-युवतियो के सामने एक पदार्थ-पाठ बनकर रहना चाहिए। इससे मेरे शिष्य ही मेरे शिक्षक बन गये। मैं यह समझा कि मुझे अपने लिए नही, बल्कि इनके लिए अच्छा बनना और रहना चाहिए और यह कहा जा सकता है कि टॉल्स्टाय-आश्रम के समय का मेरा बहुतेरा सयम इन युवक और युवतियो का कृतज्ञ है।

आश्रम में एक ऐसा युवक था जो बहुत ऊधम करता था, झूठ बोलता था, किसीकी सुनता नही था, औरो से लडता था। एक दिन उसने बडा उपद्रव मचाया, मुझे बडी चिन्ता हुई, क्योकि मैं विद्यार्थियो को कभी सजा नही देता था, पर इस समय मुझे बहुत गुस्सा चढ रहा था। मैं उसके पास गया। वह समझाये किसी तरह नही समझता था। खुद मेरी आँख में भी धूल झोकने की कोशिश की। मेरे पास रूल पडी हुई थी, उठाकर उसके हाथ पर दे मारी, पर मारते हुए मेरा शरीर कॉप रहा था। मेरा खयाल है कि उसने यह देख लिया होगा। इससे पहले विद्यार्थियो को मेरी तरफ से ऐसा अनुभव कभी नही हुआ था। वह विद्यार्थी रो पडा, माँफी माँगी, पर उसके रोने का कारण यह नही कि उसपर मार पडी थी। वह मेरा मुकाबला करना चाहता तो इतनी ताकत उसमें थी। उसकी उमर १७ साल की होगी, शरीर हट्टा-कट्टा था, पर मेरे उस रूल मारने में मेरे दुःख का अनुभव उसे होगया था। इस घटना के बाद वह मेरे सामने कभी नही हुआ, परन्तु मुझे उस रूल मार देने का पश्चात्ताप आजतक होता रहता है।

मैं समझता हूँ कि उसे पीटकर मैंने उसे अपनी आत्मा की सात्त्विकता का नही, बल्कि अपनी पशुता का दर्शन कराया था।

मैंने बच्चो को पीट-पाटकर सिखाने का हमेशा विरोध किया है। सारी जिन्दगी में एक ही अवसर मुझे याद पडता है जब मैंने अपने एक लडके को पीटा था। मेरा यह रूल मार देना उचित था या क्या, इसका

निर्णय मैं आजतक नहीं कर सका। इस दण्ड के औचित्य के विषय में अब भी मुझे सन्देह है; क्योंकि उसके मूल में क्रोध भरा हुआ था और मन में सजा देने का भाव था। यदि उसमें केवल मेरे दुःख का ही प्रदर्शन होता तो मैं उस दण्ड को उचित समझता; परन्तु उसमें मिश्र भावनायें थीं। इस घटना के बाद तो मैं विद्यार्थियों को सुधारने की और भी अच्छी तरकीब जान गया। यदि इस मौके पर उस कला से काम लिया होता तो क्या फल निकलता, यह मैं नहीं कह सकता। वह युवक तो इस बात को उसी समय भूल गया। मैं नहीं कह सकता कि वह बहुत सुधर गया होगा; परन्तु इस प्रसंग ने मेरे इन विचारों को बहुत गति दे दी कि विद्यार्थी के प्रति शिक्षक का क्या धर्म है। उसके बाद भी युवकों से ऐसा ही कसूर हुआ है, परन्तु मैंने दण्डनीति का प्रयोग कभी नहीं किया। इस तरह आत्मिक ज्ञान देने का प्रयत्न करते हुए मैं खुद आत्मा के गुण को अधिक जान सका।

: ३५ :

अच्छे-बुरे का मेल

टॉल्स्टाय-आश्रम में मि० केलनबेक ने मेरे सामने एक प्रश्न खड़ा कर दिया था। इसके पहले मैंने उसपर कभी विचार नहीं किया था। आश्रम में कितने ही लड़के बड़े ऊधमी और वाहियात थे, कई आवारा भी थे। उन्हींके साथ मेरे तीन लड़के रहते थे। दूसरे लड़के भी थे, जिनका कि लालन-पालन मेरे लड़कों की तरह हुआ था, परन्तु मि० केलनबेक का ध्यान तो इसी बात की तरफ था कि वह आवारा लड़के और मेरे लड़के एकसाथ इस तरह नहीं रह सकते। एक दिन उन्होंने कहा—"आपका यह सिलसिला मुझे बिल्कुल ठीक नहीं मालूम होता। इन लड़कों के साथ आपके लड़के रहेंगे तो इसका बुरा नतीजा होगा। उन आवारा लड़कों की सोहबत इनको लगेगी तो ये बिगड़े बिना कैसे रहेंगे?"

इनकी सुनकर मैं सोच में पड़ा या नहीं, यह तो मुझे इस समय

याद नही, परन्तु अपना उत्तर मुझे याद है। मैंने जवाब दिया—"अपने लडकों और इन आवारा लडको में मैं भेद-भाव कैसे रख सकता हूँ ? अभी तो दोनों की जिम्मेदारी मुझपर है। ये युवक मेरे बुलाये यहाँ आये है। यदि मैं रुपये दे दूँ तो ये आज ही जोहान्सबर्ग जाकर पहले की तरह रहने लग जायँगे। आश्चर्य नही, यदि उनके माता-पिता यह समझते हो कि उन लडको ने यहाँ आकर मुझपर बहुत मिहरबानी की है। यहाँ आकर वे असुविधा उठाते है, यह तो आप और मैं दोनो देख रहे है। सो इस सम्बन्ध में मेरा धर्म मुझे स्पष्ट दिखाई दे रहा है। मुझे उन्हे यही रखना चाहिए। मेरे लडके भी उन्हीके साथ रहेंगे। फिर क्या आज से ही मेरे लडको को यह भेद-भाव सिखावे कि ये औरो से ऊँचे दर्जे के है ? ऐसा विचार उनके दिमाग में डालना मानो उन्हे उलटे रास्ते ले जाना है। इस स्थिति में रहने से उनका जीवन बनेगा, खुद-ब-खुद सारासार की परीक्षा करने लगेंगे। हम यह क्यो न माने कि उनमें यदि सचमुच कोई गुण होगा तो उलटा उसीका असर उनके साथियो पर होगा ? जो-कुछ भी हो, पर मैं तो उन्हे यहाँसे नही हटा सकता और ऐसा करने में यदि कुछ जोखम है तो उसके लिए हमें तैयार रहना चाहिए।" इसपर मि० केलनबेक सिर हिलाकर रह गये।

यह नही कह सकते कि इस प्रयोग का नतीजा बुरा हुआ। मैं नही मानता का कि मेरे लडको को इससे कुछ नुकसान हुआ। हाँ, लाभ होता हुआ तो अलबत्ता मैंने देखा है। उनमें बडप्पन का यदि कुछ अश रहा होगा तो वह सर्वथा चला गया, वे सबके साथ मिल-जुलकर रहना सीखे, वे तपकर ठीक हो गये।

इससे तथा ऐसे दूसरे अनुभवो पर से मेरा यह खयाल बना कि यदि माँ-बाप ठीक-ठीक निगरानी रख सके तो उनके भले और बुरे लडको के एकसाथ रहने और पढने से अच्छे लडको का किसी प्रकार नुकसान नही हो सकता। अपने लडकों को सन्दूक में बन्द कर रखने से वे शुद्ध ही रहते है और बाहर निकलने से वे बिगड जाते है, यह कोई नियम नही है। हाँ, यह बात जरूर है कि जहाँ अनेक प्रकार के बालक

और बालिकायें एकसाथ रहते और पढ़ते हों, वहाँ माँ-बाप की और शिक्षक की कड़ी जाँच हो जाती है। उन्हें बहुत सावधान और जागरूक रहना पड़ता है।

: ३६ :

प्रायश्चित्त के रूप में उपवास

इस तरह लड़के-लड़कियों को सच्चाई और ईमानदारी के साथ परवरिश करने और पढ़ाने-लिखाने में कितनी और कैसी कठिनाइयाँ हैं, इनका अनुभव दिन-दिन बढ़ता गया। शिक्षक और पालक की हैसियत से मुझे उनके हृदयों में प्रवेश करना था। उनके सुख-दुख में हाथ बँटाना था। उनके जीवन की गुत्थियाँ सुलझानी थीं। उनकी चढ़ती जवानी की तरंगों को सीधे रास्ते ले जाना था।

कितने ही कैदियों के छूट जाने के बाद टॉल्सटाय-आश्रम में थोड़े ही लोग रह गये। ये खास करके फिनिक्स वासी थे। इसलिए मैं आश्रम को फिनिक्स ले गया फिनिक्स में मेरी कड़ी परीक्षा हुई। इन बचे हुए आश्रम-वासियों को टॉल्स्टाय-आश्रम से फिनिक्स पहुँचाकर मैं जोहान्सबर्ग गया। थोड़े ही दिन जोहान्सबर्ग रहा होऊँगा कि मुझे दो व्यक्तियों के भयंकर पतन के समाचार मिले। सत्याग्रह जैसे महान् संग्राम में यदि कहीं भी असफलता जैसा कुछ दिखाई देता तो उससे मेरे दिल को चोट नहीं पहुँचती थी, परन्तु इस इस घटना ने तो मुझपर वज्र-प्रहार ही कर दिया! मेरे दिल में घाव हो गया! उसी दिन मैं फिनिक्स रवाना हो गया। मि० केलनबेक ने मेरे साथ आने की जिद पकड़ी। वह मेरी दयनीय स्थिति को समझ गये थे, साफ इन्कार कर दिया कि मैं आपको अकेला नहीं जाने दूँगा। इस पतन की खबर मुझे उन्हींके द्वारा मिली थी। रास्ते ही में मैंने सोच लिया, अथवा यों कहूँ कि मैंने ऐसा मान लिया कि इस अवस्था में मेरा धर्म क्या है? मेरे मन ने कहा कि जो लोग हमारी रक्षा में हैं उनके पतन के लिए पालक या शिक्षक किसी न

किसी अश में जरूर जिम्मेदार हूं और इस दुर्घटना के सम्बन्ध में तो मुझे अपनी जिम्मेदारी साफ-साफ दिखाई दी। मेरी पत्नी ने मुझे पहले ही चेताया था, पर मैं स्वभावत विश्वासशील हूँ, इससे मैंने उसकी चेतावनी पर ध्यान नहीं दिया था। फिर मुझे यह भी प्रतीत हुआ कि ये पतित लोग मेरी व्यथा को तभी समझ सकेंगे, जब मैं इस पतन के लिए कुछ प्रायश्चित्त करूँगा। इसीसे इन्हे अपने दोषो का ज्ञान होगा और उनकी गंभीरता का कुछ अन्दाज मिलेगा। इस कारण मैंने सात दिन के उपवास और साढे चार मास तक एकामना करने का विचार किया। मि० केलनबेक ने मुझे रोकने की बहुत कोशिश की, पर उनकी न चली। अन्त को उन्होंने प्रायश्चित्त के औचित्य को माना और अपने लिए भी मेरे साथ व्रत रखने पर जोर दिया। उनके प्रेम को मैं न रोक सका। इस निश्चय के बाद ही तुरन्त मेरा हृदय हलका हो गया, मुझे शान्ति मिली। दोष करने वालो पर जो कुछ गुस्सा आया था वह दूर हुआ और उनपर दया ही आती रही।

इस तरह ट्रेन में ही अपने हृदय को हलका करके मैं फिनिक्स पहुँचा। पूछ-ताछकर जो कुछ और बातें जाननी थी वे जान ली। यद्यपि इस मेरे उपवास से सबको बहुत कष्ट हुआ, पर उससे वातावरण शुद्ध हुआ। उस पाप की भयकरता को सबने समझा। और विद्यार्थी-विद्यार्थिनियो का और मेरा सम्बन्ध अधिक मजबूत और सरल हुआ।

इस दुर्घटना के सिलसिले में ही, कुछ समय के बाद, मुझे फिर चौदह उपवास करने की नौबत आई थी और मैं मानता हूँ कि उसका परिणाम आशा से भी अधिक अच्छा निकला। परन्तु इन उदाहरणो से मैं यह नहीं सिद्ध करना चाहता कि शिष्यो के प्रत्येक दोष के लिए हमेशा शिक्षकों को उपवासादि करना ही चाहिए। पर मैं यह जरूर मानता हूँ कि मौके पर ऐसे प्रायश्चित्त-रूप उपवास के लिए अवश्य स्थान है। किन्तु उसके लिए विवेक और अधिकार की आवश्यकता है। जहाँ शिक्षक और शिष्य में शुद्ध प्रेम-बन्धन नहीं, जहाँ शिक्षक को अपने शिष्य के दोषो से सच्ची चोट नहीं पहुँचती, जहाँ शिष्य के मन में शिक्षक के प्रति आदर नहीं, वहाँ

उपवास निरर्थक है और शायद हानिकारक भी हो। परन्तु ऐसे उपवास या एकासना के विषय में भले ही कुछ शका हो, किन्तु शिष्य के दोषो के लिए शिक्षक थोडा-बहुत जिम्मेदार जरूर है, इस विषय में कुछ भी सन्देह नही।

ये सात दिवस, सात उपवास और एकासने हमें कठिन न मालूम हुए। उन दिनो में मेरा कोई भी काम बन्द या मन्द नही हुआ था। उस समय में केवल फलाहार ही करता था। चौदह उपवास का अन्तिम भाग मुझे खूब कठिन मालूम हुआ था। उस समय में रामनाम का पूरा चमत्कार नही समझा था। इसलिए दु:खसहन करने का सामर्थ्य कम था। उपवास के दिनो में जिस किसी तरह भी हो पानी खूब पीना चाहिए। इस बाह्य कला का ज्ञान मुझे न था। इस कारण भी यह उपवास मेरे लिए भारी हुए। फिर पहले के उपवास सुख-शान्ति से बीते थे, इसलिए चौदह उपवास के समय कुछ लापरवाह भी रहा था। पहले उपवास के समय हमेशा क्यूनी के कटि-स्नान करता, चौदह उपवास के समय में तीन दिन बाद वे बन्द कर दिये गये। कुछ ऐसा हो गया था कि पानी का स्वाद ही अच्छा नही मालूम होता था, और पानी पीते ही जी मचलाने लगता था, जिससे पानी बहुत कम पिया जाता था। इससे गला सूख गया, शरीर क्षीण हो गया, और अन्त के दिनो में बहुत धीरे बोल सकता था। इतना होते हुए भी लिखने-लिखाने का आवश्यक काम में आखिरी दिन तक कर सका था और रामायण इत्यादि अन्त तक सुनता था। कुछ प्रश्नो और विषयो पर राय इत्यादि देने का आवश्यक कार्य भी कर सकता था।

: ३७ :

गोखले से मिलने

यहाँ दक्षिण अफ्रिका के कितने ही सस्मरण छोड देने पडते है। १९१४ ई० में जब सत्याग्रह-सग्राम का अन्त हुआ तब गोखले की इच्छा

से मैंने इग्लैण्ड होकर देश आने का विचार किया था। इसलिए जुलाई महीने में कस्तूरबाई, केलनवेक और मै, तीनो विलायत के लिए रवाना हुए। सत्याग्रह-सग्राम के दिनो में मैंने रेल में तीसरे दर्जे में सफर शुरू कर दिया था। इस कारण जहाज में भी तीसरे दर्जे के ही टिकट खरीदे, परन्तु इस तीसरे दर्जे में और हमारे तीसरे दर्जे में वहुत अन्तर है। हमारे यहां तो सोने-बैठने की जगह भी मुश्किल से मिलती है और सफाई की तो वात ही क्या पूछना! किन्तु इसके विपरीत यहांके जहाजो में जगह काफी रहती थी और सफाई का भी अच्छा खयाल रक्खा जाता था। कम्पनी ने हमारे लिए कुछ और भी सुविधायें करदी थीं। कोई हमको दिक न करने पाये, इस खयाल से एक पाखाने में ताला लगाकर ताली हमें सौंप दी गई थी, और हम फलाहारी थे, इसलिए हमको ताजे और सूखे फल देने की आज्ञा भी जहाज के खजाञ्ची को दे दी गई थी। मामूली तौर पर तीसरे दर्जे के यात्रियो को फल कम ही मिलते हैं और मेवा तो कतई नही मिलता। पर इस सुविधा की वदौलत हम लोग समुद्र पर वहुत शान्ति से १८ दिन विता सके।

इस यात्रा के कितने ही सस्मरण जानने योग्य हैं। मि० केलनवेक को दूरवीनो का वडा शौक था। एक दो कीमती दूरवीने उन्होने अपने साथ रक्खी थी। पर इसके विषय में रोज हमारे आपस में वहस होती। मैं उन्हे यह जचाने की कोशिश करता कि यह हमारे आदर्श के और जिस सादगी को हम पहुँचना चाहते हैं उसके अनुकूल नही है। एक रोज तो हम दोनो में इस विषय पर गरमागरम वहस हो गई। हम दोनो अपनी कैबिन की खिडकी के पास खडे थे।

मैंने कहा—"आपके और मेरे वीच ऐसे झगड़े होने से तो क्या यह वेहतर नहीं है कि इस दूरवीन को समुद्र में फेंक दें?"

मि० केनलवेक ने तुरन्त उत्तर दिया—"जरूर, इस झगडे की जड को फेंक ही दीजिए।"

मैंने कहा—"देखो, मैं फेंके देता हूँ?"

उन्होने वे-रोक उत्तर दिया—"मैं सचमुच कहता हूँ, फैक दीजिए।"

बस, मैंने दूरबीन फेंक दी। उसका दाम कोई सात पौण्ड था। परन्तु उसकी कीमत उसके रुपये की अपेक्षा मि० केलनबेक का जो मोह उसके साथ था उसमें थी। फिर भी मि० केलनबेक ने अपने मन को कभी इस बात का दुःख न होने दिया। उनके मेरे बीच तो ऐसी कितनी ही बातें हुआ करती थीं—यह तो उसका एक नमूना पाठकों को दिखाया है।

हम दोनों सत्य को सामने रखकर ही चलने का प्रयत्न करते थे इसलिए मेरे उनके इस सम्बन्ध के फलस्वरूप हम रोज कुछ-न-कुछ नई बात सीखते। सत्य का अनुसरण करते हुए हमारे क्रोध, स्वार्थ-द्वेष इत्यादि सहज ही शमन हो जाते थे और यदि न होते तो सत्य की प्राप्ति न होती थी। राग-द्वेषादि से भरा मनुष्य सरल हो सकता है, वाचिक सत्य भले ही पाल ले, पर उसे शुद्ध सत्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। शुद्ध-सत्य की शोध करने के मानी हैं रागद्वेषादि द्वन्द्व से सर्वथा मुक्ति प्राप्त कर लेना।

जिन दिनों हमने यह यात्रा आरम्भ की, पूर्वोक्त उपवासों को पूरा किये मुझे बहुत समय नहीं बीता था। अभी मुझमें पूरी ताकत नहीं आई थी। जहाज में डेक पर खूब घूमकर काफी खाने का और उसे पचाने का यत्न करता। पर ज्यों-ज्यों मैं अधिक घूमने लगा त्यों-त्यों पिंडलियों में ज्यादा दर्द होने लगा। विलायत पहुंचने के बाद तो उलटा यह दर्द और बढ़ गया। वहां डाक्टर जीवराज मेहता से मुलाकात हो गई थी। उपवास और इस दर्द का इतिहास सुनकर उन्होंने कहा कि "यदि आप थोड़े समय तक आराम नहीं करेंगे तो आपके पैरों के सदा के लिए सुन्न पड़ जाने का अन्देशा है।" अब जाकर मुझे पता लगा कि बहुत दिनों के उपवास से गई ताकत जल्दी लाने का या बहुत खाने का लोभ नहीं रखना चाहिए। उपवास करने की अपेक्षा छोड़ते समय अधिक सावधान रहना पड़ता है और शायद उसमें अधिक संयम भी होता है।

मदीरा में हमें समाचार मिले कि लड़ाई अब छिड़ने ही वाली है। इंग्लैंड की खाड़ी में पहुंचते-पहुंचते खबर मिली कि लड़ाई शुरू हो गई और हम रोक लिये गये। पानी में जगह-जगह सुरंग लगाये गये थे

और उनमें से होकर हमें साउथेम्पटन पहुँचते हुए एक-दो दिन की देरी हो गई। युद्ध की घोषणा ४ अगस्त को हुई, हम लोग ६ अगस्त को विलायत पहुँचे।

: ३८ :

लड़ाई में भाग

विलायत पहुँचने पर खबर मिली कि गोखले तो पेरिस में रह गए है, पेरिस के साथ आवागमन का सम्बन्ध बन्द हो गया है, और यह नही कहा जा सकता कि वह कब आयेंगे। गोखले अपने स्वास्थ्य-सुधार के लिए फ्रास गये थे, किन्तु बीच में युद्ध छिड जाने से वही अटक रहे। उनसे मिले बिना मुझे देश जाना नही था, और वह कब आवेंगे, यह कोई कह नही सकता था।

अब सवाल यह खड़ा हुआ कि इस दरमियान करें क्या? इस लडाई के सम्बन्ध में मेरा धर्म क्या है? जेल के मेरे साथी और सत्याग्रही सोराबजी अडाजणिया विलायत में बैरिस्टरी का अध्ययन कर रहे थे। सोराबजी को एक श्रेष्ठ सत्याग्रही के तौर पर इग्लैण्ड में बैरिस्टरी की तालीम के लिए भेजा था कि जिससे दक्षिण अफ्रिका मे आकर मेरा स्थान ले ले। उनका खर्च डाक्टर प्राणजीवनदास मेहता देते थे। उनके और उनके मार्फत डाक्टर जीवराज मेहता इत्यादि के साथ, जो विलायत में पढ रहे थे, इस विषय पर सलाह-मशवरा किया। विलायत में उस समय जो हिन्दुस्तानी लोग रहते थे उनकी एक सभा एकत्र की गई और उनके सामने मैंने अपने विचार उपस्थित किये। मेरा यह मत हुआ कि विलायत में रहनेवाले हिन्दुस्तानियो को इस लडाई में अपना हिस्सा देना चाहिए। अंग्रेज-विद्यार्थी लडाई मे सेवा करने का अपना निश्चय प्रकाशित कर चुके हैं। हम हिन्दुस्तानियो को भी इससे कम सहयोग न देना चाहिए। मेरी इस बात के विरोध में इस सभा में बहुतेरी दलीलें पेश की गईं। कहा गया कि हमारी और अंग्रेजो की परिस्थिति में हाथी घोडे का

अन्तर है—एक गुलाम दूसरा सरदार। ऐसी स्थिति में गुलाम अपने प्रभु की विपत्ति में उसे स्वेच्छा-पूर्वक कैसे मदद कर सकता है? फिर जो गुलाम अपनी गुलामी में से छूटना चाहता है, उसका धर्म क्या यह नहीं कि प्रभु की विपत्ति से लाभ उठा कर अपना छुटकारा कर लेने की कोशिश करे? पर यह दलील मुझे उस समय कैसे पट सकती थी? यद्यपि मैं दोनो की स्थिति का महान् अन्तर समझ सका था, फिर भी मुझे हमारी स्थिति बिलकुल गुलाम की स्थिति नहीं मालूम होती थी। उस समय मैं यह समझे हुए था कि अंग्रेजी शासन-पद्धति की अपेक्षा कितने ही अंग्रेज अधिकारियो का दोष अधिक था और उन दोष को हम प्रेम से दूर कर सकते है। मेरा यह खयाल था कि यदि अंग्रेजो के द्वारा और उनकी सहायता से हम अपनी स्थिति का सुधार चाहते हो तो हमें उनकी विपत्ति के समय सहायता पहुँचाकर अपनी स्थिति सुधारनी चाहिए। ब्रिटिश-शासन-पद्धति को मैं दोषमय तो मानता था, परन्तु आज की तरह वह उस समय असह्य नहीं मालूम होती थी। अतएव आज जिस प्रकार वर्तमान शासन-पद्धति पर से मेरा विश्वास उठ गया है और आज मैं अंग्रेजी राज्य की सहायता नहीं कर सकता, इसी तरह उस समय जिन लोगो का विश्वास इस पद्धति पर से ही नही, बल्कि अंग्रेजी अधिकारियो पर से भी उठ चुका था, वे मदद करने के लिए कैसे तैयार हो सकते थे?

उन्होंने इस समय को प्रजा की माँगें जोर के साथ पेश करने और शासन में सुधार कराने की आवाज उठाने के लिए बहुत अनुकूल पाया। मैंने इसे अंग्रेजो की आपत्ति का समय समझकर माँगें पेश करना उचित न समझा और जबतक लड़ाई चल रही है तब तक हक माँगना मुलतवी रखने के संयम में सभ्यता और दीर्घ-दृष्टि समझी। इसलिए मैं अपनी सलाह पर मजबूत बना रहा और कहा कि जिन्हें स्वयं-सेवको में नाम लिखाना हो वे लिखा दें। नाम अच्छी संख्या में आये। उनमें लगभग सब प्रांतो और सब धर्मों के लोगों के नाम थे।

फिर लार्ड क्रू के नाम एक पत्र भेजा गया। उसमें हम लोगो ने

अपनी यह इच्छा और तैयारी प्रकट की कि हम हिन्दुस्तानियो के लिए घायल सिपाहियो की सेवा-शुश्रूषा करने की तालीम की यदि आवश्यकता दिखाई दे तो उसके लिए हम तैयार है। कुछ सलाह-मशवरा करने के वाद लार्ड क्रू ने हम लोगो का प्रस्ताव स्वीकार किया और इस वात के लिए हमारा अहसान माना कि हमने ऐसे ऐन मौके पर साम्राज्य की सहायता करने की तैयारी दिखाई।

जिन-जिन लोगो ने अपने नाम लिखाये थे। उन्होने प्रसिद्ध डाक्टर केन्टली की देख-रेख में घायलो की शुश्रूपा करने की प्राथमिक तालीम शुरू की। छ सप्ताह का छोटा-सा शिक्षा-क्रम रक्खा गया था और इतने समय में घायलो को प्राथमिक सहायता करने की सब विधियाँ सिखा दी जाती थी। हम कोई ८० स्वयसेवक इस शिक्षा-क्रम में सम्मिलित हुए। छ सप्ताह के वाद परीक्षा ली गई तो उसमें सिर्फ एक ही शख्स फेल हुआ। जो लोग पास हो गये उनके लिए सरकार की ओर से कवायद वगैरा सिखाने का प्रवन्ध हुआ। कवायद सिखाने का भार कर्नल वेकर को सौंपा गया और वह इस टुकडी के मुखिया वनाए गए।

इस समय विलायत का दृश्य देखने लायक था। युद्ध से लोग घवराते नही थे, वल्कि सब उसमें यथाशक्ति मदद करने के लिए जुट पड़े। जिनका शरीर हट्टा-कट्टा था, वे नवयुवक सैनिक शिक्षा ग्रहण करने लगे। परन्तु अशक्त वूढे और स्त्री आदि भी खाली हाथ न वैठे रहे। उनके लिए भी काम तो था ही। वे युद्ध में घायल सैनिक के लिए कपडा इत्यादि सीने-काटने काम करने लगी। वहाँ स्त्रियो का 'लाइसियम' नामक एक क्लव है। उसके सभ्यो ने सैनिक-विभाग के लिए आवश्यक कपडे यथाशक्ति वनाने का जिम्मा ले लिया। सरोजिनीदेवी भी इसकी सभ्य थी। उन्होने इसमें खूब दिलचस्पी ली थी। उनके साथ मेरा वह प्रथम ही परिचय था। उन्होने कपडे व्योतकर मेरे सामने उनका एक ढेर रख दिया और कहा कि जितने सिला सको, उतने सिलाकर मुझे दे देना। मैंने उनकी इच्छा का स्वागत करते हुए घायलो की शुश्रूपा की उस तालीम के दिनो में जितने कपडे तैयार हो सके उतने करके उनको दे दिये।

: ३९ :

धर्म की समस्या

युद्ध में काम करने के लिए हम कुछ लोगों ने सभा करके जो अपने नाम सरकार को भेजे, इसकी खबर दक्षिण अफ्रिका पहुँचते ही वहाँ से दो तार मेरे नाम आये। उनमें से एक पोलक का था। उन्होंने पूछा था—"आपका यह कार्य अहिंसा-सिद्धान्त के खिलाफ तो नहीं है?"

मैं ऐसे तार की आशंका कर ही रहा था, क्योंकि 'हिन्द-स्वराज्य' में मैंने इस विषय की चर्चा की थी और दक्षिण अफ्रिका में तो उसकी चर्चा निरन्तर हुआ ही करती थी। हम सब इस बात को मानते थे कि युद्ध अनीति-मय है। ऐसी हालत में और जब कि मैं अपने पर हमला करनेवाले पर भी मुकदमा चलाने के लिए तैयार नहीं हुआ था तो फिर जहाँ दो राज्यों में युद्ध चल रहा हो और जिसके भले या बुरे होने का मुझे पता न हो उसमें मैं सहायता कैसे कर सकता हूँ, यह प्रश्न था। हालाँकि मित्र लोग यह जानते थे कि मैंने बोअर-संग्राम में योग दिया था तो भी उन्होंने यह मान लिया था कि उसके बाद मेरे विचारों में परिवर्तन हो गया होगा।

और बात दरअसल यह थी कि जिस विचार-सरणि के अनुसार मैं बोअर-युद्ध में सम्मिलित हुआ था उसीका अनुसरण इस समय भी किया गया था। मैं ठीक-ठीक देख रहा था कि युद्ध में शरीक होना अहिंसा के सिद्धान्त के अनुकूल नहीं है, परन्तु बात यह है कि कर्तव्य का भान मनुष्य को हमेशा दिन की तरह स्पष्ट नहीं दिखाई देता। सत्य के पुजारी को बहुत बार इस तरह गोते खाने पड़ते हैं।

अहिंसा एक व्यापक वस्तु है। हम लोग ऐसे पामर प्राणी हैं, जो हिंसा की होली में फँसे हुए हैं। 'जीवो जीवस्य जीवनम्' यह बात असत्य नहीं है। मनुष्य एक क्षण भी बाहरी हिंसा किये बिना नहीं जी सकता।

खाते-पीते, बैठते-उठते, तमाम क्रियाओं में इच्छा से या अनिच्छा से कुछ-न-कुछ हिंसा वह करता ही रहता है। यदि इस हिंसा से छूट जाने का वह महान् प्रयास करता हो, उसकी भावना मे केवल अनुकम्पा हो, वह सूक्ष्म जन्तु का भी नाश न चाहता हो, और उसे बचाने का यथाशक्ति प्रयास करता हो, तो समझना चाहिए कि वह अहिंसा का पुजारी है। उसकी प्रवृत्ति में निरन्तर सयम की वृद्धि होती रहेगी, उसकी करुणा निरन्तर बढती रहेगी, परन्तु इसमें कोई सन्देह नही कि कोई भी देहधारी बाह्य हिंसा से सर्वथा मुक्त नही हो सकता।

फिर अहिंसा के पेट मे ही अद्वैत भावना का भी समावेश है। और यदि प्राणिमात्र में भेद-भाव हो तो एक के काम का असर दूसरे पर होता है और इस कारण भी मनुष्य हिंसा से सोलहों आना अछूत नही रह सकता। जो मनुष्य समाज में रहता है वह, अनिच्छा से ही क्यो न हो, मनुष्य-समाज की हिंसा का हिस्सेदार बनता है। ऐसी दशा में जब दो राष्ट्रो में युद्ध हो तो अहिंसा के अनुयायी व्यक्ति का यह धर्म है कि वह उस युद्ध को रुकवावे। परन्तु जो इस धर्म का पालन न कर सके, जिसे विरोध करने का सामर्थ्य न हो, जिसे विरोध करने का अधिकार न प्राप्त हुआ हो, वह युद्ध-कार्य में शामिल हो सकता है और ऐसा करते हुए भी उसमें से अपने को, अपने देश को और ससार को निकालने की हार्दिक कोशिश करता है।

मैं चाहता था कि अंग्रेजी राज्य के द्वारा अपनी, अर्थात् अपने राष्ट्र की, स्थिति का सुधार करूँ। पर मैं तो इग्लैण्ड में बैठा हुआ इग्लैण्ड की नौ-सेना से सुरक्षित था। उस बल का उपयोग इस तरह करके मैं उसकी हिंसकता मे सीधे-सीधे भागी हो रहा था। इसलिए यदि मुझे इस राज्य के साथ किसी तरह सम्बन्ध रखना हो, इस साम्राज्य के झण्डे के नीचे रहना हो, तो या तो मुझे युद्ध का खुल्लमखुल्ला विरोध करके जबतक उस राज्य की युद्ध-नीति नही बदल जाय तबतक सत्याग्रह-शास्त्र के अनुसार उसका बहिष्कार करना चाहिए, अथवा भग करने योग्य कानूनो का सविनय भग करके जेल का रास्ता लेना चाहिए, या उसके युद्ध-कार्य में शरीक

होकर उसका मुकाबला करने का सामर्थ्य और अधिकार प्राप्त करना चाहिए। विरोध की शक्ति मेरे अन्दर थी नहीं, इसलिए मैंने सोचा कि युद्ध में शरीक होने का एक रास्ता ही मेरे लिए खुला था।

जो मनुष्य बन्दूक धारण करता है और जो उसकी सहायता करता है, दोनों में अहिंसा की दृष्टि से कोई भेद नहीं दिखाई पड़ता। जो आदमी डाकुओं की टोली में उसकी आवश्यक सेवा करने, उसका भार उठाने, जब वह डाका डालता हो तब उसकी चौकीदारी करने, जब वह घायल हो तो उसकी सेवा करने का काम करता है, वह उस डकैती के लिए उतना ही जिम्मेदार है जितना कि खुद वह डाकू। इस दृष्टि से जो मनुष्य युद्ध में घायलों की सेवा करता है, वह युद्ध के दोषों से मुक्त नहीं रह सकता।

पोलक का तार आने के पहले ही मेरे मन में ये सब विचार उठ चुके थे। उनका तार आते ही मैंने कुछ मित्रों से इसकी चर्चा की। मैंने अपना धर्म समझकर युद्ध में योग दिया था और आज भी मैं विचार करता हूँ तो इस विचार-सरणि में मुझे दोष नहीं दिखाई पड़ता। ब्रिटिश-साम्राज्य के सम्बन्ध में उस समय जो विचार मेरे थे उनके अनुसार ही मैं युद्ध में शरीक हुआ था और इसलिए मुझे उसका कुछ भी पश्चात्ताप नहीं है।

मैं जानता हूँ कि अपने इन विचारों का औचित्य मैं अपने समस्त मित्रों के सामने उस समय भी सिद्ध नहीं कर सका था। यह प्रश्न सूक्ष्म है। इसमें मत-भेद के लिए गुंजाइश है। इसीलिए अहिंसा-धर्म को मानने वालें और सूक्ष्म-रीति से उसका पालन करनेवालों के सामने जितनी हो सकती है खोलकर मैंने अपनी राय पेश की है। सत्य का आग्रही व्यक्ति रूढ़ि का अनुसरण करके ही हमेशा कार्य नहीं करता, न वह अपने विचारों पर हठ-पूर्वक आरूढ़ रहता है। वह हमेशा उसमें दोष होने की सम्भावना मानता है और उस दोष का ज्ञान हो जाने पर हर तरह की जोखिम उठाकर भी उसको मजूर करता है और उसका प्रायश्चित्त भी करता है।

: ४० :

सत्याग्रह की चकमक

इस तरह अपना धर्म समझकर मै युद्ध में पडा तो सही, पर मेरे नसीब में यह नही बदा था कि उसमें सीधा भाग लूँ, बल्कि ऐसे नाजुक मौके पर सत्याग्रह तक करने की नौबत आ गई।

मैं लिख चुका हूँ कि जब हमारे नाम मजूर हो गय और लिखे जा चुके तब हमें पूरी कवायद सिखाने के लिए एक अधिकारी नियुक्त किया गया। हम सबकी यह समझ थी कि यह अधिकारी महज युद्ध की तालीम देने के लिए हमारे मुखिया थे, शेप सब बातो में टुकडी का मुखिया मै था। मेरे साथियो के प्रति मेरी जवाबदेही थी और उनकी मेरे प्रति। अर्थात् हम लोगो का खयाल था कि उस अधिकारी को सारा काम मेरी मार्फत लेना चाहिए। परन्तु जिस तरह 'पूत के पाँव पालने में ही नजर आते है' उस तरह उस अधिकारी की आँख हमें पहले ही दिन कुछ और ही दिखाई दी। सोराबजी बहुत होशियार आदमी थे। उन्होने मुझे चेताया, 'भाईसाहब, सम्हल कर रहना। यह आदमी तो मालूम होता है अपनी जहाँगीरी चलाना चाहता है। हमें उसका हुकम उठाने की जरूरत नही है। हम उसे अपना एक शिक्षक समझते है। यह तो ठीक, पर यह जो नौ-जवान आये है वे भी हमपर हुक्म चलाते हुए आये है।' यह नव-युवक आक्सफोर्ड के विद्यार्थी थे और हमें सिखाने के लिए आये थे। उन्हे बडे अफसर ने हमारे ऊपर अफसर मुकर्रर किया था। मै भी सोराबजी की बताई बात देख चुका था। मैंने सोराबजी को तसल्ली दिलाई और कहा—'कुछ फिकर मत करो।' परन्तु सोराबजी ऐसे आदमी नही थे, जो झट मान जाते।

"आप तो है भोले-भण्डारी। ये लोग मीठी-मीठी बाते बनाकर आप को धोखा देंगे और जब आपकी आँखें खुलेगी तब कहोगे—'चलो, अब

सत्याग्रह करो ।" और फिर आप हमें भी बरबाद कर देंगे ।" सोराबजी ने हँसते हुए कहा ।

मैंने जवाब दिया—"मेरा साथ करने में सिवा बरबादी के और क्या अनुभव हुआ है ? और सत्याग्रही का जन्म तो धोखा खाने के लिए ही हुआ है । इसलिए परवा नहीं अगर ये साहब मुझे धोखा दे दें । मैंने आपसे बीसों बार नहीं कहा है कि अन्त को वही धोखा खाता है, जो दूसरों को धोखा देता है ?"

यह सुनकर सोराबजी ने कहकहा लगाया—"तो अच्छी बात है, लो, धोखा खाया करो । इस तरह किसी दिन सत्याग्रह में मर मिटोगे और साथ-साथ हमको भी ले डूबोगे ।"

इन शब्दों को लिखते हुए मुझे स्वर्गीय मिस हाबहाउस के असहयोग के दिनों में लिखे बोल याद आते हैं—'आपको सत्य के लिए किसी दिन फाँसी पर लटकना पड़े तो आश्चर्य नहीं । ईश्वर आपको सन्मार्ग दिखावे और आपकी रक्षा करे ।' सोराबजी के साथ यह बात-चीत तो उस समय हुई थी जब उस अधिकारी की नियुक्ति का आरम्भ-काल था । परन्तु उस आरम्भ और अन्त का अन्तर थोड़े ही दिन का था । इसी बीच मुझे पसली में वरम की बीमारी जोर के साथ पैदा हो गई थी ।

चौदह दिन के उपवास के बाद अभी मेरा शरीर पनपा नहीं था, फिर भी मैं कवायद में पीछे नहीं रहता था । और कई बार घर से कवायद के मैदान तक पैदल जाता था, कोई दो मील दूर वह जगह थी । और उसीके फलस्वरूप मुझे बिछौने का सेवन करना पड़ा था ।

इसी स्थिति में मुझे केम्प में जाना पड़ता था । दूसरे लोग तो वहाँ रह जाते थे और मैं शाम को घर वापिस आ जाता । यहीं सत्याग्रह का अवसर खड़ा होगया था । उस अफसर ने अपनी हुकूमत चलाई । उसने हमें साफ-साफ कह दिया कि हर बात में मैं ही आपका मुखिया हूँ । उसने अपनी अफसरी के दो-चार पदार्थ पाठ भी हमें सिखाये । सोराबजी मेरे पास पहुँचे । वह इस 'जहाँगीरी' को बरदाश्त करने के लिए तैयार न थे । उन्होंने कहा—"हमें सब हुक्म आपकी मार्फत ही मिलने चाहिएँ । अभी

तो हम तालीमी छावनी में हैं, पर अभी से देखते है कि वेहूदे हुक्म छूटने लगे हैं। उन जवानो में और हममें बहुतेरी बातो में भेद-भाव रक्खा जाता है। यह हमें बरदाश्त नहीं हो सकता। इसकी सफाई तुरन्त होनी चाहिए, नही तो हमारा सब काम बिगड़ जायगा। ये सब विद्यार्थी तथा दूसरे लोग जो इस काम में शरीक हुए हैं, एक भी वेहूदा हुक्म बरदाश्त न करेगे। स्वाभिमान की रक्षा करने के उद्देश्य से जो काम हमने अगीकार किया है, उसमें यदि हमें अपमान ही सहन करना पडे तो यह नही हो सकता।"

मै उस अफसर के पास गया और मेरे पास जितनी शिकायतें आई थी, सब उसे सुनादी। उसने कहा—"ये सब शिकायतें मुझे लिखकर दे दो।" साथ ही उसने अपना अधिकार भी जताया। कहा—"शिकायत आपके मार्फत नही हो सकती। उन नायब अफसरो के मार्फत मेरे पास सीधी आनी चाहिए।" मैंने उत्तर में कहा—"मुझे अफसरी नही करना है। फौजी रूप में तो मै एक मामूली सिपाही ही हूँ। परन्तु हमारी टुकडी के मुखिया की हैसियत से आपको मुझे उनका प्रतिनिधि मजूर करना चाहिए।" मैंने अपने पास आई शिकायतें भी पेश की—"नायब अफसर हमारी टुकडी से बिना पूछे ही मुकर्रर किये गये है और उनके व्यवहार से हमारे अन्दर बहुत असन्तोष फैल गया है। इसलिए उनको वहाँ से हटा दिया जाय और हमारी टुकडी को अपना मुखिया चुनने का अधिकार दिया जाय।"

पर यह बात उनको जँची नही। उन्होने मुझसे कहा कि टुकडी का अपने अफसरो को चुनना ही फौजी कानून के खिलाफ है और यदि उस अफसर को हटा दिया जाय तो टुकडी में आज्ञा-पालन का नाम-निशान न रह जायगा।

इसपर हमने अपनी टुकडी की सभा की और उसमें सत्याग्रह के गम्भीर परिणामो की ओर सबका ध्यान दिलाया। लगभग सबने सत्याग्रह की सौगन्ध खाई। हमारी सभा ने प्रस्ताव किया कि यदि ये वर्तमान अफसर नही हटाये गये और टुकडी को अपना मुखिया पसन्द न करने दिया गया तो हमारी टुकडी कवायद में और केम्प में जाना बन्द कर देगी।

अब मैंने अफसर को एक पत्र लिखकर उसमें उसके रवैये पर अपना घोर असन्तोष प्रकट किया और कहा कि मुझे अधिकार की जरूरत नहीं है। मैं तो केवल सेवा करके इस काम को सांगोपांग पूरा करना चाहता हूँ। मैंने उन्हें यह भी बताया कि बोअर-संग्राम में मैंने कभी अधिकार नहीं पाया था। फिर भी कर्नल गेलवे और हमारी टुकड़ी में कभी झगड़े का मौका नहीं आया था और वह मेरे द्वारा ही मेरी टुकड़ी की इच्छा जानकर सब काम करते थे। इस पत्र के साथ उस प्रस्ताव की नकल भी भेज दी थी।

किन्तु उस अफसर पर इसका कुछ भी असर न हुआ। उसका तो उलटा यह खयाल हुआ कि सभा करके हमारी टुकड़ी ने जो यह प्रस्ताव पास किया है, वह भी सैनिक नियम और मर्यादा का भारी उल्लघन था।

उसके बाद भारत-मत्री को मैंने एक पत्र में ये सब बातें लिख दीं और हमारी सभा का प्रस्ताव भी उनके पास भेज दिया।

भारत-मन्त्री ने मुझे उत्तर में सूचित किया कि दक्षिण अफ्रिका की हालत दूसरी थी। यहाँ तो टुकड़ी के बड़े अफसर को नायब अफसर मुकर्रर करने का हक है। फिर भी भविष्य में वे अफसर आपकी सिफारिशों पर ध्यान दिया करेंगे।

उसके बाद तो उनके-मेरे बीच बहुत पत्र-व्यवहार हुआ है। परन्तु उन सब कड़वे अनुभवों का वर्णन यहाँ करके इस अध्याय को मैं लम्बा करना नहीं चाहता।

परन्तु इतना तो कहे बिना नहीं रहा जा सकता कि वे अनुभव वैसे ही थे, जैसे कि रोज हमें हिन्दुस्तान में होते रहते हैं। अफसरों ने कहीं धमका कर, कहीं तरकीब से काम लेकर, हमारे अन्दर फूट डाल दी। कसम खाने के बाद भी कितने ही लोग छल और बल के शिकार होगये।

इतने ही में नेटली अस्पताल में एकाएक घायल सिपाही अकल्पित सख्या में आ पहुँचे और इनकी शुश्रूषा के लिए हमारी सारी टुकड़ी की जरूरत पड़ी। अफसर जिनको अपनी ओर कर सके थे वे तो नेटली पहुँच गये पर दूसरे लोग न गये। इण्डिया आफिस को यह बात अच्छी न लगी।

मैं था तो बीमार और बिछौने पर पड़ा रहता था, परन्तु टुकड़ी के लोगों से मिलता रहता था। मि० रावर्ट्स से मेरा काफी परिचय हो गया था। वह मुझसे मिलने आ पहुँचे और जो लोग बाकी रह गये थे उन्हें भी भेजने का आग्रह करने लगे। उनकी सूचना यह थी कि वे एक अलग टुकड़ी बनाकर जावें। नेटली अस्पताल में तो टुकड़ी को वहीं के अफसर के तात्रे रहना होगा, इसलिए मानहानि का भी सवाल नहीं रहेगा। इधर सरकार को उनके जाने से संतोष हो जायगा और उधर जो बहुतेरे जख्मी एकाएक आ गये हैं, उनकी भी शुश्रूषा हो जायगी। मेरे साथियों और मुझको यह तजवीज पसन्द हुई और जो विद्यार्थी रह गये थे वे भी नेटली चले गये। अकेला मैं दांत पीसता बिछौने में पड़ा रहा।

: ४१ :

गोखले की उदारता

ऊपर मैं लिख आया हूं कि विलायत में मुझे पसली के दर्द की शिकायत हो गई थी। इस बीमारी के वक्त गोखले विलायत में आ पहुँचे थे। उनके पास केलनबेक और मैं हमेशा जाया करते। उनसे अधिकांश में युद्ध की ही बातें हुआ करतीं। जर्मनी का भूगोल केलनबेक की जबान पर था, और यूरोप की यात्रा भी उन्होंने बहुत की थी, इसलिए वह नक्शा फैलाकर गोखले को लड़ाई की छावनियां दिखाते।

जब मैं बीमार हुआ था तब मेरी बीमारी भी हमारी चर्चा का एक विषय हो गई थी। भोजन के प्रयोग तो उस समय भी मेरे चल ही रहे थे। उस समय मैं मूंगफली, कच्चे और पक्के केले, नींबू, जैतून का तेल टमाटर, अंगूर इत्यादि चीजें खाता था। दूध, अनाज, दाल वगैरा चीजें बिलकुल न लेता था। मेरी देखभाल जीवराज मेहता करते थे। उन्होंने मुझे दूध और अनाज लेने पर बड़ा जोर दिया। इसकी शिकायत ठेठ गोखले तक पहुँची। फलाहार सम्बन्धी मेरी दलीलों के वह बहुत कायल न थे। तन्दुरुस्ती की हिफाजत के लिए डॉक्टर जो-जो बतावें वह लेना चाहिए, यही उनका मत था।

गोखले के आग्रह को न मानना मेरे लिए बहुत कठिन बात थी। जब उन्होंने बहुत ही जोर दिया तब मैंने उनसे २४ घण्टे तक विचार करने की इजाजत माँगी। केलनबेक और मैं घर आये। रास्ते में मैंने उनके साथ चर्चा की कि इस समय मेरा क्या धर्म है। मेरे प्रयोग में वह मेरे साथ थे। उन्हें यह प्रयोग पसन्द भी था। परन्तु उनका रुख इस बात की तरफ था कि यदि स्वास्थ्य के लिए मैं इस प्रयोग को छोड़ दूँ तो ठीक होगा। इसलिए अब अपनी अन्तरात्मा की आवाज का फैसला लेना ही बाक़ी रह गया था।

सारी रात मैं विचार में डूबा रहा। अब यदि मैं अपना सारा प्रयोग छोड़ दूँ तो मेरे सारे विचार और मन्तव्य धूल में मिल जाते थे। फिर उन विचारों में मुझे भूल नहीं मालूम होती थी। इसलिए प्रश्न यह था कि किस अंश तक गोखले के प्रेम के अधीन होना मेरा धर्म है, अथवा शरीर-रक्षा के लिए ऐसे प्रयोग किस तरह छोड़ देना चाहिए। अन्त को मैंने यह निश्चय किया कि धार्मिक दृष्टि से प्रयोग का जितना अंश आवश्यक है उतना रक्खा जाय और शेष बातों में डाक्टरों की आज्ञा का पालन किया जाय। मेरे दूध त्यागने में धर्म-भावना की प्रधानता थी। कलकत्ते में गाय-भैंस का दूध जिन घातक विधियों द्वारा निकाला जाता है उनका दृश्य मेरी आँखों के सामने था। फिर यह विचार भी मेरे सामने था कि मांस की तरह पशु का दूध भी मनुष्य की खूराक नहीं हो सकती। इसलिए दूध-त्याग पर दृढ़ निश्चय करके मैं सुबह उठा। इस निश्चय से मेरा दिल बहुत हल्का होगया था, किन्तु फिर भी गोखले का भय तो था ही। किन्तु साथ ही मुझे यह भी विश्वास था कि वह मेरे निश्चय को तोड़ने का उद्योग न करेंगे।

शाम को 'नेशनल लिबरल क्लब' में हम उनसे मिलने गये, उन्होंने तुरन्त पूछा—"क्यों डाक्टर की सलाह के अनुसार ही चलने का निश्चय किया?"

मैंने धीरे से जवाब दिया—"और सब बातें मैं मान लूँगा, परन्तु आप एक बात पर ज़ोर न दीजिएगा। दूध और दूध की बनी चीज़ें और

मास इतनी चीजें मै न लूंगा। और इनके न लेने से यदि मौत भी आती है तो में समझता हूं उसका स्वागत कर लेना मेरा धर्म है।"

"आपने यह अन्तिम निर्णय कर लिया है ?" गोखले ने पूछा।

"मैं समझता हूं कि इसके सिवा मैं आपको दूसरा उत्तर नहीं दे सकता। मैं जानता हूं कि इससे आपको दुःख होगा। परन्तु मुझे क्षमा कीजिएगा।" मैंने जवाब दिया।

गोखले ने कुछ दुःख से, परन्तु बड़े ही प्रेम से कहा—"आपका यह निश्चय मुझे पसन्द नहीं। मुझे इसमें धर्म की कोई बात नहीं दिखाई देती। पर अब मैं इस बात पर जोर न दूंगा।" यह कहते हुए जीवराज मेहता की ओर मुखातिब होकर उन्होंने कहा—"अब गांधी को ज्यादा दिक न करो। उन्होंने जो मर्यादा बांध ली है उसके अन्दर इन्हें जो-जो चीजें ली जा सकती है वही देनी चाहिएं।"

डाक्टर ने अपनी अप्रसन्नता प्रकट की, पर वह लाचार थे। मुझे मूंग का पानी लेने की सलाह दी। कहा—"उसमें हींग का बघार दे लेना।" मैंने इसे मजूर कर लिया। एक-दो दिन मैंने वह पानी लिया भी, परन्तु इससे उलटा मेरा दर्द बढ गया। मुझे वह मुआफिक नहीं हुआ। इससे मैं फिर फलाहार पर आगया। ऊपर के इलाज तो डाक्टर ने जो मुनासिब समझे किये ही। उससे अलबत्ता आराम था। परन्तु मेरी इन मर्यादाओं पर वह बहुत बिगड़ते। इसी बीच गोखले देश (भारतवर्ष) को रवाना हुए, क्योंकि वह लन्दन का अक्तूबर-नवम्बर का कोहरा सहन नहीं कर सके।

: ४२ :

इलाज क्या किया ?

पसली का दर्द मिट नहीं रहा था। इससे मेरी चिन्ता बढ़ी। पर मैं इतना जरूर जानता था कि दवा-दारू से नहीं, बल्कि भोजन में परिवर्तन करने से और कुछ बाह्य उपचार से बीमारी जरूर अच्छी हो जानी चाहिए।

१८९० ई० में मैं डाक्टर एलिन्सन से मिला था, जोकि फलाहारी थे और भोजन के परिवर्तन द्वारा ही बीमारियो का इलाज करते थे। मैंने उन्हे बुलाया। उन्होने आकर मेरा शरीर देखा। तब मैंने उनसे अपने दूध के विरोध का जिक्र किया। उन्होंने मुझे दिलासा दिलाया और कहा "दूध की कोई जरूरत नही। मैं तो आपको कुछ दिन ऐसी ही खुराक पर रखना चाहता हूँ, जिसमें किसी तरह चर्बी का अश न हो।" यह कहकर पहले तो मुझे सिर्फ सूखी रोटी, कच्चे शाक और फल पर ही रहने को कहा। कच्चे शाको में मूली, प्याज तथा इसी तरह की दूसरी चीजें और सब्जी एव फलो में खासकर नारगी। इन शाको को कस कर या पीस कर खाने की विधि बताई थी। कोई तीनेक दिन इसपर रहा होऊँगा। परन्तु कच्चे शाक मुझे बहुत मुआफिक नही हुए। मेरे शरीर की हालत ऐसी नही थी कि वह प्रयोग विधि-पूर्वक किया जा सके, और न उस समय मेरा इस बात पर विश्वास ही था। इसके अलावा उन्होने इतनी बाते और बताईं। चौबीसो घण्टे खिडकी खुली रखना, रोज गुनगुने पानी से नहाना, दर्द की जगह पर तेल मलना और पाव-आध घण्टे तक खुली हवा में घूमना। यह सब मुझे पसन्द आया। घर में खिडकियाँ फ्रेंच-तर्ज की थी। उनको सारा खोल देने से अन्दर वर्षा का पानी आता था। ऊपर का रोशनदान ऐसा नही था जो खुल सकता। इसलिए उसके काँच तुडवाकर वहाँ से चौबीसो घण्टे हवा आने का रास्ता कर लिया। जब पानी नही बरसता था तब फ्रेंच खिडकियाँ भी खोल लेता था।

इतना सब करने से स्वास्थ्य कुछ सुधरा जरूर। अभी बिलकुल अच्छा तो नहीं हो पाया था। कभी-कभी लेडी सिसिलीया राबर्ट्स मुझे देखने आती। उनसे मेरा अच्छा परिचय होगया था। उनकी प्रबल इच्छा थी कि मैं दूध पिया करूँ। सो तो मैं करता नही था। इसलिए उन्होंने दूध के गुण वाले पदार्थों की छानबीन शुरू की। उनके किसी मित्र ने 'माल्टेड मिल्क' बताया और अनजान में ही उन्होंने कह दिया कि इसमें दूध का लेशमात्र नही है, बल्कि रासायनिक विधि से बनाई दूध के गुण

रखनेवाली वस्तुओं की बुकनी है। मैं यह जान चुका था कि लेडी रॉबर्ट्स मेरी धार्मिक भावनाओं को बड़े आदर की दृष्टि से देखती थी। इस कारण मैंने उस बुकनी को पानी में डालकर पिया तो मुझे उसमें दूध जैसा ही स्वाद आया। अब मैंने 'पानी पीकर घर पूछने' जैसी बात की। पी चुकने के बाद बोतल पर लगी चिट को पढा तो मालूम हुआ कि यह तो दूध की ही बनावट है। इसलिए एक ही बार पीकर उसे छोड देना पडा। लेडी राबर्ट्स को मैंने इसकी खबर की और लिखा कि आप जरा भी चिन्ता न करें। सुनते ही वह मेरे घर दौड आईं और इस भूल पर बड़ा अफसोस प्रकट किया। उनके मित्र ने बोतलवाली चिट पढी ही नहीं थी। मैंने इस भली बहन को तसल्ली दी और इस बात के लिए उनसे माफी माँगी कि जो चीज इतने कष्ट के साथ आपने भिजवाई, उसे मैं ग्रहण न कर सका। और मैंने उनसे यह भी कह दिया कि मैंने तो अनजान में यह बुकनी ली है सो इसके लिए मुझे पश्चात्ताप या प्रायश्चित्त करने का कोई कारण नहीं है।

लेडी राबर्ट्स के साथ के और भी मधुर सस्मरण है तो, पर उन्हें मैं यहाँ छोड ही देना चाहता हूँ। ऐसे तो बहुतसे सस्मरण हैं जिनका महान् आनन्द मुझे बहुत विपत्तियों और विरोध में भी मिल सका है। श्रद्धावान् मनुष्य ऐसे मीठे सस्मरणों में यह देखता है कि ईश्वर जिस तरह दु ख रूपी कडवी औषध देता है उसी तरह वह मैत्री के मीठे अनुपान भी उसके साथ देता है।

दूसरी बार जब डाक्टर एलिन्सन देखने आये तो उन्होंने और भी चीजों के खाने की छुट्टी दी और शरीर में चर्बी बढाने के लिए मूँगफली आदि सूखे मेवों के बीजों का मक्खन अथवा जैतून का तेल लेने के लिए कहा। कच्चे शाक मुआफिक न हो तो उन्हें पकाकर चावल के साथ लेनें की सलाह दी। यह तजवीज मुझे बहुत मुआफिक हुई।

परन्तु बीमारी बिलकुल निर्मूल न हुई। सम्हाल रखने की जरूरत तो अभी थी ही। अभी बिछौने पर ही पडा रहना पडता था। डाक्टर मेहता बीच-बीच में आकर देख जाया करते थे। और जब आते तभी

हमने तीसरे दरजे का टिकट लेने की कोशिश की, परन्तु 'पी एण्ड ओ' के जहाज में तीसरे दरजे का टिकट नही मिलता था, इसलिए दूसरे दरजे का लेना पडा। दक्षिण अफ्रिका से हम कितना ही ऐसा फलाहार साथ बाँध लाये थे जो जहाजो में नही मिल सकता। वह हमने साथ रख लिया था और दूसरी चीजें तो जहाज में मिलती थी।

डाक्टर मेहता ने मेरे शरीर को मीट्स प्लास्टर के पट्टे से बाँध दिया था और मुझे कहा था कि पट्टा बँधा रहने देना। दो दिन के बाद वह मुझे सहन न हो सका और बडी मुश्किल के बाद मैंने उसे उतार डाला और नहाने-धोने भी लगा। फल और मेवे के सिवाय और कुछ नही खाता था। इससे तबियत दिन-दिन सुधरने लगी और स्वेज की खाडी में पहुँचने तक तो अच्छी हो गई। यद्यपि इससे शरीर कमजोर हो गया था फिर भी बीमारी का भय मिट गया था। और मैं रोज धीरे-धीरे कसरत बढाता गया। स्वास्थ्य में यह शुभ परिवर्तन तो मेरा यह खयाल है कि समशीतोष्ण हवा के बदौलत ही हुआ।

पुरानें अनुभव अथवा और किसी कारण से हो अग्रेज यात्रियो के और हमारे अन्दर जो अन्तर मैंने देखा वह दक्षिण अफ्रिका से आते हुए भी नही देखा था। वहाँ भी अन्तर तो था, परन्तु यहाँ उससे और ही प्रकार का भेद दिखाई दिया। किसी-किसी अग्रेज के साथ बातचीत होती, परन्तु वह भी 'साहब-सलामत' से आगे नही। हार्दिक भेंट नही होती थी। किन्तु दक्षिण अफ्रिका के जहाज में और दक्षिण अफ्रिका में हार्दिक भेंट हो सकती थी। इस भेद का कारण तो मैं यही समझा कि इधर के जहाजो में अग्रेजो के मन में यह भाव कि 'हम शासक है' और हिन्दुस्तानियो के मन में यह भाव कि 'हम गैरो के गुलाम है' जान में या अनजान में काम कर रहा था।

ऐसे वातावरण में से जल्दी छूटकर देश पहुँचने के लिए मैं आतुर हो रहा था। अदन पहुँचने पर ऐसा भास हुआ मानो थोडे-बहुत घर आ गये है। अदन वालो के साथ दक्षिण अफ्रिका में ही हमारा अच्छा सम्बन्ध बँध गया था, क्योकि भाई कैकोबाद कावसजी दीनशा डरबन आ गये थे

और उनके तथा उनकी पत्नी के साथ मेरा अच्छा परिचय हो चुका था। थोड़े ही दिन में हम बम्बई आ पहुँचे। जिस देश में मैं १९०५ में लौटने की आशा रखता था वहाँ १० वर्ष बाद पहुँचने से मेरे मन को बड़ा आनन्द हो रहा था। बम्बई में गोखले ने स्वागत वगैरा का प्रबन्ध कर ही डाला था। उनकी तबियत नाजुक थी। फिर भी वह बम्बई आ पहुँचे थे। उनकी मुलाक़ात करके उनके जीवन में मिल जाकर अपने सिर का बोझ उतार डालने की उमंग से मैं बम्बई पहुँचा था, परन्तु विधाता ने कुछ और ही रचना रच रक्खी थी।

'मेरे मन कछु और है, कर्ता के कछु और।'

: ४४ :

वकालत की कुछ स्मृतियाँ

हिन्दुस्तान में आने के बाद मेरे जीवन का प्रवाह किस ओर किस तरह बहा—इसका वर्णन करने के पहले कुछ ऐसी बातों का वर्णन करने की जरूरत मालूम होती है, जो मैंने जान-बूझकर छोड़ दी थीं। कितने ही वकील मित्रों ने चाहा है कि मैं अपने वकालत के दिनों के और एक वकील की हैसियत से अपने कुछ अनुभव सुनाऊँ। अनुभव इतने ज्यादा हैं कि यदि सबको लिखने बैठूँ तो उन्हीं से एक पुस्तक भर जायगी। परन्तु ऐसे वर्णन इस पुस्तक के विषय की मर्यादा के बाहर चले जाते हैं। इसलिए यहाँ केवल उन्हीं अनुभवों का वर्णन करना उचित होगा, जिनका सम्बन्ध सत्य से है।

जहाँ तक मुझे याद है, मैं यह बता चुका हूँ कि वकालत करते हुए मैंने कभी असत्य का प्रयोग नहीं किया और वकालत का एक बड़ा हिस्सा केवल लोक-सेवा के लिए ही अर्पित कर दिया था एवं उसके लिए मैं जेब-खर्च से अधिक कुछ नहीं लेता था और कभी-कभी तो वह भी छोड़ देता था। मैं यह मानकर चला था कि इतनी प्रतिज्ञा इस विभाग के लिए काफी है। परन्तु मित्र लोग चाहते हैं कि इससे भी कुछ आगे की

बाते लिखूँ, क्योकि उनका खयाल है कि यदि मै ऐसे प्रसगो का थोडा-बहुत भी वर्णन करूँ कि जिनमें मै सत्य की रक्षा कर सका, तो उससे वकीलो को कुछ जानने योग्य बातें मिल जायँगी।

मै अपने विद्यार्थी-जीवन से ही यह बात सुनता आ रहा हूँ कि वकालत में बिना झूठ बोले काम नही चल सकता। परन्तु मुझे तो झूठ बोलकर न तो कोई पद प्राप्त करना था, न कुछ धन जुटाना था।

दक्षिण अफ्रिका में इसकी कसौटी के मौके बहुत बार आये। मै जानता था कि हमारे विपक्ष के गवाह लिखा-पढाकर लाये गये है और मै यदि थोडा भी अपने मवक्किल को या गवाह को झूठ बोलने में उत्साहित करूँ तो मेरा मवक्किल जीत सकता है, परन्तु मैने हमेशा इस लालच को पास नही फटकने दिया। ऐसे एक ही प्रसग का स्मरण मुझे होता है कि जब मेरे मवक्किल की जीत हो जाने के बाद मुझे ऐसा शक हुआ कि उसने मुझे धोखा दिया। मेरे अन्त करण में भी हमेशा यही भाव रहा करता कि यदि मेरे मवक्किल का पक्ष सच्चा हो तो उसकी जीत हो और झूठा हो तो उसकी हार हो। मुझे यह नही याद पडता कि मैने अपनी फीस की दर मामले की हार-जीत पर निश्चित की हो। मवक्किल की हार हो या जीत, मै तो हमेशा इसका मिहनताना ही माँगता और जीत होने के बाद भी उसी की आशा रखता। मवक्किल को भी पहले ही कह देता कि यदि मामला झूठा हो तो मेरे पास न आना। गवाहो को बनाने का काम करने की आशा मुझसे न रखना। आगे जाकर तो मेरी ऐसी साख बढ गई थी कि कोई झूठा मामला मेरे पास लाता ही नही था। ऐसे मवक्किल भी मेरे पास थे जो अपने सच्चे मामले ही मेरे पास लाते और जिनमें जरा भी गन्दगी होती तो वे दूसरे वकील के पास ले जाते। एक ऐसा समय भी आया था कि जिसमें मेरी बड़ी कडी परीक्षा हुई। एक मेरे अच्छे-से-अच्छे मवक्किल का मामला था। उसमें जमा-खर्च की बहुतेरी उलझने थी। बहुत समय से मामला चल रहा था। कितनी ही अदालतो में उसके कुछ-कुछ हिस्से गये थे। अन्त को अदालत द्वारा नियुक्त हिसाब-परीक्षक पचो के जिम्मे उसका हिसाब

सौंपा गया था। पंच के ठहराव के अनुसार मेरे मवक्किल की पूरी जीत होती थी, परन्तु उसके हिसाब में एक छोटी-सी परन्तु भारी भूल रह गई थी। जमा-नामे की रकम पंच की भूल से उल्टी लिख दी गई थी। विपक्षी ने इस पंच के फैसले को रद्द करने की दरख्वास्त दी थी। मेरे मवक्किल की तरफ से मैं छोटा वकील था। बड़े वकील ने पंच की भूल देख ली थी, परन्तु उनकी राय यह थी कि पंच की भूल क़बूल करने के लिए मवक्किल बाध्य नहीं था; उनकी यह साफ राय थी कि अपने खिलाफ जानेवाली किसी बात को मंजूर करने के लिए कोई वकील बाध्य नहीं है। पर मैंने कहा, इस मामले की भूल तो हमें क़बूल करनी ही चाहिए।

बड़े वकील ने कहा—"यदि ऐसा करें तो इस बात का पूरा अन्देशा है कि अदालत इस सारे फैसले को रद्द कर दे और कोई भी समझदार वकील अपने मवक्किल को ऐसी जोखिम में नहीं डालेगा। मैं तो ऐसी जोखिम उठाने के लिए कभी तैयार न होऊँगा। यदि मामला उलट जाय तो मवक्किल को कितना खर्च उठाना पड़े और अन्त को कौन कह सकता है कि नतीजा क्या हो?"

इस बातचीत के समय हमारे मवक्किल भी मौजूद थे।

मैंने कहा, "मैं तो समझता हूँ कि मवक्किल को और हम लोगों को ऐसी जोखिम जरूर उठानी चाहिए। फिर इस बात का भी क्या भरोसा कि अदालत को भूल मालूम हो जाय और हम उसे मंजूर न करें तो भी वह भूल-भरा फैसला क़ायम ही रहेगा और यदि भूल सुधारते हुए मवक्किल को नुकसान सहना पड़े तो क्या हर्ज है?"

"पर यह तो तभी न होगा जब हम भूल क़बूल करें?" बड़े वकील बोले।

"हम यदि मंजूर न करें तो भी अदालत उसे न पकड़ लेगी अथवा विपक्षी भी उनको न देख लेंगे इस बात का क्या निश्चय?" मैंने उत्तर दिया।

"तो इस मुक़दमे में आप बहस करने जायेंगे? भूल मंजूर करने

की शर्त पर मैं बहस करने के लिए तैयार नही।" बड़े वकील ने दृढ़ता के साथ कहा।

मैंने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया, "यदि आप न जायँगे और मवक्किल चाहेंगे तो मैं जाने के लिए तैयार हूँ। यदि भूल क़बूल न की जाय तो इस मुकदमे में मेरे लिए काम करना असम्भव है।"

इतना कहकर मैंने मवक्किल के मुँह की ओर देखा। वह ज़रा झुँझलाये। क्योकि इस मुकदमे में मैं शुरू से ही था और उनका मुझपर पूरा-पूरा विश्वास था। वह मेरी प्रकृति से भी पूरे-पूरे वाकिफ थे। इसलिए उन्होंने कहा—"तो अच्छी बात है, आप ही बहस करने जाइए। शौक से भूल मान लीजिए। हार ही नसीब में लिखी होगी तो हार जायँगे। आखिर साँच को आँच क्या ?"

यह देखकर मुझे बड़ा आनन्द हुआ। मैंने दूसरे उत्तर की आशा ही नही रक्खी थी। बड़े वकील ने मुझे खूब चेताया और मेरी 'हठ धर्मी' के लिए मुझपर तरस खाया और साथ ही धन्यवाद भी दिया।

अब अदालत में क्या हुआ सो अगले अध्याय में।

: ४५ :

चालाकी ?

मेरी इस सलाह के औचित्य के विषय में मेरे मन में बिलकुल सन्देह न था, परन्तु इस बात की मेरे मन में ज़रूर हिचकिचाहट थी कि मैं इस मुकदमे में योग्यतापूर्वक बहस कर सकूँगा या नही। ऐसे जोखिम-वाले मुकदमे में बड़ी अदालत में मेरा बहस-करने के लिए जाना मुझे बहुत भयावह मालूम हुआ। मैं मन में बहुत डरते और काँपते हुए न्यायाधीशो के सामने खड़ा रहा। ज्योंही इस भूल की बात निकली, त्योंही एक न्यायाधीश कह बैठे—

"क्या यह चालाकी नही है ?"

यह सुनकर मेरी त्यौरी बदली। जहाँ चालाकी की बू तक नही थी

वहां उसका शक आना मुझे असह्य मालूम हुआ। मैंने मन में सोचा कि जहां पहले ही से न्यायाधीश का खयाल खराब है, वहां इस झमेले में कैसे जीत होगी ?

पर मैंने अपने गुस्से को दवाया और शान्त होकर जवाब दिया—

"मुझे आश्चर्य होता है कि आप पूरी बातें सुनने के पहले ही चालाकी का इलज़ाम लगाते हैं !"

"मैं इलज़ाम नहीं लगाता, सिर्फ़ अपनी शंका प्रकट करता हूं।" वह न्यायाधीश बोले।

"आपकी यह शंका ही मुझे तो इलज़ाम जैसी मालूम होती है। मेरी सब बातें पहले सुन लीजिए और फिर यदि कहीं शंका के लिए जगह हो तो आप अवश्य शंका उठावें"—मैंने उत्तर दिया।

"मुझे अफ़सोस है कि मैंने आपके बीच में बाधा डाली। आप अपना स्पष्टीकरण कीजिए।" शान्त होकर न्यायाधीश बोले।

मेरे पास स्पष्टीकरण के लिए पूरा-पूरा मसाला था। मामले की शुरुआत में ही शंका उठ खड़ी हुई और मैं जज को अपनी दलील का क़ायल कर सका। इससे मेरा हौंसला बढ़ गया। मैंने उसे सब बातें ब्यौरेवार समझाईं। जज ने मेरी बात धीरज के साथ सुनी और अन्त को वह समझ गये कि यह भूल महज़ भूल ही थी और बड़े परिश्रम से तैयार किये इस हिसाब को रद्द करना उन्हें अच्छा न मालूम हुआ।

विपक्ष के वकील को तो यह विश्वास ही था कि इस भूल के मान लिये जाने पर तो उन्हें बहुत बहस करने की ज़रूरत न रहेगी। परन्तु न्यायाधीश ऐसी भूल के लिए जो स्पष्ट हो गई है और सुधर सकती है, पंच के फ़ैसले को रद्द करने के लिए बिलकुल तैयार न थे। विपक्ष के वकील ने बहुत माथा-पच्ची की, परन्तु जिस जज ने शंका उठाई थी वही मेरे हिमायती हो बैठे।

"मि० गांधी ने भूल क़बूल न की होती तो आप क्या करते ?" न्यायाधीश ने पूछा।

"जिन हिसाब-विशारदों को हमने नियुक्त किया उनसे अधिक होशि-

यार या ईमानदार जानकारो को हम कहाँ से ला सकते है ?"

"हमें मानना होगा कि आप अपने मुकदमे की असलियत अच्छी तरह जानते हैं। बड़े-से-बड़े हिसाब के अनुभवी भूल कर सकते हैं। और इस भूल के अलावा यदि कोई दूसरी भूल बता सके तो फिर कानून की कमजोर बातो का सहारा लेकर अदालत दोनो फरीकैन को फिर से खर्च में डालने के लिए तैयार नहीं हो सकती। और यदि आप कहें कि अदालत ही फिर नये सिरे से इस मुकदमे की सुनवाई करे तो यह नही हो सकता।"

इन तथा इस तरह की दूसरी दलीलो से वकील को शान्त करके उस भूल को सुधारकर फिर अपना फैसला भेजने का हुक्म पच के नाम लिखकर न्यायाधीश ने उस फैसले को बर-करार रक्खा।

इससे मेरे हर्ष का पार न रहा। क्या मेरे मवक्किल और क्या बड़े वकील दोनो खुश हुए और मेरी यह धारणा और भी दृढ हो गई कि वकालत में भी सत्य का पालन करके सफलता मिल सकती है।

परन्तु पाठक इस बात को न भूले कि जो वकालत पेशे के तौर पर की जाती है उसकी मूलभूत बुराइयो को यह सत्य की रक्षा छिपा नही सकती।

: ४६ :

मवक्किल साथी बने

नेटाल और ट्रान्सवाल की वकालत में भेद था। नेटाल में एडवोकेट और अटर्नी ये दो विभाग होते हुए भी दोनो तमाम अदालतो में एक साथ वकालत कर सकते थे। परन्तु ट्रान्सवाल में बम्बई की तरह भेद था। वहाँ एडवोकेट सारा काम अटर्नी के मार्फत ही कर सकता था। जो बैरिस्टर होगया हो वह एडवोकेट अथवा अटर्नी किसी भी एक के काम की सनद ले सकता है और फिर वही एक काम कर सकता था। नेटाल में मैंने एडवोकेट की सनद ली थी और ट्रान्सवाल में अटर्नी

यदि एडवोकेट की ली होती तो मै वहां के हिन्दुस्तानियो के सीधे सम्पर्क में न आ पाता और दक्षिण अफ्रिका में ऐसा वातावरण भी नही था कि गोरे अटर्नी मुझे मुकदमे ला-लाकर देते।

ट्रान्सवाल में इस तरह वकालत करते हुए मजिस्ट्रेट की अदालत में मै वहुत वार जा सकता था। ऐसा करते हुए एक मौका ऐसा आया कि मुक़दमे की सुनवाई के वीच में मुझे पता चला कि मवक्किल ने मुझे धोखा दिया है। उसका मुक़दमा झूठा था। वह कटघरे में खड़ा हुआ तो मानो गिरा पडता था। इससे मै मजिस्ट्रेट को यह कहकर वैठ गया कि आप मेरे मवक्किल के खिलाफ फैसला दीजिए। विपक्ष का वकील यह देखकर दग रह गया। मजिस्ट्रेट खुश हुआ। मैंने मवक्किल को वडा उलहाना दिया। क्योकि उसे पता था कि मै झूठे मुकदमे नही लेता था। उसने भी यह वात मजूर की और मै समझता हूँ कि उसके खिलाफ फैसला होने से वह मुझसे नाराज नही हुआ। जो हो। पर इतना जरूर है कि मेरे सत्य व्यवहार का कोई वुरा असर मेरे पेशे पर नही हुआ और अदालत में मेरा काम वडा सरल होगया। मैंने यह भी देखा कि मेरी इस सत्य-पूजा की वदौलत वकील-वन्धुओ मे भी मेरी प्रतिष्ठा वढ गई थी और परिस्थिति की विचित्रता के रहते हुए भी मै उनमें से कितनो ही की प्रीति सम्पादन कर सका था।

वकालत करते हुए मैंने अपनी एक ऐसी आदत भी डाल ली थी कि मै अपना अज्ञान न मवक्किल से छिपाता, न वकीलो से। जहाँ वात मेरी समझ में नहीं आती वहाँ मै मवक्किल को दूसरे वकीलो के पास जाने को कहता अथवा यदि वे मुझे ही वकील वनाते तो अधिक अनुभवी वकील की सलाह लेकर काम करने की प्रेरणा करता। अपने इस शुद्ध भाव की वदौलत मै मवक्किलो का अटूट प्रेम और विश्वास सपादन कर सका था। वड़े वकीलो की फीस भी वे खुशी-खुशी देते थे।

इस विश्वास और प्रेम का पूरा-पूरा लाभ मुझे सार्वजनिक कामों में मिला।

पिछले अध्यायो में मै यह वता चुका हूँ कि दक्षिण अफ्रिका में वका-

उन करने में मेरा हेतु केवल लोक-सेवा था। इससे सेवा-कार्य के लिए भी मुझे लोगो का विश्वास प्राप्त कर लेने की आवश्यकता थी। परन्तु वहाँ के उदार-हृदय भारतीय भाइयो ने फीस लेकर की हुई वकालत को भी सेवा का ही गौरव प्रदान किया और जब उन्हें उनके हको के लिए जेल जाने और वहाँ के कष्टो के सहन करने की सलाह मैंने उन्हें दी तब उसका अगीकार उनमे मे बहुतो ने ज्ञानपूर्वक करने की अपेक्षा मेरे प्रति अपनी श्रद्धा और प्रेम के कारण ही अधिक किया था।

यह लिखते हुए वकालत के समय की कितनी ही मीठी बाते कलम में भर रही हैं। सैकडो मवक्किल मित्र बन गये, सार्वजनिक सेवा में मेरे सच्चे साथी बने, और उन्होंने मेरे कठिन जीवन को रस मय बना डाला था।

: ४७ :

मवक्किल जेल से कैसे बचा ?

पारसी रुस्तमजी के नाम से इन अध्यायो के पाठक भलीभाँति परिचित हैं। पारसी रुस्तमजी मेरे मवक्किल, और सार्वजनिक कार्य में साथी, एक ही साथ बने, बल्कि यह कहना चाहिए कि पहले साथी बने और बाद को मवक्किल। उनका विश्वास तो मैंने इस हद तक प्राप्त कर लिया था कि वह अपनी घरू और खानगी बातो में भी मेरी सलाह माँगते और उसका पालन करते। उन्हे यदि कोई बीमारी भी हो तो वह मेरी सलाह की जरूरत समझते और उनकी और मेरी रहन-सहन मे बहुत-कुछ भेद रहने पर भी वह खुद मेरे उपचार करते।

मेरे इस साथी पर एक बार बडी भारी आपत्ति आगई थी। हालाँकि वह अपनी व्यापार-सम्बन्धी भी बहुत-सी बाते मुझसे किया करते थे, फिर भी एक बात मुझसे छिपा रक्खी थी। वह चुंगी चुरा लिया करते थे। बम्बई, कलकत्ते से जो माल मँगाते उसकी चुंगी में चोरी कर लिया करते थे। तमाम अधिकारियो से उनका राह-रस्म अच्छा था। इसलिए किसीको उनपर शक नहीं होता था। जो बीजक वह पेश करते उसीपर

से चुंगी की रकम जोड ली जाती। शायद कुछ कर्मचारी ऐसे भी होंगे, जो उनकी चोरी की ओर से आँखें मूंद लेते हो।

परन्तु आखा भगत की यह वाणी कही झूठी हो सकती है ?—"काचो पारो खावो अन्न, तेवु छे चोरी नुं धन।"

एक वार पारसी रुस्तमजी की चोरी पकडी गई। तब वह मेरे पास दौडे आए। उनकी आँखो से आँसू निकल रहे थे। मुझसे कहा—"भाई, मैंने तुमको धोखा दिया है। मेरा पाप आज प्रकट हो गया है। मैं चुंगी की चोरी करता रहा हूं। अव तो मुझे जेल भोगने के सिवा दूसरी गति नही है। वस, अव मै वरवाद हो गया। इस आफत में से तो आप ही मुझे वचा सकता है। मैंने वैसे आपसे कोई वात छिपा नही रक्खी है, परन्तु यह समझकर कि यह व्यापार की चोरी है, इसका जिक्र आपसे क्या करूँ, यह वात मैंने आपसे छिपाई थी। अब इसके लिए पछताता हूँ।"

मैंने उन्हे धीरज और दिलासा देकर कहा—"मेरा तरीका तो आप जानते ही है। छुडाना-न-छुडाना तो खुदा के हाथ है। मै तो आपको उसी हालत में छुडा सकता हूं, जव आप अपना गुनाह कवूल करले।"

यह सुनकर इस भले पारसी का चेहरा उतर गया।

"परन्तु मैंने आपके सामने कबूल कर लिया, इतना ही क्या काफी नही है ?" रुस्तमजी सेठ ने पूछा।

"आपने कसूर तो सरकार का किया है, तो मेरे सामने कवूल करने से क्या होगा ?" मैंने धीरे से उत्तर दिया।

"अन्त को तो मैं वही करूँगा, जो आप बतावेंगे, परन्तु मेरे पुराने वकील—की भी तो सलाह लेले, वह मेरे मित्र भी है।" पारसी रुस्तमजी ने कहा।

अधिक पूछ-ताछ करने से मालूम हुआ कि यह चोरी बहुत दिनो से होती आ रही थी। जो चोरी पकडी गई थी वह तो थोडी ही थी। पुराने वकील के पास हम लोग गये। उन्होंने सारी वातें सुनकर कहा कि "यह मामला जूरी के पास जायगा। यहाँ के जूरी हिन्दुस्तानी को क्या छोडने लगे ?"

इन वकील के साथ मेरा गाढा परिचय न था। इसलिए पारसी रुस्तमजी ने ही जवाब दिया—"इसके लिए आपको धन्यवाद है। परन्तु इस मुकदमे में मुझे मि० गांधी की सलाह के अनुसार काम करना है। वह मेरी बातो को अधिक जानते है। आप जो कुछ सलाह देना मुनासिब समझें हमें देते रहिएगा।"

इस तरह थोडे में समेट कर हम रुस्तमजी सेठ की दूकान पर गये।

मैंने उन्हे समझाया, "मुझे यह मामला अदालत में जाने लायक नही दिखाई देता। मुकदमा चलाना न चलाना चुंगी-अफसर के हाथ में है। उसे भी सरकार के प्रधान वकील की सलाह से काम करना होगा। मैं इन दोनो से मिलने के लिए तैयार हूं, परन्तु मुझे तो उनके सामने यह चोरी की बात कबूल करना पडेगी, जो कि वे अभी तक नही जानते हैं। मैं तो यह सोचता हूं कि जो जुरमाना वे तजवीज करदें उसे मजूर कर लेना चाहिए। बहुत मुमकिन है कि वे मान जायेंगे। परन्तु यदि न माने तो फिर आपको जेल जाने के लिए तैयार रहना होगा। मेरी राय तो यह है कि लज्जा जेल जाने में नही, बल्कि चोरी करने में है। अब लज्जा का काम तो हो चुका, यदि जेल जाना पडे तो उसे प्रायश्चित्त ही समझना चाहिए। सच्चा प्रायश्चित्त तो यह है कि अब आगे से ऐसी चोरी न करने की प्रतिज्ञा कर लेना चाहिए।" मै यह नही कह सकता कि रुस्तम जी सेठ इन सब बातो को ठीक-ठीक समझ गये हो। वह बहादुर आदमी थे। पर इस समय हिम्मत हार गये थे। उनकी इज्जत बिगड जाने का मौका आगया था और उन्हे यह भी डर था कि खुद मिहनत करके जो यह इमारत खडी की थी वह कही सारी-की-सारी न ढह जाय।

उन्होने कहा—"मै तो आपसे कह चुका हूं कि मेरी गर्दन आपके हाथ में है। जैसा आप मुनासिब समझें वैसा करे।"

मैंने इस मामले में अपनी सारी कला और सौजन्य खर्च कर डाला। चुंगी के अफसर से मिला, चोरी की सारी बात मैंने नि शक होकर उनसे कह दी, यह भी कह दिया कि "आप चाहे तो सब कागज-पत्र देख लीजिए। पारसी रुस्तमजी को इस घटना पर बडा पश्चात्ताप हो रहा है।"

अफसर ने कहा—"मैं इस पुराने पारसी को चाहता हूं। उसने की तो यह बेवकूफी है, पर इस मामले में मेरा फर्ज क्या है, सो आप जानते हैं। मुझे तो प्रधान वकील की आज्ञा के अनुसार करना होगा। इसलिए आप अपनी समझाने की सारी कला का जितना उपयोग कर सके वहां करे।"

"यदि पारसी रुस्तमजी को अदालत में घसीट ले जाने पर जोर न दिया जाय तो मेरे लिए बस है।"

इस अफसर से अभय-दान प्राप्त करके मैंने सरकारी वकील के साथ पत्र-व्यवहार शुरू किया और उनसे मिला भी। मुझे कहना चाहिए कि मेरी सत्य-प्रियता को उन्होंने देख लिया और उनके सामने मैं यह सिद्ध कर सका कि मैं कोई बात उनसे छिपाता नहीं था। इस अथवा किसी दूसरे मामले में उनसे साबका पड़ा तो उन्होंने मुझे यह प्रमाण-पत्र दिया था—"मैं देखता हूं कि आप जवाब में 'न' तो लेना ही नहीं जानते।"

रुस्तमजी पर मुकदमा नहीं चलाया गया। हुक्म हुआ कि जितनी चोरी पारसी रुस्तमजी ने कबूल की है उसके दूने रुपये उनसे ले लिये जायं और उनपर मुकदमा न चलाया जाय।

रुस्तमजी ने अपनी इस चुंगी-चोरी का क़िस्सा लिखकर कांच में जड़ाकर अपने दफ्तर में टांग दिया और अपने वारिसों तथा साथी व्यापारियों को ऐसा न करने के लिए खबरदार कर दिया। रुस्तमजी सेठ के व्यापारी मित्रों ने मुझे सावधान किया कि "यह सच्चा वैराग्य नहीं, श्मशान-वैराग्य है।"

पर मैं नहीं कह सकता कि इस बात में कितनी सत्यता होगी। जब मैंने यह बात रुस्तमजी सेठ से कही तो उन्होंने जवाब दिया कि आपको धोखा देकर मैं कहां जाऊंगा।

पाँचवाँ भाग

: १ :

पहला अनुभव

मेरे देश में पहुँचने के पहले ही वे लोग पहुँच चुके थे, जो फिनिक्स से वापस लौटनेवाले थे। हिसाब तो हम लोगो ने यह लगाया था कि मैं उनसे पहले पहुँच जाऊँगा; परन्तु मैं महायुद्ध के कारण लन्दन में रुक गया था, इसलिए मेरे सामने यह एक सवाल था कि फिनिक्स-वासियो को रक्खूँ कहाँ ? मैं चाहता तो यह था कि सब एकसाथ ही रह सकें और फिनिक्स-आश्रम का जीवन बिता सकें तो अच्छा। किसी आश्रम के सचालक से मेरा परिचय भी नही था कि जिससे मैं उन्हे वहाँ जाने के लिए लिख देता। इसलिए मैंने उन्हे लिखा था कि वे एण्डरूज साहब से मिलकर उनकी सलाह के मुताबिक काम करें।

पहले वे कांगडी-गुरुकुल में रक्खे गए। वहाँ स्वर्गीय श्रद्धानन्दजी ने उन्हे अपने बच्चो की तरह रक्खा। उसके बाद वे शान्ति-निकेतन में रक्खे गए, जहाँ कविवर ने और उनके समाज ने उनपर उतनी ही प्रेम-वृष्टि की। इन दो स्थानो पर जो अनुभव उन्हे मिला वह उनके तथा मेरे लिए बडा उपयोगी साबित हुआ।

कविवर, श्रद्धानन्दजी और श्रीसुशील रुद्र को मैं एण्डरूज की 'त्रिमूर्ति' मानता था। दक्षिण अफ्रीका में वह इन तीनो की स्तुति करते हुए थकते नही थे। दक्षिण अफ्रिका में हमारे स्नेह-सम्मेलन की बहुत-सी स्मृतियों में यह सदा मेरी आँखो के सामने नाचा करती है कि इन तीन महापुरुषो के नाम तो उनके हृदय में और ओठो पर रहते ही थे। सुशील रुद्र के परिचय में भी एण्डरूज ने मेरे बच्चो को ला दिया था। रुद्र के पास

कोई आश्रम नहीं था, उनका अपना घर ही था; परन्तु उस घर का कब्ज़ा उन्होंने मेरे इस परिवार को दे दिया था। उनके बाल-बच्चे इनके साथ एक ही दिन में इतने हिल-मिल गये थे कि ये फ़िनिक्स को भूल गए।

जिस समय मैं बम्बई बन्दर पर उतरा तो वहीं मुझे खबर हुई कि उस समय यह परिवार शान्ति-निकेतन में था। इसलिए गोखले से मिलकर मैं वहाँ जाने के लिए अधीर हो रहा था।

बम्बई में स्वागत-सत्कार के समय ही मुझे एक छोटा-सा सत्याग्रह करना पड़ा था। मि० पेटिट के यहाँ मेरे निमित्त स्वागत-सभा की गई थी। वहाँ तो स्वागत का उत्तर गुजराती में देने की मेरी हिम्मत न हुई। इस महल में और आँखों को चौंधिया देनेवाले वहाँ के ठाट-बाट में जो गिरमिटियों के सहवास में रहा था, देहात के एक गँवार की तरह मालूम होता था। आज जिस तरह की वेष-भूषा मेरी है, उससे तो उस समय का अँगरखा, साफ़ा इत्यादि अधिक सभ्य पहनाव कहा जा सकता है। फिर भी उस अलंकृत समाज में मैं एक बिलकुल अलग आदमी मालूम होता था; परन्तु वहाँ तो मैंने ज्यों-त्यों करके अपना काम चलाया और फ़िरोज़-शाह मेहता की छाया में जैसे-तैसे आश्रय लिया।

ऐसे अवसर पर गुजराती लोग भला मुझे क्यों छोड़ने लगे? स्वर्गीय उत्तमलाल त्रिवेदी ने भी एक सभा निमन्त्रित की थी। इस सभा के सम्बन्ध में कुछ बातें मैंने पहले ही जान ली थीं। गुजराती होने के कारण मि० जिन्ना भी उसमें आये थे। वह सभापति थे या प्रधान वक्ता थे यह बात मैं भूल गया हूँ। उन्होंने अपना छोटा और मीठा भाषण अंग्रेज़ी में किया और मुझे ऐसा याद पड़ता है कि और लोगों के भाषण भी अंग्रेज़ी में ही हुए थे; परन्तु जब मेरे बोलने का अवसर आया तब मैंने अपना जवाब गुजराती ही में दिया और गुजराती तथा हिन्दुस्तानी भाषा विषयक अपना पक्षपात मैंने वहाँ थोड़े शब्दों में प्रकट किया। इस प्रकार गुजरातियों की सभा में अंग्रेज़ी भाषा के प्रयोग के प्रति मैंने अपना नम्र विरोध प्रदर्शित किया। ऐसा करते हुए मेरे मन में संकोच तो बड़ा होता था। बहुत समय तक देश से बाहर रहने के बाद जो शख्स स्वदेश को

लौटता है वह देश की बातों से अपरिचित आदमी यदि प्रचलित प्रथा के विपरीत आचरण करे, तो यह अविवेक तो न होगा, यह शका मन में बराबर आया करती थी, परन्तु गुजराती में जो मैंने उत्तर देने का साहस किया उसका किसी ने उल्टा अर्थ नही लगाया और मेरे विरोध को सबने सहन कर लिया, यह देखकर मुझे आनन्द हुआ और इस पर से मैंने यह नतीजा निकाला कि मेरे दूसरे, नये-से प्रतीत होनेवाले, विचार भी यदि मैं लोगो के सामने रक्खूं तो इसमें कोई कठिनाई नही आवेगी।

इस तरह बम्बई में दो-एक दिन रहकर देश का आरम्भिक अनुभव ले गोखले की आज्ञा से मैं पूना गया।

: २ :

गोखले के साथ पूना में

मेरे बम्बई में पहुँचते ही गोखले ने मुझे तुरन्त खबर दी कि बम्बई के लाट साहब आपसे मिलना चाहते हैं और पूना आने के पहले आप उनसे मिल आवे तो अच्छा होगा। इसलिए मैं उनसे मिलने गया। मामूली बातचीत होने के बाद उन्होंने मुझसे कहा—

"आपसे मैं एक वचन लेना चाहता हूँ। मैं यह चाहता हूँ कि सरकार के सम्बन्ध में यदि आपको कहीं कुछ आन्दोलन करना हो तो उसके पहले आप मुझसे मिल लें और बातचीत करलें।"

मैंने उत्तर दिया कि "यह वचन देना मेरे लिए बहुत सरल है, क्योकि सत्याग्रही की हैसियत से मेरा यह नियम ही है कि किसी के खिलाफ कुछ करने के पहले उसका दृष्टि-बिन्दु खुद उसीसे समझ लूँ और अपने से जहाँतक हो सके उसके अनुकूल होने का यत्न करूँ। मैंने हमेशा दक्षिण अफ्रिका में इस नियम का पालन किया है और यहाँ भी मैं ऐसा ही करने का विचार करता हूँ।"

लार्ड विलिंग्डन ने इस पर मुझे धन्यवाद दिया और कहा—

"आप जब कभी मिलना चाहे, मुझसे तुरन्त मिल सकेंगे और आप देखेंगे कि सरकार जान-बूझ कर कोई बुराई करना नही चाहती।"

मैंने जवाब दिया—"इसी विश्वास पर तो मैं जी रहा हूँ।"

अब मैं पूना पहुँचा। वहाँ के तमाम संस्मरण लिखना मेरी सामर्थ्य के बाहर है। गोखले ने और भारत-सेवक-समिति के सभ्यो ने मुझे प्रेम से पाग दिया। जहाँतक मुझे याद है उन्होंने तमाम सभ्यो को पूना बुलाया था। सबके साथ दिल खोलकर मेरी बाते हुईं। गोखले की तीव्र इच्छा थी कि मैं भी समिति का सदस्य बनूं। इधर मेरी तो इच्छा थी ही, परन्तु उसके सभ्यो की यह धारणा हुई कि समिति के आदर्श और उसकी कार्य-प्रणाली मुझसे भिन्न थी। इसलिए वे दुविधा में थे कि मुझे सभ्य होना चाहिए या नही। गोखले की यह मान्यता थी कि अपने आदर्श पर दृढ रहने की जितनी प्रवृत्ति मेरी थी उतनी ही दूसरो के आदर्श की रक्षा करने और उनके साथ मिल जाने का स्वभाव भी था। उन्होंने कहा—"परन्तु हमारे साथी अभी आपके दूसरो को निभा लेने के इस गुण को नही पहचान पाये है। वे अपने आदर्श पर दृढ रहनेवाले स्वतंत्र और निश्चित विचार के लोग है। मैं आशा तो यही रखता हूँ कि वे आपको सभ्य बनाना मंजूर कर लेंगे, परन्तु यदि न भी करे तो आप इससे यह तो हर्गिज न समझेंगे कि आपके प्रति उनका प्रेम या आदर कम है। अपने इस प्रेम को अखण्डित रहने देने के लिए ही वे किसी तरह की जोखिम उठाने से डरते है, परन्तु आप समिति के बाक़ायदा सभ्य हो, या न हो, मैं तो आपको सभ्य मानकर ही चलूंगा।"

मैंने अपना संकल्प उन पर प्रकट कर दिया था। समिति का सभ्य बनूं या न बनूं, एक आश्रम की स्थापना करके फिनिक्स के साथियों को उसमें रखकर मैं बैठ जाना चाहता था। गुजराती होने के कारण गुजरात के द्वारा सेवा करने की पूंजी मेरे पास अधिक होनी चाहिए, इस विचार से गुजरात में ही कहीं स्थिर होने की इच्छा थी। गोखले को यह विचार पसन्द आया और उन्होंने कहा—

"जरूर आश्रम स्थापित करो। सभ्यों के साथ जो बातचीत हुई है

उसका फल कुछ भी निकलता रहे, परन्तु आपके आश्रम के लिए धन का प्रबन्ध मैं कर दूँगा। उसे मैं अपना ही आश्रम समझूँगा।"

यह सुनकर मेरा हृदय फूल उठा। चदा माँगने की झझट से बचा, यह समझकर बडी खुशी हुई, और इस विश्वास से कि अब मुझे अकेले अपनी जिम्मेदारी पर कुछ न करना पडेगा, बल्कि हरेक उलझन के समय मेरे लिए एक पथदर्शक यहाँ है, ऐसा मालूम हुआ मानो मेरे सिर का बोझ उतर गया।

गोखले ने स्वर्गीय डाक्टर देव को बुलाकर कह दिया, "गाँधी का खाता अपनी समिति में डाल लो और उनको अपने आश्रम के लिए तथा सार्वजनिक कामो के लिए जो कुछ रुपया चाहिए, वह देते जाना।"

अब मैं पूना छोडकर शाति-निकेतन जाने की तैयारी कर रहा था। अन्तिम रात को गोखले ने खास मित्रो की एक पार्टी इस विधि से की, जो मुझे रुचिकर होती। उसमें वही चीजें अर्थात् फल और मेवे मँगाये थे, जो मैं खाया करता था। पार्टी उनके कमरे से कुछ ही दूर पर थी। उनकी हालत ऐसी न थी कि वे वहाँ तक भी आ सकते, परन्तु उनका प्रेम उन्हे कैसे रुकने देता? वह जिद करके आये थे, परन्तु उन्हे गश आगया और वापस लौट जाना पडा। ऐसा गश उन्हे बार-बार आ जाया करता था, इसलिए उन्होने कहलवाया कि पार्टी में किसी प्रकार की गडबड न होनी चाहिए। पार्टी क्या थी, समिति के आश्रम में अतिथि-घर के पास के मैदान में जाजम बिछाकर हम लोग बैठ गये थे और मूँगफली, पिण्डखजूर वगैरा खाते हुए प्रेम-वार्ता करते थे, एव एक दूसरे के हृदय को अधिक जानने का उद्योग करते थे।

किन्तु उनकी यह मूर्छा मेरे जीवन के लिए कोई मामूली अनुभव नही था।

: २ :

धमकी ?

बम्बई से मुझे अपनी विधवा भौजाई और दूसरे कुटुम्बियों से मिलने के लिए राजकोट और पोरबन्दर जाना था। इसलिए मैं राजकोट गया। दक्षिण अफ्रिका में सत्याग्रह-आन्दोलन के सिलसिले में मैंने अपना पहनावा गिरमिटिया मजूर की तरह, जितना हो सकता था, करडाला था। विलायत में भी यही लिबास रक्खा था। देश में आकर मैं काठियावाड़ का पहनाव पहनना चाहता था, दक्षिण अफ्रिका में कठियावाड़ी कपड़े मेरे पास थे। इससे बम्बई में मैं कठियावाड़ी लिबास में अर्थात् कुरता, अँगरखा, धोती और सफ़ेद साफ़ा पहने हुए उतर सका था। ये सब कपड़े देशी मिल के बने हुए थे। बम्बई से काठियावाड़ तक तीसरे दर्जे में सफ़र करने का निश्चय था। सो वह साफ़ा और अँगरखा मुझे एक जंजाल मालूम हुए, इसलिए सिर्फ एक कुरता, धोती और आठ-दस आने की काश्मीरी टोपी साथ रक्खे थे। ऐसे कपड़े पहननेवाला आमतौर पर ग़रीब आदमियों में ही गिना जाता है। इस समय वीरमगाम और वढवाण में, प्लेग के कारण, तीसरे दर्जे के मुसाफ़िरों की जाँच-पड़ताल होती थी। मुझे उस समय हल्का-सा बुखार था। जाँच करनेवाले अफ़सर ने मेरा हाथ देखा तो उसे वह गरम मालूम हुआ, इसलिए उसने हुक्म दिया कि राजकोट जाकर डाक्टर से मिलो और मेरा नाम लिख लिया।

बम्बई से शायद किसी ने तार या चिट्ठी भेज दी होगी, इस कारण वढवाण स्टेशन पर दर्जी मोतीलाल, जो वहाँ के एक प्रसिद्ध प्रजा-सेवक माने जाते थे, मुझसे मिलने आये। उन्होंने मुझसे वीरमगाम की चुंगी की जाँच या तथा उसके सम्बन्ध में होनेवाली तकलीफ़ों का ज़िक्र किया। मुझे बुखार चढ़ रहा था, इसलिए बात करने की इच्छा कम ही थी। मैंने उन्हें थोड़े में ही उत्तर दिया—

"आप जेल जानें के लिए तैयार है ?"

इस समय मैंने मोतीलाल को वैसा ही एक युवक समझा, जो विना विचारे उत्साह में हां कर लेते हैं; परन्तु उन्होने वडी दृढता के साथ उत्तर दिया—

"हां, जरूर जेल जायँगे, पर आपको हमारा अगुआ वनना पड़ेगा। काठियावाडी की हैसियत से आप पर हमारा हक है। अभी तो हम आपको नही रोक सकते, परन्तु वापस लौटते समय आपको वढवाण जरूर उतरना पडेगा। यहां के युवको का काम और उत्साह देखकर आप खुश होगें। आप जब चाहे तब अपनी सेना में हमें भरती कर सकेंगे।"

उस दिन से मोतीलाल पर मेरी नजर ठहर गई। उनके साथियो ने उनकी स्तुति करते हुए कहा—"यह भाई है तो दर्जी, पर अपने हुनर में वडे तेज है। इसलिए रोज एक घण्टा काम करके, प्रतिमास कोई पन्द्रह रुपये अपने खर्च के लायक पैदा कर लेते हैं, शेप सारा समय सार्व-जनिक सेवा में लगाते है और हम सब पढे-लिखे लोगो को राह दिखाते हैं और शर्मिन्दा करते है।"

वाद को भाई मोतीलाल से मेरा वहुत साबका पडा था और मैंने देखा कि उनकी इस स्तुति में अत्युक्ति न थी। सत्याग्रह-आश्रम की स्थापना के वाद वह हर महीने कुछ दिन आकर वहां रह जाते। वच्चो को सीना सिखाते और आश्रम में सीने का काम भी कर जाते। वीरमगाम की कुछ-न-कुछ वातें वह रोज सुनाते। मुसाफिरो को उससे जो कष्ट होते थे वह इन्हें नागवार हो रहे थे। मोतीलाल को वीमारी भरजवानी में ही खा गई और वढवाण उनके विना सूना होगया।

राजकोट पहुँचते ही मै दूसरे दिन सुवह पूर्वोक्त हुक्म के अनुसार अस्पताल गया। वहां तो मैं किसी के लिए अजनवी नहीं था। डाक्टर मुझे देखकर शर्माये और उस जांच-कुनिन्दा पर गुस्सा होने लगे। मुझे इसमें गुस्से की कोई वजह मालूम नही होती थी। उसने तो अपना फर्ज अदा किया था। एक तो वह मुझे पहचानता ही नहीं था और दूसरे पह-चानने पर भी उसका तो फर्ज यही था कि जो हुक्म मिला उसकी तामील

करे, परन्तु मै था मशहूर आदमी। इसलिए राजकोट में मुझे कहीं जाँच करने के लिए जाने के एवज में लोग घर आकर मेरी पूछ-ताछ करने लगे।

तीसरे दर्जे के मुसाफिरो की जाँच ऐसे मामलो में आवश्यक है। जो लोग बड़े समझे जाते है वे भी अगर तीसरे दर्जे में सफर करे तो उन्हे उन नियमो का पालन, जो ग़रीबो पर लगाये जाते है, खुद-ब-खुद करना चाहिए और कर्मचारियों को भी उनका पक्षपात न करना चाहिए, परन्तु मेरा तो अनुभव यह है कि कर्मचारी लोग तीसरे दर्जे के मुसाफिरो को आदमी नहीं, बल्कि जानवर समझते है। अबे-तबे के सिवाय उनसे बोलते नही है। तीसरे दर्जे का मुसाफिर न तो सामने जवाब दे सकता है, न कोई बात कह सकता है। बेचारो को इस तरह पेश आना पड़ता है, मानो वह उच्चकर्मचारी का कोई नौकर हो। रेल के नौकर उसे पीट देते है, रुपये-पैसे छीन लेते है, उसकी ट्रेन चुका देते है। टिकट देते समय उनको बहुत रुलाते है। ये सब बातें मैने खुद अनुभव की है। इस बुराई का सुधार उसी हालत में हो सकता है, जबकि पढे-लिखे और धनी लोग गरीब की तरह रहने लगें और तीसरे दर्जे में सफर करके ऐसी एक भी सुविधा का लाभ न उठावे जो ग़रीब मुसाफिर को न मिलती हो और वहाँ की असुविधा, अविवेक, अन्याय और बीभत्सता को चुपचाप न सहन करते हुए उसका विरोध करे और उसको मिटा दें।

काठियावाड में मै जहाँ-जहाँ गया, तहाँ-तहाँ वीरमगाम की जकात की जाँच से होनेवाली तकलीफो की शिकायते मैने सुनी।

इसलिए लार्ड विलिंग्डन ने जो निमन्त्रण मुझे दे रक्खा था उसका मैने तुरन्त उपयोग किया। इस सम्बन्ध में जितने कागज-पत्र मिल सकते थे सब मैने पढे। मैने देखा कि इन शिकायतो में बहुत तथ्य था। उनको दूर करने के लिए मैने बम्बई-सरकार से लिखा-पढी की। उसके सेक्रेटरी से मिला। लार्ड विलिंग्डन से भी मिला। उन्होंने सहानुभूति दिखाई, परन्तु कहा कि दिल्ली की तरफ से ढील हो रही है। "यदि यह बात हमारे हाथ में होती तो हम कभी के इस जकात को उठा देते। आप भारत-सरकार के पास अपनी शिकायत ले जाइए।" सेक्रेटरी ने कहा।

मैंने भारत-सरकार के साथ लिखा-पढी शुरू की, परन्तु वहाँ से पहुँच के अलावा कुछ भी जवाव न मिला। जव मुझे लार्ड चेम्सफोर्ड से मिलने का अवसर आया, तव अर्थात् दो-तीन वर्ष की लिखा-पढी के वाद कुछ सुनवाई हुई। लार्ड चेम्सफोर्ड से मैंने इसका जिक्र किया तो उन्होने इसपर आश्चर्य प्रकट किया। वीरमगाम के मामले का उन्हे कुछ पता न था। उन्होने मेरी वाते गौर के साथ सुनी और उसी समय टेलीफोन देकर वीरमगाम के कागज-पत्र मँगाये और वचन दिया कि यदि इसके खिलाफ कर्मचारियो का कुछ कहना न होगा तो जकात रद करदी जायगी। इस मुलाकात के थोडे ही दिन वाद अखवारों में पढा कि जकात रद होगई।

इस जीत को मैंने सत्याग्रह की वुनियाद मानी, क्योकि वीरमगाम के सम्बन्ध में जब वाते हुई तव वम्बई-सरकार के सेक्रेटरी ने मुझसे कहा था कि वकसरा में इस सम्बन्ध में आपका जो भाषण हुआ था उसकी नकल मेरे पास है। और उसमें मैंने जो सत्याग्रह का उल्लेख किया था उसपर उन्होने अपनी नाराजगी भी वतलाई। उन्होंने मुझसे पूछा—"आप इसे धमकी नही कहते ? इस प्रकार वलवान् सरकार कही धमकी की परवाह कर सकती है ?"

मैंने जवाव दिया—"यह धमकी नही है। यह तो लोकमत को शिक्षित करने का उपाय है। लोगो को अपने कष्ट दूर करने के लिए तमाम उचित उपाय वताना मुझ-जैसो का धर्म है। जो प्रजा स्वतंत्रता चाहती है उसके पास अपनी रक्षा का अन्तिम इलाज अवश्य होना चाहिए। आमतौर पर ऐसे इलाज हिंसात्मक होते है, परन्तु सत्याग्रह शुद्ध अहिंसात्मक शस्त्र है। उसका उपयोग और उसकी मर्यादा वताना मैं अपना धर्म समझता हूँ। अंग्रेज सरकार वलवान् है, इस वात पर मुझे सन्देह नही, परन्तु सत्याग्रह सर्वोपरि शस्त्र है, इस विषय में भी मुझे कोई सन्देह नही।"

इसपर उस समझदार सेक्रेटरी ने सिर हिलाया और कहा—"देखेंगे।"

शान्ति-निकेतन

राजकोट से मैं शान्ति-निकेतन गया। वहाँ के अध्यापकों और विद्यार्थियों ने मुझपर बड़ी प्रेम-वृष्टि की। स्वागत की विधि में सादगी कला और प्रेम का सुन्दर मिश्रण था। वहाँ काका साहब कालेलकर से मेरी पहली बार मुलाकात हुई।

कालेलकर 'काका साहब' क्यों कहलाते थे, यह मैं उस समय नहीं जानता था, पर बाद को मालूम हुआ कि केशवराव देशपाण्डे, जो विलायत में मेरे सम-कालीन थे और जिनके साथ विलायत में मेरा बहुत परिचय होगया था, बड़ौदा राज्य में 'गंगनाथ विद्यालय' का सचालन कर रहे थे। वहाँ की बहुतेरी भावनाओं में एक भावना यह भी थी कि विद्यालय में कुटुम्ब-भाव होना चाहिए। इस कारण वहाँ तमाम अध्यापकों के कौटुम्बिक नाम रक्खे गये थे। इसमें कालेलकर को 'काका' नाम दिया था। फड़के 'मामा' हुए। हरिहर शर्मा 'अण्णा' बने। इसी तरह और भी नाम रक्खे गए। आगे चलकर इस कुटुम्ब में आनन्दानन्द (स्वामी) काका के साथी के रूप में और पटवर्धन (आप्पा) मामा के मित्र के रूप में इस कुटुम्ब में शामिल हुए। इस कुटुम्ब के ये पाँचों सज्जन एक-के-बाद-एक मेरे साथी हुए। देशपाण्डे 'साहेब' के नाम से विख्यात हुए। साहेब का विद्यालय बन्द होने के बाद यह कुटुम्ब तितर-बितर हो गया, परन्तु इन लोगों ने अपना आध्यात्मिक सम्बन्ध नहीं छोड़ा। काका साहब तरह-तरह के अनुभव लेने लगे और इसी क्रम में वह शान्ति-निकेतन में रह रहे थे। उसी मण्डल के एक और सज्जन चिन्तामणि शास्त्री भी वहाँ रहते थे। ये दोनों संस्कृत पढ़ाने में सहायता देते थे।

शान्ति-निकेतन में मेरे मण्डल को अलग स्थान में ठहराया गया था। वहाँ मगनलाल गांधी उस मण्डल की देखभाल कर रहे थे और फिनिक्स

आश्रम के उन तमाम नियमों का बारीकी से पालन कराते थे। मैंने देखा कि उन्होंने शान्ति-निकेतन में अपने प्रेम, ज्ञान और उद्योग-शीलता के कारण अपनी सुगन्ध फैला रक्खी थी। एण्डरूज तो वहाँ थे ही। पीयर्सन भी थे। जगदानन्द बाबू, नेपाल बाबू, सतोष बाबू, क्षितिमोहन बाबू, नगीन बाबू, शरद बाबू और काली बाबू से उनका अच्छा परिचय हो गया था।

अपने स्वभाव के अनुसार मैं विद्यार्थियों और शिक्षकों में मिल-जुल गया और शारीरिक श्रम तथा काम करने के बारे में वहाँ चर्चा करने लगा। मैंने सूचित किया कि वैतनिक रसोइया की जगह यदि शिक्षक और विद्यार्थी ही अपनी रसोई पकाले तो अच्छा हो। रसोई-घर पर आरोग्य और नीति की दृष्टि से शिक्षक-गण देख-भाल करे और विद्यार्थी स्वावलम्बन और स्वयपाक का पदार्थ-पाठ ले। यह बात मैंने स्वय वहाँ के शिक्षकों के सामने उपस्थित की। एक-दो शिक्षकों ने तो इसपर सिर हिला दिया, परन्तु कुछ लोगों को मेरी बात बहुत पसन्द भी आई। बालकों को भी वह बहुत ही जँच गई, क्योंकि उनको तो स्वभाव से ही हरेक नई बात पसद आजाया करती है। बस, फिर क्या था, प्रयोग शुरू हुआ। जब कविवर तक यह बात पहुँची तो उन्होंने कहा, यदि शिक्षक लोगों को यह बात पसन्द आजाय तो मुझे यह जरूर प्रिय है। उन्होंने विद्यार्थियों से कहा कि यह स्वराज्य की कुञ्जी है।

पीयर्सन ने इस प्रयोग को सफल करने में जी-जान से मिहनत की। उनको यह बात बहुत ही पसन्द आई थी। एक ओर शाक काटने वालों का जमघट होगया, दूसरी ओर अनाज साफ करनेवाली मण्डली बैठ गई। रसोई-घर के आस-पास शास्त्रीय शुद्धि करने में नगीन बाबू आदि डट गये। उनको कुदाली-फावडे लेकर काम करते हुए देख मेरा हृदय बासों उछलने लगा।

परन्तु यह शारीरिक श्रम का काम ऐसा नहीं था कि सवा-सौ लड़के और शिक्षक एकाएक बरदाश्त कर सकें। इसलिए रोज इस पर बहस होती। कितने ही लोग थक भी जाते, किन्तु पीयर्सन क्यों थकने लगे?

वह हमेशा हँसमुख रहकर रसोई के किसी-न-किसी काम में लगे ही रहते। बड़े-बड़े बर्तनो को मांजना उन्ही का काम था।

बर्तन मांजनेवाली टुकड़ी की थकावट उतारने के लिए कितने ही विद्यार्थी वहां सितार बजाते। हर काम को विद्यार्थी बडे उत्साह के साथ करने लगे और सारा शान्ति-निकेतन शहद के छत्ते की तरह गुञ्जार करने लगा।

इस तरह के परिवर्तन जो एक बार आरम्भ होते हैं तो फिर वे रुकते नही। फिनिक्स का रसोई-घर केवल स्वावलम्बी ही नही था, बल्कि उस में रसोई भी बहुत सादी बनती थी। मसाले वगैरा काम में नही लाये जाते थे। इसलिए भात, दाल, शाक और गेहूँ की चीजें भाप में पका ली जाती थी। बंगाली भोजन में सुधार करने के इरादे से इस प्रकार की एक पाकशाला रक्खी गई थी। इसमें एक-दो अध्यापक और कुछ विद्यार्थी शामिल हुए थे।

ऐसे प्रयोगो के फल-स्वरूप सार्वजनिक अर्थात् बडे भोजनालय को स्वावलम्बी रखने का प्रयोग शुरू हो सका था।

परन्तु अन्त को कुछ कारणो से वह प्रयोग बन्द होगया। मेरा यह निश्चित मत है कि थोडे समय के लिए भी इस जग-विख्यात सस्था ने इस प्रयोग को करके कुछ खोया नहीं है और उससे जो-कुछ अनुभव हुए हैं वे उसके लिए उपयोगी साबित हुए थे।

मेरा इरादा शान्ति-निकेतन में कुछ दिन रहने का था, परन्तु मुझे विधाता जबर्दस्ती वहां से घसीट ले गया। मैं मुश्किल से वहां एक सप्ताह रहा होऊंगा कि पूना से गोखले के अवसान का तार मिला। सारा शान्ति-निकेतन शोक में डूब गया। मेरे पास सब मातम-पुरसी के लिए आये। वहां के मन्दिर में खासतौर पर सभा हुई। उस समय वहां का गम्भीर दृश्य अपूर्व था। मैं उसी दिन पूना रवाना हुआ। साथ में पत्नी और मगनलाल को लिया। बाकी सब लोग शान्ति-निकेतन में रहे।

एण्डरूज बर्दवान तक मेरे साथ आये थे। उन्होंने मुझसे पूछा, "क्या आपको प्रतीत होता है कि हिन्दुस्तान में सत्याग्रह करने का समय आवेगा? यदि हाँ, तो कब? इसका कुछ खयाल होता है?"

मैंने इसका उत्तर दिया—"यह कहना मुश्किल है। अभी तो एक साल तक मैं कुछ करना नही चाहता। गोखले ने मुझसे वचन लिया है कि मैं एक साल तक भ्रमण करूं। किसी भी सार्वजनिक प्रश्न पर अपने विचार न प्रकट करूँ। मैं अक्षरशः इस वचन का पालन करना चाहता हूं। इसके बाद भी मैं तबतक कोई बात न कहूंगा, जबतक किसी प्रश्न पर कुछ कहने की आवश्यकता न होगी। इसलिए मै नही समझता कि अगले पाँच वर्ष तक सत्याग्रह करने का कोई अवसर आवेगा।"

यहाँ इतना कहना आवश्यक है कि 'हिन्द स्वराज्य' में मैंने जो विचार प्रदर्शित किये हैं गोखले उनपर हँसा करते और कहते थे, "एक वर्ष तुम हिन्दुस्तान में रहकर देखोगे तो तुम्हारे ये विचार अपने-आप ठंडे हो जायँगे।

: ५ :

तीसरे दर्जे की मुसीबत

बर्दवान पहुँचकर हम तीसरे दर्जे का टिकट कटाना चाहते थे, पर टिकट लेने में बड़ी मुसीबत हुई। टिकट लेने पहुँचा तो जवाब मिला— "तीसरे दर्जे के मुसाफिर के लिए पहले से टिकट नही दिया जाता।" तब मैं स्टेशन-मास्टर के पास गया। मुझे भला वहाँ कौन जाने देता? किसी ने दया करके बताया कि स्टेशन-मास्टर वहाँ है। मै पहुँचा। उनके पास से भी वही उत्तर मिला। जब खिडकी खुली तब टिकट लेने गया, परन्तु टिकट मिलना आसान नहीं था। हट्टे-कट्टे मुसाफिर मुझ-जैसो को पीछे धकेलकर आगे घुस जाते। आखिर टिकट तो किसी तरह मिल गया।

गाडी आई। उसमें भी जो जबरदस्त थे, वे घुस गये। उतरनेवालो और चढनेवालो के सिर टकराने लगे और धक्का-मुक्की होने लगी। इनमें भला मैं कैसे शरीक हो सकता था? इसलिए हम तीनो एक जगह से दूसरी जगह जाते। सब जगह से यही जवाब मिलता—"यहाँ जगह नहीं है।" तब मैं गार्ड के पास गया। उसने जवाब दिया—"जगह मिले तो

बैठ जाओ, नही तो दूसरी गाडी से जाना।" मैंने नरमी से उत्तर दिया-"पर मुझे जरूरी काम है।" गार्ड को यह सुनने का वक्त नही था। अब मैं सब तरह से हार गया। मगनलाल से कहा—"जहाँ जगह मिल जाय, बैठ जाओ।" और मैं पत्नी को लेकर तीसरे दर्जे के टिकट से ही ड्योढे दर्जे में घुसा। गार्ड ने मुझे उसमें जाते हुए देख लिया था।

आसनसोल स्टेशन पर गार्ड ड्योढे दर्जे का किराया लेने आया। मैंने कहा—"आपका फर्ज था कि आप मुझे जगह बताते। वहाँ जगह न मिलने से मैं यहाँ बैठ गया। मुझे तीसरे दर्जे में जगह दिलाइए तो मैं वहाँ जाने को तैयार हूँ।"

गार्ड साहब बोले—"मुझसे तुम दलील न करो। मेरे पास जगह नहीं है, किराया न दोगे तो तुमको गाडी से उतर जाना होगा।"

मुझे तो किसी तरह जल्दी पूना पहुँचना था। गार्ड से लडने के लिए मेरे पास समय न था, न सुविधा ही थी। लाचार होकर मैंने किराया चुका दिया। उसने ठेठ पूना तक का ड्योढे दर्जे का किराया वसूल किया। मुझे यह अन्याय बहुत अखरा।

सुबह हम मुगलसराय आये। मगनलाल को तीसरे दर्जे में जगह मिल गई थी। वहाँ मैंने टिकट-कलेक्टर को सब हाल सुनाया और इस घटना का प्रमाण-पत्र उससे माँगा। उसने इन्कार कर दिया। मैंने रेलवे के बडे अफसर को अधिक भाडा वापस मिलने के लिए दरख्वास्त दी। उसका उत्तर इस आशय का मिला—"प्रमाण-पत्र के बिना अधिक भाडे का रुपया लौटाने का रिवाज हमारे यहाँ नही है, परन्तु यह आपका मामला है, इसलिए आपको लौटा देते हैं। बर्दवान से मुगलसराय तक का अधिक किराया वापस नही दिया जा सकता।"

इसके बाद तीसरे दर्जे के सफर के इतने अनुभव हुए हैं कि उनकी एक पुस्तक बन सकती है; परन्तु प्रसगोपात उनका जिक्र करने के उपरान्त इन अध्यायो में उनका समावेश नहीं हो सकता। शरीर-प्रकृति की प्रतिकूलता के कारण मेरी तीसरे दर्जे की यात्रा बन्द हो गई। यह बात मुझे सदा खटकती रहती है और खटकती रहेगी। तीसरे दर्जे के

सफर में कर्मचारियों की 'जी हुकमी' की जिल्लत तो उठानी ही पड़ती है; परन्तु तीसरे दर्जे के यात्रियों की जहालत, गन्दगी, स्वार्थ-भाव और अज्ञान का भी कम अनुभव नहीं होता। खेद की बात तो यह है कि बहुत बार तो मुसाफिर जानते ही नहीं कि वे उद्दण्डता करते हैं या गन्दगी बढ़ाते हैं या स्वार्थ साधते हैं। वे जो कुछ करते हैं वह उन्हें स्वाभाविक मालूम होता है। और इधर हम, जो सुधारक कहे जाते हैं, उनकी बिलकुल पर्वाह नहीं करते।

कल्याण जंक्शन पर हम किसी तरह थके-मांदे पहुँचे। नहाने की तैयारी की। मगनलाल और मैं स्टेशन के नल से पानी लेकर नहाये। पत्नी के लिए मैं कुछ तजवीज कर रहा था कि इतने में भारत-सेवक-समिति के भाई कौल ने हमको पहचाना। वह भी पूना जा रहे थे। उन्होंने कहा—"इनको तो नहाने के लिए दूसरे दर्जे के कमरे में ले जाना चाहिए।" उनके इस सौजन्य से लाभ उठाते हुए मुझे संकोच हुआ। मैं जानता था कि पत्नी को दूसरे दर्जे के कमरे का लाभ उठाने का अधिकार न था, परन्तु मैंने इस अनौचित्य की ओर से उस समय आँखें मूँद ली। सत्य के पुजारी को सत्य का इतना उल्लंघन भी शोभा नहीं देता। पत्नी का आग्रह नहीं था कि वह उसमें जाकर नहावे, परन्तु पति के मोहरूपी सुवर्ण-पात्र ने सत्य को ढाँक लिया था।

: ६ :

मेरा प्रयत्न

पूना पहुँचकर उत्तर-क्रिया इत्यादि से निवृत्त हो हम सब लोग इस बात पर विचार करने लगे कि समिति का काम कैसे चलाया जाय और मैं उसका सभ्य बनूँ या नहीं। इस समय मुझपर बड़ा बोझ आ पड़ा था। गोखले के जीतेजी मुझे समिति में प्रवेश करने की आवश्यकता ही नहीं थी। मैं तो सिर्फ गोखले की आज्ञा और इच्छा के अधीन रहना चाहता था। यह स्थिति मुझे भी पसन्द थी, क्योंकि भारतवर्ष के-जैसे तूफानी

समुद्र में कूदते हुए मुझे एक दक्ष कर्णधार की आवश्यकता थी और गोखले-जैसे कर्णधार के आश्रय में मैं अपने को सुरक्षित समझता था।

अब मेरा मन कहने लगा कि मुझे समिति में प्रविष्ट होने के लिए जरूर प्रयत्न करना चाहिए। मैंने सोचा कि गोखले की आत्मा यही चाहती होगी। मैंने बिना संकोच के दृढ़ता के साथ प्रयत्न शुरू किया। इस समय समिति के सब सदस्य वहाँ मौजूद थे। मैंने उनको समझाने और मेरे सम्बन्ध में जो भय उन्हें था उसको दूर करने की भरसक कोशिश की; पर मैंने देखा कि सभ्यों में इस विषय पर मतभेद था। कुछ सभ्यों की राय थी कि मुझे समिति में ले लेना चाहिए और कुछ दृढ़तापूर्वक इसका विरोध करते थे, परन्तु दोनों के मन में मेरे प्रति प्रेम-भाव की कमी न थी; किन्तु, हाँ, मेरे प्रति प्रेम की अपेक्षा समिति के प्रति उनकी वफ़ादारी शायद अधिक थी; मेरे प्रति प्रेम से तो कम किसी हालत में न थी।

इससे हमारी यह चर्चा बहुत मीठी थी और केवल सिद्धान्त पर ही थी। जो मित्र मेरा विरोध कर रहे थे उनका यह खयाल हुआ कि कई बातों में मेरे और उनके विचारों में जमीन-आसमान का अन्तर है। इससे भी आगे चलकर उनका यह ख़याल हुआ कि जिन ध्येयों को सामने रखकर गोखले ने समिति की रचना की थी, मेरे समिति में आजाने से उन्हीं के जोखिम में पड़ जाने की सम्भावना थी और यह बात उन्हें स्वाभाविक तौर पर ही असह्य मालूम हुई। बहुत-कुछ चर्चा हो जाने के बाद हम अपने-अपने घर गये। सभ्यों ने अन्तिम निर्णय सभा की दूसरी बैठक तक स्थगित रक्खा।

घर जाते हुए मैं बड़े विचार के भँवर में पड़ गया। बहुमत के बल पर मेरा समिति में दाखिल होना क्या उचित है? क्या गोखले के प्रति यह मेरी वफ़ादारी होगी? यदि बहुमत मेरे ख़िलाफ़ हो जाय तो क्या इससे मैं समिति की स्थिति को विषम बनाने का निमित्त न बनूँगा? मुझे यह साफ़ दिखाई पड़ा कि जबतक समिति के सभ्यों में मुझे सदस्य बनाने के विषय में मत-भेद हो, तबतक मुझे खुद ही उसमें दाखिल होने का

आग्रह छोड देना चाहिए, और इस तरह विरोधी पक्ष को नाजुक स्थिति में पडने से बचा लेना चाहिए। इसीमें मुझे समिति और गोखले के प्रति अपनी वफादारी दिखाई दी। अन्तरात्मा में यह निर्णय होते ही तुरन्त मैंने श्रीशास्त्री को पत्र लिखा कि आप मुझे सदस्य बनाने के विषय में सभा न बुलावे। विरोधी पक्ष को मेरा यह निश्चय बहुत पसन्द आया। वे धर्म-सकट में से बच गए। उनकी मेरे साथ स्नेह-गाँठ अधिक मजबूत होगई, और इस तरह समिति मे दाखिल होने की मेरी दरख्वास्त को वापस लेकर मैं समिति का सच्चा सभ्य बना।

अब अनुभव से मैं देखता हूँ कि मेरा बाकायदा समिति का सभ्य न होना ठीक ही हुआ। और कुछ सभ्यो ने मेरे सदस्य बनने का जो विरोध किया था, वह वास्तविक था। अनुभव ने दिखला दिया है कि उनके और मेरे सिद्धान्तो में भेद था, परन्तु मत-भेद जान लेने के बाद भी हम लोगो की आत्मा में कभी अन्तर न पडा। न कभी मन-मुटाव ही हुआ। मत-भेद रहते हुए भी हम बन्धु और मित्र बने हुए है। समिति का स्थान मेरे लिए यात्रा-स्थल हो गया है। लौकिक दृष्टि से भले ही मैं उसका सभ्य न बना हूँ, पर आध्यात्मिक दृष्टि से तो हूँ ही। लौकिक सम्बन्ध की अपेक्षा आध्यात्मिक सम्बन्ध अधिक कीमती है। आध्यात्मिक सम्बन्ध से हीन लौकिक सम्बन्ध प्राण-हीन शरीर के समान है।

: ७ :

कुम्भ

मुझे डाक्टर प्राणजीवनदास मेहता से मिलने रगून जाना था। रास्ते में कलकत्ता में श्री भूपेन्द्रनाथ वसु के निमन्त्रण से मैं उनके यहाँ ठहरा। यहाँ तो मैंने बगाल के शिष्टाचार की हद देखी। इन दिनो मैं सिर्फ फला-हार ही करता था। मेरे साथ मेरा पुत्र रामदास भी था। भूपेन्द्र बाबू के यहाँ जितने फल और मेवे कलकत्ते में मिलते थे सब लाकर जुटाये गये थे। स्त्रियो ने रातो-रात जगकर बादाम, पिस्ता वगैरा को भिगोकर

उनके छिलके निकाले थे। तरह-तरह के फल भी जितना हो सकता थ सुरुचि और चतुराई के साथ तैयार किये गए थे। मेरे साथियों के लि तरह-तरह के पक्वान बनाये गए थे। इस प्रेम और विवेक के आन्तरिक भाव को तो मैं समझा; परन्तु यह बात मुझे असह्य मालूम हुई कि एक दो मेहमानों के लिए सारा घर दिन-भर काम में लगा रहे; किन्तु इस संकट से बचने का मेरे पास कोई उपाय न था। रंगून जाते हुए जहाज में मैंने डेक पर यात्रा की थी। श्रीवत्‍तु के यहाँ यदि प्रेम की मुसीबत थी तो जहाज में प्रेम के अभाव की। वहाँ डेक के यात्रियों के कष्टों का बहुत बुरा अनुभव हुआ। नहाने की जगह पर इतनी गन्दगी थी कि खडा नहीं रहा जाता था। पाखाना तो नरक ही समझिए। मल-मूत्र को छूकर या लाँघकर ही पाखाने में जा सकते थे। मेरे लिए ये कठिनाइयाँ बहुत भारी थीं। मैंने कप्तान से इसकी शिकायत की; पर कौन सुनने लगा? इधर यात्रियों ने भी खूब गन्दगी कर-कर के डेक को बिगाड रक्खा था। जहाँ बैठे होते वहीं थूक देते, वहीं तम्बाकू की पिचकारियाँ चला देते, वहीं खा-पीकर छिलके और कचरा डाल देते। बात-चीत की आवाज और शोर-गुल का तो कहना ही क्या? हर शख्स जितनी होती थी ज्यादा जगह रोक लेता था, कोई किसी की सुविधा का जरा भी खयाल न करता था। खुद जितनी जगह पर कब्जा करते उससे ज्यादा जगह सामान से रोक लेते। ये दो दिन मैंने राम-राम करके बिताये।

रंगून पहुँचने पर मैंने एजेण्ट को इस दुर्दशा की कथा लिख भेजी। लौटते वक्त भी मैं आया तो डेक ही में, परन्तु उस चिट्ठी के तथा डाक्टर मेहता के इन्तजाम के फल-स्वरूप उतने कष्ट न उठाने पड़े।

मेरे फलाहार की झंझट यहाँ भी आवश्यकता से अधिक की जाती थी। डाक्टर मेहता से तो मेरा ऐसा सम्बन्ध है कि उनके घर को मैं अपना घर समझ सकता हूँ। इससे मैंने खाने की चीजों की संख्या तो कम कर दी थी; परन्तु अपने लिए उसकी कोई मर्यादा नहीं बनाई थी। इससे तरह-तरह का मेवा वहाँ आता और मैं उसका विरोध न करता। उस समय मेरी हालत यह थी कि यदि तरह-तरह की चीजें होतीं तो वे

आँख और जीभ को रुचती थी। खाने के वक्त का कोई बन्धन तो था ही नहीं। मैं खुद जल्दी खाना पसन्द करता था, इसलिए बहुत देर नहीं होती थी, हालाँकि रात के आठ-नौ तो महज बज ही जाते।

इस साल (१९१५) हरद्वार में कुम्भ का मेला पड़ता था। उसमें जाने की मेरी प्रबल इच्छा थी। फिर मुझे महात्मा मुंशीरामजी के दर्शन भी करने थे। कुम्भ के मेले के अवसर पर गोखले के सेवक-समाज ने एक बड़ा स्वयं-सेवक-दल भेजा था। उसकी व्यवस्था का भार श्री हृदयनाथ कुँजरू को सौंपा गया था। स्वर्गीय डाक्टर देव भी उसमें थे। यह बात तय पाई कि उन्हें मदद देने के लिए मैं भी अपनी टुकड़ी को ले जाऊँ। इसलिए मगनलाल गाँधी शान्ति-निकेतन वाली हमारी टुकड़ी को लेकर मुझसे पहले हरद्वार पहुँच गये थे। मैं भी रगून से लौटकर उनके साथ शामिल होगया।

कलकत्ते से हरद्वार पहुँचते हुए रेल में बड़ी मुसीबत उठानी पड़ी। डिब्बों में कभी-कभी तो रोशनी तक भी न होती। सहारनपुर से तो यात्रियों को मवेशी की तरह डिब्बों मे भर दिया था। खुले डिब्बे, ऊपर से मध्यान्ह का सूर्य तप रहा था, नीचे लोहे की जमीन गरम हो रही थी। इस मुसीबत का क्या पूछना? फिर भी भावुक हिन्दू प्यास से गला सूखने पर भी 'इस्लामी पानी' आता तो नहीं पीते। जब 'हिन्दू-पानी' की आवाज आती तभी पानी पीते। यही भावुक हिन्दू दवा में जब डाक्टर शराब देते हैं, मुसलमान या ईसाई पानी देते हैं, माँस का सत्व देते हैं, तब उसे पीने में सकोच नहीं करते। उसके सम्बन्ध में तो पूछ-ताछ करने की आवश्यकता ही नहीं समझते।

हमने यह बात शान्ति-निकेतन में ही देख ली थी कि हिन्दुस्तान में भंगी का काम करना हमारा विशेष कार्य हो जायगा। स्वयं-सेवकों के लिए वहाँ किसी धर्मशाला में तबू ताने गये थे। पाखाने के लिए डाक्टर देव ने गड्ढे खुदवाये थे, परन्तु उनकी सफाई का इन्तजाम तो वह उन्हीं पैसे से मेहतरों से करा सकते थे, जो ऐसे समय वेतन पर मिल सकते थे। ऐसी दशा में मैंने यह प्रस्ताव किया कि गड्ढों में मल को समय-

समय पर मिट्टी से ढाँकना तथा और तरह से सफाई रखना, यह काम फिनिक्स के स्वयं-सेवकों के जिम्मे किया जाय। डाक्टर देव ने इसे स्वीकार किया। इस सेवा को माँगकर लेनेवाला तो था मैं, परन्तु उसे पूरा करने का बोझा उठानेवाले थे मगनलाल गाँधी।

मेरा काम वहाँ क्या था? डेरे में बैठकर जो अनेक यात्री आते उन्हें 'दर्शन' देना और उनके साथ धर्म-चर्चा तथा दूसरी बातें करना। दर्शन देते-देते मैं घबरा उठा, उससे मुझे एक मिनट की भी फुरसत नहीं मिलती थी। मैं नहाने जाता तो वहाँ भी मुझे दर्शनाभिलाषी अकेला नहीं छोड़ते और फलाहार के समय तो एकान्त मिल ही कैसे सकता था? तम्बू में कहीं भी एक पल के लिए अकेला न बैठता। दक्षिण अफ्रिका में जो-कुछ सेवा मुझसे हो सकी उसका इतना गहरा असर सारे भारत-खण्ड में हुआ होगा, यह बात मैंने हरद्वार में ही अनुभव की।

मैं तो मानो चक्की के दोनों पाटों में पिसने लगा। जहाँ लोग पहचानते नहीं, वहाँ तीसरे दर्जे के यात्री के रूप में मुसीबत उठाता, जहाँ ठहर जाता वहाँ दर्शनार्थियों के प्रेम से घबरा जाता। दो में से कौन-सी स्थिति अधिक दयाजनक है, यह मेरे लिए कहना बहुत बार मुश्किल हुआ है। हाँ, इतना तो जानता हूँ कि दर्शनार्थियों के प्रदर्शन से मुझे गुस्सा आया है और मन-ही-मन तो उससे अधिक बार संताप हुआ है। तीसरे दर्जे की मुसीबतों से सिर्फ मुझे कष्ट ही उठाने पड़े हैं, गुस्सा मुझे शायद ही आया हो, और कष्ट से तो मेरी उन्नति ही हुई है।

इस समय मेरे शरीर में घूमने-फिरने की शक्ति अच्छी थी। इससे मैं इधर-उधर ठीक-ठीक घूम-फिर सका। उस समय मैं इतना प्रसिद्ध नहीं हुआ था कि जिससे रास्तों में चलना भी मुश्किल होता हो। इस भ्रमण में मैंने लोगों की धर्म-भावना की अपेक्षा उनकी लापरवाही, अधीरता, पाखण्ड और अव्यवस्थितता अधिक देखी। साधुओं के और जमातों के तो दल टूट पड़े थे। ऐसा मालूम होता था मानो वे महज मालपुए और खीर खाने के लिए ही जन्मे हों। यहाँ मैंने पाँच पाँव वाली गाय देखी-! उसे देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ, परन्तु अनुभवी आदमियों ने तुरंत

मेरा अज्ञान दूर कर दिया। यह पाँच पैरोवाली गाय तो दुष्ट और लोभी लोगो का शिकार थी—वलिदान था। जीते बछडे के पैर काटकर गाय के कन्धे का चमडा चीर कर उसमें चिपका दिया जाता था और इस दुहेरी घातक क्रिया के द्वारा भोले-भाले लोगो को दिन-दहाडे ठगने का उपाय निकाला गया था! कौन हिन्दू ऐसा है, जो इस पाँच पाँववाली गाय के दर्शन के लिए उत्सुक न हो? इस पाँच पाँववाली गाय के लिए वह जितना ही दान दे उतना ही कम!!

अब कुम्भ का दिन आया। मेरे लिए वह घडी धन्य थी, परन्तु मैं तीर्थ-यात्रा की भावना से हरद्वार नही गया था। पवित्रता आदि के लिए तीर्थक्षेत्र में जाने का मोह मुझे कभी नही रहा। मेरा खयाल यह था कि सत्रह लाख आदमियो में सभी पाखण्डी नही हो सकते। यह कहा जाता था कि मेले में सत्रह लाख आदमी इकट्ठे हुए थे। मुझे इस विषय में कुछ सन्देह नही था कि इनमें असख्य लोग पुण्य कमाने के लिए, अपनेको शुद्ध करने के लिए, आये थे, परन्तु इस प्रकार की श्रद्धा से आत्मा की उन्नति होती होगी, यह कहना असम्भव नही तो मुश्किल जरूर है।

बिछौने में पडा-पडा मैं विचार-सागर में डूब गया—'चारो ओर फैले इस पाखण्ड में वे पवित्र आत्मायें भी है? वे लोग ईश्वर के दरबार में दण्ड के पात्र नही माने जा सकते? ऐसे समय हरद्वार में आना ही यदि पाप हो तो फिर मुझे प्रकटरूप से उसका विरोध करके कुम्भ के दिन तो हरद्वार अवश्य छोड देना चाहिए। यदि यहाँ आना और कुम्भ के दिन रहना पाप न हो तो मुझे कोई कठोर व्रत लेकर इस प्रचलित पाप का प्रायश्चित्त करना चाहिए—आत्मशुद्धि करनी चाहिए।' मेरा जीवन व्रतो पर रचा गया है, इसलिए कोई कठोर व्रत लेने का निश्चय किया। इसी समय कलकत्ता और रगून में मेरे निमित्त यजमानो को जो अनावश्यक परिश्रम करना पड़ा उसका भी स्मरण हो आया। इस कारण मैंने भोजन की वस्तुओ की सख्या मर्यादित कर लेने का और शाम को अँधेरे के पहले भोजन कर लेने का व्रत लेना निश्चित किया। मैंने सोचा कि यदि मैं अपने भोजन की मर्यादा नही रक्खूँगा तो यजमानो के

लिए बहुत असुविधा-जनक होता रहूँगा और सेवा करने के बजाय उनको अपनी सेवा करने में लगाता रहूँगा। इसलिए चौबीस घण्टो में पाँच चीजो से अधिक न खाने का और रात्रि-भोजन त्याग का व्रत ले लिया। दोनो की कठिनाई का पूरा-पूरा विचार कर लिया था। इन व्रतो में एक भी अपवाद न रखने का निश्चय किया। बीमारी में दवा के रूप में ज्यादा चीजें लेना या न लेना, दवा को भोजन की वस्तु में गिनना या न गिनना, इन सब बातो का विचार कर लिया और निश्चय किया कि खाने की कोई चीज पाँच से अधिक न लूँगा। इन दो व्रतो को आज तेरह साल हो गये। इन्होंने मेरी खासी परीक्षा की है, परन्तु जहाँ एक ओर इन्होंने परीक्षा की है वहाँ उन्होंने मेरे लिए ढाल का भी काम दिया है। मैं मानता हूँ कि इन व्रतों ने मेरी आयु बढ़ा दी है, इनकी बदौलत मेरी धारणा है कि मैं बहुत बार बीमारियो से बच गया हूँ।

: ८ :

लक्ष्मण-झूला

पहाड-जैसे दीखनेवाले महात्मा मुन्शीराम के दर्शन करने और उनके गुरुकुल को देखने जब मैं गया तब मुझे बहुत शान्ति मिली। हरद्वार के कोलाहल और गुरुकुल की शान्ति का भेद स्पष्ट दिखाई देता था। महात्माजी ने मुझपर भरपूर प्रेम की वृष्टि की। ब्रह्मचारी लोग मेरे पास से हटते ही नही थे। रामदेवजी से भी उसी समय मुलाक़ात हुई और उनकी कार्य-शक्ति को मैं तुरन्त पहचान सका था। यद्यपि हमारी मत-भिन्नता हमें उसी समय दिखाई पड गई थी, फिर भी हमारे आपस में स्नेह-गाँठ बँध गई। गुरुकुल में औद्योगिक शिक्षण का प्रवेश करने की आवश्यकता के सम्बन्ध में रामदेवजी तथा दूसरे शिक्षको के साथ मे मेरा ठीक-ठीक वार्तालाप भी हुआ। इससे जल्दी ही गुरुकुल को छोड़ते हुए मुझे दुःख हुआ।

लक्ष्मण-झूला की तारीफ़ मैंने बहुत सुन रक्खी थी। ऋषिकेश गये

विना हरद्वार न छोडने की सलाह मुझे वहुत से लोगो ने दी। मैंने वहाँ पैदल जाना चाहा। एक मंजिल ऋषिकेश की और दूसरी लक्ष्मण-झूले की की।

ऋषिकेश में वहुत से सन्यासी मिलने के लिए आये थे। उनमें से एक को मेरे जीवन-क्रम में वहुत दिलचस्पी पैदा हुई। फिनिक्स-मण्डली मेरे साथ थी ही। हम सवको देखकर उन्होने वहुतेरे प्रश्न पूछे। हम लोगो में धर्म-चर्चा भी हुई। उन्होने देख लिया कि मेरे अन्दर तीव्र धर्म-भाव है। मै गगा-स्नान करके आया था और मेरा शरीर खुला था। उन्होंने मेरे सिर पर न चोटी देखी और न वदन पर जनेऊ। इससे उन्हे दु ख हुआ और उन्होने कहा—

"आप है तो आस्तिक, परन्तु शिखा-सूत्र नही रखते, इससे हम-जैसो को दु ख होता है। हिन्दू-धर्म की ये दो वाह्य सज्ञायें है और प्रत्येक हिन्दू को इन्हे धारण करना चाहिए।"

जव मेरी उमर कोई दस वर्ष की रही होगी तव पोरवन्दर में ब्राह्मणो के जनेऊ से वँधी चावियो की झकार मै सुना करता था और उसकी मुझे ईर्ष्या भी होती थी। मन में यह भाव उठा करता कि मै इसी तरह जनेऊ में चावियाँ लटकाकर झँकार किया करूँ तो अच्छा हो। काठियावाड के वैश्य कुटुम्वो में उस समय जनेऊ का रिवाज नही था। हाँ, नये सिरे से इस वात का प्रचार अलवत्ता हो रहा था कि द्विज-मात्र को जनेऊ अवश्य पहनना चाहिए। उसके फल-स्वरूप गाँधी-कुटुम्व के कितने ही लोग जनेऊ पहननें लगे थे। जिस ब्राह्मण ने हम दो-तीन सगे सम्वन्धियो को राम-रक्षा का पाठ सिखाया था, उसीने हमें जनेऊ पहनाया। मुझे अपने पास चावियाँ रखने का कोई प्रयोजन नही था। तो भी मैंने दो-तीन चावियाँ लटका ली। जव वह जनेऊ टूट गया तव उसका मोह उतर गया था या नही, यह तो याद नही पडता, परन्तु मैंने नया जनेऊ फिर नही पहना।

वडी उमर में दूसरे लोगो ने फिर हिन्दुस्तान में तथा दक्षिण अफ्रिका में जनेऊ पहनाने का प्रयत्न किया था, परन्तु उनकी दलीलो का असर

मेरे दिल पर नहीं हुआ। शूद्र यदि जनेऊ नहीं पहन सकता तो फिर दूसरे लोगों को क्यों पहनना चाहिए? जिस बाह्य चिन्ह का रिवाज हमारे कुटुम्ब में नहीं था उसे धारण करने का एक भी सबल कारण मुझे नहीं दिखाई दिया। मुझे जनेऊ से अरुचि नहीं थी, परन्तु उसे पहनने के कारणों का अभाव मालूम होता था। हाँ, वैष्णव होने के कारण मैं कण्ठी जरूर पहनता था। शिखा तो घर के बड़े-बूढ़े हम भाइयों के सिर पर रखवाते थे, परन्तु विलायत में सिर खुला रखना पड़ता था। गोरे लोग देखकर हँसेंगे और हमें जंगली समझेंगे, इस शर्म से शिखा कटा डाली थी। मेरे भतीजे छगनलाल गांधी, जो दक्षिण अफ्रिका में मेरे साथ रहते थे, बड़े भाव के साथ शिखा रख रहे थे, परन्तु इस वहम से कि उनकी शिखा वहाँ सार्वजनिक कामों में बाधा डालेगी, मैंने उनके दिल को दुखाकर भी छुड़ा दी थी। इस तरह शिखा से मुझे उस समय शर्म लगती थी।

इन स्वामीजी से मैंने यह सब कथा सुनाकर कहा—

"जनेऊ तो मैं धारण नहीं करूँगा; क्योंकि असंख्य हिन्दू जनेऊ नहीं पहनते हैं फिर भी वे हिन्दू समझे जाते हैं; तो फिर मैं अपने लिए उसकी जरूरत नहीं देखता। फिर जनेऊ धारण के मानी हैं—दूसरा जन्म लेना अर्थात् हम विचार-पूर्वक शुद्ध हों, ऊर्ध्वगामी हों। आज तो हिन्दू-समाज और हिन्दुस्तान दोनों गिरी दिशा में हैं। इसलिए हमें जनेऊ पहनने का अधिकार ही कहाँ है? जब हिन्दू-समाज अस्पृश्यता का दोष धो डालेगा, ऊँच-नीच का भेद भूल जायगा, दूसरी गहरी बुराइयों को मिटा देगा, चारों तरफ फैले अधर्म और पाखण्ड को दूर कर देगा, तब उसे भले ही जनेऊ पहनने का अधिकार हो। इसलिए जनेऊ धारण करने की आपकी बात तो मुझे पट नहीं रही है। हाँ, शिखा-सम्बन्धी आपकी बात पर मुझे अवश्य विचार करना पड़ेगा। शिखा तो मैं रखता था; परन्तु शर्म और डर से उसे कटा डाला। मैं समझता हूँ कि वह भी मुझे फिर धारण कर लेनी चाहिए। अपने साथियों के साथ इस बात का विचार कर लूँगा।"

स्वामीजी को जनेऊ-विषयक मेरी दलील न जँची। जो कारण मैंने जनेऊ न पहनने के पक्ष में पेश किये, वे उसे पहनने के पक्ष में दिखाई

दिये। अस्तु। जनेऊ के सम्बन्ध में उस समय ऋषिकेश में जो विचार मैंने प्रदर्शित किया था वह आज भी प्राय वैसा ही कायम है। जबतक ससार में भिन्न-भिन्न धर्मों का अस्तित्व है तबतक प्रत्येक धर्म के लिए बाह्य सज्ञा की आवश्यकता भी शायद हो, परन्तु जब वह बाह्य सज्ञा आडम्बर का रूप धारण कर लेती है अथवा अपने धर्म को दूसरे धर्म से पृथक् दिखलाने का साधन हो जाय, तब वह त्याज्य हो जाती है। आज-कल मुझे जनेऊ हिन्दू-धर्म को ऊँचा उठाने का साधन नही दिखाई पडता। इसलिए मै उसके सम्बन्ध में उदासीन रहता हूँ।

शिखा के त्याग की बात जुदी है। वह शर्म और भय के कारण हुआ था, इसलिए अपने साथियो के साथ विचार करके मैंने उसे धारण करने का निश्चय किया, पर अब हमको लक्ष्मण-झूले की ओर चलना चाहिए।

ऋषिकेश और लक्ष्मण-झूले के प्राकृतिक दृश्य मुझे बहुत पसन्द आये। हमारे पूर्वजो की प्राकृतिक कला को पहचानने की क्षमता के प्रति और कला को धार्मिक स्वरूप देने की उनकी दूरदेशी के प्रति मेरे मन में बडा आदर उत्पन्न हुआ; परन्तु दूसरी ओर मनुष्य की कृति को वहाँ देखकर चित्त को शान्ति न हुई, हरद्वार की तरह ऋषिकेश में भी लोग रास्तो को और गगा के सुन्दर किनारो को गदा कर डालते थे। गगा के पवित्र पानी को बिगाडते हुए भी उन्हें कुछ सकोच न होता था। दिशा-जगल जानेवाले आम जगह और रास्तो पर ही बैठ जाते, यह देखकर मेरे चित्त को बडी चोट पहुँची।

लक्ष्मण-झूला जाते हुए रास्ते में लोहे का एक झूलता हुआ पुल देखा। लोगो से मालूम हुआ कि पहले यह पुल रस्सी का और बहुत मजबूत था, उसे तोडकर एक उदार-हृदय मारवाडी सज्जन ने बहुत रुपये लगाकर यह लोहे का पुल बना दिया और उसकी कुन्जी सौंप दी सरकार को। रस्सी के पुल का तो मुझे कुछ खयाल नहीं हो सकता, परन्तु यह लोहे का पुल तो वहाँ के प्राकृतिक सौदर्न्य को कलुषित करता था और बहुत भद्दा मालूम होता था। फिर यात्रियो के इस रास्ते की कुन्जी

सरकार को सौंप दी गई, यह बात तो मेरी उस समय की वफादारी को भी असह्य मालूम हुई।

वहाँ से भी अधिक दुःखद हृदय स्वर्गाश्रम का था। टीन के तबेले-जैसे कमरो का नाम स्वर्गाश्रम रक्खा गया था। कहा गया था कि यह साधकों के लिए बनाया गया है; परन्तु उस समय शायद ही कोई साधक वहाँ रहता हो। वहाँ की मुख्य इमारत में जो लोग रहते थे उन्होंने भी मेरे दिल पर अच्छी छाप नहीं डाली।

जो हो; पर इसमें सन्देह नहीं कि हरद्वार के अनुभव मेरे लिए अमूल्य साबित हुए। मैं कहाँ जाकर बसूँ और क्या करूँ, इसका निश्चय करने में हरद्वार के अनुभवों ने मुझे बहुत सहायता दी।

: ९ :

आश्रम की स्थापना

कुम्भ की यात्रा के पहले मैं एक बार और हरद्वार आ चुका था। सत्याग्रह-आश्रम की स्थापना २५ मई १९१५ ई० को हुई। श्रद्धानन्दजी की यह राय थी कि मैं हरद्वार में बसूँ। कलकत्ते के कुछ मित्रों की सलाह थी कि वैद्यनाथ-धाम में डेरा डालूँ। और कुछ मित्र इस बात पर ज़ोर दे रहे थे कि राजकोट में रहूँ।

पर अब मैं अहमदाबाद से गुज़रा तो बहुतेरे मित्रों ने कहा कि आप अहमदाबाद को चुनिए। और आश्रम के खर्च का भार भी अपने जिम्मे उन्होंने लिया। मकान खोजने का भी आश्वासन दिया। इसलिए अहमदाबाद पर मेरी नज़र ठहर गई थी। मैं मानता था कि गुजराती होने के कारण मैं गुजराती भाषा के द्वारा देश की अधिक-से-अधिक सेवा कर सकूँगा। अहमदाबाद पहले हाथ-बुनाई का बड़ा भारी केन्द्र था, इससे चरखे का काम यहाँ अच्छी तरह हो सकेगा; और गुजरात का प्रधान नगर होने के कारण यहाँ के धनाढ्य लोग धन द्वारा अधिक सहायता दे सकेंगे, यह भी खयाल था।

अहमदाबाद के मित्रों के साथ जब आश्रम के विषय में बातचीत हुई तो अस्पृश्यों के प्रश्न की भी चर्चा उनसे हुई थी। मैंने साफतौर पर कहा था कि यदि कोई योग्य अंत्यज भाई आश्रम में प्रविष्ट होना चाहेंगे तो मैं उन्हें अवश्य आश्रम में लूंगा।

"आपकी शर्तों का पालन कर सकने वाले अन्त्यज ऐसे कहां रास्तो में पड़े हुए हैं?" एक वैष्णव मित्र ने ऐसा कहकर अपने मनको सन्तोष दे लिया और अन्त को अहमदाबाद में बसने का निश्चय हुआ।

अब हम मकान की तलाश करने लगे। श्री जीवनलाल बैरिस्टर का मकान, जो कोचरब में है, किराये पर लेना तय पाया। वही मुझे अहमदाबाद में बसानेवालों में अग्रणी थे।

इसके बाद आश्रम का नाम रखने का प्रश्न खड़ा हुआ। मित्रों से मैंने मशवरा किया। सेवाश्रम, तपोवन इत्यादि नाम सुझाये गए। सेवाश्रम नाम हम लोगों को पसन्द आता था, परन्तु उससे सेवा की पद्धति का परिचय नहीं होता था। तपोवन नाम तो भला स्वीकृत कैसे हो सकता था? क्योंकि यद्यपि तपश्चर्या हम लोगों को प्रिय थी, फिर भी यह नाम हम लोगों को अपने लिए भारी मालूम हुआ। हम लोगों का उद्देश्य तो था सत्य की पूजा, सत्य की शोध करना, उसीका आग्रह रखना और दक्षिण अफ्रिका में जिस पद्धति का उपयोग हम लोगों ने किया था, उसका परिचय भारतवासियों को कराना; एवं हमें यह भी देखना था कि उसकी शक्ति और प्रभाव कहांतक व्यापक हो सकता है। इसलिए मैंने और साथियों ने 'सत्याग्रहाश्रम' नाम पसन्द किया। इसमें सेवा और सेवा-पद्धति दोनों का भाव अपने-आप आ जाता था।

आश्रम के संचालन के लिए नियमावली की आवश्यकता थी, इसलिए नियमावली बनाकर उसपर जगह-जगह से रायें मँगवाई गईं। बहुतेरी सम्मतियों में से सर गुरुदास बनर्जी की राय मुझे याद रह गई है। उन्हें नियमावली पसन्द आई, परन्तु उन्होंने सुझाया कि इन व्रतों में नम्रता के व्रत को भी स्थान मिलना चाहिए। उनके पत्र की ध्वनि यह थी कि हमारे युवकवर्ग में नम्रता की कमी है। मैं भी जगह-जगह नम्रता के अभाव

को अनुभव कर रहा था; मगर व्रत में स्थान देने से नम्रता के नम्रता न रह जाने का आभास होता था। नम्रता का पूरा अर्थ तो है शून्यता। शून्यता प्राप्त करने के लिए दूसरे व्रत हुई हैं। शून्यता मोक्ष की स्थिति है। मुमुक्षु या सेवक के प्रत्येक कार्य यदि नम्रता—निरभिमानता न हो तो वह मुमुक्षु नहीं, सेवक नहीं, वह स्वार्थी है, अहंकारी है।

आश्रम में इस समय लगभग तेरह तामिल लोग थे। मेरे साथ दक्षिण अफ्रिका से पांच तामिल बालक आये। वे तथा यहां के लगभग २५ पुरुष मिलकर आश्रम का आरम्भ हुआ था। सब एक भोजनशाला में भोजन करते थे और इस तरह रहने का प्रयत्न करते थे, मानो सब एक ही कुटुम्ब के हों।

: १० :

कसौटी पर

पर इससे सहायक मित्र-मण्डल में बडी खलबली मची। जिस कुँए में बगले के मालिक का भाग था उसमें से पानी भरने में दिक्कत आने लगी। चरस हाँकनेवाले को भी यदि हमारे पानी के छींटे लग जाते तो उसे छूत लग जाती। उसने हमें गालियाँ देना शुरु किया। दूदाभाई को भी वह सताने लगा। मैंने सबसे कह रक्खा था कि गालियाँ सह लेना चाहिए और दृढतापूर्वक पानी भरते रहना चाहिए। हमको चुपचाप गालियाँ सुनता देखकर चरसवाला शर्मिन्दा हुआ और उसने हमारा पिण्ड छोड दिया, परन्तु इससे आर्थिक सहायता मिलनी बन्द हो गई। जिन भाइयो ने पहले से उन अछूतो के प्रवेश पर भी, जो आश्रम के नियमो का पालन करते हो, शका खडी की थी उन्हे तो यह आशा ही नही थी कि आश्रम में कोई अन्त्यज आजायगा। इधर आर्थिक सहायता बन्द हुई, उधर हम-लोगो के बहिष्कार की अफवाह मेरे कान पर आने लगी। मैंने अपने साथियो के साथ यह विचार कर रक्खा था कि यदि हमारा बहिष्कार हो जाय और हमें कही से सहायता न मिले तो भी हमें अहमदाबाद न छोडना चाहिए। हम अछूतो के मुहल्लो में जाकर बस जायँगे, और जो कुछ मिल जायगा उसपर अथवा मजदूरी करके गुजर कर लेगे।

अन्त को मगनलाल ने मुझे नोटिस दिया कि अगले महीने आश्रम-खर्च के लिए हमारे पास रुपये न रहेगे। मैंने धीरज के साथ जवाब दिया—"तो हम लोग अछूतो के मुहल्लो में रहने लगेंगे।"

मुझपर यह सकट पहली ही बार नही आया था, परन्तु हर बार आखीर में जाकर उस साँवलिया ने कही-न-कही से मदद भेज दी है।

मगनलाल के इस नोटिस के थोडे ही दिन बाद एक सुबह किसी बालक ने आकर खबर दी कि बाहर एक मोटर खडी है। एक सेठ आपको बुला रहे हैं। मै मोटर के पास गया। सेठ ने मुझसे कहा—"मैं आश्रम को कुछ मदद देना चाहता हूँ, आप लेगे?" मैंने उत्तर दिया—"हाँ, आप दें तो मैं जरूर ले लूँगा। और इस समय तो मुझे जरूरत भी है।"

"मै कल इसी समय यहाँ आऊँगा तो आप आश्रम में ही मिलेगे न?" मैंने कहा—"हाँ।" और सेठ अपने घर गये। दूसरे दिन नियत समय पर

मोटर का भोपू बजा । बालकों ने मुझे खबर की । वह सेठ अन्दर नहीं आये । मैं ही उनसे मिलने के लिए गया । मेरे हाथ में १३०००) रु० के नोट रखकर वह विदा हो गये । इस मदद की मैंने बिलकुल आशा न की थी । मदद देने का यह तरीका भी नया ही देखा । उन्होंने आश्रम में इससे पहले कभी पैर न रक्खा था । मुझे ऐसा याद पड़ता है कि मैं उनसे एक बार पहले भी मिला था । न तो वह आश्रम के अन्दर आये, न कुछ पूछा-ताछा । बाहर से ही रुपया देकर चलते बने । इस तरह का यह पहला अनुभव मुझे था । इस मदद से अछूतों के मुहल्ले में जाने का विचार स्थगित रहा, क्योंकि लगभग एक वर्ष के खर्च का रुपया मुझे मिल गया था ।

परन्तु बाहर की तरह आश्रम के अन्दर भी खलबली मची । यद्यपि दक्षिण अफ्रिका में अछूत वगैरा मेरे यहाँ आते रहते, और खाते थे; परन्तु यहाँ अछूत कुटुम्ब का आना और आकर रहना पत्नी को तथा दूसरी स्त्रियों को पसन्द न हुआ । दानीबहन के प्रति उनका तिरस्कार तो नहीं, पर उदासीनता मेरी सूक्ष्म आँखें और तीक्ष्ण कान, जो ऐसे विषयों में खासतौर पर सतर्क रहते हैं, देखते और सुनते थे । आर्थिक सहायता के अभाव से न तो मैं भयभीत हुआ, न चिन्ता-ग्रस्त ही; परन्तु वह भीतरी क्षोभ कठिन था । दानीबहन मामूली स्त्री थी । दूधाभाई की पढ़ाई भी मामूली थी, पर वह ज्यादा समझदार थे । उनका धीरज मुझे पसन्द आया । कभी-कभी उन्हें गुस्सा आजाता; परन्तु आमतौर पर उनकी सहनशीलता की अच्छी ही छाप मुझपर पड़ी है । मैं दूधाभाई को समझाता कि छोटे-छोटे अपमानों को हमें पी जाना चाहिए । वह समझ जाते और दानीबहन को भी सहन करने की प्रेरणा करते ।

इस कुटुम्ब को आश्रम में रखकर आश्रम ने बहुत सबक सीखे हैं । और आरम्भ-काल में ही यह बात साफ़तौर से स्पष्ट हो जाने से कि आश्रम में अस्पृश्यता के लिए जगह नहीं है, आश्रम की मर्यादा बँध गई और इस दिशा में उनका काम बहुत सरल होगया । इतना होते हुए भी, आश्रम का खर्च बढ़ते जाते हुए भी, ज्यादातर सहायता उन्हीं हिन्दुओं की तरफ़ से मिलती आरही है, यह बात स्पष्टरूप से शायद इसी बात

को सूचित करती है कि अस्पृश्यता की जड़ अच्छी तरह हिल गई है। इसके दूसरे प्रमाण तो बहुतेरे हैं; परन्तु जहाँ अछूत के साथ खान-पान में परहेज नहीं रक्खा जाता वहाँ भी वे हिन्दू-भाई मदद करें, जो अपने को सनातनी मानते हैं, तो यह प्रमाण न-कुछ नहीं समझा जासकता।

इसी प्रश्न के सम्बन्ध में एक और बात भी आश्रम में स्पष्ट होगई। इस विषय में जो-जो नाजुक सवाल पैदा हुए उनका भी हल मिला। कितनी ही अकल्पित असुविधाओं का स्वागत करना पड़ा। ये तथा और भी सत्य की शोध के सिलसिले में हुए प्रयोगों का वर्णन आवश्यक तो है, पर मैं उन्हें यहाँ छोड़ देता हूँ। इस बात पर मुझे दुःख तो है, परन्तु अब आगे के अध्यायों में यह दोष थोड़ा-बहुत रहता ही रहेगा—कुछ जरूरी बातें मुझे छोड़ देनी पड़ेंगी, क्योंकि उनमें योग देने वाले बहुतेरे पात्र अभी मौजूद हैं और उनकी इजाजत के बिना उनके नाम और उनसे सम्बन्ध रखनेवाली बातों का वर्णन आजादी से करना अनुचित मालूम होता है। सबकी स्वीकृति समय-समय पर मँगाना अथवा उनसे सम्बन्ध रखनेवाली बातें उनको भेजकर सुधरवाना एक असम्भव बात है, फिर यह इस आत्म-कथा की मर्यादा के भी बाहर है। इसलिए अब आगे की कथा यद्यपि मेरी दृष्टि से सत्य के शोधक के लिए जानने योग्य है, फिर भी मुझे डर है कि वह अधूरी छपती रहेगी। इतना होते हुए भी ईश्वर की इच्छा होगी तो, असहयोग के युग तक पहुँचने की मेरी आशा है।

: ११ :

गिरमिट-प्रथा

अब इस नये बसे हुए आश्रम को छोड़कर, जोकि अब भीतरी और बाहरी तूफानों से निकल चुका था, गिरमिट-प्रथा या कुली-प्रथा पर थोड़ा-सा विचार कर लेने का समय आगया है। गिरमिटिया उस कुली या मजूर को कहते हैं, जो पाँच या उससे कम वर्ष के लिए मजूरी करने का लेखी इकरार करके भारत के बाहर चला जाता है। नेटाल के ऐसे गिर-

मिटियों पर से तीन पौण्ड का वार्षिक कर १९१४ में उठा दिया गया था; परन्तु यह प्रथा अभी बन्द नहीं हुई थी। १९१६ ई० में भारतभूषण पण्डित मालवीयजी ने इस सवाल को धारा-सभा में उठाया था, और लार्ड हार्डिंग ने उनके प्रस्ताव को स्वीकार करके यह घोषणा की थी कि यह प्रथा 'समय आते ही' उठा देने का वचन मुझे सम्राट् की ओर से मिला है। परन्तु मेरा तो यह स्पष्ट मत हुआ कि इस प्रथा को तत्काल बन्द कर देने का निर्णय हो जाना चाहिए। हिन्दुस्तान अपनी लापरवाही से इस प्रथा को बहुत वर्षों तक दरगुजर करता रहा; पर अब मैंने यह देखा कि लोगों में इतनी जागृति आगई है कि अब यह बन्द की जानकती है, इसलिए मैं कितने ही नेताओं से इस विषय में मिला, कुछ अखबारों में इस सम्बन्ध में लिखा और मैंने देखा कि लोकमत इस प्रथा का उच्छेद कर देने के पक्ष में था। मेरे मन में प्रश्न उठा कि क्या इसमें सत्याग्रह का कुछ उपयोग हो सकता है? मुझे उपयोग के विषय में तो कुछ सन्देह नहीं था; परन्तु यह बात मुझे नहीं दिखाई पड़ती थी कि उपयोग किया कैसे जाय।

इस बीच वाइसराय ने 'समय आने पर' इन शब्दों का अर्थ भी स्पष्ट कर दिया। उन्होंने प्रकट किया कि दूसरी व्यवस्था करने में जितना समय लगेगा, उतने समय में यह प्रथा निर्मूल करदी जायगी। इसपर से फ़रवरी १९१७ में भारत-भूषण मालवीयजी ने गिरमिट-प्रथा को क़तई उठा देने का क़ानून पेश करने की इजाजत बड़ी धारा-सभा में माँगी, तो वाइस-राय ने उसे नामजूर कर दिया। तब इस मसले को लेकर मैंने हिन्दुस्तान में भ्रमण शुरू किया।

भ्रमण शुरू करने के पहले वाइसराय से मिल लेना मैंने उचित समझा। उन्होंने तुरन्त मुझे मिलने का समय दिया। उस समय मि० मेफ़ी, अब सर जान मेफ़ी, उनके मन्त्री थे। मि० मेफ़ी के साथ मेरा ठीक सम्बन्ध बँध गया था। लार्ड चेम्सफोर्ड के साथ इस विषय पर सन्तोष-जनक बात-चीत हुई। उन्होंने निश्चय-पूर्वक तो कुछ नहीं कहा; परन्तु उनसे मदद मिलने की आशा जरूर मेरे मन में बँधी।

भ्रमण का आरम्भ मैंने बम्बई से किया। बम्बई में सभा करने का जिम्मा मि० जहाँगीरजी पेटिट ने लिया। इम्पीरियल सिटीजनशिप असोसिएशन के नाम पर सभा हुई। उसमें जो प्रस्ताव उपस्थित किये जाने वाले थे, उनका मसविदा बनाने के लिए एक समिति बनाई गई। उसमें डा० रीड, सर लल्लूभाई श्यामलदास, मि० नटराजन इत्यादि थे। मि० पेटिट तो थे ही। प्रस्ताव में यह प्रार्थना की गई थी कि गिरमिट-प्रथा बन्द करदी जाय, पर सवाल यह था कि कब बन्द की जाय? इसके सम्बन्ध में तीन सूचनायें पेश हुई—।१) 'जितनी जल्दी हो सके', (२) '३१ जुलाई', और (३) 'तुरन्त'। '३१ जुलाई' वाली सूचना मेरी थी। मुझे तो निश्चित तारीख की जरूरत थी कि जिससे उस मियाद तक यदि कुछ न हो तो इस बात की सूझ पड सके कि आगे क्या किया जाय और क्या किया जासकता है। सर लल्लूभाई की राय थी कि 'तुरन्त' शब्द रक्खा जाय। उन्होने कहा कि '३१ जुलाई' से तो 'तुरन्त' शब्द में अधिक जल्दी का भाव आता है। इसपर मैंने यह समझाने की कोशिश की कि लोग 'तुरन्त' शब्द का तात्पर्य न समझ सकेंगे। लोगो से यदि कुछ काम लेना हो, तो उनके सामने निश्चयात्मक शब्द रखना चाहिए। 'तुरन्त' का अर्थ सब अपनी मर्जी के अनुसार कर सकते हैं। सरकार एक कर सकती है, लोग दूसरा कर सकते हैं। परन्तु '३१ जुलाई' का अर्थ सब एक ही करेंगे और उस तारीख तक यदि कोई फैसला न हो तो हम यह विचार कर सकते है कि अब हमें क्या कार्रवाई करनी चाहिए। यह दलील डा० रीड को तुरन्त जँच गई। अन्त को सर लल्लूभाई को भी '३१ जुलाई' रुची और प्रस्ताव में वही तारीख रक्खी गई। सभा में यह प्रस्ताव रक्खा गया और सब जगह '३१ जुलाई' की मर्यादा घोषित हुई।

बम्बई से श्रीमती जायजी-पेटिट की अथक मिहनत से स्त्रियो का एक प्रतिनिधि-मण्डल वाइसराय के पास गया। उसमें लेडी ताता, स्वर्गीय दिलशाह बेगम वगैरा थी। सब बहनो के नाम तो मुझे इस समय याद नहीं हैं, परन्तु इस प्रतिनिधि-मण्डल का असर बहुत अच्छा हुआ और वाइसराय साहब ने उसका आशा-वर्धक उत्तर दिया था। करांची, कलकत्ता

वगैरा जगह भी मैं हो आया था। सब जगह अच्छी सभायें हुईं और जगह-जगह लोगों में खूब उत्साह था। जब मैंने इस काम को उठाया तब ऐसी सभायें होने की और इतनी संख्या में लोगों के आने की आशा मैंने नहीं की थी।

इस समय मैं अकेला ही सफर करता था, इससे अलौकिक अनुभव प्राप्त होता था। खुफिया पुलिस तो पीछे लगी ही रहती थी; पर इनके साथ झगड़ने की मुझे कोई जरूरत नहीं थी। मेरे पास कुछ भी छिपी बात नहीं थी। इसलिए वे न मुझे सताते और न मैं उन्हें सताता था। सौभाग्य से उस समय मुझपर 'महात्मा' की छाप नहीं लगी थी, हालांकि जहाँ लोग मुझे पहचान लेते वहाँ इस नाम का घोष होने लगता था। एक दफा रेल में जाते हुए बहुत से स्टेशनों पर खुफिया मेरा टिकट देखने आते और नम्बर वगैरा लेते। मैं तो वे जो सवाल पूछते उनका जवाब तुरन्त दे देता। इससे साथी मुसाफिरों ने समझा कि मैं कोई सीधा-सादा साधु या फकीर हूँ। जब दो-चार स्टेशन पर खुफिया आये तो वे मुसाफिर बिगड़े और उस खुफिया को गाली देकर डांटने लगे—"इस बेचारे साधु को नाहक क्यों सताते हो?" और मेरी तरफ मुखातिब होकर कहा—"इन बदमाशों को टिकट मत बताओ।"

मैंने हौले से इन यात्रियों से कहा—"उनके टिकट देखने से मुझे कोई कष्ट नहीं होता, वे अपना फर्ज अदा करते हैं, इससे मुझे किसी तरह का दु:ख नहीं है।

उन मुसाफिरों को यह बात जँची नहीं। वे मुझपर अधिक तरस खाने लगे और आपस में बातें करने लगे कि देखो, निरपराध लोगों को भी ये कैसे हैरान करते हैं।

इन खुफियों से तो मुझे कोई तकलीफ न मालूम हुई; परन्तु लाहौर से लेकर देहली तक मुझे रेलवे की भीड़ और तकलीफ का बहुत ही कड़ुवा अनुभव हुआ। करांची से लाहौर होकर मुझे कलकत्ता जाना था। लाहौर में गाड़ी बदलनी पड़ती थी। यहाँ गाड़ी में मेरी कहीं दाल नहीं गलती थी। मुसाफिर जबरदस्ती घुस पड़ते थे। दरवाजा बन्द होता तो खिड़की

में से अन्दर घुस जाते थे। इधर-मुझे नियत तिथि को कलकत्ता पहुँचना जरूरी था। यदि यह ट्रेन छूट जाती तो मैं कलकत्ते समय पर नहीं पहुँच सकता था। मैं जगह मिलने की आशा छोड रहा था। कोई मुझे अपने डब्बे में नहीं लेता था। अखीर को मुझे जगह खोजता हुआ देखकर एक मजदूर ने कहा—"मुझे बारह आने दो तो मैं जगह दिला दूँ।" मैंने कहा—"जगह दिला दो तो मैं बारह आने जरूर दूँगा।" बेचारा मजदूर मुसाफिरों के हाथ-पांव जोडने लगा, पर कोई मुझे जगह देने के लिए तैयार नहीं होते थे। गाडी छूटने की तैयारी थी। इतने में एक डब्बे के कुछ मुसाफिर बोले—"यहाँ जगह नहीं है, लेकिन इसके भीतर घुसा सकते हो तो घुसा दो, खडा रहना होगा।" मजदूर ने मुझसे पूछा—"क्योंजी?" मैंने कहा—"हाँ, घुसा दो!" तब उसने मुझे उठाकर खिडकी में से अन्दर फेंक दिया। मैं अन्दर घुसा और मजदूर ने बारह आने कमाये।

मेरी यह रात बडी मुश्किलों से बीती। दूसरे मुसाफिर तो किसी तरह ज्यों-त्यों करके बैठ गये, परन्तु मैं ऊपर की बैठक की जंजीर पकड कर खडा ही रहा। बीच-बीच में यात्री लोग मुझे डाटते भी जाते—"अरे, खडा क्यों है, बैठ क्यों नहीं जाता?" मैंने उन्हें बहुतेरा समझाया कि बैठने की जगह नहीं है, परन्तु उन्हें मेरा खडा रहना भी बरदाश्त नहीं होता था हालाँकि वे खुद ऊपर की बैठक में आराम से पैर ताने पडे हुए थे, पर मुझे बार-बार दिक करते थे। ज्यों-ज्यों वे मुझे दिक करते, त्यों-त्यों मैं उन्हें शान्ति से जवाब देता। इससे वे कुछ शान्त हुए। फिर मेरा नाम-ठाम पूछने लगे। जब मुझे अपना नाम बताना पड़ा तब वे बडे शर्मिन्दा हुए। मुझसे माफी माँगने लगे और तुरन्त अपने पास जगह करदी। "सबर का फल मीठा होता है"—यह कहावत मुझे याद आई। इस समय मैं बहुत थक गया था। मेरा सिर घूम रहा था। जब बैठने की जगह की सचमुच जरूरत थी तब ईश्वर ने उसकी सुविधा कर दी।

इस तरह धक्के खाता हुआ आखिर समय पर कलकत्ते पहुँच गया। कासिमबाजार के महाराज ने अपने यहाँ ठहरने का मुझे निमन्त्रण दे रक्खा था। कलकत्ते की सभा के सभापति भी वही थे। करांची की तरह

कलकत्ते में भी लोगो का उत्साह उमड रहा था, कुछ अंग्रेज लोग भी आये थे।'

३१ जुलाई के पहले कुली-प्रथा बन्द होने की घोषणा प्रकाशित हुई। १८९४ ई० में इस प्रथा का विरोध करने के लिए पहली दरखास्त मैंने बनाई थी और यह आशा रक्खी थी कि किसी दिन यह 'अर्ध-गुलामी' जरूर रद हो जायगी। १८९४ में शुरू हुए इस कार्य में यद्यपि बहुतेरे लोगो की सहायता थी, परन्तु यह कहे बिना नहीं रहा जाता कि इस बार के प्रयत्न के साथ शुद्ध सत्याग्रह भी सम्मिलित था।

इस घटना का अधिक ब्यौरा और उसमें भाग लेनेवाले पात्रो का परिचय दक्षिण अफ्रिका के सत्याग्रह के इतिहास में पाठको को मिलेगा।

: १२ :

नील का दाग

चम्पारन राजा जनक की भूमि है। चम्पारन में जैसे आम के वन हैं उसी तरह, १९१७ में, नील के खेत थे। चम्पारन के किसान अपनी ही जमीन के ३/२० हिस्से में नील की खेती जमीन के असली मालिक के लिए करने पर कानूनन बाध्य थे। इसे वहाँ 'तीन कठिया' कहते थे। २० कट्ठे का वहाँ एक एकड था और उसमें से ३ कट्ठे नील बोना पडता था। इसीलिए उस प्रथा का नाम था 'तीन कठिया'।

मैं यह कह देना चाहता हूँ कि चम्पारन में जाने के पहले मैं उसका नाम-निशान नहीं जानता था। यह खयाल भी प्राय नहीं के बराबर ही था कि वहाँ नील की खेती होती है। नील की गोटियाँ देखी थीं, परन्तु मुझे यह बिलकुल पता न था कि वे चम्पारन में बनती थीं और उनके लिए हजारो किसानो को वहाँ दु ख उठाना पडता था।

राजकुमार शुक्ल नाम के एक किसान चम्पारन में रहते थे। उन पर नील की खेती के सिलसिले में बड़ी बुरी बीती थी। वह दुःख उन्हें खल रहा था और उनीके फल-स्वरूप नवके लिए इस नील के दाग को धो डालने का उत्साह पैदा हुआ था।

जब मै महासभा में लखनऊ गया था, तब इस किसान ने मेरा पल्ला पकड़ा। "वकीलबाबू आपको सब हाल बतायेंगे" यह कहते हुए चम्पारन चलने का निमन्त्रण मुझे देते जाते थे।

यह वकीलबाबू और कोई नही, मेरे चम्पारन के प्रिय साथी, बिहार के सेवा-जीवन के प्राण, ब्रिजकिशोरबाबू ही थे। उन्हे राजकुमार शुक्ल मेरे डेरे में लाये। वह काले अलपके का अचकन, पतलून वगैरा पहने हुए थे। मेरे दिल पर उनकी कोई अच्छी छाप नही पडी। मैंने समझा कि इस भोले किसान को लूटनेवाले कोई वकील होंगे।

मैंने उनसे चम्पारन की थोडी-सी कथा सुनली और अपने रिवाज के मुताबिक जवाब दिया—"जबतक मै खुद जाकर सब हाल न देखलूं तबतक मै कोई राय नही दे सकता। आप महासभा में इस विषय पर बोले, किन्तु मुझे तो अभी छोड ही दीजिए।" राजकुमार शुक्ल तो चाहते ही थे कि महासभा की मदद मिले। चम्पारन के विषय में महासभा मे ब्रिजकिशोर बाबू बोले और सहानुभूति का एक प्रस्ताव पास हुआ।

राजकुमार शुक्ल को इससे खुशी हुई, परन्तु इतने ही से उन्हें सन्तोष न हुआ। वह तो खुद चम्पारन के किसानो के दुःख दिखाना चाहते थे। मैंने कहा—"मै अपने भ्रमण मे चम्पारन को भी ले लूंगा, और एक-दो दिन वहाँ के लिए देदूंगा।" उन्होने कहा—"एक दिन काफी होगा, अपनी नजरो से देखिए तो सही।"

लखनऊ से मै कानपुर गया था। वहाँ भी देखा तो राजकुमार शुक्ल मौजूद। "यहाँ से चम्पारन बहुत नजदीक है। एक दिन दे दीजिए।" "अभी तो मुझे माफ कीजिए, पर मै यह वचन देता हूँ कि मै आऊँगा जरूर।" यह कहकर वहाँ जाने के लिए मै और भी बँध गया।

मै आश्रम पहुँचा तो वहाँ भी राजकुमार शुक्ल मेरे पीछे-पीछे मौजूद। "अब तो दिन मुकर्रर कर दीजिए।" मैंने कहा—"अच्छा, अमुक तारीख को मुझे कलकत्ते जाना है, वहाँ आकर मुझे ले जाना।" कहाँ जाना, क्या करना, क्या देखना, मुझे इसका कुछ पता न था। कलकत्ते में भूपेनबाबू के यहाँ मेरे पहुँचने के पहले ही राजकुमार शुक्ल का

पडाव पड चुका था। अब तो इस अपढ-अनघड परन्तु निश्चयी किसान ने मुझे जीत लिया।

१९१७ के आरम्भ में कलकत्ते से हम दोनों रवाना हुए। हम दोनो की एक-सी जोडी—दोनो किसान-से दीखते थे। राजकुमार शुक्ल और मैं—हम दोनो एक ही गाडी में बैठे। सुबह पटना उतरे।

पटने की यह मेरी पहली यात्रा थी। वहाँ मेरी किसीसे इतनी पहचान नही थी कि कही ठहर सकूँ।

मैंने मन में सोचा था कि राजकुमार शुक्ल है तो अनघड किसान; परन्तु यहाँ उनका कुछ-न-कुछ जरिया जरूर होगा। ट्रेन में उनका मुझे अधिक हाल मालूम हुआ। पटने में जाकर उनकी कलई खुल गई। राजकुमार शुक्ल का भाव तो निर्दोष था, परन्तु जिन वकीलो को उन्होंने मित्र माना था वे मित्र न थे, वल्कि राजकुमार शुक्ल उनके आश्रित की तरह थे। इस किसान मवक्किल और उन वकीलो के बीच उतना ही अतर था, जितना कि चौडा पाट वरसात में गगाजी का हो जाता है।

मुझे वह राजेन्द्रबाबू के यहाँ ले गये। राजेन्द्रबाबू पुरी या कहीं और गये थे। बगले पर एक-दो नौकर थे। खाने के लिए कुछ तो मेरे साथ था, परन्तु मुझे पिण्डखजूर की जरूरत थी, सो वेचारे राजकुमार शुक्ल ने बाजार से लादी।

परन्तु विहार में छुआ-छूत का वडा सख्त रिवाज था। मेरे डोल के पानी के छींटे से नौकर को छून लगती थी। नौकर वेचारा क्या जानता कि मै किस जाति का था? अन्दर के पाखाने का उपयोग करने के लिए राजकुमार ने कहा, तो नौकर ने बाहर के पाखाने की तरफ उँगली वताई। मेरे लिए इसमें अचरज की या रोष की कोई बात न थी, क्योंकि ऐसे अनुभवो से मैं पक्का हो गया था। नौकर तो वेचारा अपने धर्म का पालन कर रहा था, और राजेन्द्रबाबू के प्रति अपना फर्ज अदा करता था। इन रगतदार अनुभवो ने राजकुमार शुक्ल के प्रति जहाँ एक ओर मेरा मान वढा, तहाँ उनके सम्बन्ध में मेरा ज्ञान भी वढा। अब पटना से लगाम मैंने अपने हाथ में लेली।

: १३ :

बिहार की सरलता

मौलाना मजहरुलहक और मैं एकसाथ लन्दन में पढते थे। उसके बाद हम बम्बई में १९१५ की महासभा में मिले थे। उस साल वह मुसलिम-लीग के सभापति थे। उन्होंने पुरानी पहचान निकालकर जब कभी मैं पटना आऊँ तो उनके यहाँ ठहरने का निमन्त्रण दिया था। इस निमन्त्रण के आधार पर मैंने उन्हें चिट्ठी लिखी और अपने काम का भी परिचय दिया। वह तुरन्त अपनी मोटर लेकर आये और मुझे अपने यहाँ चलने का इसरार करने लगे। इसके लिए मैंने उनको धन्यवाद दिया और कहा कि "मुझे अपने गन्तव्य स्थान पर पहली ट्रेन से रवाना कर दीजिए। रेलवे गाइड से मुकाम का मुझे कुछ पता नही लग सकता।" उन्होंने राजकुमार शुक्ल के साथ बात की और कहा कि पहले मुजफ्फरपुर जाना चाहिए। उसी दिन शाम को मुजफ्फरपुर की गाडी जाती थी। उसमे उन्होंने मुझे रवाना कर दिया। मुजफ्फरपुर में उस समय आचार्य कृपलानी भी रहते थे। उन्हे मैं पहचानता था। जब मैं हैदराबाद गया था तब उनके महात्याग की, उनके जीवन की, और उनके द्रव्य से चलने वाले आश्रम की बात डॉक्टर चोइथराम के मुख से सुनी थी। वह मुजफ्फरपुर-कॉलेज में प्रोफेसर थे, पर उस समय वहाँ से मुक्त हो बैठे थे। मैंने उन्हें तार किया। मुजफ्फरपुर ट्रेन आधीरात को पहुँचती थी। वह अपने शिष्य-मण्डल को लेकर स्टेशन आपहुँचे थे, परन्तु उनके घर-बार कुछ न था। वह अध्यापक मलकानी के यहाँ रहते थे, मुझे उनके यहाँ ले गये। मलकानी भी वहाँ के कॉलेज में प्रोफेसर थे और उस जमाने में सरकारी कॉलेज के प्रोफेसर का मुझे अपने यहाँ ठहराना एक असाधारण बात थी।

कृपलानीजी ने बिहार की और उसमें तिरहुत-विभाग की दीन दशा

का वर्णन किया और मुझे अपने काम की कठिनाई का अन्दाज़ बताया। कृपलानीजी ने विहारियों के साथ गाढा सम्बन्ध कर लिया था। उन्होंने मेरे काम की बात वहाँ के लोगों से कर रक्खी थी। सुबह होते ही कुछ वकील मेरे पास आये। उनमें से रामनवमीप्रसादजी का नाम मुझे याद रह गया है। उन्होंने अपने इस आग्रह के कारण मेरा ध्यान अपनी ओर खींचा था।

"आप जिस काम को करने यहाँ आये हैं वह इस जगह से नहीं हो सकता। आपको तो हम-जैसे लोगों के यहाँ चलकर ठहरना चाहिए। गयाबाबू यहाँ के मशहूर वकील हैं। उनकी तरफ़ से मैं आपको उनके यहाँ ठहरने का आग्रह करता हूँ। हमें सब सरकार से तो जरूर डरते हैं, परन्तु हमसे जितनी हो सकेगी आपकी मदद करेंगे। राजकुमार शुक्ल की बहुतेरी बातें सच हैं। हमें अफ़सोस है कि हमारे अगुआ आज यहाँ नहीं हैं। बाबू ब्रिजकिशोरप्रसाद को और राजेन्द्रप्रसाद को मैंने तार किया है। दोनों यहाँ जल्दी आजायँगे और आपको पूरी पूरी वाक़फ़ियत और मदद दे सकेंगे। मिहरबानी करके आप गयाबाबू के यहाँ चलिए।"

यह भाषण सुनकर मैं ललचाया, पर मुझे इस भय ने सकोच हुआ, मुझे ठहराने से कहीं गयाबाबू की स्थिति विषम न हो जाय, परन्तु गया बाबू ने इसके विषय में मुझे निश्चिन्त कर दिया।

अब मैं गयाबाबू के यहाँ ठहरा। उन्होंने तथा उनके कुटुम्बी-जनों ने मुझपर बड़े प्रेम की वर्षा की।

ब्रिजकिशोरबाबू दरभंगा से और राजेन्द्रबाबू पुरी से यहाँ आये। यहाँ जो मैंने देखा तो यह लखनऊवाले ब्रिजकिशोरप्रसाद नहीं थे। उनके अंदर बिहारी की नम्रता, सादगी, भलमसी और असाधारण श्रद्धा देखकर मेरा हृदय हर्ष से फूल उठा। बिहारी वकील-मण्डल का आदर-भाव उनके प्रति देखकर मुझे आनन्द और आश्चर्य दोनों हुए।

तबसे इस वकील-मण्डल के और मेरे जन्म-भर के लिए स्नेह-गाँठ बँध गई। ब्रिजकिशोरबाबू ने मुझे सब बातों से वाक़िफ़ कर दिया। वे गरीब किसानों की तरफ़ से मुक़दमे लड़ते थे। ऐसे दो मुक़दमे उस समय

चल रहे थे। ऐसे मुकदमो के द्वारा वह कुछ व्यक्तियो को राहत दिलाते थे, पर कभी-कभी इसमें भी असफल हो जाते थे। इन भोले-भाले किसानो से वह फीस लिया करते थे। त्यागी होते हुए भी व्रिजकिशोर बाबू या राजेन्द्रबाबू फीस लेने में सकोच न करते थे। "पेशे के काम में अगर फीस न ले तो हमारा घर-खर्च नही चल सकता और हम लोगो की मदद भी नही कर सकते।" यह उनकी दलील थी। उनकी तथा बगाल-बिहार के बैरिस्टरो की फीस के कल्पनातीत अक सुनकर मै तो चकित रह गया। "' को हमने 'ओपिनियन' के लिए दस हजार रुपये दिये।" हजारो के सिवाय तो मैने बात ही नही सुनी।

इस मित्र-मण्डल ने इस विषय में मेरा मीठा उलाहना प्रेम के साथ सुना। उन्होने उसका उलटा अर्थ नही लगाया।

मैने कहा—"इन मुकदमो की मिसले देखने के बाद मेरी तो यह राय होती है कि हम यह मुकदमेबाजी अब छोड दें। ऐसे मुकदमो से बहुत कम लाभ होता है। जहां प्रजा इतनी कुचली जाती है, जहां सब लोग इतने भयभीत रहते है, वहां अदालतो के द्वारा बहुत कम राहत मिल सकती है। इसका सच्चा इलाज तो है लोगो के दिल से डर को निकाल देना। इसलिए अब जबतक यह 'तीन कठिया' प्रथा मिट नही जाती, तबतक हम आराम से नही बैठ सकते। मै तो अभी दो दिन मे जितना देख सकूं, देखने के लिए आया हूं, परन्तु मै देखता हूं कि इस काम में दो वर्ष भी लग सकते है, परन्तु इतने समय की भी जरूरत हो तो मै देने के लिए तैयार हूं। यह तो मुझे सूझ रहा है कि मुझे क्या करना चाहिए, परन्तु आपकी मदद की जरूरत है।"

मैने देखा कि व्रिजकिशोरबाबू निश्चित विचार के आदमी है। उन्होने शान्ति के साथ उत्तर दिया—"हमसे जो-कुछ बन सकेगी वह मदद हम जरूर करेगे, परन्तु हमें आप बतलाइए कि आप किस तरह की मदद चाहते है।"

हम लोग रातभर बैठकर इस विषय पर विचार करते रहे। मैने कहा—"मुझे आपकी वकालत की सहायता की जरूरत कम होगी। आप-

जैसों से मैं लेखक और दुभाषिये के रूप में सहायता चाहता हूँ। सम्भव है, इस काम में जेल जाने की भी नौबत आजाय। यदि आप इस जोखिम में पड़ सके तो मैं इसे पसन्द करूँगा; परन्तु यदि आप न पड़ना चाहें तो भी कोई बात नहीं। वकालत को अनिश्चित समय के लिए बंद करके लेखक के रूप में काम करना भी मेरी कुछ कम माँग नहीं है। यहाँ की बोली समझने में मुझे बहुत दिक्कत पड़ती है। कागज-पत्र सब उर्दू या कैथी में लिखे होते हैं, जिन्हें मैं पढ नहीं सकता। इनके अनुवाद की मैं आपसे आशा रखता हूँ। रुपये देकर यह काम कराना चाहें तो अपनी सामर्थ्य के बाहर है। यह सब सेवा-भाव से, बिना पैसे के, होना चाहिए।"

व्रिजकिशोरबाबू मेरी बात को समझ तो गये, परन्तु उन्होंने मुझसे तथा अपने साथियों से जिरह शुरू की। मेरी बातों का फलितार्थ उन्हें बताया। मुझसे पूछा—"आपके अन्दाज में कबतक वकीलों को यह त्याग करना चाहिए, कितना करना चाहिए, थोड़े-थोड़े लोग थोड़ी-थोड़ी अवधि के लिए आते रहें तो काम चलेगा या नहीं?" इत्यादि। वकीलों से उन्होंने पूछा कि आप लोग कितना-कितना त्याग कर सकेंगे?

अन्तमें उन्होंने अपना यह निश्चय प्रकट किया—"हम इतने लोग तो आप जो काम सौंपेंगे करने के लिए तैयार रहेंगे। इनमें से जितनों को आप जिस समय चाहेंगे आपके पास हाजिर रहेंगे। जेल जाने की बात अलबत्ता हमारे लिए नई है, पर उसकी भी हिम्मत करने की हम कोशिश करेंगे।"

: १४ :

अहिंसादेवी का साक्षात्कार

मुझे तो किसानों की जाँच करनी थी। यह देखना था कि नील के मालिकों की जो शिकायत किसानों को थी, उसमें कितनी सचाई है। इसमें हजारों किसानों से मिलने की जरूरत थी; परन्तु इस तरह आम-

तौर पर उनसे मिलने-जुलने के पहले, निलहे मालिको की वात सुन लेने और कमिश्नर से मिलने की आवश्यकता मुझे दिखाई दी। मैंने दोनो को चिट्ठी लिखी।

मालिको के मण्डल के मन्त्री से मिला तो उन्होने मुझे साफ कह दिया, "आप तो वाहरी आदमी है। आपको हमारे और किसानों के झगड़े में न पड़ना चाहिए। फिर भी यदि आपको कुछ कहना हो तो लिखकर भेज दीजिएगा।" मैंने मन्त्री से सौजन्य के साथ कहा—"मै अपने को वाहरी आदमी नहीं समझता और किसान यदि चाहते हो तो उनकी स्थिति की जाँच करने का मुझे पूरा अधिकार है।" कमिश्नर साहव से मिला तो उन्होंने तो मुझे धमकाने से ही शुरुआत की और आगे कोई कारंवाई न करते हुए मुझे तिरहुत छोडने की सलाह दी।

मैंने साथियो से ये सव वाते करके कहा कि सम्भव है सरकार जाँच करने से मुझे रोके और जेल-यात्रा का समय शायद मेरे अन्दाज से पहले ही आजाय। यदि पकडे जाने का ही मौका आवे तो मुझे मोतीहारी और हो सके तो वेतिया में गिरफ्तार होना चाहिए। इसलिए जितनी जल्दी हो सके मुझे वहाँ पहुँच जाना चाहिए।

चम्पारन तिरहुत जिले का एक विभाग था और मोतीहारी उसका एक मुख्य शहर। वेतिया के ही आसपास राजकुमार शुक्ल का मकान था। और उसके आसपास की कोठियो के किसान सवसे ज्यादा गरीव थे। उनकी हालत दिखाने का लोभ राजकुमार शुक्ल को था और मुझे अव उन्हींको देखने की इच्छा थी, इसलिए साथियो को लेकर मैं उसी दिन मोतीहारी जाने के लिए रवाना हुआ। मोतीहारी में गोरखवावू ने आश्रय दिया और उनका घर खासी धर्मशाला वन गया। हम सव ज्यो-त्यो करके उसमें समा सकते थे। जिस दिन हम पहुँचे उसी दिन हमने सुना कि मोतीहारी से पाँचेक मील दूर एक किसान रहता था और उसपर वहुत अत्याचार हुआ था। निश्चय हुआ कि उसे देखने के लिए धरणीप्रसाद वकील को लेकर सुवह जाऊँ। तदनुसार सुवह होते ही हम हाथी पर सवार होकर चल पड़े। चम्पारन में हाथी लगभग वहीं काम

देता है जो गुजरात में बैलगाड़ी देती है। हम आधे रास्ते पहुँचे होंगे कि पुलिस-सुपरिण्टेण्डेण्ट का सिपाई आपहुँचा और उसने मुझसे कहा—"सुपरिण्टेण्डेण्ट साहबने आपको सलाम भेजा है।" मैं उसका मतलब समझ गया। धरणीधरबाबू से मैंने कहा, आप आगे चलिए, और मैं उस जासूस के साथ उस गाड़ी में बैठा, जो वह किराये पर लाया था। उसने मुझे चम्पारन छोड़ देने का नोटिस दिया। घर ले जाकर उसपर मेरे दस्तखत माँगे। मैंने जवाब लिख दिया कि "मैं चम्पारन छोड़ना नहीं चाहता। आगे मुफस्सिलात में जाकर जाँच करनी है।" इस हुक्म का अनादर करने के अपराध में दूसरे ही दिन मुझे अदालत में हाजिर होने का समन मिला।

सारी रात जगकर मैंने जगह-जगह आवश्यक चिट्ठियाँ लिखीं और जो-जो आवश्यक बातें थीं वे व्रजकिशोरबाबू को समझा दीं।

समन की बात एक क्षण में चारों ओर फैल गई और लोग कहने लगे कि ऐसा दृश्य मोतीहारी में पहले कभी नहीं देखा गया था। गोरखबाबू के घर और अदालत में मचामच भीड़ हो गई। सौभाग्यवश मैंने अपना सारा काम रात को ही खतम कर लिया था, इससे इस भीड़ का मैं इन्तजाम कर सका। इस समय अपने साथियों की पूरी-पूरी कीमत जानने का मुझे मौका मिला। वे लोगों को नियम के अन्दर रखने में जुट पड़े। अदालत में मैं जहाँ जाता वहाँ लोगों की भीड़ मेरे पीछे पीछे आती। कलेक्टर, मजिस्ट्रेट, सुपरिण्टेण्डेण्ट वगैरा के और मेरे दरमियान भी एक तरह का अच्छा सम्बन्ध हो गया। सरकारी नोटिस इत्यादि के बारे में कायदेसर विरोध करना हो तो कर सकता था, परन्तु ऐसा करने के बदले मैंने उनके तमाम नोटिसों को मंजूर कर लिया। फिर राजकर्मचारियों के साथ मेरे खानगी सम्बन्ध में जिस मिठास का मैंने अवलम्बन किया, उससे वे समझ गये कि मैं उनका व्यक्तिगत विरोध करना नहीं चाहता, बल्कि उनके हुक्म का सविनय विरोध करना चाहता हूँ। इससे वे एक प्रकार से निश्चिन्त हुए। मुझे दिक करने के बदले उन्होंने लोगों की भीड़ को संभालने के काम में मेरी और मेरे साथियों की मदद की

खुशी से ली, पर साथ ही वे यह भी समझ गये कि आजसे हमारी सत्ता यहाँ से उठ गई। लोग थोडी देर के लिए सजा का भय छोडकर अपने नये मित्र के प्रेम की सत्ता के अधीन हो गये।

यहाँ पाठक याद रक्खें कि चम्पारन में मुझे कोई पहचानता न था। किसान लोग बिलकुल अनपढ थे। चम्पारन गगा के उस पार, ठेठ हिमालय की तराई में, नैपाल के नजदीक का हिस्सा है। उसे नई दुनिया ही कहना चाहिए। यहाँ महासभा (कांग्रेस) का नाम-निशान भी नही था, न उसके कोई सभ्य ही थे। जिन लोगो ने महासभा का नाम सुन रक्खा था वे उसका नाम लेते हुए और उसमें शरीक होते हुए डरते थे, पर आज वहाँ महासभा के नाम के बिना महासभा ने और महासभा के सेवको ने प्रवेश किया और महासभा की दुहाई घूम गई।

साथियो के साथ कुछ सलाह करके मैंने यह निश्चय किया था कि महासभा के नाम पर कुछ भी काम यहाँ न किया जाय। नाम से नही हमको काम से मतलब है। 'कथनी की कहने की नही करनी की जरूरत है।' महासभा का नाम यहाँ लोगो को खलता है। इस प्रान्त में महासभा का अर्थ है वकीलो की तू-तू, मैं-मैं, कानून की गलियो में से निकल भागने की कोशिश। महासभा का अर्थ यहाँ है बम-गोले, और कहना कुछ, करना कुछ। ऐसा खयाल कांग्रेस के बारे में यहाँ सरकार और सरकार की सरकार निलहे मालिको के मन में था; परन्तु हमें यह साबित करना था कि महासभा ऐसी नही, दूसरी ही वस्तु है। इसलिए हमने यह निश्चय किया था कि कही भी महासभा का नाम न लिया जाय और लोगो को महासभा के भौतिक देह का परिचय भी न कराया जाय। हमने सोचा कि वे महासभा के अक्षर को—नाम को न जानते हुए उसकी आत्मा को जाने और उसका अनुसरण करे तो बस है, यही वास्तविक बात है।

इसलिए महासभा की तरफ से किसी छिपे या प्रकट दूतो के द्वारा कोई जमीन तैयार नही कराई गई थी, कोई पेशबन्दी नही की गई थी। राजकुमार शुक्ल में हजारो लोगो में प्रवेश करने की सामर्थ्य न थी, वहाँ लोगो के अन्दर किसी ने भी आजतक कोई राजनैतिक काम नही किया

था। चम्पारन के सिवा बाहर की दुनिया को वे जानते ही न थे। फिर भी उनका और मेरा मिलाप किसी पुराने मित्र के मिलाप-सा था। अतएव यह कहने में मुझे कोई अत्युक्ति नहीं मालूम होती; बल्कि यह अक्षरशः सत्य है, कि मैंने वहाँ ईश्वर का, अहिंसा का और सत्य का, साक्षात्कार किया। जब साक्षात्कार-विषयक अपने इस अधिकार पर विचार करता हूँ तो मुझे उसमें प्रेम के सिवा दूसरी कोई बात नहीं दिखाई पड़ती और यह प्रेम अथवा अहिंसा के प्रति मेरी अचल श्रद्धा के सिवा और कुछ नहीं है।

चम्पारन का यह दिन मेरे जीवन में ऐसा था, जिसे मैं कभी नहीं भूल सकता। यह मेरे तथा किसानों के लिए उत्सव का दिन था। मुझ पर सरकारी क़ानून के मुताबिक़ मुक़दमा चलाया जानेवाला था; परन्तु सच पूछा जाय तो मुक़दमा सरकार पर चल रहा था। कमिश्नर ने जो जाल मेरे लिए फैलाया था उसमें उसने सरकार को ही फँसा मारा।

: १५ :

मुक़दमा वापस

मुक़दमा चला। सरकारी वकील, मजिस्ट्रेट वग़ैरा चिंतित हो रहे थे। उन्हें सूझ नहीं पड़ता था कि क्या करें। सरकारी वकील तारीख बढ़ाने की कोशिश कर रहा था। मैं बीच में पड़ा और मैंने अर्ज़ किया कि "तारीख बढ़ाने की कोई ज़रूरत नहीं है; क्योंकि मैं अपना यह अपराध क़बूल करना चाहता हूँ कि मैंने चम्पारन छोड़ने के नोटिस का अनादर किया है।" यह कहकर मैंने जो अपना छोटा-सा वक्तव्य तैयार किया था, वह पढ़ सुनाया। वह इस प्रकार था—

"अदालत की आज्ञा लेकर मैं संक्षेप में यह बतलाना चाहता हूँ कि नोटिस द्वारा मुझे जो आज्ञा दी गई है, उसकी अवज्ञा मैंने क्यों की। मेरी समझ में यह स्थानीय अधिकारियों और मेरे बीच मत-भेद का प्रश्न है। मैं इस प्रदेश में राष्ट्रीय तथा मानवीय सेवा करने के विचार से

आया हूँ। यहाँ आकर उन रैयतो की सहायता करने के लिए मुझसे बहुत आग्रह किया गया था, जिनके साथ कहा जाता है कि निलहे साहब अच्छा व्यवहार नहीं करते, पर जबतक मैं सब बातें अच्छी तरह जान न लेता, तबतक उन लोगो की कोई सहायता नहीं कर सकता था। इसलिए यदि हो सके तो अधिकारियो और निलहे साहबो की सहायता से मैं सब बाते जानने के लिए आया हूँ। मैं किसी दूसरे उद्देश्य से यहाँ नही आया हूँ। मुझे यह विश्वास नही होता कि मेरे यहाँ आने से किसी प्रकार शान्ति-भग या प्राण-हानि हो सकती है। मै कह सकता हूँ कि मुझे ऐसी बातों का बहुत अनुभव है। अधिकारियो को जो कठिनाइयाँ होती है, उनको मै समझता हूँ, और मैं यह भी मानता हूँ कि उन्हे जो सूचना मिलती है, वे केवल उसी के अनुसार काम कर सकते है। कानून माननेवाले व्यक्ति की तरह मेरी प्रवृत्ति यही होनी चाहिए थी, और ऐसी प्रवृत्ति हुई भी कि मै इस आज्ञा का पालन करूँ, पर मै उन लोगो के प्रति, जिनके कारण मै यहाँ आया हूँ, अपने कर्तव्य का उल्लघन नहीं कर सकता था। मै समझता हूँ कि मैं उन लोगो के बीच रहकर ही उनकी भलाई कर सकता हूं। इस कारण मै स्वेच्छा से इस स्थान से नहीं जासकता था। दो कर्तव्यो के परस्पर विरोध की दशा में मैं केवल यही कर सकता था कि अपने को हटाने की सारी जिम्मेदारी शासको पर छोड दूं। मैं भलीभांति जानता हूं कि भारत के सार्वजनिक जीवन में मेरी-जैसी स्थितिवाले लोगो को आदर्श उपस्थित करने में बहुत ही सचेत रहना पडता है। मेरा दृढ विश्वास है कि जिस स्थिति में मै हूँ उस स्थिति में प्रत्येक प्रतिष्ठित व्यक्ति को वही काम करना सबसे अच्छा है, जो इस समय मैंने करना निश्चय किया है; और वह यह है कि बिना किसी प्रकार का विरोध किये आज्ञा न मानने का दण्ड सहने के लिए तैयार हो जाऊं। मैंने जो बयान दिया है, वह इसलिए नहीं है कि जो दण्ड मुझे मिलनेवाला है, वह कम किया जाय; बल्कि इस बात को दिखलाने के लिए कि मैंने सरकारी आज्ञा की अवज्ञा इस कारण से नहीं की है कि मुझे सरकार के प्रति विश्वास नहीं है; बल्कि इस कारण से

कि मैंने उससे भी उच्चतर आज्ञा—अपनी विवेकबुद्धि की आज्ञा—का पालन करना उचित समझा है।"

अब मुक़दमे की सुनवाई मुल्तवी रखने का तो कुछ कारण ही नहीं रह गया था; परन्तु मजिस्ट्रेट या सरकारी वकील इस परिणाम की आशा नहीं रखते थे। अतएव सजा के लिए अदालत ने फ़ैसला मुल्तवी रक्खा। मैंने वाइसराय को तार द्वारा सब हालात की सूचना दे दी थी, पटना भी तार दे दिया था। भारत-भूषण पंडित मालवीयजी वग़ैरा को भी तार द्वारा समाचार भेज दिया था। अब सजा सुनने के लिए अदालत का समय आने के पहले ही मुझे मजिस्ट्रेट का हुक्म मिला कि लाट साहब के हुक्म से मुक़दमा उठा लिया गया है और कलेक्टर की चिट्ठी मिली कि आप जो-कुछ जाँच करना चाहें, शौक़ से करें और उसमें जो-कुछ मदद सरकारी कर्मचारियों की ओर से लेना चाहें, लें। ऐसे तत्काल और शुभ परिणाम की आशा हममें से किसी ने नहीं की थी।

मैं कलेक्टर मि० हैकाक से मिला। वह भला आदमी मालूम हुआ और इन्साफ करने के लिए तत्पर नजर आया। उन्होंने कहा कि आप जो-कुछ काग़ज-पत्र या और कुछ देखना चाहें, देख सकते हैं। जब कभी मिलना चाहें, जरूर मिल सकते हैं।

दूसरी तरफ सारे भारतवर्ष को सत्याग्रह का अथवा क़ानून के सविनयभंग का पहला स्थानिक पदार्थ-पाठ मिला। अखबारों में इस प्रकरण की खूब चर्चा चली और चम्पारन को तथा मेरी जाँच को अकल्पित विज्ञापन मिल गया।

मुझे अपनी जाँच के लिए जहाँ एक ओर सरकार के निष्पक्ष रहने की जरूरत थी, तहाँ दूसरी ओर अखबारों में चर्चा होने की और उनके सम्वाददाताओं की जरूरत नहीं थी। यही नहीं, बल्कि उनकी कड़ी टीका और जाँच की बड़ी-बड़ी रिपोर्टों से हानि होने का भी भय था। इसलिए मैंने मुख्य-मुख्य अखबारों के सम्पादकों से अनुरोध किया कि "आप अपने सम्वाददाताओं को भेजने का खर्च न उठावें। जितनी बातें प्रकाशित करने योग्य होंगी, वह मैं आपको खुद ही भेजता रहूँगा और खबर भी देता रहूँगा।"

चम्पारन के निलहे मालिक खूब बिगड़े हुए थे, यह मैं जानता था, और यह भी मैं समझता था कि अधिकारी लोग भी मन में खुश न रहते होंगे।

अखबारों में जो झूठी-सच्ची खबरें छपती उनसे वे और भी चिढ़ते। उनकी चिढ़ का असर मुझपर तो क्या होता, परन्तु बेचारे गरीब, डरपोक रैय्यत पर उनका गुस्सा उतरे बिना न रहता और ऐसा होने से जो वास्तविक स्थिति मैं जानना चाहता था उसमें विघ्न पड़ता। निलहों की तरफ से जहरीला आन्दोलन शुरू हो गया था। उनकी तरफ से अखबारों में मेरे तथा मेरे साथियों के विषय में मनमानी झूठी बातें फैलाई जाती थी, परन्तु मेरी अत्यन्त सावधानी के कारण, और छोटी-से-छोटी बात में भी सत्य पर दृढ़ रहने की आदत के कारण, उनके सब तीर बेकार गये।

ब्रिजकिशोरबाबू की अनेक तरह से निन्दा करने में निलहों ने किसी बात की कमी न रक्खी थी, परन्तु वे ज्यों-ज्यों उनकी निन्दा करते गये त्यों-त्यों ब्रिजकिशोरबाबू की प्रतिष्ठा बढ़ती गई।

ऐसी नाजुक हालत में मैंने सम्वाददाताओं को वहाँ आने के लिए बिलकुल उत्साहित नहीं किया। नेताओं को भी नहीं बुलाया। मालवीयजी ने मुझे कहला रक्खा था कि जब जरूरत हो तब मुझे बुला लेना, मैं आने के लिए तैयार हूँ, पर उन्हें भी कष्ट नहीं दिया और न आन्दोलन को राजनैतिक रूप ही ग्रहण करने दिया। वहाँके समाचारों का विवरण मैं समय-समय पर मुख्य-मुख्य पत्रों को भेजता रहता था। राजनैतिक कामों में भी जहाँ राजनीति की गुंजायश न हो वहाँ राजनैतिक रूप दे-देने से "माया मिली न राम" वाली मसल होती और इस तरह विषयों का स्थानान्तर न करने से, दोनों सुधरते हैं, यह मैंने बहुत बार अनुभव करके देखा है। शुद्ध लोक-सेवा में प्रत्यक्ष नहीं तो परोक्ष रूप में राजनीति समाई रहती है यह बात चम्पारन का आन्दोलन सिद्ध कर रहा था।

: १६ :

कार्य-पद्धति

मैंने सधन्यवाद अस्वीकार कर दी। यह सोचा था कि चम्पारन के बाहर से, परन्तु बिहार के ही हैसियतदार और सुखी लोगो से ही ब्रजकिशोर बाबू का मण्डल जितनी सहायता प्राप्त कर सके उतनी लेलूं और शेष रकम मैं डाक्टर प्राणजीवनदास से मँगा लूं। डाक्टर मेहता ने लिखा कि जितनी आवश्यकता हो मँगा लीजिएगा। इससे हम रुपये-पैसे के बारे में निश्चिन्त हो गये। गरीबी के साथ भरसक कम खर्च करके यह आन्दोलन चलाना था। इसलिए बहुत रुपये की आवश्यकता न थी। और दरहकीकत जरूरत पडी भी नही। मेरा खयाल है कि सब मिलाकर दो-तीन हजार से ज्यादा खर्च न हुआ होगा। और मुझे याद है कि जितना रुपया इकट्ठा किया था उसमें से भी पाँच-सौ या हजार बच गया था।

शुरु में वहाँ हमारी रहन-सहन बडी विचित्र थी। और मेरे लिए तो वह रोज हँसी-मजाक का विषय हो गई थी। इस वकील-मडल में हरेक के पास एक नौकर रसोइया होता। हरेक की अलग रसोई बनती। रात के बारह बजे तक भी वे लोग खाना खाते। ये महाशय खर्च-वगैरा तो सब अपना ही करते थे, फिर भी मेरे लिए यह रहन-सहन एक आफत थी। अपने इन साथियो के साथ मेरी स्नेह-गाठ ऐसी मजबूत हो गई थी कि हमारे दरमियान कभी गलत-फहमी न होने पाती थी। मेरे शब्द-बाणो को वे प्रेम से झेलते। अन्त को यह तय पाया कि नौकरो को छुट्टी दे दी जाय, सब एकसाथ खाना खावे और भोजन के नियमो का पालन करें। उसमें सभी निरामिषाहारी न थे और तरह-तरह की अलग-अलग रसोई बनाने का इन्तजाम करने से खर्च बढता था। इससे यही निश्चय किया गया कि निरामिष भोजन ही पकाया जाय और एक ही जगह सब की रसोई बनाई जाय। भोजन भी सादा ही रखने पर जोर दिया जाता था। इससे खर्च बहुत कम पडा, हम लोगों के काम करने का सामर्थ्य बढा, और समय बच गया।

हमें अधिक सामर्थ्य की आवश्यकता भी थी, क्योकि किसानो के झुण्ड-के-झुण्ड अपनी कहानी लिखाने के लिए आने लगे थे। एक-एक कहानी लिखानेवाले के साथ एक भीड भी रहती थी। इससे मकान का

चौगान भर जाता था। मुझे दर्शनाभिलाषियो से बचाने के लिए साथी लोग बहुत प्रयत्न करते, परन्तु वे निष्फल जाते। एक निश्चित समय पर दर्शन देने के लिए मुझे बाहर लाने पर ही पिंड छूटता था। कहानी-लेखक हमेशा पाँच-सात रहते थे। फिर भी शाम तक सबके बयान पूरे न हो पाते थे। यो इतने सब लोगो के बयानो की जरूरत नही थी, फिर भी उनके लिख लेने से लोगो को सतोष हो जाता था, और मुझे उनके मनोभावो का पता लग जाता था।

कहानी-लेखको को कुछ नियम पालन करने पडते थे। वे ये थे— "प्रत्येक किसान से जिरह करनी चाहिए। जिरह में जो गिर जाय उसका बयान न लिखा जाय। जिसकी बात शुरू से ही कमजोर पाई जाय वह न लिखी जाय।" इन नियमो के पालन से यद्यपि कुछ समय अधिक जाता था फिर भी उसमे सच्चे और साबित होने लायक बयान ही लिखे जाते थे।

अब ये बयान लिखे जाते तो खुफिया पुलिस के कोई-न-कोई कर्मचारी वहाँ मौजूद रहते। इन कर्मचारियो को हम रोक सकते थे, परन्तु हमने शुरू से यह निश्चय किया था कि उन्हे न रोका जाय। यही नही बल्कि उनके प्रति सौजन्य रक्खा जाय और जो खबरें उन्हे दी जा सकती हो दी जायें। जो बयान लिये जाते उनको वे देखते और सुनते थे। इससे लाभ यह हुआ कि लोगो में अधिक निर्भयता आगई। और बयान उनके सामने लिये जाने से अत्युक्ति का भय कम रहता था। इस डर से कि झूठ बोलेंगे तो पुलिसवाले फँसा देंगे, उन्हे सोच-समझकर बोलना पडता था।

मैं निलहे-मालिको को चिढाना नही चाहता था, बल्कि अपने सौजन्य से उन्हे जीतने का प्रयत्न करता था। इसलिए जिनके बारे में विशेष शिकायतें होती, उन्हे मैं चिट्ठी लिखना और मिलने की कोशिश भी करता। उनके मडल से भी मैं मिला था और रैयत की शिकायतें उनके सामने पेश की थी और उनका कहना भी सुन लिया था। उनमें से कितने तो मेरा तिरस्कार करते थे, कितने ही उदासीन थे, और कोई-कोई सौजन्य भी दिखाते थे।

: १७ :

साथी

ब्रजकिशोरबाबू और राजेन्द्रबाबू की जोडी अद्वितीय थी। उन्होने प्रेम से मुझे ऐसा अपग बना दिया था कि उनके बिना मै एक कदम भी आगे न रख सकता था। उनके शिष्य कहिए या साथी कहिए, शम्भूबाबू, अनुग्रहबाबू, धरणीबाबू और रामनवमीबाबू—ये वकील प्राय निरन्तर साथ ही रहते थे। विन्ध्याबाबू और जनकधारीबाबू भी समय-समय साथ रहते थे। यह तो हुआ बिहार-सघ। इनका मुख्य काम था लोगो के बयान लिखना। इसमें अध्यापक कृपलानी भला शामिल हुए कैसे रह सकते थे? सिन्धी होते हुए भी वह बिहारी से भी अधिक बिहारी हो गये थे। मैंने ऐसे थोडे सेवको को देखा है जो जिस प्रान्त में जाते है वहींके लोगो में दूध-शक्कर की तरह घुल-मिल जाते है, और किसीको यह नही मालूम होने देते कि यह गैर प्रान्त के है। कृपलानी इनमें एक है। उनके जिम्मे मुख्य काम था द्वारपाल का, दर्शन करनेवालो से मुझ बचा लेने में ही उन्होने उस समय अपने जीवन की सार्थकता मान ली थी। किसीको हँसी-दिल्लगी से और किसीको अहिंसक धमकी देकर वह मेरे पास आने से रोकते थे। रात को अपनी अध्यापकी शुरू करते और तमाम साथियो को हँसा मारते और यदि कोई डरपोक आदमी वहाँ पहुँच जाता तो उसका हौसला बढाते।

मौलाना मजहरुलहक ने मेरे सहायक के रूप में अपना हक लिखवा रक्खा था और महीने में एक-दो बार आकर मुझसे मिल जाया करते। उस समय के उनके ठाट-बाट और शान में तथा आज की सादगी में जमीन-आसमान का अन्तर है। वह हम लोगो में आकर अपने हृदय को तो मिला जाते, परन्तु अपने साहबी ठाट-बाट के कारण बिहार के लोगों को वह हमसे भिन्न मालूम होते थे।

ज्यो-ज्यो मै अनुभव प्राप्त करता गया त्यो-त्यो मुझे मालूम हुआ कि यदि चम्पारन में ठीक-ठीक काम करना हो, तो गाँवो में शिक्षा का प्रवेश होना चाहिए। वहाँ लोगो का अज्ञान दयाजनक था। गाँव में लडके-वच्चे इधर-उधर भटकते फिरते थे, या माँ-बाप उन्हे दो-तीन पैसे रोज की मजदूरी पर दिन-भर नील के खेतो में मजदूरी कराते। इस समय मर्दों को दस पैसे से ज्यादा मजदूरी नही मिलती थी। स्त्रियो को छ पैसा, और वच्चो को तीन। जिस किसी को चार आना मजदूरी मिल जाती, वह भाग्यवान् समझा जाता था।

अपने साथियों के साथ विचार करके पहले तो छ गाँवो में वच्चो के लिए पाठशाला खोलने का विचार हुआ। शर्त यह थी कि उन गाँवों के अगुआ मकान और शिक्षक के खाने का खर्च दें और दूसरे खर्च का इन्तजाम हम लोग करदें। यहां के गाँवों में रुपये-पैसे की वहुतायत नही थी, परन्तु लोग अनाज वगैरा दे सकते थे, इसलिए वे अनाज देने को तैयार हो गये।

अव यह एक महा-प्रश्न था कि शिक्षक कहाँ से लावे? विहार में थोडा वेतन लेनेवाले या कुछ न लेनेवाले अच्छे शिक्षको का मिलना कठिन था। मेरा खयाल यह था कि वच्चो की शिक्षा का भार मामूली शिक्षक को न देना चाहिए। शिक्षक को पुस्तक-ज्ञान चाहे कम हो, परन्तु उसमें चरित्र-बल अवश्य होना चाहिए।

इस काम के लिए मैंने आमतौर पर स्वयसेवक माँगे। उसके जवाव में गंगाधरराव देशपांडे ने वावासाहव सोमण और पुंडलीक को भेजा। वम्बई से अवन्तिकावाई गोखले आईं। दक्षिण से आनन्दीवाई आगईं। मैंने छोटेलाल, सुरेन्द्रनाथ, तथा अपने लडके देवदास को वुला लिया। इन्ही दिनो में महादेव देसाई और नरहरि पारख की पत्नी दुर्गावहन तथा मणिवहन भी आपहुँचीं। कस्तूरवाई को भी मैंने वुला लिया था। शिक्षको और शिक्षिकाओ का यह सघ काफी था। श्रीमती अवन्तिकावाई और आनन्दीवाई तो पढी-लिखी समझी जासकती थीं, परन्तु मणिवहन पारख और दुर्गावहन देसाई थोडी-वहुत गुजराती जानती थीं; कस्तूरवाई

को तो नही के बराबर हिन्दी का ज्ञान था। अब सवाल यह था कि ये बहनें बालको को हिन्दी पढावेगी किस तरह ?

बहनो को मैंने दलीलें देकर समझाया कि बालको को व्याकरण नही बल्कि रहन-सहन सिखाना है। पढने-लिखने की अपेक्षा, उन्हें सफाई के नियम सिखाने की जरूरत है। हिन्दी, गुजराती और मराठी में कोई भारी भेद नही है, यह भी उन्हें बताया, और समझाया कि शुरु में तो सिर्फ गिनती और वर्णमाला सिखानी होगी। इसलिए दिक्कत न आयगी। इसका फल यह हुआ कि बहनो की पढाई का काम बहुत अच्छी तरह चल निकला और उनका आत्म-विश्वास बढा। उन्हें अपने काम में रस आने लगा। अवन्तिका बाई की पाठशाला आदर्श बन गई। उन्होने अपनी पाठशाला में जीवन डाल दिया। वह इस काम को जानती भी खूब थी। इन बहनो के मार्फत देहात के स्त्री-समाज में भी हमारा प्रवेश हो गया था।

परन्तु मुझे पढाई तक ही न रुक जाना था। गाँवो में गदगी बेहद थी। रास्तो और गलियो में कूडे और ककर का ढेर, कुओ के पास कीचड और बदबू, आँगन इतने गन्दे कि देखा न जाता था। बडे-बूढो को सफाई सिखाने की जरूरत थी। चम्पारन के लोग बीमारियो के शिकार दिखाई पडते थे। इसलिए जहाँतक हो सके उनका सुधार करने और इस तरह लोगो के जीवन के प्रत्येक विभाग में प्रवेश करने की इच्छा थी।

इस काम में डाक्टर की सहायता की जरूरत थी। इसलिए मैंने गोखले की समिति से डाक्टर देव को भेजने का अनुरोध किया। उनके साथ मेरा स्नेह तो पहले ही हो चुका था। छ महीने के लिए उनकी सेवा का लाभ मिला। यह तय हुआ कि उनकी देख-रेख में शिक्षक और शिक्षिका सुधार का काम करें।

इनके सबके साथ यह बात तय पाई थी कि इनमें से कोई भी निलहो की शिकायतो के झगडे में न पड़ें। राजनैतिक बातो को न छुएँ। जो शिकायत लावे उनको सीधा मेरे पास भेज दें। कोई भी अपने क्षेत्र और काम को छोडकर एकदम इधर-उधर न हो चम्पारन के मेरे इन साथियो

का नियम-पालन अद्भुत था। मुझे ऐसा कोई अवसर याद नही आता कि जब किसीने भी इन नियमो का उल्लघन किया हो।

: १८ :

ग्राम-प्रवेश

बहुत करके हर पाठशाला में एक पुरुष और एक स्त्री की योजना की थी। उन्हीकी मार्फत दवा और सुधार के काम करने का निश्चय किया था। स्त्रियो के द्वारा स्त्री-समाज में प्रवेश करना था। दवा का काम बहुत आसान कर दिया था। अण्डी का तेल, कुनैन और मरहम—इतनी चीजें हर पाठशाला में रक्खी गई थी। जीभ मैली दिखाई दे और कब्ज की शिकायत हो तो अण्डी का तेल पिला देना, बुखार की शिकायत हो तो अण्डी का तेल पी लेनेवाले को कुनैन पिला देना, और फोडे-फुन्सी हो तो उन्हें धोकर मरहम लगा देना, बस इतना ही काम था। खाने की दवा या पिलाने की दवा किसीको घर ले जाने के लिए नही दी जाती थी। कोई ऐसी बीमारी हो, जो समझ में नहीं आई हो या जिसमें कुछ जोखिम हो, तो डाक्टर देव को दिखा लिया जाता। डॉ० देव नियमित समय पर जगह-जगह जाते। इस सादी सुविधा से लोग ठीक-ठीक लाभ उठाते थे। आमतौर पर फैली हुई बीमारियो की सख्या कम ही होती है और उनके लिए बडे विशारदो की जरूरत नही होती। यह बात अगर ध्यान में रक्खी जाय तो पूर्वोक्त योजना किसीको हास्यजनक न मालूम होगी। वहाँ के लोगो को तो नही मालूम हुई, परन्तु सुधार-काम कठिन था। लोग गन्दगी दूर करने के लिए तैयार नहीं होते थे। अपने हाथ से मैला साफ करने के लिए वे लोग भी तैयार न होते थे जो रोज खेत पर मजदूरी करते थे; परन्तु डॉ० देव झट निराश होनेवाले जीव नहीं थे। उन्होंने खुद तथा स्वयं-सेवकों ने मिलकर एक गाँव के रास्ते साफ किये, लोगो के आँगन से कूडा-करकट निकाला, कुएँ के आस-पास के गड्ढे भरे, कीचड निकाली और गाँव के लोगों को प्रेमपूर्वक समझाते रहे कि

इस काम के लिए स्वयसेवक दो। कही लोगो ने शरम खाकर काम करना शुरू भी किया, और कहीं-कही तो लोगो ने मेरी मोटर के लिए रास्ता भी खुद ही ठीक कर दिया। इन मीठे अनुभवो के साथ ही लोगो की लापरवाही के कडुवे अनुभव भी मिलते जाते थे। मुझे याद है कि यह सुधार की बात सुनकर कितनी ही जगह लोगो के मन में दुर्भाव भी पैदा हुआ था।

इस जगह एक अनुभव का वर्णन करना अनुचित न होगा, हालाँकि उसका जिक्र मैंने स्त्रियो की कितनी ही सभाओ में किया है। भीतिहरवा नामक एक छोटा-सा गाँव है। उसके पास एक उससे भी छोटा गाँव है। वहाँ कितनी ही बहनो के कपडे बहुत मैले दिखाई दिये। मैंने कस्तूरबाई से कहा कि इनको कपडे धोने और बदलने के लिए समझाओ। उसने उनसे बातचीत की तो एक बहन उसे अपने झोपडे में ले गई और बोली कि "देखो, यहाँ कोई सन्दूक या अलमारी नही, कि जिसमें कोई कपडे रक्खे हो। मेरे पास सिर्फ यह एक ही धोती है, जिसे मैं पहने हूँ। अब मैं इसको किस तरह धोऊँ? महात्माजी से कहो कि हमें कपडे दिलावें, तो मैं रोज नहाने और कपडे धोने और बदलने के लिए तैयार हूँ।" ऐसे झोपडे हिन्दुस्तान में इने-गिने नही है। असख्य झोपडे ऐसे मिलेंगे जिनमें साज-सामान, सन्दूक-पिटारा, कपडे-लत्ते नही होते और असख्य लोग उन्हीं कपडो पर अपनी जिन्दगी निकालते है जो वे पहने होते है।

एक दूसरा अनुभव भी लिखने लायक है। चम्पारन में बाँस और घास की कमी नहीं है। लोगो ने भीतिहरवा में पाठशाला का जो छप्पर बाँस और घास का बनाया था, किसीने एक रात को उसे जला डाला। शक गया आस-पास के निलहे लोगो के आदमियो पर। दुबारा घास और बाँस का मकान बनाना ठीक न मालूम हुआ। यह पाठशाला श्रीसोमण और कस्तूरबाई के जिम्मे थी। श्रीसोमण ने ईंट का पक्का मकान बनाने का निश्चय किया और वह खुद उसके बनाने में लग गये। दूसरो को भी उसका स्वाद लगा और देखते-देखते ईंटो का मकान खड़ा हो गया और फिर मकान के जलने का डर न रहा।

इस तरह पाठशाला, स्वच्छता, सुधार और दवा के कामों से लोगों में स्वयं-सेवकों के प्रति विश्वास और आदर बढ़ा और उनके मन पर अच्छा असर हुआ।

परन्तु मुझे दुःख के साथ कहना पड़ता है कि इस काम को कायम करने की मेरी मुराद पूरी न हो सकी। जो स्वयं-सेवक मिले थे वे खास समय तक के लिए मिले थे। दूसरे नये स्वयं-सेवक मिलने में कठिनाइयां पेश आईं और बिहार से इस काम के लिए योग्य स्थायी सेवक न मिल सके। मुझे भी चम्पारन का काम खतम होने के बाद दूसरा काम जो तैयार हो रहा था, घसीट ले गया। इतना होते हुए भी छः मास के इस काम ने इतनी जड़ जमा ली कि एक नहीं तो दूसरे रूप में उसका असर आजतक कायम है।

: १९ :

उज्ज्वल पक्ष

एक तरफ तो पिछले अध्याय में वर्णन किये अनुसार समाज-सेवा के काम चल रहे थे और दूसरी ओर लोगों के दुःख की कथायें लिखते रहने का काम दिन-दिन बढ़ता जारहा था। जब हजारों लोगों की कहानियां लिखी गईं, तो भला इसका असर हुए बिना कैसे रह सकता था? मेरे मुकाम पर लोगों की ज्यों-ज्यों आमदरफ्त बढ़ती गई त्यों-त्यों निलहे लोगों का क्रोध भी बढ़ता चला। मेरी जांच बन्द कराने की कोशिशें उनकी ओर से दिन-दिन अधिकाधिक होने लगीं। एक दिन मुझे बिहार सरकार का पत्र मिला जिसका भावार्थ यह था, "आपकी जांच में काफी दिन लग गये हैं और आपको अब अपना काम खतम करके बिहार छोड़ देना चाहिए।' पत्र यद्यपि सौजन्य से युक्त था, परन्तु उसका अर्थ स्पष्ट था। मैंने लिखा—'जांच में तो अभी और दिन लगेंगे, और जांच के बाद भी जबतक लोगों का दुःख दूर न होगा मेरा इरादा बिहार छोड़ने का नहीं है।"

मेरी जाँच बंद करने का एक ही अच्छा इलाज सरकार के पास था। लोगो की शिकायतो को सच मानकर उन्हे दूर करना अथवा उनकी शिकायतो पर ध्यान देकर अपनी तरफ से एक जाँच-समिति नियुक्त कर देना। गवर्नर सर एडवर्ड गेट ने मुझे बुलाया और कहा कि मै जाँच-समिति नियुक्त करने के लिए तैयार हूँ, और उसका सदस्य बनने के लिए उन्होने मुझे निमन्त्रण दिया। दूसरे सदस्यो के नाम देखकर और अपने साथियो से सलाह करके इस शर्त पर मैंने सदस्य होना स्वीकार किया कि मुझे अपने साथियो के साथ सलाह-मशवरा करने की छुट्टी रहनी चाहिए और सरकार को समझ लेना चाहिए कि सदस्य बन जाने से किसानो का हिमायती रहने का मेरा अधिकार नही जाता रहेगा, एव जाँच होने के बाद यदि मुझे सन्तोष न हो तो किसानो की रहनुमाई करने की मेरी स्वतन्त्रता जाती न रहे।

सर एडवर्ड गेट ने इन शर्तो को वाछित समझकर मजूर किया। स्वर्गीय सर फ्रेंक स्लाई उसके अध्यक्ष बनाये गये। जाँच-समिति ने किसानो की तमाम शिकायतो को सच्चा बताया और यह सिफारिश की कि निलहे लोग अनुचित रीति से पाये रुपयो का कुछ भाग वापस दें और 'तीन कठिया' का कायदा रद किया जाय।

इस रिपोर्ट के सागोपाग होने में सर एडवर्ड गेट का बडा हाथ था। वह यदि मजबूत न रहे होते और पूरी-पूरी कुशलता से काम न लिया होता तो जो रिपोर्ट एक-मत से लिखी गई, वह नही लिखी जासकती थी और अन्त को जो कानून बना वह न बन पाता। निलहो की सत्ता बहुत प्रबल थी। रिपोर्ट होजाने के बाद भी कितनो ही ने बिल का घोर विरोध किया था, परन्तु सर एडवर्ड गेट अन्त तक दृढ रहे और समिति की तमाम सिफारिशो का पूरा-पूरा पालन उन्होने कराया।

इस तरह सौ वर्ष का पुराना यह 'तीन कठिया' कानून रद हुआ और उसके साथ ही निलहो का राज्य भी अस्त हो गया। रैयत ने, जो दबी हुई थी, अपने बल को कुछ पहचाना और उसका यह वहम दूर होगया कि नील का दाग तो धोया नही धुलता।

मेरी इच्छा थी कि चम्पारन में जो रचनात्मक कार्य आरम्भ हुआ

है उसे जारी रखकर लोगो में कुछ वर्षो तक काम किया जाय और अधिक पाठशालायें खोलकर अधिक गांवो में प्रवेश किया जाय। क्षेत्र तो तैयार था; परन्तु मेरे मनसूबे ईश्वर ने बहुत बार पार नही पडने दिये हैं। मैंने सोचा था एक और दैव ने मुझे दूसरे ही काम में ले घसीटा।

: २० :

मजदूरों से सम्बन्ध

अभी मै चम्पारन में जांच-समिति का काम खतम कर ही रहा था कि इतने में खेडा से मोहनलाल पण्ड्या और शकरलाल पारख का पत्र मिला कि खेडा जिले में फसल नष्ट हो गई है और उसका लगान माफ होना जरूरी है। आप आइए और वहां चलकर लोगो को राह दिखाइए। वहां जाकर जबतक मै खुद जांच न करलूं, तबतक कुछ सलाह देने की इच्छा मुझे न थी, और न ऐसा सामर्थ्य और साहस ही था।

दूसरी ओर श्रीमती अनसूयाबहन की चिट्ठी उनके 'मजूर-सघ' के सम्बन्ध में मिली। मजदूरो का वेतन कम था। बहुत दिनो से उनकी मांग थी कि वेतन बढाया जाय। इस सम्बन्ध में उनका पथ-प्रदर्शन करने का उत्साह मुझे था। यह काम यो तो छोटा-सा था, परन्तु मै उसे दूर बैठकर नही कर सकता था। इससे मै तुरन्त अहमदाबाद पहुंचा। मैंने सोचा तो यह था कि दोनो कामो की जांच करके थोडे ही समय में चम्पारन लौट आऊंगा और वहां के रचनात्मक काम को सम्हाल लूंगा।

परन्तु अहमदाबाद पहुंचने के बाद ऐसे काम निकल आये कि मै बहुत समय तक चम्पारन न जासका और जो पाठशालायें वहां चलती थी वे एक के बाद एक टूट गईं। साथियो ने और मैने जो कितने ही हवाई क़िले बांध रक्खे थे, वे कुछ समय के लिए तो टूट गये।

चम्पारन में ग्राम-पाठशाला और ग्राम-सुधार के अलावा गोरक्षा का काम भी मैंने अपने हाथ में लिया था। अपने भ्रमण में मै यह बात देख चुका था कि गोशाला और हिन्दी-प्रचार के काम का ठेका मारवाडी

भाइयो ने ले लिया है। बेतिया में एक मारवाडी सज्जन ने अपनी धर्मशाला में मुझे आश्रय दिया था। बेतिया के मारवाडी सज्जनो ने मुझे उनकी गोशाला की ओर आकृष्ट किया था। गोरक्षा के सम्बन्ध में जो विचार मेरे आज है वही उस समय बन चुके थे। गोरक्षा का अर्थ है गोवश की वृद्धि, गोजाति का सुधार, बैल से मर्यादित काम लेना, गोशाला को आदर्श दुग्धालय बनाना, इत्यादि। इस काम में मारवाडी भाइयो ने पूरी मदद देने का वचन दिया था, परन्तु मैं चम्पारन में जमकर नही बैठ सका। इसलिए वह काम अधूरा ही रह गया। बेतिया में गोशाला तो आज भी चल रही है, परन्तु वह आदर्श दुग्धालय नही बन सकी। चम्पारन में बैलो से आज भी ज्यादा काम लिया जाता है। हिन्दूनामधारी अब भी बैलों को निर्दयता से पीटते है और इस तरह अपने धर्म को डुबोते हैं। यह अफसोस मुझे हमेशा के लिए रह गया है। मैं जब-जब चम्पारन जाता हूँ तब-तब उन अधूरे रहे कामो को स्मरण करके एक लम्बी साँस छोडता हूँ और उन्हें अधूरा छोड देने के लिए मारवाडी भाइयो और बिहारियो का मीठा उलाहना सुनता हूँ।

पाठशालाओ का काम तो एक नही दूसरी रीति से दूसरी जगह चल रहा है, परन्तु गो-सेवा के कार्य-क्रम की तो जड ही नही जमी थी, इसलिए उसे आवश्यक दिशा में गति नही मिल सकी।

अहमदाबाद में खेडा के काम के लिए बातचीत चल रही थी, या सलाह-मशवरा चल रहा था कि इतने में मजदूरो का काम मैंने अपने हाथ में ले लिया।

इसमें मेरी स्थिति बडी नाजुक थी। मजदूरो का पक्ष मुझे मजबूत मालूम हुआ। श्रीमती अनसूयाबहन को अपने सगे भाई के साथ लडने का प्रसग आगया था। मजूरो और मालिको के इस दारुण युद्ध में श्री अम्बालाल साराभाई ने मुख्य भाग लिया था। मिल-मालिको के साथ मेरा मीठा सबध था। उनके साथ लड़ना मेरे लिए विषम काम था। मैंने उनसे आपस मे बातचीत करके अनुरोध किया कि पच बनाकर मजदूरो की माँग का फैसला कर लीजिए, परन्तु मालिको ने अपने

और मजदूरो के बीच में पच की मध्यस्थता को पसन्द न किया।

तब मजदूरो को मैंने हड़ताल कर देने की सलाह दी। यह सलाह देने के पहले मैंने मजदूरो और उनके नेताओ से काफी पहचान और बातचीत कर ली थी। उन्हें मैंने हड़ताल की नीचे लिखी शर्तें समझाईं।

(१) किसी हालत में शान्ति-भग न करना।

(२) जो काम पर जाना चाहे उनके साथ किसी क़िस्म की ज्यादती या जबरदस्ती न करना।

(३) मजदूर भिक्षान्न न खावे।

(४) हड़ताल चाहे जबतक करना पड़े; पर वे दृढ रहें, और जब रुपया-पैसा न रहे, तो दूसरी मजदूरी करके पेट पाले।

अगुआ लोग इन शर्तों को समझ गये और उन्हे ये पसन्द भी आईं। अब मजदूरो ने एक आम सभा की और उसमें प्रस्ताव किया कि जबतक हमारी मांग स्वीकार न की जाय अथवा उसपर विचार करने के लिए पच न मुकर्रर हो तबतक हम काम पर न जायँगे।

इस हड़ताल में मेरा परिचय श्रीवल्लभभाई पटेल और श्रीशकरलाल बैंकर से बहुत अच्छी तरह हो गया। श्रीमती अनसूयाबहन से तो मेरा परिचय पहले ही खूब हो चुका था।

हड़तालियो की सभा रोज साबरमती के किनारे एक पेड़ के नीचे होने लगी। वे सैकडो की सख्या में आते। मैं रोज उन्हे अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण कराता। शान्ति रखने और स्व-मान की रक्षा करने की आवश्यकता उन्हें समझाता था। वे अपना 'एकटेक' का झण्डा लेकर रोज शहर में जलूस निकालते और सभा में आते।

यह हड़ताल २१ दिन चली। इस बीच मैं समय-समय पर मालिको से बातचीत करता और उन्हें इन्साफ करने के लिए समझाता। "हमें भी तो अपनी टेक रखनी है। हमारा और मजदूरो का बाप-बेटो का सम्बन्ध है... उसके बीच में यदि कोई पडना चाहें तो इसे हम कैसे सहन कर सकते है? बाप-बेटो में पच की क्या जरूरत है?" यह जवाब मुझे मिलता।

: २१ :

आश्रम की झाँकी

मजदूर-प्रकरण को आगे ले चलने के पहले आश्रम की झाँकी कर लेने की आवश्यकता है। चम्पारन में रहते हुए भी मैं आश्रम को भूल नहीं सकता था। कभी-कभी वहाँ आ भी जाता था।

कोचरब अहमदाबाद के पास छोटा-सा गाँव है। आश्रम का स्थान इसी गाँव में था। कोचरब में प्लेग शुरू हुआ। बालकों को मैं बस्ती के भीतर सुरक्षित नहीं रख सकता था। स्वच्छता के नियमों का पालन हम चाहे जितना करें, मगर आस-पास की गन्दगी से आश्रम को अछूता रखना असम्भव था। कोचरब के लोगों से स्वच्छता के नियमों का पालन करवाने की अथवा ऐसे समय में उनकी सेवा करने की शक्ति हममें न थी। हमारा आदर्श तो आश्रम को शहर या गाँव से दूर रखना था, हालाँकि इतना दूर नहीं कि वहाँ जाने में बहुत मुश्किल पड़े। किसी दिन आश्रम के रूप में अगर आश्रम शोभे, तो उसके पहले उसे अपनी जमीन पर खुली जगह में स्थिर तो हो ही जाना था।

महामारी को मैंने कोचरब छोड़ने का नोटिस माना। श्रीपुंजाभाई हीराचन्द आश्रम के साथ बहुत निकट का-सा सम्बन्ध रखते और आश्रम की छोटी-बड़ी सेवायें निरभिमान-भाव से करते थे। उन्हें अहमदाबाद के व्यवहार का बहुत अनुभव था। उन्होंने आश्रम के लायक आवश्यक जमीन तुरन्त ही ढूँढ देने का बीड़ा उठाया। कोचरब के उत्तर-दक्षिण का भाग मैं उनके साथ घूम गया। फिर मैंने उनसे कहा कि उत्तर की ओर तीन-चार मील दूर पर अगर जमीन का टुकड़ा मिले तो खोजिए। अब जहाँ पर आश्रम है, वह जमीन उन्हींकी ढूँढी हुई है। मेरे लिए यह खास प्रलोभन था कि वह जमीन जेल के निकट है। यह मान्यता होने से कि सत्याग्रहाश्रमवासी के भाग्य में जेल तो लिखा ही है, जेल का पड़ोस पसन्द

पड़ा। इतना तो मैं जानता था कि हमेशा जेल के लिए वैसा ही स्था
ढूंढा जाता है, जिसके आस-पास की जगह स्वच्छ-साफ़ हो।

कोई आठ दिनों में ही जमीन का सौदा हो गया। जमीन पर मका
एक भी न था। पेड़ भी कोई न था उसके लिए सबसे बड़ी सिफारिश
एकान्त और नदी के किनारे की थी। हमने तबू में रहने का निश्च
किया। रसोई के लिए पतरे का एक काम-चलाऊ छप्पर बना लिया औ
और स्थायी मकान धीरे-धीरे बनाने का विचार किया।

इस समय आश्रम में काफी आदमी थे। छोटे-बड़े कोई चालीस स्त्री
पुरुष थे। इतनी सुविधा थी कि सभी एक ही रसोई में खाते थे। योजना
की कल्पना मेरी थी, उसे अमल में लाने का भार उठानेवाले तो नियमा-
नुसार स्व० मगनलाल ही थे।

स्थायी मकान बनने के पहले असुविधा का तो कोई पार ही न था।
बरसात का मौसम सिर पर था। सारा सामान ४ मील दूर शहर से
लाना था। इस उजाड़ जमीन में साँप वगैरा तो थे ही। ऐसे उजाड़ स्थान
में बालकों को सम्हालने की जोखिम ऐसी-वैसी नहीं थी। साँप वगैरा को
मारते न थे, मगर उनके भय से मुक्त तो हममें से कोई न था, आज भी
नहीं है।

हिंसक जीवों को यथाशक्ति न मारने के नियम का यथाशक्ति पालन
फिनिक्स, टॉलस्टाय-फार्म और साबरमती—तीनों जगहों में किया है।
तीनों जगहों में उजाड़ जगल में रहना पड़ा है। तीनों जगहों में साँप
वगैरों का उपद्रव खूब ही था, मगर तो भी अबतक एक भी जान हमें
खोनी नहीं पड़ी है। इसमें मेरे-जैसा श्रद्धालु तो ईश्वर का हाथ, उसकी
कृपा ही देखता है। ऐसी निरर्थक शका कोई न करे कि ईश्वर पक्षपात
नहीं करता, मनुष्य के रोज के काम में हाथ डालने को वह बेकार नहीं
बैठा है। अनुभव की दूसरी भाषा में इस वस्तु को रखना मुझे नहीं आता
है। लौकिक भाषा में ईश्वर के कार्य को रखते हुए भी मैं जानता हूँ कि
उसका 'कार्य' अवर्णनीय है, किन्तु अगर पामर मनुष्य वर्णन करे तो उसके
पास तो अपनी तोतली बोली ही होगी। सामान्य तौर पर साँप को न

मारनेवाला समाज जब पच्चीस वर्ष तक बचा रहा तो इसे संयोग या आकस्मिक घटना मानने के बदले ईश्वर-कृपा मानना वहम हो तो, यह वहम भी संग्रह करने लायक है।

जिस समय मजदूरों की हड़ताल हुई उस समय आश्रम का पाया चुना जा रहा था। आश्रम की प्रधान प्रवृत्ति बुनाई के काम की थी। कातने की तो मैं अभी खोज ही नहीं कर सका था। इसलिए निश्चय था कि पहले बुनाई-घर बनाया जाय। इस समय उसकी नींव डाली जा रही थी।

: २२ :

उपवास

मजदूरों ने पहले दो हफ्ते बड़ी हिम्मत दिखलाई। शान्ति भी खूब रक्खी। रोज की सभाओं में भी वे बड़ी संख्याओं में आते थे। मैं उन्हें रोज ही प्रतिज्ञा का स्मरण कराता था। वे रोज पुकार-पुकार कर कहते थे, "हम मर जायंगे, पर अपनी टेक कभी न छोड़ेंगे।"

किन्तु अन्त में वे ढीले पड़ने लगे। और जैसेकि निर्बल आदमी हिंसक होता है, वैसे ही, वे निर्बल पड़ते ही मिल में जानेवाले मजदूरों से द्वेष करने लगे और मुझे डर लगा कि शायद कहीं उनपर वे बलात्कार न कर बैठें। रोज की सभा में आदमियों की हाजिरी कम हुई। जो आते भी, उनके चेहरों पर उदासी छाई हुई थी। मुझे खबर मिली कि मजदूर डिगने लगे हैं। मैं तरद्दुद में पड़ा। मैं सोचने लगा कि ऐसे समय में मेरा क्या कर्त्तव्य हो सकता है। दक्षिण अफ्रिका के मजदूरों की हड़ताल का अनुभव मुझे था, मगर यह अनुभव मेरे लिए नया था। जो प्रतिज्ञा कराने में मेरी प्रेरणा थी, जिसका साक्षी मैं रोज ही बनता था, वह प्रतिज्ञा कैसे टूटे? यह विचार अभिमान कहा जायगा, या मजदूरों के और सत्य के प्रति प्रेम समझा जायगा।

सवेरे का समय था। मैं सभा में था। मुझे कुछ पता नहीं था कि

क्या करना है; मगर सभा में ही मेरे मुँह से निकल गया—"अगर मजदूर फिर से तैयार न हो जायँ और जबतक कोई फैसला न हो जाय तबतक हड़ताल न निभा सके, तो मैं तबतक उपवास करूँगा।" वहाँ पर जो मजदूर थे, वे हैरत में आगये। अनसूयाबहन की आँखों से आँसू निकल पड़े। मजदूर बोल उठे—"आप नहीं, हम उपवास करेंगे। आपको उपवास नहीं करने देंगे। हमें माफ कीजिए। हम अपनी प्रतिज्ञा पालेंगे।"

मैंने कहा, "तुम्हारे उपवास करने की कोई जरूरत नहीं है। तुम अपनी प्रतिज्ञा का ही पालन करो तो बस है। हमारे पास द्रव्य नहीं है। मजदूरों को भिक्षान्न खिलाकर हमें हड़ताल नहीं करनी है। तुम कहीं कुछ मजदूरी करके अपना पेट भरने लायक कमा लो तो, चाहे हड़ताल कितनी ही लम्बी क्यों न हो, तुम निश्चिन्त रह सकते हो। और मेरा उपवास तो कुछ-न-कुछ फैसले के पहले छूटनेवाला नहीं है।"

वल्लभभाई मजदूरों के लिए म्युनिसिपैलिटी में काम ढूँढते थे, मगर वहाँ पर कुछ मिलने लायक नहीं था। आश्रम के बुनाई-घर में बालू भरनी थी। मगनलाल ने सूचना की कि उसमें बहुत-से मजदूरों को काम दिया जासकता है। मजदूर काम करने को तैयार हुए। अनुसूयाबहन ने पहली टोकरी उठाई और नदी में से बालू की टोकरियाँ उठाकर लानेवाले मजदूरों का ठठ लग गया। यह दृश्य देखने लायक था। मजदूरों में नया जोर आया, उन्हें पैसा चुकानेवाले चुकाते-चुकाते थके।

इस उपवास में एक दोष था। मैं यह लिख चुका हूँ कि मिल-मालिकों के साथ मेरा मीठा सम्बन्ध था। इसलिए यह उपवास उन्हें स्पर्श किये बिना रह नहीं सकता था। मैं जानता था कि बतौर सत्याग्रही के उनके विरुद्ध मैं उपवास नहीं कर सकता। उनके ऊपर जो-कुछ असर पड़े, वह मजदूरों की हड़ताल का ही पड़ना चाहिए। मेरा प्रायश्चित्त उनके दोष के लिए न था; किन्तु मजदूरों के दोष के लिए था। मैं मजदूरों का प्रतिनिधि था, इसलिए इनके दोष से दोषित होता था। मालिकों से तो मैं सिर्फ विनय ही कर सकता था। उनके विरुद्ध उपवास करना तो बलात्कार गिना जायगा। तो भी मैं जानता था कि मेरे उपवास का

असर उनपर पड़े बिना नही रह सकता । पडा भी सही, किन्तु मैं अपने को रोक नहीं सकता था । मैंने ऐसा दोषमय उपवास करने का अपना धर्म प्रत्यक्ष देखा ।

मालिको को मैंने समझाया, "मेरे उपवास से आपको अपना मार्ग जरा भी छोडने की जरूरत नही है ।" उन्होने मुझपर कडुवे-मीठे ताने भी मारे । उन्हें इसका अधिकार था ।

इस हडताल के विरुद्ध अचल रहने में सेठ अम्बालाल अग्रसर थे । उनकी दृढता आश्चर्यजनक थी । उनकी निखालिसता भी मुझे उतनी ही रुची । उनके विरुद्ध लडना मुझे प्रिय लगा । इनके-जैसे अग्रसर जहाँ विरोधी-पक्ष में हों, उपवास के द्वारा उनपर पडनेवाला बुरा असर मुझे खटका । फिर मेरे ऊपर उनकी पत्नी सरलादेवी का सगी बहन के समान स्नेह था । मेरे उपवास से होनेवाली उनकी व्यग्रता मुझसे देखी नही जाती थी । मेरे पहले उपवास में तो अनसूयाबहन और दूसरे कई मित्र तथा कुछ मजदूर शामिल हुए । और अधिक उपवास न करने की जरूरत मैं उन्हें मुश्किल से समझा सका । इस तरह चारो ओर का वातावरण प्रेममय बन गया । मिल-मालिक तो केवल दया की ही खातिर समझौता करने के रास्ते ढूँढने लगे । अनसूयाबहन के यहाँ उनकी सभायें होने लगी । श्री आनन्दशकर ध्रुव भी बीच में पडे । अत में वह पच चुने गये और हडताल छूटी । मुझे तीन ही दिन उपवास करना पडा । मालिको ने मजदूरो को मिठाई बाँटी । इक्कीसवे दिन समझौता हुआ । समझौते का सम्मेलन हुआ । उसमें मिल-मालिक और कमिश्नर हाजिर थे । कमिश्नर ने मजदूरो को सलाह दी थी, "तुम्हें हमेशा मि० गाधी की बात माननी चाहिए ।" इन्ही कमिश्नर साहब के खिलाफ इस घटना के कुछ दिनो बाद तुरन्त ही मुझे लडना पडा था । समय बदला, इसलिए, वह भी बदले और खेडा के पाटीदारो को मेरी सलाह न मानने को कहने लगे ।

एक मजेदार मगर उतनी ही करुणाजनक घटना का भी उल्लेख यहाँ करना उचित है । मालिको की तैयार कराई मिठाई बहुत थी और सवाल यह हो पडा था कि हजारो मजदूरो में वह बाँटी किस तरह

जाय ? यह समझकर कि जिस पेड के आश्रय में मजदूरो ने प्रतिज्ञा ली थी वही पर बाँटना योग्य होगा, और दूसरी किसी जगह हजारो मजदूरो को इकट्ठा करना भी असुविधा की बात थी, उसके आसपास के खुले मैदान में मिठाई बाँटने की बात तय पाई थी। मैंने अपने भोलेपन में मान लिया कि इक्कीस दिनो तक अनुशासन में रहे हुए मजदूर बिना किसी प्रयत्न के ही पंक्ति में खडे होकर मिठाई लेंगे और अधीर होकर मिठाई पर हमला नही कर बैठेंगे, किन्तु मैदान में बाँटने के दो-तीन तरीके आजमाये और वे निष्फल हुए। दो-तीन मिनट ठीक-ठीक चले और फिर बँधी-बँधाई पंक्ति टूट गई। मजदूरो के नेताओ ने खूब प्रयत्न किया, मगर वे कुछ कर नही सके। अन्त में भीड का कुछ ऐसा हमला हुआ कि कितनी ही मिठाई कुचल कर बरबाद गई। मैदान में बाँटना बन्द करना पडा और बची हुई मिठाई मुश्किल से सेठ अम्बालाल के मिर्जापुर के मकान में पहुँचाई जासकी। यह मिठाई दूसरे दिन बगले के मैदान में ही बाँटनी पडी।

इसमें का हास्यरस स्पष्ट है। 'एक टेक' वाले पेड के पास मिठाई बाँटी न जा सकने के कारणो को ढूँढने पर हमने देखा कि मिठाई बँटने की खबर पाकर अहमदाबाद के भिखारी वहाँ आपहुँचे थे और उन्होंने कतार तोडकर मिठाई छीनने के प्रयत्न किये। यह करुण रस था। यह देश फाके-कशी से ऐसा पीडित है कि भिखारियों की संख्या बढती ही जाती है और वे खानेपीने के लिए सामान्य मर्यादा का लोप करते हैं। धनिक लोग ऐसे भिखारियों के लिए काम ढूँढ देने के बदले उन्हें भीख दे-देकर पालते है।

: २३ :

खेड़ा मे सत्याग्रह

मजदूरो की हडताल पूरी होने के बाद मुझे दम मारने की भी फुरसत न मिली और खेडा जिले के सत्याग्रह का काम उठा लेना पडा। खेडा

जिले में अकाल के जैसी स्थिति होने से वहाँ के पाटीदार जमीन-कर माफ करवाने के लिए प्रयत्न कर रहे थे। इस सम्बन्ध में श्री अमृतलाल ठक्कर ने जाँच करके रिपोर्ट की थी। मैंने कुछ भी पक्की सलाह देने के पहले कमिश्नर से भेंट की। श्री मोहनलाल पड्या और श्री शकरलाल पारख अथक परिश्रम कर रहे थे। स्व० गोकुलदास कहानदास पारख और श्री विठ्ठलभाई पटेल के द्वारा वे धारासभा में हलचल करा रहे थे। सरकार के पास शिष्ट-मण्डल गया था। इस समय मैं गुजरात-सभा का अध्यक्ष था। सभा ने कमिश्नर और गवर्नर को अर्जियाँ दी, तार दिये, कमिश्नर के अपमान सहन किये, उनकी धमकियाँ पी गई। उस समय के अफसरो का वर्ताव अब तो हास्यजनक लगता है। अफसरो का तबका बिलकुल हलका व्यवहार अब तो असम्भव-सा जान पडता है।

लोगो की माँग ऐसी साफ और हलकी थी कि उसके लिए लडाई लडने की भी जरूरत नही होनी चाहिए। यह कानून था कि अगर फसल चार आने या उससे भी कम हो तो उस साल जमीन-कर माफ होना चाहिए, किन्तु सरकारी अफसरो का अनुमान चार आने से अधिक का था। लोगो की ओर से इसके सबूत पेश किये गये कि फसल चार आने से कम हुई है। मगर सरकार मानने ही क्यो लगी? लोगो की ओर से पच चुनने की माँग हुई। सरकार को वह असह्य लगी। जितनी विनय की जासकती थी उतनी कर लेने के बाद, साथियो के साथ सलाह करके, मैंने सत्याग्रह करने की सलाह दी।

साथियो में खेडा जिले के सेवको के अलावा खासतौर पर श्री वल्लभभाई पटेल, श्री शकरलाल बैंकर, श्री अनसूयाबहन, श्री इन्दुलाल कन्हैयालाल याज्ञिक, श्री महादेव देशाई वगैरा थे। वल्लभभाई अपनी बडी और दिनो-दिन बढती हुई वकालत का त्याग करके आये थे। यह भी कहा जासकता है कि उसके बाद वह फिर कभी जमकर वकालत कर ही नही सके।

हमने नडियाद-अनाथाश्रम में डेरा जमाया। अनाथाश्रम में ठहरने में कोई विशेषता नही थी, किन्तु इसके समान कोई दूसरा खाली मकान

नड़ियाद में नहीं था, जहाँ इतने अधिक आदमी रह सके। अन्त में नीचे लिखी प्रतिज्ञा पर हस्ताक्षर लिये गये—

"हम जानते हैं कि हमारे गाँव में फसल चार आने से भी कम हुई है। इसलिए हमने अगले साल तक कर वसूल करना मुल्तवी रखने की अर्जी सरकार से की, मगर तो भी लगान की वसूली बन्द नहीं हुई है। इसलिए हम नीचे सही करनेवाले प्रतिज्ञा करते हैं कि इस साल का सरकार का पूरा या बकाया लगान न भरेंगे, किन्तु उसे वसूल करने में सरकार को जो कुछ दण्ड देने हो, देने देंगे और उससे होनेवाला दुःख सहेंगे। हमारी जमीन जब्त होगी तो वह भी होने देंगे; किन्तु अपने हाथों लगान चुकाकर, झूठे बनकर, हम स्वाभिमान नहीं नष्ट करेंगे। अगर सरकार दूसरी किश्त तक बकाया लगान वसूल करना सभी जगह मुल्तवी रक्खे तो हममें जो शक्तिमान हैं वे पूरा या बकाया लगान चुकाने को तैयार हैं। हममें जो शक्तिमान हैं उनके लगान भरने का कारण यह है कि अगर शक्तिमान भरे तो अशक्तिमान घबराहट में पड़कर अपनी, चाहे जो वस्तु बेचकर या कर्ज करके लगान चुकावेंगे और दुःख भोगेंगे। हमारी यह मान्यता है कि ऐसी हालत में गरीबों का बचाव करना शक्तिमानों का धर्म है।"

इस लड़ाई को मैं अधिक प्रकरण नहीं दे सकता। इसलिए कितने ही मीठे संस्मरण छोड़ने पड़ेंगे। जो इस महत्त्वपूर्ण लड़ाई का विशेष हाल जानना चाहें, उन्हें श्री शंकरलाल पारख का लिखा हुआ 'खेडा की लड़ाई का सविस्तर और प्रामाणिक इतिहास' पढ जाने को मेरी सलाह है।[1]

: २४ :

'प्याज का चोर'

चम्पारन हिन्दुस्तान के एक ऐसे कोने में पड़ा था कि वहाँ की लड़ाई को अखबारों से इस तरह अलग रक्खा जासका था कि वहाँपर बाहर

१. यह पुस्तक गुजराती में है।—अनु०

से देखनेवाले नही आते थे। खेडा की लडाई की खबर अखवारो में छप चुकी थी। गुजरातियो को इस नई वस्तु में खूब ही दिलचस्पी आती थी। वे धन लुटाने को तैयार थे। यह बात तुरत ही उनकी समझ में नहीं आती थी कि सत्याग्रह की लडाई धन से नही चल सकती, उसे धन की जरूरत कम-से-कम रहती है। मना करने पर भी ववई के सेठो ने जरूरत से अधिक धन दिया था और लडाई के अत में उसमें से कुछ रकम वची थी।

दूसरी ओर सत्याग्रही सेना को भी सादगी का नया पाठ सीखना वाकी था। यह तो नही कह सकते कि उन्होने पूरा पाठ सीखा, किन्तु उन्होने अपने रहन-सहन में वहुत-कुछ सुधार तो कर लिया था।

पाटीदारो के लिए भी इस प्रकार की लडाई नई ही थी। गाँव-गाँव में घूमकर उसका रहस्य समझाना पडता था। यह समझाकर लोगो का भय दूर करना मुख्य काम था कि सरकारी अफसर प्रजा के मालिक नही किन्तु नौकर है, उसके पैसे से तनख्वाह पानेवाले है और निर्भय वनते हुए भी विनय का पालन करने का ढग वतलाना और गले उतारना लगभग अशक्य-सा ही लगता था। अफसरो का डर छोडने के वाद उनके किये अपमानो का वदला लेने का किसका मन न होवे ? मगर तो भी सत्याग्रही के लिए अविनयी होना तो दूध में जहर पडने के समान है। पीछे से मैंने यह और अधिक समझा कि विनय का पूरा पाठ पाटीदार नही पढ सके थे। यह वात मैंने वाद में अधिक समझी। अनुभव से देखता हूँ कि विनय सत्याग्रह का सवसे कठिन अंश है। विनय का अर्थ यहाँ पर केवल मान के साथ वचन वोलना-भर ही नही है। विनय है विरोधी के प्रति भी मन में आदर रखना, सरल भाव से उसके हित की इच्छा करना और उसीके अनुसार अपना वर्ताव रखना।

शुरू के दिनो में लोगो में खूब हिम्मत दिखाई पडती थी। शुरू शुरू में सरकारी कार्रवाइयाँ भी नर्म होती थी, किन्तु जैसे-जैसे लोगो की दृढता वढती हुई जान पडी, वैसे-वैसे सरकार को भी अधिक उग्र उपाय करने का मन हुआ। जव्तीदारो ने लोगो के ढोर वेचे, घर में से चाहे जो

माल उठा ले गये। चौथाई जुरमाने के नोटिस निकले। किसी गाँव की सारी फसल जब्त हुई। लोग घबरा गये। कुछ लोगो ने जमीन-महसूल भरा। दूसरे यह चाहने लगे कि अगर सरकारी अफसर ही हमारा कुछ माल जब्त करके महसूल अदा करले तो हम सस्ते ही छूटें। कितने ऐसे भी निकले, जो मरते दमतक टेक पर अडे रहनेवाले थे।

इतने ही में शकरलाल पारख की जमीन पर रहनेवाले उनके आदमी ने उसका महसूल चुका दिया। इससे हाहाकार होगया। शकरलाल पारख ने वह जमीन देश को अर्पण करके अपने आदमी की भूल का प्रायश्चित्त किया। उनकी प्रतिष्ठा अक्षत रही। दूसरो के लिए यह उदाहरण हुआ।

एक अयोग्य रीति से जब्त किये गये खेत में प्याज की फसल तैयार थी। मैंने डरे हुए लोगो को उत्साह देने के लिए मोहनलाल पड्या के नेतृत्व में उस खेत की फसल काट लेने की सलाह दी। मेरी दृष्टि में उसमें कानून का भग नही होता था। मैंने समझाया, अगर होता भी हो तो भी जरा से महसूल के लिए सारी खडी फसल की जब्ती कानून-सम्मत होने पर भी नीति-विरुद्ध है और सरासर लूट है। तथा इस तरह की गई जब्ती का अनादर करना धर्म है। ऐसा करने में जेल जाने तथा सजा पाने का जो जोखिम था सो लोगो को मैंने स्पष्ट रूप से बतला दिया था। मोहनलाल पड्या को तो यही चाहिए था। उनके लिए यह रुचिकर बात नहीं थी कि सत्याग्रह से किसी अविरोधी तौर पर किसी के जेल जाने के पहले ही खेड़ा की लडाई खत्म हो जाय। उन्होने इस खेत की प्याज खोद लाने का बीडा उठाया। सात-आठ आदमियो ने उनका साथ दिया।

सरकार उन्हें पकडे बिना भला कैसे रहे? मोहनलाल पड्या और उनके साथी पकडे गये। लोगो का उत्साह बढा। लोग जहाँ पर जेल इत्यादि से निर्भय बनते है वहाँ राजदण्ड लोगो को दबाने के बदले शौर्य देता है। कचहरी में लोगो के झुण्ड मुकदमा देखने को इकट्ठे होने लगे। पड्या को तथा उनके साथियो को बहुत थोडे दिनो की कैद मिली। मैं

मानता हूँ कि अदालत का फैसला गलत था। प्याज उखाड़ने की क्रिया चोरी की कानूनी व्याख्या में नही आती है, किन्तु अपील करने की किसी की वृत्ति ही नही थी।

जेल जानेवालो को पहुंचाने के लिए जलूस गया, और उस दिन से मोहनलाल पड्या ने जो 'प्याज चोर' की सम्मानित उपाधि लोगो से पाई सो वह आजतक भोगते है।

यह वर्णन करके कि इस लड़ाई का कैसा और किस तरह अन्त आया, यह खेडा प्रकरण पूरा करूँगा।

: २५ :

खेड़ा की लड़ाई का अन्त

इस लडाई का अन्त विचित्र रीति से हुआ। यह स्पष्ट था कि लोग थके हुए थे। जो लोग आन पर अडे थे, उन्हे अन्ततक खुआर होने देने में संकोच होता था। मेरा झुकाव इस ओर था कि सत्याग्रही को जो योग्य लग सके, अगर ऐसा कोई उपाय इस युद्ध को समाप्त करने का मिले तो वही करना चाहिए। ऐसा अकल्पित उपाय आप-ही-आप आगया। नडियाद तालुके के मामलतदार ने खबर भेजी कि अगर धनी पाटीदार महसूल भर दें तो गरीबो का लगान मुल्तवी रहेगा। इस सम्बन्ध में मैंने लिखी हुई सूचना मांगी। वह मिली भी। मामलतदार तो अपने ही तालुके के लिए जवाबदारी ले सकता है। इसलिए मैंने कलेक्टर से पूछा। जवाब मिला कि ऐसा हुक्म तो कबका निकल चुका है न ? मुझे ऐसी खबर न थी, किन्तु अगर वह हुक्म निकला हो तो लोगो की प्रतिज्ञा पूरी हुई गिनी जायगी। प्रतिज्ञा में यही वस्तु थी। इसलिए इस हुक्म से सतोष माना।

यह होने पर भी इस अन्त से हममें से कोई खुश न हो सका। सत्याग्रह की लडाई के बाद जो मिठास होनी चाहिए सो इसमें नही थी। कलेक्टर समझता था, मैंने तो मानो कुछ नया किया ही नही है। गरीब लोगो

को छोड़ने की बात थी, मगर ये भी शायद ही बचे। यह कहने का अधिकार कि गरीब कौन है, प्रजा नहीं आजमा सकी। मुझे इसका दुःख था कि प्रजा में यह शक्ति नहीं रही थी। इसलिए अन्त का उत्सव तो मनाया गया, मगर मुझे वह निस्तेज लगा।

सत्याग्रह का शुद्ध अन्त यह गिना जायगा कि आरम्भ की बनिस्बत अन्त में प्रजा में अधिक तेज और शक्ति देखने में आवे। यह मैं न देख सका।

ऐसा होने पर भी लड़ाई के जो अदृश्य परिणाम आये, उनका लाभ तो आज भी देखा जासकता है, और लिया भी जारहा है। खेड़ा की लड़ाई से गुजरात के किसान-वर्ग की जागृति का, उसके राजनैतिक शिक्षण का आरम्भ हुआ।

विदुषी बसन्तीदेवी (ऐनी बेसन्ट) की 'होमरूल' की प्रतिभाशाली हलचल ने उसको स्पर्श अवश्य किया था, किन्तु किसान के जीवन में शिक्षित-वर्ग का, स्वयं-सेवकों का सच्चा प्रवेश होना तो इसी लड़ाई से कहा जासकता है। सेवक पाटीदारों के जीवन में ओत-प्रोत हो गये थे। स्वयं-सेवकों को अपने क्षेत्र की मर्यादा इस लड़ाई में मालूम हुई, उनकी त्याग-शक्ति बढ़ी। वल्लभभाई ने अपने-आपको इस लड़ाई में पहचाना। अगर और कुछ नहीं तो एक यही परिणाम कुछ ऐसा-वैसा नहीं था, यह हम पिछले साल बाढ़-संकट-निवारण के समय और इस साल बारडोली में देख चुके हैं। गुजरात के प्रजा-जीवन में नया तेज आया, नया उत्साह भर गया। पाटीदारों को अपनी शक्ति का भान हुआ, जो कभी न भूला। सबने समझा कि प्रजा की मुक्ति का आधार अपने ही ऊपर है, त्याग-शक्ति पर है। सत्याग्रह ने खेड़ा के द्वारा गुजरात में जड़ जमाई। इसलिए हालांकि लड़ाई के अन्त से मैं सन्तुष्ट न हो सका, मगर खेड़ा की प्रजा को तो उत्साह था, क्योंकि उसने देख लिया कि हमारी शक्ति के प्रमाण से हमें अधिक मिला है और आगे के लिए राजनैतिक दुःखों के निवारण का मार्ग हमें मिल गया है, उसके उत्साह के लिए इतना ज्ञान काफी था।

किन्तु खेडा की प्रजा सत्याग्रह का स्वरूप पूरा नही समझ सकी थी, इसलिए उसे कैसे कडवे अनुभव हुए सो हम आगे चलकर देखेंगे।

: २६ :

ऐक्य के प्रयत्न

जिस समय खेडा का आन्दोलन जारी था, उसी समय यूरोप का महासमर भी चल रहा था। उसीके सम्बन्ध मे वाइसराय ने दिल्ली में नेताओ को बुलवाया था। मुझे उसमें हाजिर रहने का आग्रह किया था। मै यह पहले ही लिख चुका हूं कि लार्ड चेम्सफोर्ड के साथ मेरा मैत्री का सम्बन्ध था।

मैंने आमन्त्रण कबूल रक्खा और दिल्ली गया, किन्तु इस सभा मे शामिल होने में मुझे एक सकोच तो था ही। उस समय अली-भाई जेल में थे। उनसे मै एक ही दो-बार मिला था, सुना उनके बारे में बहुत कुछ था। उनकी सेवावृत्ति और बहादुरी की स्तुति सभी कोई किया करते थे। हकीम साहब के साथ भी मेरा परिचय नही हुआ था। स्व० आचार्य रुद्र और दीनबन्धु एण्डरूज के मुंह से उनकी बहुत प्रशसा सुनी थी। लखनऊ में मुस्लिम-लीग में मैने श्वैब कुरेशी और बैरिस्टर ख्वाजा से मुलाकात की थी। डाक्टर अन्सारी और डाक्टर अब्दुलरहमान के साथ भी सम्बन्ध बध चुका था। भले मुसलमानो की सोहबत मै ढूंढता था और जो पवित्र तथा देशभक्त गिने जाते थे, उनके सम्पर्क में आकर उनकी भावनायें जानने की मुझे तीव्र इच्छा थी। इसलिए मुझे वे अपने समाज में जहां-कही ले जाते, मै बिना कोई खींच-तान कराये ही चला जाता था। यह तो मै दक्षिण अफ्रिका में ही समझ चुका था कि हिन्दुस्तान के हिन्दू-मुसलमानो में सच्चा मित्राचार नही है। दोनो के बीच मनमुटाव मिटाने का एक भी उपाय मै जाने नही देता था। झूठी खुशामद करके या स्वत्व गंवाकर किसीको खुश करना मेरे स्वभाव में ही नही था, किन्तु मैं वही से यह समझता आया था कि मेरी अहिंसा की कसौटी और उनका

विशाल प्रयोग इस ऐक्य के सम्बन्ध में होने को है। अब भी मेरी यही राय क़ायम है। मेरी कसौटी ईश्वर प्रति-क्षण कर रहे हैं। मेरे प्रयोग जारी हैं।

ऐसे विचार लेकर मैं बम्बई के बन्दर पर उतरा था। इसलिए इन भाइयों से मिलना मुझे रुचा है। हमारा स्नेह बढ़ता गया। हमारा परिचय होने के बाद तुरन्त ही सरकार ने अलीभाइयों को जीते-जी ही जेल की कोठरियों में दफ़न किया था। मौलाना मुहम्मदअली को जब इजाज़त मिलती, वह मुझे बैतूल-जेल में या छिन्दवाड़ा जेल से लम्बे-लम्बे पत्र लिखा करते थे। मैंने उनसे मिलने जाने की प्रार्थना सरकार ने की, मगर मिलने की इजाज़त न मिली।

अली-भाइयों के जेल जाने के बाद कलकत्ता मुस्लिम-लीग में मुझे मुसलमान भाई ले गये थे। वहाँ मुझसे बोलने के लिए कहा गया था। मैं बोला। अली-भाइयों को छुड़ाने का धर्म मुसलमानों को समझाया।

इसके बाद वे मुझे अलीगढ़-कॉलेज में भी ले गये थे। वहाँ मैंने मुसलमानों को देश के लिए फ़कीरी लेने का न्योता दिया।

अली-भाइयों को छुड़ाने के लिए मैंने सरकार के साथ पत्र-व्यवहार चलाया। इस सिलसिले में इन भाइयों की खिलाफ़त-सम्बन्धी हलचल का अध्ययन किया। मुसलमानों के साथ चर्चा की। मुझे लगा कि अगर मैं मुसलमानों का सच्चा मित्र बनना चाहूँ तो मुझे अली-भाइयों को छुड़ाने में और खिलाफ़त का प्रश्न हल करने में पूरी मदद करनी चाहिए। खिलाफ़त का प्रश्न मेरे लिए सहज था। उसके स्वतन्त्र गुण-दोष तो मुझे देखने ही नहीं थे। मुझे ऐसा लगा कि उस सम्बन्ध में मुसलमानों की माँग नीति-विरुद्ध न हो तो मुझे मदद देनी चाहिए। धर्म के प्रश्न में श्रद्धा सर्वोपरि होती है। सबकी श्रद्धा एक ही वस्तु के बारे में एक ही सी हो तो जगत् में एक ही धर्म होता। खिलाफ़त के सम्बन्ध की माँग मुझे नीति-विरुद्ध नहीं जान पड़ी। इतना ही नहीं; बल्कि यही माँग इंग्लैंड के प्रधान मन्त्री ने स्वीकार की थी, इसलिए मुझे तो उनसे अपने वचन का पालन कराने भर ही प्रयत्न करना था। वचन ऐसे स्पष्ट शब्दों

में थे कि मर्यादित गुणदोष की परीक्षा करने का काम महज अपनी अन्तरात्मा को प्रसन्न करने की ही खातिर था।

खिलाफत के प्रश्न में मैंने मुसलमानों का जो साथ दिया, उसके विषय में मित्रों और टीकाकारों ने मुझे खूब खरी-खोटी सुनाई है। इन सबका विचार करने पर भी मैंने जो राय कायम की, जो मदद दी या दिखाई, उसके लिए मुझे पश्चात्ताप नहीं है। उसमें मुझे कुछ सुधारना भी नहीं है। आज भी ऐसा प्रश्न उठे तो, मुझे लगता है, मेरा आचरण उसी प्रकार का होगा।

इस तरह के विचार लिये हुए मैं दिल्ली गया। मुसलमानों के दुःख के बारे में मुझे वाइसराय से चर्चा करनी ही थी। खिलाफत के प्रश्न ने अभी अपना पूर्ण स्वरूप नहीं पकड़ा था।

दिल्ली पहुँचते ही दीनबन्धु एण्ड्रूज ने एक नैतिक प्रश्न ला खड़ा किया। इसी अरसे में इटली और इंग्लैण्ड के बीच गुप्त-सन्धि की चर्चा अंग्रेजी अखबारों में हुई। दीनबन्धु ने मुझसे उसकी बातें कीं और कहा, "अगर ऐसी गुप्त संधियाँ इंग्लैण्ड ने किसी सरकार के साथ की हों तो फिर आप इस सभा में कैसे शामिल होकर मदद दे सकते हैं?" मैं इस संधि के बारे में कुछ नहीं जानता था। दीनबन्धु का शब्द मेरे लिए बस था। ऐसे कारण से सभा में शामिल होने में उज्र दिखलानेवाला पत्र मैंने लार्ड चेम्सफोर्ड को लिखा। उन्होंने मुझे चर्चा करने के लिए बुलाया। उनके साथ और फिर पीछे मि० मैफी के साथ मेरी लम्बी चर्चा हुई। इसका अन्त यह पाया कि मैंने शामिल होना स्वीकार कर लिया। संक्षेप में वाइसराय की दलील यह थी—"आप कुछ यह तो नहीं मानते कि ब्रिटिश मंत्रि-मण्डल जो-कुछ करे, वाइसराय को उसकी खबर होनी चाहिए? मैं यह दावा नहीं करता कि ब्रिटिश-सरकार किसी दिन भूल करती ही नहीं। यह दावा मैं ही क्या, कोई नहीं करता, मगर आप यदि यह कबूल करें कि उसका अस्तित्व संसार के लिए लाभकारी है, उसके कारण इस देश को कुल मिलाकर लाभ ही पहुँचा है, तो क्या फिर आप यह नहीं कबूल करेंगे कि उसकी आपत्ति के समय उसे मदद पहुँचाना

हरेक नागरिक का धर्म है। गुप्त संधि के सम्बन्ध में आपने अखबारो मे जो देखा है, सो मैंने भी पढा है। मै आपको विश्वास दिला सकता हूँ कि मै इससे अधिक कुछ भी नही जानता। यह भी तो आप जानते ही है कि अखबारो में कैसी गप्पें आती है। तो क्या आप अखबारो में छपी एक निन्दक बात से ऐसे समय में सल्तनत का त्याग कर सकते है ? लड़ाई पूरी होने के बाद आपको जितने नीति के प्रश्न उठाने हो, आप उठा सकते है, और जितनी छानबीन करनी हो, कर सकते है।"

यह दलील नई न थी, परन्तु जिस अवसर पर, जिस प्रकार वह रक्खी गई, उससे मुझे नई-सी जान पडी और मैंने सभा में जाना कबूल किया। खिलाफत की बाबत वाइसराय को पत्र लिखकर भेजना निश्चित हुआ।

: २७ :

रंगरूटों की भर्ती

सभा में मै हाजिर हुआ। वाइसराय की तीव्र इच्छा थी कि मै सिपाहियो की मदद के प्रस्ताव का समर्थन करूँ। मैंने हिन्दी-हिन्दुस्तानी में बोलने की प्रार्थना की। वाइसराय ने वह स्वीकार करली, मगर साथ ही अंग्रेजी मे बोलने की सूचना की। मुझे भाषण तो देना ही था नहीं। मै इतना ही बोला, "मुझे अपनी जिम्मेदारी का पूरा भान है और उस जिम्मेदारी को समझते हुए मै इस प्रस्ताव का समर्थन करता हूँ।" हिन्दुस्तानी में बोलने के लिए मुझे बहुतो ने धन्यवाद दिया। वे कहते थे कि वाइसराय की सभा में इस जमाने में हिन्दुस्तानी बोलने का यह पहला ही दृष्टान्त था। धन्यवाद और पहला दृष्टान्त होने की खबर अखरी। मै शरमाया। अपने ही देश में, देश-सम्बन्धी काम की सभा में, देशी भाषा का बहिष्कार या उसकी अवगणना होनी कितने दुःख की बात है ? और मेरा जैसा कोई हिन्दुस्तानी में एक या दो वाक्य बोले ही तो उसे धन्यवाद किस बात का ? ऐसे प्रसग हमारी गिरी हुई दशा का भान

करानेवाले हैं। सभा में बोले हुए वाक्य में मेरे लिए तो बहुत वजन था। यह सभा या यह समर्थन ऐसे न थे, जिन्हें मैं भूल सकूँ। अपनी एक जिम्मेदारी तो मुझे दिल्ली में ही खत्म कर लेनी थी। वाइसराय को पत्र लिखने का काम मुझे सहज नहीं लगा। सभा में जाने की अपनी आनाकानी, उसके कारण भविष्य की आशायें वगैरा का खुलासा, अपने लिए, सरकार के लिए, और प्रजा के लिए, करने की आवश्यकता मुझे जान पड़ी।

मैंने वाइसराय को पत्र लिखा। उसमें लोकमान्य तिलक, अलीभाई आदि नेताओं की गैरहाजिरी के बारे में अपना खेद प्रकट किया, लोगों की राजनैतिक मांगों और लड़ाई में से उत्पन्न होनेवाली मुसलमानों की मांगों का उल्लेख किया। यह पत्र छापने की इजाजत मैंने वाइसराय से मांगी, जो उन्होंने खुशी से दे दी।

यह पत्र शिमला भेजना था, क्योंकि सभा खत्म होते ही वाइसराय शिमला चले गए थे। वहाँ डाक से पत्र भेजने में ढील होती थी। मेरे मन में पत्र महत्वपूर्ण था। समय बचाने की जरूरत थी। चाहे जिसके हाथ से भेजने की इच्छा नहीं होती थी। मुझे ऐसा लगा कि अगर यह पत्र किसी आदमी के हाथों जाय तो बड़ा अच्छा है। दीनबन्धु और सुशील रुद्र ने रेवरेण्ड आयर्लैण्ड महाशय का नाम सुझाया। उन्होंने यह कबूल किया कि पत्र पढ़ने पर अगर शुद्ध लगेगा तो ले जाऊँगा। पत्र खानगी तो था ही नहीं। उन्होंने पढ़ा, वह उन्हें पसन्द आया, और वह उसे ले जाने को राजी हुए। मैंने दूसरे दर्जे का रेल-भाड़ा देने की व्यवस्था की, किन्तु उन्होंने उसे लेने से इन्कार किया और रात का सफर होने पर भी इण्टर का ही टिकट लिया। उनकी सादगी, सरलता और स्पष्टता के ऊपर मैं मोहित हो गया। इस प्रकार पवित्र हाथों भेजे गये पत्र[1] का परिणाम मेरी दृष्टि से अच्छा ही हुआ। उससे मेरा मार्ग साफ हो गया।

मेरी दूसरी जिम्मेदारी रंगरूट भर्ती करने की थी। मैं यह याचना

[1] इस पत्र का अनुवाद इसी अध्याय के अन्त में दिया है। —अनु०

खेडा में न करूं तो और कहां करूं? अपने साथियों को अगर पहले न्यौता न दूं तो और किसे दूं? खेडा पहुंचते ही वल्लभभाई वगैरा के साथ सलाह की। उनमें से कितनों को तुरत घूंट न उतरी। जिन्हें यह बात पसन्द भी पडी, उन्हें कार्य की सफलता के बारे में सन्देह हुआ। जिस वर्ग में से भर्ती करनी थी, उस वर्ग को सरकार के प्रति कुछ भी प्रेम नहीं था। सरकार के अफसरों के द्वारा हुए कडवे अनुभव अभी ताजे ही थे।

तो भी कार्यारम्भ करने की चिंता में सभी लगे। कार्य आरम्भ किया कि तुरत ही मेरी आंखें खुलीं। मेरा आशावाद भी कुछ ढीला हुआ। खेडा की लडाई में लोग मुफ्त में गाडी देते थे, जहां एक स्वयंसेवक की हाजिरी की जरूरत होती वहां तीन-चार मिल जाते थे। अब पैसा देने पर भी गाडी दुर्लभ हो गई। किन्तु इस तरह मैं कोई निराश होनेवाला नहीं था। गाडी के बदले पैदल ही सफर करने का निश्चय किया। रोज बीस मील की मंजिल चलनी थी। गाडी न मिले तो खाना भी न मिले। मांगना भी उचित नहीं। इसलिए यह निश्चय किया कि प्रत्येक स्वयंसेवक अपने भोजन का सामान अपने थैले में लेकर ही बाहर निकले। मौसम गर्मी का था। इसलिए ओढने का कुछ सामान साथ रखने की जरूरत

लोग जगह-जगह सभायें करने लगे थे। वैसी सभा गुजरात में भी हुई। उसमें मुझे और मेरे साथियों को भी आने का आमन्त्रण था। वहाँ भी मैं हाजिर हुआ था। किन्तु अगर दिल्ली में मै कम शोभता हुआ जान पड़ा तो यहाँ और भी अधिक कम शोभनीय-सा अपने आपको लगा। 'हाँ-जी-हाँ' के वातावरण में मुझे चैन नहीं पड़ता था। यहाँ मैं जरा विशेष बोला था। मेरे बोलने में खुशामद जैसा था ही नहीं, किन्तु दो कटवे वचन भी थे।

रंगरूटो की भर्ती के सम्बन्ध में मैंने पत्रिका छापी थी। उसमें भर्ती होने के लिए निमन्त्रण में एक दलील थी, जो कमिश्नर को खटकी थी। उसका सार यह था—"ब्रिटिश राज्य के अनेक अपकृत्यों में से सारी प्रजा को शस्त्र-रहित करने के कानून का इतिहास उसका सबसे काला काम गिना जायगा। यह कानून रद्द कराना हो और अस्त्रों का उपयोग सीखना हो तो यह सुवर्ण योग है। राज की आपत्ति के समय में मध्यम-वर्ग स्वेच्छा से मदद करेगा तो अविश्वास दूर होगा और जिन्हें शस्त्र धारण करने हो, वे खुशी से हथियार रख सकेंगे।" इसको लक्ष्य करके कमिश्नर को कहना पड़ा था कि उनके और मेरे बीच मतभेद होते हुए भी, सभा में मेरी हाजिरी उन्हें प्रिय थी। मुझे भी अपने मत का समर्थन, जहाँ तक हो सका, मीठे शब्दों में करना पड़ा था।

पहले जिस पत्र का उल्लेख किया गया है उसका सारांश इस प्रकार है—

"सभा में उपस्थित होने के लिए मैं हिचकिचा रहा था, परन्तु आप से मुलाकात करने के बाद मेरी हिचकिचाहट दूर होगई है। और उसका एक कारण यह अवश्य है कि आपके प्रति मुझे बहुत आदर है। न आने के कारणों में एक मजबूत कारण यह था कि उसमें लोकमान्य तिलक, श्रीमती बेसेण्ट और अली-भाइयों को निमन्त्रण नहीं दिया गया था। इन्हें मैं जनता के बड़े ही शक्तिशाली नेता मानता हूँ। मैं तो यह मानता हूँ कि उनको निमन्त्रण न भेजकर सरकार ने बड़ी गम्भीर भूल की है। मैं अब भी यह सूचना करना चाहता हूँ कि जब प्रान्तिक सभायें की जायें तब उन्हें अवश्य निमन्त्रण भेजा जाय। मेरा नम्र अभिप्राय यह है कि,

चाहे कैसा ही मतभेद क्यो न हो, कोई भी सल्तनत ऐसे प्रौढे नेताओ क अनादर नही कर सकती। ऐसी परिस्थिति होने के कारण ही मै सभा की कमिटियो में शामिल न हो सका और सभा में प्रस्ताव का समर्थन करके सन्तुष्ट हो गया। सरकार को मैंने जो सूचनायें भेजी है, वे यदि स्वीकृत हुई तो मै तुरन्त ही इस काम में लग जाने की आशा रखता हूँ।

"जिस सल्तनत में हम भविष्य में सम्पूर्ण हिस्सेदार बनने की आशा करते है, उसको आपत्तिकाल में मदद करना हमारा धर्म है। परन्तु मुझे यह कहना चाहिए कि उसके साथ यह आशा भी है कि इस मदद के कारण हम अपने ध्येय पर जल्दी पहुँच सकेगे। इसलिए प्रजाजनो को यह मानने का अधिकार है कि जिन सुधारो के देने की आशा आपने अपने भाषण में दिखलाई है उन सुधारो में महासभा और मुस्लिमलीग की मुख्य-मुख्य मांगो का भी समावेश होगा। अगर मुझसे बन पडता तो मै ऐसे समय में होमरूल वगैरा का उच्चार तक न करता और साम्राज्य के ऐसे बारीक समय पर तमाम शक्ति-शाली भारतीयो को चुपचाप कुरबान हो जाने के लिए कहता। इतना करने से ही हम साम्राज्य के बडे-से-बडे और सम्माननीय हिस्सेदार बन जाते और रग-भेद और देश-भेद दूर हो जाता।

"परन्तु शिक्षित-वर्ग ने इससे कम असर-कारक मार्ग ग्रहण किया है। जन-समाज में उनका ज़ोर बहुत है। मै जबसे हिन्दुस्तान में आया हूँ तभीसे जन-समाज के गाढ परिचय में आता रहा हूँ और मैं आपको यह कहना चाहता हूँ कि उनमें होमरूल प्राप्त करने का उत्साह पैदा हो गया है। बिना होमरूल के प्रजा को कभी सतोष न होगा। वे यह समझते है कि होमरूल प्राप्त करने के लिए जितना भी त्याग किया जा सके कम ही होगा। इसलिए यद्यपि साम्राज्य के लिए जितने भी स्वयसेवक दिये जा सके देने चाहिएँ, किन्तु मै आर्थिक मदद के लिए यह नही कह सकता हूँ। लोगो की हालत को जानकर मै यह कह सकता हूँ कि हिन्दुस्तान अबतक जितनी मदद कर चुका है वह भी उसकी शक्ति से अधिक है। परन्तु मै इतना अवश्य समझता हूँ कि जिन्होने सभा में प्रस्ताव का

समर्थन किया उन्होंने इस कार्य में प्राणान्त मदद करने का निश्चय किया है। परन्तु हमारी स्थिति मुश्किल है। हम कोई दूकान के हिस्सेदार नहीं। हमारी मदद की नींव भविष्य की आशा पर स्थित है; और वह आशा क्या है, यह यहाँ विशेष रूप से कहना चाहिए। मैं कोई सौदा करना नहीं चाहता। फिर भी मुझे इतना तो यहाँ अवश्य कहना चाहिए कि यदि इसमें हमें निराशा होना पड़ा तो साम्राज्य के बारे में आजतक हमारी जो मान्यता है वह केवल भ्रम गिना जायगा।

"आपने अन्दरूनी झगड़े भूल जाने की जो सूचना की है उसका अर्थ यदि यह हो कि जुल्म और अधिकारियों के अत्याचार सहन करें, तो यह असम्भव है। संगठित जुल्म के सामने अपनी सारी शक्ति लगा देना मैं अपना धर्म समझता हूँ। इसलिए आप अधिकारियों को सूचना करें कि वे किसी भी मनुष्य का अनादर न करें और पहले कभी जैसा लोकमत का आदर नहीं किया वैसा अब उसका आदर करें। चम्पारन में सदियों के जुल्म का विरोध कर मैंने ब्रिटिश न्याय का सर्वश्रेष्ठ होना प्रमाणित कर दिया है। खेड़ा की प्रजा ने यह देख लिया है कि जब उसमें सत्य के लिए दुःख सहन करने की शक्ति है तब सच्ची शक्ति राज्य नहीं लेकिन लोकमत है। और इसलिए जिस सल्तनत को प्रजा शाप दे रही थी उसके प्रति अब कटुता कुछ कम हो गई है और जिस राज्य ने सविनय कानून-भंग सहन कर लिया है वह राज्य लोकमत का सर्वथा अनादर नहीं करेगा, यह इसका विश्वास हो गया है। इसलिए मेरी यह मान्यता है कि चम्पारन और खेड़ा में मैंने जो कार्य किया है वह लड़ाई के सम्बन्ध में मेरी सेवा है। यदि आप मुझे इस प्रकार का कार्य बन्द करने को कहेंगे तो मैं यही समझूँगा कि आप मुझे सांस लेने को ही रोक देने को कहते हैं। यदि शस्त्रबल के स्थान में मुझे आत्मबल अर्थात् प्रेम-बल को लोकप्रिय बनाने में सफलता मिले तो मैं यह जानता हूँ कि हिन्दुस्तान पर सारे [illegible] बन बैठें तो भी यह उनके सामने खड़ा रह सकेगा। इसलिए हर समय यह दुःख सहन करने की सनातन नीति को अपने जीवन में उतारने के लिए, मैं अपनी आत्मा को कसता रहूँगा और दूसरों को भी

इस नीति को स्वीकार करने लिए कहता रहूँगा। और यदि मैं किसी दूसरी प्रवृत्ति को करता भी हूँ तो इसी नीति की अद्वितीय उत्तमता सिद्ध करने के लिए ही करता हूँ।

"अन्त में मुसलमान राज्यो के बारे में निश्चित विश्वास दिलाने की ब्रिटिश प्रधान-मण्डल को सूचना करने की मैं आपसे विनती करता हूँ। आप जानते है कि इस विषय में प्रत्येक मुसलमान को चिन्ता बनी रहती है। हिन्दू होकर मैं उनकी इस चिन्ता के प्रति लापरवाह नहीं रह सकता हूँ। उनका दुःख तो हमारा ही दुःख है। मुसलमानी राज्य के हकों की रक्षा करने मे, उनके धर्मस्थानो के विषय में, उनके विचार का आदर करने में, और हिन्दुस्तान की होमरूल की मांग स्वीकार करने में साम्राज्य की सलामती है। मैंने यह पत्र लिखा है, क्योकि मैं अंग्रेजो को चाहता हूँ और अंग्रेजो में जैसी वफादारी है, वैसी ही वफादारी मैं प्रत्येक भारतीय में उत्पन्न करना चाहता हूँ।"

: २८ :

मृत्यु-शैय्या पर

रंगरूटो की भर्ती करने में मेरा शरीर काफी थक गया। उन दिनों भुनी हुई मूँगफली को कूटकर उसमें गुड़ मिला और उसे दो-तीन नीबू तथा पानी के साथ मिलाकर मैं पी जाता था। बस, यही मेरा भोजन था। मैं यह जानता तो था कि अधिक मूँगफली अपथ्य करती है, फिर भी वह अधिक खाने में आगई। इससे पेचिश होगई। मुझे बार-बार आश्रम तो आना ही पड़ता था। मैंने इस पेचिश की अधिक परवा नहीं की। रात को आश्रम पहुँचा। उन दिनो मैं दवा तो शायद ही कभी लेता था। मुझे विश्वास था कि एक बार का खाना बन्द कर दूँगा तो तबियत ठीक हो जायगी। दूसरे दिन सुबह कुछ नहीं खाया। इसलिए दर्द तो लगभग शान्त हो गया। पर मैं जानता था कि मुझे उपवास और

करना पड़ेगा, अथवा यदि कुछ खाना ही चाहिए तो फल का रस जैसी कोई चीज खानी चाहिए।

उस दिन कोई त्योहार था। मुझे स्मरण है कि मैंने कस्तूरबाई से कह दिया था कि दोपहर को भी मैं भोजन नहीं करूंगा। पर उसने मुझे ललचाया और मैं भी लालच में आ गया। उस समय मैं किसी भी पशु का दूध नहीं पीता था। इसलिए घी और मट्ठा भी मेरे लिए त्याज्य ही था। मेरे लिए तेल में गेहूं का दलिया बनाया गया। वह और साबुत मूंग भी मेरे लिए रक्खे हुए हैं, ऐसा मुझसे कहा गया। स्वाद ने मुझे ललचाया। फिर भी इच्छा तो यही थी कि कस्तूरबाई की बात रखने के लिए थोड़ा ही खाऊंगा, स्वाद भी ले लूंगा, और शरीर की रक्षा भी करूंगा। पर शैतान तो मौके की ताक में ही बैठा था। मैंने भोजन शुरू किया और थोड़ा खाने के बदले डटकर पेटभर खा लिया। स्वाद तो लिया, पर साथ ही यमराज को निमन्त्रण भी दे दिया। खाये एक घंटा भी नहीं हुआ कि पेट में जोरों से दर्द शुरू हुआ।

रात को नडियाद तो जाना ही था। साबरमती स्टेशन तक पैदल गया। पर यह सवा मील का रास्ता चलना मुश्किल हो गया। अहमदाबाद के स्टेशन पर वल्लभभाई मिलने आये थे। वह आये और मेरी पीड़ा को ताड़ गये। पर मेरी व्याधि असह्य थी, यह न तो मैंने उन्हें जानने दिया और न दूसरे साथियों से ही कहा।

तो बेचारे हलका कर नही सकते थे। मेरी हठ का कोई ठिकाना न था। डाक्टर को बुलाने से मैंने इन्कार कर दिया—"दवा तो हर्गिज नही लूँगा। अपने किये का फल भोगूँगा।" साथियो ने यह सब दु खपूर्वक सह लिया। चौबीस घटे के अन्दर तीस-चालीस बार मैं टट्टी गया। खाना तो मैंने बन्द कर ही दिया था। पहले दिनो में तो फलो का रस भी नहीं लिया। रुचि ही न थी।

जिस शरीर को आजतक मैं पत्थर के जैसा मानता था, वह मिट्टी-सा होगया। सारी शक्ति जाने कहाँ चली गई। डॉ० कानूगा आये उन्होने दवा लेने के लिए विनती की। मैंने इन्कार कर दिया। इन्जेक्शन देने की बात कही। मैंने इसपर भी इन्कार ही किया। इन्जेक्शन के विषय में मेरा उस समय का अज्ञान हास्यजनक था। मेरा यही खयाल था कि इन्जेक्शन तो किसी प्रकार की लस होगी। बाद में मुझे मालूम हुआ कि वह तो निर्दोष वन्यौषधि की बनाई हुई पिचकारी थी। पर जब यह ज्ञान हुआ तब तो अवसर बीत गया था। हाजतें जारी थीं। बहुत परिश्रम के कारण बुखार और बेहोशी भी आगई। मित्र और भी घबराये। अन्य डॉक्टर भी आये, पर दर्दी ही उनकी न सुने तब उसके लिए वे क्या कर सकते थे?

सेठ अम्बालाल और उनकी धर्मपत्नी आईं। साथियो से सलाह-मशविरा किया और बड़ी हिफाजत से मुझे वे अपने मिरजापुर वाले बँगले पर लेगये। मैं यह तो जरूर कहूँगा कि इन बीमारी में जो, निर्मल निष्काम सेवा मुझे मिली उससे अधिक सेवा तो कोई नहीं प्राप्त कर सकता। थोड़ा-थोड़ा ज्वर आने लगा और शरीर भी क्षीण होता गया। मालूम हुआ कि बीमारी बहुत दिन तक चलेगी और शायद मैं बिछौने से भी न उठ सकूँ। अम्बालाल सेठ के बँगले में प्रेम से घिरा हुआ होने पर भी मेरे चित्त में अशान्ति पैदा हुई और मैंने उनसे मुझे आश्रम में पहुँचाने के लिए कहा। मेरा अत्यन्त आग्रह देखकर वह मुझे आश्रम में ले गये।

आश्रम में मैं इस पीड़ा में पड़ा था कि इतने में वल्लभभाई यह खबर लाये कि जर्मनी पूरी तरह हार गया और कमिश्नर ने कहलाया है कि

अब रंगरूटों की भर्ती करने की जरूरत नहीं है। इसलिए रंगरूटों की भर्ती करने की चिन्ता से मैं मुक्त होगया और इसमें मुझे शान्ति मिली।

अब पानी के उपचारों पर शरीर टिका हुआ था। दर्द चला गया पर शरीर में किसी तरह खून नहीं आता था वैद्य और डाक्टर मित्र अनेक प्रकार की सलाह देते थे। पर मैं किसी तरह दवा लेने के लिए तैयार न हुआ।

दो-तीन मित्रो ने दूध लेने में कोई बाधा हो तो माँस का शोरबा लेने की सिफारिश की और अपने कथन की पुष्टि में आयुर्वेद से इस आशय के प्रमाण बताये कि दवा के बतौर मांसादि चाहे जिस वस्तु का सेवन करने में कोई हानि नहीं। एक मित्र ने अडे खाने की भी सिफारिश की। पर उनमें से किसी की भी सलाह को मैं स्वीकार न कर सका। मेरा तो एक ही जवाब था।

खाद्याखाद्य का सवाल मेरे लिए शास्त्रों के श्लोकों पर निर्भर न था। वह तो मेरे जीवन के साथ स्वतत्र रीति से निर्माण हुआ था। हर कोई चीज खाकर हर किसी तरह जीने का मुझे जरा भी लोभ न था। अपने पुत्रों, स्त्री और स्नेहियों के लिए मैंने जिस धर्म पर अमल किया उसका त्याग मैं अपने लिए कैसे कर सकता था?

इस तरह इस बहुत लम्बी बीमारी में, जो कि गंभीरता के खयाल से मेरे जीवन में मुझे पहले ही पहल हुई थी, मुझे धर्म-निरीक्षण करने का तथा उसे कसौटी पर चढाने का अलभ्य लाभ मिला। एक रात तो मैं जीवन से बिलकुल निराश होगया था मुझे मालूम हुआ कि अन्तकाल आ पहुँचा। श्रीमती अनसूयाबहन को समाचार भिजवाये। वह आई। वल्लभभाई आये। डा० कानूगा ने नब्ज देखकर कहा, "मुझे तो ऐसा एक भी चिन्ह नहीं दिखाई देता, जो भयकर हो। नब्ज बिलकुल अच्छी है, केवल कमजोरी के कारण यह मानसिक अशान्ति आपको है।" पर मेरा दिल गवाही नहीं देता था। रात तो बीती। उस रात शायद ही मुझे नींद आई हो।

सवेरा हुआ। मृत्यु न आई। फिर भी मुझे जीने की आशा नहीं हुई। मैं तो यही समझ रहा था कि मृत्यु नजदीक आ पहुँची है। इस-

लिए जहाँ तक होसका, अपने साथियो से गीता सुनने ही में अपने समय का उपयोग मैं करने लगा। कोई काम-काज करने की शक्ति ही न थी खुद पढने की शक्ति भी न थी। किसीसे वात तक करने को जी न चाहता था। जरा-सी वात-चीत करने में दिमाग़ थक जाता था। इसीलिए जीने में कोई आनन्द नही रहा। महज जीने के लिए जीना मुझे कभी पसन्द नही था। विना कोई काम-काज किये साथियो से सेवा लेते हुए दिन-ब-दिन क्षीण होनेवाली देह को टिकाये रखना मुझे कष्टकर प्रतीत होता था।

इस तरह मृत्यु की राह देख रहा था कि इतने में डा० तलवलकर एक विचित्र प्राणी को लेकर आये। वह महाराष्ट्रीय है। उनको हिन्दुस्तान नही जानता। पर मेरे ही जैसे "चक्रम" है, यह मैंने उन्हे देखते ही जान लिया। वह अपने उपचार मुझ पर आजमाने के लिए आये थे। वम्वई के ग्रेण्ड मेडिकल कालेज मे पढते थे। पर उन्होने उपाधि प्राप्त न की थी। मुझे वाद में मालूम हुआ कि वह सज्जन ब्रह्मसमाजी है। उनका नाम है केलकर। वडे स्वतत्र मिजाज के आदमी हैं। वरफ के उपचार के वडे हिमायती है।

मेरी वीमारी की वात सुनकर जव वह अपने वरफ के उपचार मुझ-पर आजमाने के लिए आये, तवसे हमने उन्हे 'आइस-डाक्टर' की उपाधि दे रक्खी है। अपने अभिप्राय के विषय में वह वडे आग्रही है। डिग्रीधारी डाक्टरो की अपेक्षा उन्होने कई अच्छे आविष्कार किये है, ऐसा उन्हे विश्वास है। वह अपना यह विश्वास मुझमें उत्पन्न नही कर सके, यह उनके और मेरे लिए एकसी दुःख की वात है। मैं उनके उपचारो को एक हद तक तो मानता हूँ। पर मेरा ख़याल है कि उन्होंने कितने ही अनुमान वाँधने में कुछ जल्द-वाजी की है। उनके आविष्कार सच्चे हो या ग़लत, मैंने तो उन्हे अपने उपचार का प्रयोग अपने शरीर पर करने दिया। वाह्य उपचारो से अच्छा होना मुझे पसन्द था। फिर ये तो वरफ अर्थात् पानी के ही उपचार थे। उन्होंने मेरे सारे शरीर पर वरफ मलना शुरू किया। यद्यपि इसका फल मुझपर उतना नही हुआ, जितना कि वह मानते थे, तथापि जो मैं रोज मृत्यु की राह देखता पडा रहता था सो

अब नहीं रहा। मुझे जीने की आशा बँधने लगी। कुछ उत्साह भी मालूम होने लगा। मन के उत्साह के साथ-साथ शरीर में भी कुछ ताजगी मालूम होने लगी। खूराक भी थोडी बढी। रोज पाँच-दस मिनट टहलने लगा। "अगर आप अण्डे का रस पीयें तो आपके शरीर में इससे भी अधिक शक्ति आजावेगी, इसका मै आपको विश्वास दिला सकता हूँ। और अंडा तो दूध के ही सामान निर्दोष वस्तु होती है। वह माँस तो हर्गिज नही कहा जा सकता। फिर यह भी नियम नहीं है कि प्रत्येक अण्डे से बच्चे पैदा होते ही हो। मै साबित कर सकता हूँ कि ऐसे निर्वीज अंडो का सेवन भी किया जाता है, जिनमें से बच्चे पैदा नही होते।" उन्होंने कहा। पर ऐसे निर्वीज अंडे लेने को भी मैं तो राजी न हुआ। फिर भी अब मेरा काम कुछ रुका न रहा और मैं आस-पास के कामो में थोडी-बहुत दिलचस्पी लेने लगा।

: २९ :

रौलेट-ऐक्ट और मेरा धर्म-संकट

माथेरान जाने से शरीर जल्दी ही स्वस्थ हो जायगा, मित्रो से ऐसी सलाह पाकर मैं माथेरान गया। परन्तु वहाँ का पानी भारी था। इसलिए मेरे जैसे बीमार को वहाँ रहना मुश्किल हो पडा। पेचिश के कारण गुदा-द्वार बहुत ही नाजुक पड़ गया था और वहाँ फोडे हो जाने से मल त्याग के समय बडा दर्द होता था। इसलिए कुछ भी खाने में डर लगता था। एक सप्ताह में माथेरान से लौटा। मेरे स्वास्थ्य की रखवाली करने का काम श्री शंकरलाल ने अपने हाथ ले लिया। उन्होने डा० दलाल से सलाह लेने का मुझे बहुत आग्रह किया। डा० दलाल आये। उनकी तत्काल निर्णय करने की शक्ति ने मुझे मोह लिया। उन्होने कहा—

"जबतक आप दूध न लेंगे तबतक आपका शरीर नहीं सुधरेगा। शरीर सुधारने के लिए तो आपको दूध लेना चाहिए और लोहे व संखिया की पिचकारी (इंजेक्शन) लेनी चाहिए। आप इतना करें तो मैं आपका शरीर फिर से पुष्ट करने की 'गैरंटी' देता हूँ।

बडी उलझने मैं कभी भी न सुलझा सकूँगा, ऐसा मेरा अनुभव है। सत्य का पालन है लिये गये व्रतो के शरीर और आत्मा की रक्षा, शब्दार्थ और भावार्थ का पालन। यहाँ पर मैंने आत्मा का—भावार्थ का नाश किया है। यह मुझे सदा ही अखरता है। यह जानने पर भी कि व्रत के सम्बन्ध में मेरा क्या धर्म है, यह मैं नही जान सका हूँ, अथवा यो कहो कि मुझमें उसका पालन करने की हिम्मत नहीं है। दोनो एक ही बात है, क्योकि शका के मूल में श्रद्धा का अभाव होता है। ईश्वर, मुझे श्रद्धा दे।

बकरी का दूध शुरू करने के थोडे दिन बाद डा० दलाल ने गुदा-द्वार में ऑपरेशन किया और उसमें उन्हे बडी कामयाबी हुई।

अभी यों मै बीमारी से उठने की आशा बाँध ही रहा था और अखबार पढना शुरू किया था कि इतने में ही रौलेट-कमिटी की रिपोर्ट मेरे हाथ लगी। उसमें जो सिफारिशें की हुई थी। उन्हे देखकर मैं चौंक उठा। भाई उमर और शकरलाल ने कहा कि इसके लिए तो कुछ करना चाहिए। एकाध महीने में मैं अहमदाबाद गया। श्री वल्लभभाई मेरे स्वास्थ्य के हाल-चाल पूछने को करीब-करीब रोज आते थे। मैंने इस बारे में उनसे बातचीत की और यह सूचित भी किया कि कुछ करना चाहिए। उन्होने पूछा—"क्या किया जा सकता है?" जवाब में मैंने कहा—"अगर कमिटी की सिफारिशो के अनुसार कानून बनाया जाय, तो इसके लिए प्रतिज्ञा लेनेवाले थोडे से मनुष्यो के मिल जाने पर भी हमें सत्याग्रह करना चाहिए। अगर मैं शय्या-वश न होता तो मैं अकेला ही लडता और यह आशा रखता कि पीछे से और लोग भी मिल रहेगे। मेरी इस लाचार हालत में अकेले लडने की मुझमें बिलकुल ही शक्ति नहीं है।"

इस बातचीत के फल-स्वरूप ऐसे लोगो की एक छोटी-सी सभा करने का निश्चय हुआ, जो मेरे सम्पर्क में ठीक-ठीक आये थे। रौलेट-कमिटी को मिली गवाही पर से मुझे यह तो स्पष्ट मालूम हुआ था कि उसने जैसी शिफारिश की है वैसे कानून की कोई जरूरत नही है, और मेरे नजदीक यह बात भी उतनी ही स्पष्ट थी कि ऐसे कानून को कोई भी

स्वाभिमान की रक्षा करनेवाला राष्ट्र या प्रजा स्वीकार नहीं कर सकती है।

सभा हुई। उसमें शायद ही कोई बीस मनुष्यों को निमन्त्रण दिया गया होगा। मुझे जहाँतक स्मरण है, उसमे वल्लभभाई के सिवाय श्रीमती सरोजिनी नायडू, मि० हार्निमेन, सद्‌गत उमर सुबानी, श्री शंकरलाल बैंकर, श्रीमती अनसूयाबहन इत्यादि थे।

प्रतिज्ञापत्र तैयार किया गया और मुझे ऐसा स्मरण है कि जितने लोग वहाँ मौजूद थे सभी ने उसपर दस्तखत किये। इस समय मैं कोई अखबार नहीं चलाता था। परन्तु समय-समय पर जैसे अखबारों में लिखता था वैसे ही इस समय भी मैंने लिखना शुरू किया और शंकरलाल बैंकर ने अच्छी हलचल शुरू कर दी। उनकी काम करने की और संगठन करने की शक्ति का उस समय मुझे अच्छा अनुभव हुआ।

मुझे यह असम्भव प्रतीत हुआ कि उस समय कोई भी मौजूदा संस्था सत्याग्रह जैसे शस्त्र को उठा ले, इसलिए सत्याग्रह-सभा की स्थापना की गई। उसमें मुख्यतः बम्बई से नाम मिले और उसका केन्द्र भी बम्बई में ही रक्खा गया। प्रतिज्ञा-पत्र में दस्तखत होने लगे और जैसा कि खेड़ा की लड़ाई में हुआ था इसमें भी पत्रिकायें निकलीं और जगह-जगह सभायें हुईं।

इस सभा का अध्यक्ष मैं बना था। मैंने देखा कि शिक्षित-वर्ग और मेरे बीच अधिक मेल न हो सकेगा। सभा में गुजराती भाषा का ही उपयोग करने का मेरा आग्रह और मेरी दूसरी कार्य-पद्धति को देखकर वे विस्मित हुए। मगर मुझे यह स्वीकार करना चाहिए कि बहुतोंने मेरी कार्य-पद्धति को निभा लेने की उदारता दिखाई। परन्तु आरम्भ ही में मैंने यह देख लिया कि यह सभा दीर्घकाल तक नहीं निभेगी। फिर सत्य और अहिंसा पर जो मैं जोर देता था वह भी कुछ लोगों को अप्रिय हो पड़ा था फिर भी शुरुआत में तो यह काम बड़े जोरों से चल निकला।

: ३० :

एक अद्भुत दृश्य

रौलेट-कमिटी के विरुद्ध एक ओर आन्दोलन बढता चला और दूसरी ओर सरकार उसकी सिफारिशो को अमल में लाने के लिए कमर कसती गई। रौलेट-बिल प्रकाशित हुआ। मै धारा-सभा की बैठक में एक बार गया हूं। रौलेट-बिल की चर्चा सुनने गया था। शास्त्रीजी ने अपना बहुत ही जोरदार भाषण किया और सरकार को चेतावनी दी। जब शास्त्रीजी का वाक्य-प्रवाह चल रहा था, उस समय वाइसराय शास्त्रीजी की ओर ताक रहे थे। मुझे तो ऐसा लगा कि शास्त्रीजी के भाषण का असर उनके मन पर पडा होगा। शास्त्रीजी में जोश उमडा पडता था।

किन्तु सोये हुए को जगाया जा सकता है। जागता हुआ सोने का ढोग करे तो उसके कान में ढोल बजाने से भी क्या होगा ? धारा-सभा में बिलो की चर्चा करने का प्रहसन करना ही चाहिए। सरकार ने वह प्रहसन खेला। किन्तु उसे जो काम करना था उसका निश्चिय तो हो ही चुका था, इसलिए शास्त्रीजी की चेतावनी बेकार साबित हुई।

मेरी तूती की आवाज तो सुने ही कौन ? मैंने वाइसराय से मिलकर खूब विनय की, खानगी पत्र लिखे, खुली चिट्ठियाँ लिखी। उनमें यह स्पष्ट बतलाया कि सत्याग्रह के सिवाय, मेरे पास दूसरा रास्ता नहीं है। किन्तु सब बेकार गया।

अभी बिल गजट में प्रकाशित नहीं हुआ था। मेरा शरीर निर्बल था, किन्तु मैंने लम्बी मुसाफिरी का जोखिम उठाया। मुझमें ऊँची आवाज से बोलने की शक्ति अभी नहीं आई थी। खडे होकर बोलने की शक्ति तो गई सो अबतक नहीं है। खडे होकर बोलते ही थोडी देर में सारा शरीर काँपने लगता और छाती में और पेट में दर्द हो जाता था। किन्तु मुझे ऐसा लगा कि मद्रास से आये हुए निमन्त्रण को स्वीकार करना

ही चाहिए। दक्षिण प्रान्त उस समय मुझे घर के ही समान लगते थे। दक्षिण अफ्रिका के सम्बन्ध के कारण मैं मानता आया हूँ कि तामिल-तेलगू आदि दक्षिण प्रान्त के लोगो पर मेरा कुछ हक है, और अबतक ऐसा नहीं लगा है कि मैंने इस मान्यता में जरा भी भूल की है। आमंत्रण स्वर्गीय श्री कस्तूरीरग एयगर की ओर से आया था। मद्रास जाते ही मुझे जान पड़ा कि इस आमन्त्रण के पीछे श्री राजगोपालाचार्य थे। श्री राजगोपालाचार्य के साथ मेरा यह पहला परिचय गिना जा सकता है। इस बार इतना परिचय हुआ कि मैं उन्हें देखते ही पहचान सकूँ।

सार्वजनिक काम में ज्यादा भाग लेने के इरादे से और श्री कस्तूरीरग एयगर आदि मित्रों की माँग से वह सेलम छोड कर मद्रास वकालत करने वाले थे। मुझे उन्हींके यहाँ ठहराने की व्यवस्था की गई थी। मुझे दो-एक दिन बाद मालूम हुआ कि मैं उन्हींके घर उतरा हूँ। वह बँगला श्री कस्तूरीरग एयगर का होने के कारण मैंने यही मान लिया था कि मैं उन्हीं का अतिथि हूँ। महादेव देसाई ने मेरी भूल सुधारी। राजगोपालाचार्य दूर-ही-दूर रहते थे। किन्तु महादेव ने उनसे भली-भाति परिचय कर लिया था। महादेव ने मुझे चेताया, "आपको श्री राजगोपालाचार्य से परिचय कर लेना चाहिए।"

मैंने परिचय किया। उनके साथ रोज ही लड़ाई की व्यवस्था करने की सलाह किया करता था। सभाओं के सिवाय मुझे और कुछ सूझता ही नहीं था। रौलेट-बिल अगर क़ानून बन जाय तो उसका सविनय भंग कैसे हो? उसका सविनय भंग करने का अवसर तो तभी मिल सकता था, जब सरकार देती। दूसरे किन क़ानूनों का सविनय भंग हो सकता है? उसकी मर्यादा कहाँ निश्चित हो? ऐसी ही चर्चायें होती थीं।

श्री कस्तूरीरग एयगर ने नेताओं की एक छोटी-सी सभा भी की। उसमें भी खूब चर्चा हुई। उसमें श्री विजयराघवाचार्य खूब हाथ बँटाते थे। उन्होंने यह सूचना की कि बारीक-से-बारीक सूचनायें लिखकर मुझे सत्याग्रह का शास्त्र प्रकाशित करना चाहिए। पर मैंने कहा कि यह काम मेरी शक्ति के बाहर है।

यो सलाह-मशवरा हो रहा था। इसी बीच खबर आई कि बिल कानून के रूप गजट में प्रकाशित हुआ है। जिस दिन यह खबर मिली, उस रात को मैं विचार करता हुआ सो गया। भोर में बड़े सवेरे उठ खड़ा हुआ। अर्धनिद्रा होगी और मुझे स्वप्न में विचार सूझा। सवेरे ही मैंने श्री राजगोपालाचार्य को बुलाया और बात की—

"मुझे रात को स्वप्न में विचार आया कि इस कानून के जवाब में हमें सारे देश को हड़ताल करने को कहना चाहिए। सत्याग्रह आत्मशुद्धि की लड़ाई है, यह धार्मिक लड़ाई है। धर्म-कार्य शुद्धि से शुरू करना ठीक लगता है। एक दिन सभी कोई उपवास करें और काम-धन्धा बन्द रक्खें। मुसलमान भाई रोजा के अलावा और उपवास नही रखते, इस लिए चौबीस घंटे का उपवास रखने की सलाह देनी चाहिए। यह तो नही कहा जा सकता है कि इसमें सभी प्रान्त शामिल होंगे या नही। बम्बई, मद्रास, बिहार और सिन्ध की आशा तो मुझे है ही। इतनी जगहों में अगर ठीक हड़ताल हो तो हमें संतोष मानना चाहिए।"

यह सूचना श्री राजगोपालाचार्य को पसन्द आई। पीछे तुरन्त दूसरे मित्रों से कहा। सबने इसे खुशी से स्वीकार कर लिया। मैंने एक छोटा-सा नोटिस तैयार कर प्रकाशित किया। पहले सन् १९१९ के मार्च की ३० तारीख रक्खी गई थी, किन्तु पीछे से ६ अप्रैल की गई। लोगों को बहुत थोड़े दिनों की खबर दी गई थी। कार्य तुरन्त करने की आवश्यकता के मानने से तैयारी के लिए लम्बी मुद्दत देने का समय ही नही था।

पर कौन जाने कैसे सारा संगठन हो गया! सारे हिन्दुस्तान में—शहरों में और गाँवों में—हड़ताल हुई। यह दृश्य भव्य था!

: ३१ :

वह सप्ताह !—१

दक्षिण में थोड़ा भ्रमण करते हुए बहुत करके मैं चौथी अप्रैल को बम्बई पहुँचा। श्री शंकरलाल बैंकर का ऐसा तार था कि छठी तारीख

का कार्यक्रम पूरा करने के लिए मुझे बम्बई में हाजिर रहना चाहिए।

किन्तु उससे पहले दिल्ली में तो ३० तारीख को ही हड़ताल मनाई जा चुकी थी। उन दिनों दिल्ली में स्व० स्वामी श्रद्धानन्दजी तथा मरहूम हकीम अजमलखाँ साहब की हुकूमत चलती थी। छठी तारीख तक हड़ताल की मुद्दत बढ़ा दी जाने की खबर दिल्ली में देर से पहुँची थी। दिल्ली में उस दिन जैसी हड़ताल हुई, वैसी पहले कभी न हुई थी। हिन्दू और मुसलमान दोनों एक दिल हुए से जान पड़े। श्रद्धानन्दजी को जुमा मस्जिद में निमंत्रण दिया गया था और वहाँ उन्हें भाषण करने दिया गया था। ये सब बातें सरकारी अफसर सहन नहीं कर सकते थे। जुलूस स्टेशन की ओर चला जा रहा था। उसे पुलिस ने रोका। पुलिस ने गोली चलाई। कितने ही आदमी जख्मी हुए, और कई खून हुए। दिल्ली में दमन-नीति शुरू हुई। श्रद्धानन्दजी ने मुझे दिल्ली बुलाया। मैंने तार किया कि बम्बई में छठी तारीख बिता कर मैं तुरन्त दिल्ली को रवाना होऊँगा।

जैसा कि दिल्ली में हुआ, वैसा ही लाहौर और अमृतसर में भी हुआ था। अमृतसर से डा० सत्यपाल और किचलू के तार मुझे तुरन्त ही बुला रहे थे। उस समय मैं इन दो भाइयों को जरा भी नहीं पहचानता था। दिल्ली से होकर अमृतसर जाने का निश्चय मैंने उन्हें बतलाया था।

छठी को बम्बई में सवेरे से हजारों आदमी चौपाटी में स्नान करने गये और वहाँ से ठाकुरद्वार जाने के लिए जुलूस निकला। उसमें स्त्रियाँ और बच्चे भी थे। जुलूस में मुसलमान भी अच्छी तादाद में शामिल हुए थे। इस जुलूस में से हमें मुसलमान भाई एक मस्जिद में ले गये। वहाँ श्रीमती सरोजिनी देवी से तथा मुझसे भाषण कराये। यहाँ श्री विट्ठलदास जेराजाणी ने स्वदेशी की तथा हिन्दू-मुसलमान-ऐक्य की प्रतिज्ञा लिवाने की सूचना की। मैंने ऐसी उतावली में प्रतिज्ञा लिवाने से इनकार किया। जितना हो रहा था उतने से ही संतोष मानने की सलाह दी। प्रतिज्ञा लेने के बाद नहीं टूट सकती। हमें स्वदेशी का अर्थ समझना चाहिए। हिन्दू-मुसलमान-ऐक्य की जिम्मेदारी वगैरा पर भी ध्यान आर

सूचना की कि जिन्हें प्रतिज्ञा लेने का विचार हो, वे कल सवेरे भले ही चौपाटी के मैदान में हाजिर हो।

बम्बई की हड़ताल सपूर्ण थी।

यहाँ कानून के सविनय भग की तैयारी कर डाली थी। भग हो सकने लायक दो-तीन वस्तुयें थी। ये कानून ऐसे थे, जो रद होने लायक थे और इनको कोई सहज ही भग कर सकते थे। इनमें से एक का ही उपयोग करने का निश्चय हुआ था। नमक पर लगनेवाला कर बहुत ही अखरता था। उस कर को उठवाने के लिए बहुत आदमी प्रयत्न कर रहे थे। इसलिए एक सूचना मैंने यह की थी कि सभी कोई अपने घर में बिना परवाने के नमक बनावे। दूसरा कानून सरकार की जब्त की हुई पुस्तके बेचने के सम्बन्ध में था। ऐसी दो पुस्तकें मेरी ही थी। वे थी 'हिन्द-स्वराज्य' और 'सर्वोदय'। इन पुस्तको को छपाना और बेचना सबसे सहज सविनय भग जान पड़ा। इसलिए इन्हें छपाया और सांझ को उपवास छूटने पर और चोपाटी की विराट् सभा विसर्जन होने के बाद इन्हें बेचने का प्रबन्ध हुआ।

सांझ को बहुत-से स्वयसेवक ये पुस्तके बेचने को निकल पड़े। एक मोटर में मैं निकला और एक में श्रीमती सरोजिनी नायडू निकली थी। जितनी प्रतियाँ छपाई थी उतनी बिक गई। इनकी जो कीमत वसूल हो, वह लड़ाई के खर्च में ही डाली जानेवाली थी। प्रत्येक प्रति की कीमत चार आना रक्खी गई थी, किन्तु मेरे हाथ में या सरोजिनी देवी के हाथ मे शायद ही किसीने चार आने रक्खे हो। अपनी जेब में जो-कुछ मिल जाय, सभी देकर पुस्तक लेनेवाले बहुत आदमी निकल पड़े। कोई दस रुपये का तो कोई पाँच रुपये का नोट भी देते थे। मुझे याद है कि एक प्रति के लिए तो ५०) रुपये का भी एक नोट मिला था। लोगो को समझाया गया था कि लेनेवालो को भी जेल का जोखिम है, किन्तु घड़ी भर के लिए लोगो ने जेल का भय छोड दिया था।

सातवीं तारीख को मालूम हुआ कि जो किताबें बेचने की मनाही सरकार ने की थी, सरकार की दृष्टि से वे बिकी हुई नहीं मानी जा

सकती। जो बिकीं, वे तो उसकी दूसरी आवृत्ति गिनी जायँगी। जब्त की गई किताबों में से नहीं गिनी जायँगी। इसलिए यह नई आवृत्ति छापने, बेचने और खरीदने में कोई गुनाह नहीं माना जायगा। लोग यह खबर सुनकर निराश हुए।

इस दिन सवेरे चौपाटी पर लोगों को स्वदेशी-व्रत तथा हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य के व्रत के लिए इकट्ठा होना था। विट्ठलदास जेराजाणी को यह पहला अनुभव हुआ कि उजला रंग होने से ही सब-कुछ दूध नहीं हो जाता। लोग बहुत ही कम इकट्ठे हुए थे। इनमें दो-चार बहनों का नाम मुझे याद आता है। पुरुष भी थोड़े ही थे। मैंने व्रत गढ़ रक्खे थे। उनका अर्थ उपस्थित लोगों को खूब समझाकर उन्हें लेने दिया। थोड़ी हाजिरी ने मुझे आश्चर्य न हुआ, दुःख भी न हुआ, किन्तु धांधली के काम और धीमे रचनात्मक काम के बीच भेद और पहले का पक्षपात तथा दूसरे की अरुचि का अनुभव मैं तबसे बराबर करता आया हूँ।

किन्तु इस विषय को अलग ही प्रकरण देना पड़ेगा।

सातवीं की रात को मैं दिल्ली, अमृतसर जाने को निकला। आठवीं को मथुरा पहुँचते ही कुछ भनक मिली कि शायद मुझे पकड़ेंगे। मथुरा के बाद एक स्टेशन पर गाड़ी खड़ी थी। वहीं पर मुझे आचार्य गिडवानी मिले। उन्होंने मुझे यह विश्वस्त खबर दी कि "आपको जरूर पकड़ेंगे और मेरी सेवा की जरूरत हो तो मैं हाजिर हूँ।" मैंने उपकार माना और कहा कि जरूरत पड़ने पर सेवा लेना नहीं भूलूँगा।

पलवल स्टेशन आने के पहले ही पुलिस-अफसर ने मेरे हाथ में हुक्म रखा। "तुम्हारे पंजाब में प्रवेश करने से अशान्ति बढ़ने का भय है, इसलिए तुम्हें हुक्म दिया जाता है कि पंजाब की सीमा में दाखिल मत होओ।" हुक्म का आशय यह था। पुलिस ने हुक्म देकर मुझे उतर जाने को कहा। मैंने उतरने से इन्कार किया और कहा—"मैं अशान्ति बढ़ाने नहीं; किन्तु आमन्त्रण मिलने से अशान्ति घटाने के लिए जाना चाहता हूँ। इसलिए मुझे खेद है कि मैं इस हुक्म को नहीं मान सकूँगा।"

पलवल आया। महादेव देसाई मेरे साथ थे। उन्हें दिल्ली जाकर

श्रद्धानन्दजी को खबर देने और लोगो को शान्त रहने को कहने को कहा। हुक्म का अनादर करने से जो सजा हो, उसे सहने का मैंने निश्चय किया है तथा सजा होने पर भी शान्त रहने में ही हमारी जीत है, यह समझाने को भी कहा।

पलवल स्टेशन पर मुझे उतार कर पुलिस के हवाले किया गया। दिल्ली से आनेवाली किसी ट्रेन के तीसरे दर्जे के डिब्बे में मुझे बैठाया। साथ में पुलिस की पार्टी बैठी। मथुरा पहुँचने पर मुझे पुलिस-बैरक में ले गये। यह कोई अफसर नही कह सका कि मेरा क्या होगा और मुझे कहाँ ले जाना है। सवेरे ४ बजे मुझे उठाया और एक मालगाडी में ले गये। दोपहर को सवाई माधोपुर में उतार डाला। वहाँ बम्बई की मेल-ट्रेन में लाहौर से इन्सपेक्टर बोरिंग आये। उन्होने मेरा कब्जा लिया।

अब मुझे पहले दर्जे में चढाया गया। साथमें वह बैठे। अबतक मै सामान्य कैदी था। अब से 'जेन्टिलमेन' कैदी गिना जाने लगा। साहब ने सर माइकेल ओडवायर के बखान शुरू किये। उन्होने मुझसे ऐसी बातें कही कि "हमें तो आपके विरुद्ध कोई शिकायत नही है, किन्तु आपके पजाब में जाने से अशान्ति का पूरा भय है," और इसलिए मुझसे अपने आप ही लौट जाने का और पजाब की सरहद पार न करने का अनुरोध किया। मैंने उन्हे कह दिया मुझसे इस हुक्म का पालन नही हो सकेगा और मै स्वेच्छा से लौट जाने को तैयार नही हूँ। इसलिए साहब ने लाचारी से क़ानून का अमल करने की बात की। मैंने पूछा, "पर यह भी कुछ कहोगे कि आखिर मेरा करना क्या चाहते हो ?" उसने जवाब दिया—"मुझे कुछ मालूम नही है। मुझे दूसरा हुक्म मिलना चाहिए। अभी तो मै आपको बम्बई ले जाता हूँ।"

सूरत आया। वहाँ पर किसी दूसरे अफसर ने मेरा क़ब्जा लिया। रास्ते में मुझे कहा, "आप स्वतन्त्र है, किन्तु आपके लिए मै बम्बई में मरीन-लाइन्स स्टेशन पर गाडी खडी कराऊँगा। कोलाबा पर ज्यादा भीड़ होने की सभावना है।" मैंने उनके अनुकूल चलने की अपनी खुशी बतलाई। वह खुश हुआ और मेरा उपकार माना। मरीन-लाइन्स मे उतरा

वहाँ किसी परिचित की घोडागाडी देखी। वह मुझे रेवाशकर जौहरी के घर पर छोड गई। रेवाशकर भाई ने मुझे खबर दी, "आपके पकडे जाने की खबर सुनकर लोग उत्तेजित हो गये हैं। पायधुनी के पास हुल्लड का भय है। वहाँ पुलिस और मजिस्ट्रेट पहुँच गए हैं।"

मेरे घर पर पहुँचते ही उमर सुबानी और अनसूयाबहन मोटर में आईं और मुझे पायधुनी ले जाने की बात कही, "लोग अधीर हो गये हैं और उत्तेजित हो रहे हैं। हममेंसे किसी के किये वे शान्त नहीं रह सकते। आपको ही देखने पर शान्त होंगे।"

मैं मोटर में बैठ गया। पायधुनी पहुँचते ही रास्ते में बहुत बडी भीड दिखी। मुझे देखकर लोग हर्षोन्मत्त हो गये। अब जलूस बना। 'वन्दे-मातरम्', 'अल्लाहो अकबर' की आवाज से आसमान फटने लगा। पाय-धुनी पर घुडसवारों को देखा। ऊपर से ईंटो की वर्षा होती थी। मैं लोगों को शान्त होने के लिए हाथ जोडकर प्रार्थना करता था। ऐसा जान पडा कि हम भी ईंटो की इस वर्षा से न बच सकेंगे।

अब्दुल रहमान गली में से क्रॉफर्ड मार्केट की ओर जाते हुए जलूस को रोकने के लिए घुडसवारों की टुकडी सामने आखडी हुई। जलूस को फोर्ट की ओर जाने से रोकने के लिए वे महाप्रयत्न कर रहे थे। लोग समाते न थे। लोगों ने पुलिस की लाइन को चीर कर आगे बढना शुरू किया। हालत ऐसी न थी कि मेरी आवाज सुनाई पडे। इसपर घुड-सवारों की टुकडी के अफसर ने भीड को तितर-बितर करने का हुक्म दिया और इस टुकडी ने भाले तानकर घोडों को एकदम छोड दिया। मुझे भय हुआ कि इनमें से कोई भाला हममें से भी किसी का काम तमाम करदे तो कोई आश्चर्य नहीं, किन्तु इस भय में कोई आधार नहीं था। बगल से होकर सभी भाले रेलगाडी की चाल से बढे चले जाते थे। लोगों के झुण्ड टूट गये। भाग-दौड मच गई। कई कुचले गये, कई घायल हुए। घुड-सवारों के निकलने के लिए रास्ता न था। लोगों के आस-पास हटने की जगह न थी। वे अगर पीछे भी फिरें तो उधर भी हजारों की जबर-दस्त भीड थी। सारा दृश्य भयंकर लगा। घुड-सवार और लोग दोनों

ही उन्मत्त-जैसे लगे। घुड-सवार न कुछ देखते और न कुछ देख ही सकते थे। वे तो आखें मूंदकर घोडो को सरपट दौडा रहे थे। जितने क्षण इस हजारो के झुण्ड को चीरने में लगे, उतने क्षण तक तो मैंने देखा कि वे कुछ देख ही नही सकते थे।

लोगो को यो बिखेरा और रोका। हमारी मोटर को आगे जाने दिया। मैंने कमिश्नर के दफ्तर के आगे मोटर रुकवाई और मैं उनके पास पुलिस के व्यवहार के लिए फरयाद करने उतरा।

: ३२ :

वह सप्ताह !—२

मैं कमिश्नर ग्रिफिथ साहब के दफ्तर में गया। उनकी सीढी के पास जाते ही देखा कि हथियार-बन्द सैनिक तैयार बैठे थे, मानो किसी लडाई पर जाने के लिए ही न तैयार हो रहे हो! बरामदे में भी धावली मच रही थी। मै खबर भेजकर दफ्तर में घुसा तो कमिश्नर के पास मि० बोरिंग को बैठे हुए देखा।

कमिश्नर से मैंने जो कुछ देखा था उसका वर्णन किया। उसने सक्षेप में जवाब दिया—"जलूस को हम फोर्ट की ओर जाने देना नही चाहते थे। वहाँ जलूस जाता तो तूफान हुए बिना नही रह सकता था। मैंने देखा कि लोग केवल कहने से ही लौट जानेवाले नही थे। इसलिए हमला करने के सिवा और रास्ता नही था।"

मैंने कहा—"मगर उसका परिणाम तो आप जानते थे ? लोग घोडो के नीचे जरूर ही कुचले है। मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि घुडसवारो की टुकडी को भेजने की ही जरूरत न थी।"

साहब ने जवाब दिया—"इसका पता आपको नही चल सकता। आपसे कही अधिक हम पुलिसवालो को इसका पता रहता है कि लोगो के ऊपर आपकी सीख का कैसा असर पडा है। हम अगर पहले से ही सख्त उपाय न लेवे तो अधिक नुकसान होता। मैं आपको कहता हूँ कि लोग तो आपके भी कब्जे में रहनेवाले नही हैं। कानून के भग की बात वे

चट समझ लेते हैं, मगर शान्ति की बात समझना उनकी शक्ति के बाहर है। आपका हेतु अच्छा है, मगर लोग आपका हेतु नही समझते, वे तो अपने ही स्वभाव के अनुसार काम करेंगे।"

मैंने कहा—"यही तो आपके और मेरे बीच मतभेद है। लोग स्वभाव से ही लड़ाके नही हैं; किन्तु शान्तिप्रिय हैं।"

हम दलील में उतरे।

अन्त में साहब बोले—"खैर अगर आपको यह विश्वास हो जाय कि लोगो ने आपको नही समझा, तो आप क्या करेंगे?"

मैंने जवाब दिया—"अगर मुझे यह विश्वास हो जाय तो इस लड़ाई को मैं स्थगित कर दूंगा।"

"स्थगित करने के क्या मानी? आपने तो मि० बोरिंग से कहा है कि मैं छूटते ही तुरन्त पंजाब लौटना चाहता हूँ।"

"हाँ, मेरा इरादा तो दूसरी ही ट्रेन से लौटने का था, किन्तु वह तो आज नहीं हो सकता।"

"आप धीरज रक्खेंगे तो आपको अधिक बातें मालूम होंगी। क्या आपको कुछ पता है कि अभी अहमदाबाद में क्या चल रहा है? अमृतसर में क्या हुआ है? लोग तो सभी जगह पागल से हो गए हैं। मुझे भी अभी तो पूरी खबर नहीं है। कितनी ही जगह तार भी टूटे हैं। मैं तो आपको कहता हूँ कि इस सब तूफान की जिम्मेदारी आपके सिर है।"

मैं बोला—"मेरी जिम्मेदारी जहाँ होगी, वहाँ उसे मैं अपने सिर ओढ़े बिना नहीं रहूँगा। अहमदाबाद में लोग अगर कुछ भी करें तो मुझे आश्चर्य और दुःख होगा। अमृतसर के बारे में मैं कुछ नहीं जानता। वहाँ तो मैं कभी गया नहीं हूँ। मुझे कोई जानता भी नहीं है, किन्तु मैं इतना जानता हूँ कि पंजाब की सरकार ने मुझे वहाँ जाने से रोका न होता तो मैं शान्ति बनाये रखने में बहुत हिस्सा ले सकता था। मुझे रोक कर सरकार ने लोगों को उत्तेजित कर दिया है।"

इस तरह हमारी बातें चलीं। हमारे मत में मेल मिलने की संभावना नहीं थी।

चौपाटी पर सभा करने और लोगो को शान्ति-पालन करने के लिए समझाने का अपना इरादा जाहिर करके मैंने छुट्टी ली।

चौपाटी पर सभा हुई। मैंने लोगो को शान्ति के बारे में और सत्याग्रह मर्यादा के बारे में समझाया और कहा—"सत्याग्रह सच्चे का खेल है। लोग अगर शान्ति का पालन न करें तो मुझसे सत्याग्रह की लडाई पार न लगेगी।"

अहमदाबाद से श्री अनसूयाबहन को भी खबर मिल चुकी थी कि वहाँ हुल्लड हुआ है। किसीने अफवाह उडादी थी कि वह भी पकडी गई है। इससे मजदूर पागल-से बन गये। उन्होने हडताल की और तूफान भी किया। एक सिपाही का खून भी हुआ।

मैं अहमदाबाद गया। नडियाद के पास रेल की पटरी उखाड़ डालने का भी प्रयत्न हुआ था। वीरमगाम में भी खून हुआ था। जब मैं अहमदाबाद पहुँचा, तो उस समय मार्शल-लॉ चलता था। लोग भयभीत हो रहे थे। लोगो ने जैसा किया वैसा भरा और उसका व्याज भी पाया।

कमिश्नर मि० प्रैट के पास मुझे ले जाने के लिए स्टेशन पर आदमी खडा था। मैं उनके पास गया। वह खूब गुस्से में थे। मैंने उन्हें शान्ति से उत्तर दिया। जो खून हुआ था, उसके लिए अपना खेद प्रकट किया। मार्शल-ला की अनावश्यकता भी बतलाई और जिसमें शान्ति फिर से स्थापित हो वैसे उपाय जो करने उचित हो, करने की अपनी तैयारी बतलाई। मैंने सार्वजनिक सभा करने की इजाजत माँगी। वह सभा आश्रम की जमीन पर करने की अपनी इच्छा बतलाई। यह बात उन्हे पसन्द न आई। मुझे याद है कि इसके अनुसार १३वी मई को रविवार के दिन सभा हुई थी। मार्शल-लॉ भी उमी दिन या उसके दूसरे दिन रद हुआ था। इस सभा में मैंने लोगो को उनके दोष को बताने का प्रयत्न किया। मैंने प्रायश्चित्त के रूप में तीन दिनो का उपवास किया और लोगो को एक दिन का उपवास करने की सलाह दी। जो खून वगैरा में शामिल हुए हो, उन्हें अपना गुनाह कबूल कर लेने की सलाह दी।

अपना धर्म मैंने स्पष्ट देखा। जिन मजदूरों वगैरा के बीच मैंने इतना समय बिताया था, जिनकी मैंने सेवा की थी, और जिनके बारे में मैं भले की ही आशा रखता था, उनका हुल्लड़ में शामिल होना मुझे असह्य लगा और मैंने अपने आपको उनके दोष में हिस्सेदार माना।

जिस तरह लोगों को अपना गुनाह कबूल कर लेने की सलाह दी, उसी प्रकार सरकार को भी गुनाह माफ करने के लिए कहा। मेरी बात दो में से किसीने नहीं सुनी। न लोगों ने गुनाह कबूल किये, और न सरकार ने माफ ही किया।

स्व० सर रमणभाई वगैरा, अहमदाबाद के नागरिक, मेरे पास आये और सत्याग्रह मुल्तवी रखने की मुझसे प्रार्थना की। मुझसे तो प्रार्थना करने की जरूरत भी न रही थी। जबतक लोग शान्ति का पाठ न सीख ले, तबतक सत्याग्रह को मुल्तवी रखने का निश्चय मैंने कर ही लिया था। इससे वे प्रसन्न हुए।

कितनेक मित्र नाराज भी हुए। उन्हें ऐसा जान पड़ा कि अगर मैं सर्वत्र शान्ति की आशा रखूं और यही सत्याग्रह की शर्त हो, तो फिर बड़े पैमाने पर सत्याग्रह कभी चल ही न सकेगा। मैंने उनसे अपना मत-भेद प्रकट किया। जिन लोगों में काम किया हो, जिनके द्वारा सत्याग्रह करने की आशा रखी जाती हो, वे अगर शान्ति का पालन न करें तो सत्याग्रह जरूर ही नहीं चल सकता। मेरी दलील यह थी कि इतनी मर्यादित शान्ति का पालन करने की शक्ति सत्याग्रही नेताओं को पैदा करनी चाहिए। इन विचारों को मैं आज भी नहीं बदल सका हूं।

: ३३ :

'हिमालय-जैसी भूल'

अहमदाबाद की सभा के बाद मैं नडियाद गया। 'हिमालय-जैसी भूल' के नाम से जो शब्द-प्रयोग प्रचलित हुआ है, उसका प्रयोग मैंने पहले-पहल नडियाद में किया था। अहमदाबाद में ही मुझे अपनी भूल

जान पड़ने लगी थी; किन्तु नडियाद में वहाँ की स्थिति का विचार करते हुए, खेड़ा जिले के बहुत-से आदमियो के गिरफ्तार होने की बात सुनते हुए, जिस सभा में मैं इन घटनाओ पर भाषण कर रहा था, वही पर मुझे एकाएक खयाल हुआ कि खेड़ा जिले के तथा ऐसे ही दूसरे लोगो को सविनय भग करने के लिए निमन्त्रण देने में मैंने उतावली करने की भूल की थी, और वह भूल मुझे हिमालय-जैसी वड़ी जान पड़ी।

मैंने इसे कवूल किया। इसलिए मेरी खूब ही हँसी उड़ी थी। तो भी मुझे यह कवूल करने के लिए पश्चात्ताप नही हुआ है। मैंने यह हमेशा माना है कि जब हम दूसरे के गज-बराबर दोष को रज-समान देखें और अपने राई-जैसे जान पड़ने वाले दोप को पर्वत-जैसा देखना सीखें, तभी हमें अपने और दूसरे के दोषो का ठीक-ठीक प्रमाण मिल सकेगा। मैंने यह भी माना है कि सत्याग्रही बनने के इच्छुक को तो इस सामान्य नियम का पालन बहुत ही सूक्ष्मता से करना चाहिए।

अब यह देखेंगे कि वह हिमालय-जैसी दिखाई पड़नेवाली भूल थी क्या? कानून का सविनय-भग उन्ही लोगो से हो सकता है, जिन्होने कानून को विनयपूर्वक स्वेच्छा से मान दिया हो—उसका पालन किया हो। बहुताश में हम कानून के भय से होनेवाली सजा के डर से उसका पालन करते है। इसके अलावा यह बात विशेप कर उन कानूनो पर लागू पड़ती है, जिनमें कि नीति-अनीति का सवाल नही होता। कानून हो, या न हो, सज्जन माने जानेवाले लोग एकाएक चोरी नही करेंगे; मगर तो भी रात मे वाइसिकल की बत्ती जलाने के नियम में से निकल जाने मे ऐसे सज्जन को भी क्षोभ नही होगा। और ऐसे नियम पालने की कोई सलाह भी दे, तो भला मानस भी उसका पालन करने को झट तैयार नही होगा। किन्तु जब कि यह कानून बन जाता है, उसका भग करने से जुर्माने का भय लगता है, तब जुर्माना देने से बचने के लिए ही वह बत्ती जलावेगा। नियम का यह पालन नहीं गिना जायगा।

किन्तु सत्याग्रही तो समाज के कानूनों का पालन समझ-बूझकर, स्वेच्छा से, और धर्म समझकर करेगा। इस प्रकार जिसने समाज के

नियमों का जान-बूझ कर पालन किया है, उसीमें समाज के नियमों की नीति-अनीति का भेद करने की शक्ति आती है, और उसे मर्यादित संयोगों में अमुक नियमों का भंग करने का अधिकार प्राप्त होता है। ऐसा अधिकार प्राप्त करने से पहले ही सविनय भंग के लिए न्योता देने की भूल मुझको हिमालय जैसी लगी और खेडा जिले में प्रवेश करते ही मुझे वहांकी लडाई याद हो आई। मुझे जान पडा कि मैंने सामने की दीवार को देखे बिना ही, आंख मूंद कर, सरपट दौड लगाई है। मुझे ऐसा लगा कि इसके पहले कि लोग सविनय भंग करने के लायक बनें, उन्हें उसके गम्भीर रहस्य का ज्ञान होना चाहिए। जिन्होंने रोज ही इच्छा से कानून को तोडा हो, जो छिपाकर अनेकों बार कानून का भंग करते हों, वे भला एकाएक कैसे सविनय-भंग को पहचान सकें? उसकी मर्यादा का पालन कैसे कर सकें?

यह बात सहज ही समझ में आ सकती है कि इस आदर्श का पालन हजारों-लाखों आदमी नहीं कर सकते, किन्तु बात अगर ऐसी ही है तो सविनय भंग कराने के पहले लोगों को समझानेवाले, और प्रतिक्षण उन्हें रास्ता बतलानेवाले शुद्ध स्वयं-सेवकों का दल पैदा होना चाहिए। और ऐसे दल को सविनय भंग और उसकी मर्यादा की पूरी-पूरी समझ होनी चाहिए।

ऐसे विचारों से भरा हुआ मैं बम्बई पहुंचा और सत्याग्रह-सभा के द्वारा मैंने सत्याग्रही स्वयं-सेवकों का दल खडा किया। उनके द्वारा लोगों को सविनय भंग की तालीम देनी शुरू की और सत्याग्रह का रहस्य समझानेवाली पत्रिकायें निकालीं।

यह काम चला तो सही, मगर मैंने देखा कि इसमें मैं लोगों की बहुत दिलचस्पी नहीं पैदा कर सका। काफी स्वयं-सेवक न हुए। यह नहीं कहा जा सकता कि जो भर्ती हुए उन सभीने तालीम भी पूरी ली। भर्ती में नाम लिखानेवाले भी, जैसे-जैसे दिन जाने लगे, वैसे-वैसे दृढ होने के बदले खिसकने लगे। मैं समझ गया कि सविनय भंग की गाडी [illegible] के लिए [illegible] मैं आशा रखता था, उस [illegible] चलेगी।

: ३४ :

'नवजीवन' और 'यंग इण्डिया'

चाहे जितना धीमा किन्तु तो भी शान्ति-पालन करनेवाला आंदोलन जब कि एक ओर चल रहा था, दूसरी ओर सरकार की दमन-नीति पूरे जोर में चल रही थी। पंजाब में उसके असर का साक्षात्कार हुआ। वहाँ फौजी कानून यानी जो-हुक्मी शुरू हुई। नेताओ को पकडा। खास अदालतें अदालतें न रही, किन्तु एक सूबे का शासन उठानेवाली चीजें बन गई। उन्होने सबूत और प्रमाण के बिना ही सजायें दी। फौजी सिपाहियो ने निर्दोष लोगो को कीडो के समान पेट के बल रेंगाया। इसके आगे तो मेरे सामने जलियाँवाला बाग की कोई बिसात ही न थी, हालांकि जनता का और दुनिया का ध्यान उस कत्ल ने ही खींचा था।

पंजाब में चाहे जिस तरह हो, मगर प्रवेश करने का दबाव मुझपर डाला गया। मैंने वाइसराय को पत्र लिखे, तार किये, किन्तु इजाजत न मिली। इजाजत के बिना जाऊँ तो अन्दर तो जा ही नही सकता हूँ, सिर्फ सविनय-भंग करने का ही संतोष मिलता। यह प्रश्न मेरे सामने आ पडा कि इस धर्म-संकट में मुझे क्या करना चाहिए? मुझे ऐसा लगा कि अगर मैं मनाही के हुक्म का अनादर करके प्रवेश करूँ तो वह विनयी अनादर नही गिना जायगा। जिस शान्ति की प्रतीति की मैं चाहना करता था, वह मुझे अबतक नही मिली थी। पंजाब की नादिरशाही ने लोगो की अशान्त वृत्ति को बढाया था। ऐसे समय में मेरा कानून-भंग आग में घी डालने के समान होगा। मुझे ऐसा लगा और मैंने सहसा पंजाब में प्रवेश करने की सूचना नहीं मानी। यह निर्णय मेरे लिए कडवी घूंट थी। रोज पंजाब से अन्याय की खबरें आतीं और रोज मुझे उन्हें सुनना, और दाँत पीसकर बैठ रहना पडता।

इतने में प्रजा को मोती छोडकर मि० हार्निमैन को सरकार चुरा ले

गई। उन्हें चुपचाप हिन्दुस्तान से बाहर निकाल दिया। मि० हार्निमैन ने 'बम्बई क्रानिकल' को एक प्रचण्ड शक्ति बना दिया था। इस चोरी में जो गंदगी थी उसकी बदबू मुझे अबतक आया करती है। मैं जानता हूँ कि मि० हार्निमैन अंधाधुंधी नहीं चाहते थे। मैंने सत्याग्रह-कमिटी की सलाह के बिना ही पंजाब-सरकार के हुक्म का जो भंग किया था सो उन्हें पसन्द नहीं था। मैंने सविनय-भंग को जो मुल्तवी रक्खा, उसमें वह पूरे सहमत हुए थे। सत्याग्रह मुल्तवी रखने का इरादा मेरे प्रकट करने के पहले ही मुल्तवी रखने की सलाहवाला पत्र उन्होंने मेरे पास भिजवाया था और वह पत्र बम्बई और अहमदाबाद के बीच अंतर के कारण मेरा इरादा प्रकट करने के बाद मिल सका था। इसलिए उनके देश-निकाले पर मुझे जितना आश्चर्य हुआ, उससे उतना ही दुःख भी हुआ।

ऐसी घटना होने से 'क्रानिकल' के व्यवस्थापकों ने उसे चलाने का बोझा मेरे ऊपर डाला। मि० ब्रेल्वी तो थे ही, इसलिए मुझे बहुत कुछ करने को रहता ही न था, किन्तु तो भी मेरे स्वभावानुसार यह जिम्मेदारी मेरे लिए बहुत थी।

किन्तु मुझे यह जिम्मेदारी बहुत दिन नहीं उठानी पड़ी। सरकार की मिहरबानी से वह बन्द हुआ।

जो 'क्रानिकल' के सञ्चालक थे वही 'यंग इण्डिया' की व्यवस्था पर भी अंकुश रखते थे—उमर सुबानी और शंकरलाल बैंकर। इन दोनों भाइयों ने 'यंग इण्डिया' की जिम्मेदारी लेने की सूचना मुझको की और 'यंग इण्डिया' तथा 'क्रानिकल' की कमी थोड़ी कम करने के लिए हफ्ते में एक बार के बदले में दो बार प्रकाशित करना उन्हें और मुझे ठीक लगा—मुझे सत्याग्रह का रहस्य समझाने का उत्साह था। पंजाब के बारे में मैं और कुछ नहीं तो योग्य टीका कर सकता था और वह सरकार को भी पता था कि उसके पीछे सत्याग्रह की शक्ति रही है। इस लिए मैंने इन मित्रों की सूचना स्वीकार कर ली; किन्तु अंग्रेजी के [illegible] जनता [illegible] सत्याग्रह की [illegible] मेरे कार्य का मुख्य क्षेत्र गुजरात में था। [illegible]

उनके हाथ में मासिक 'नवजीवन' था। उसका खर्च भी वे ही मित्र पूरा करते थे। यह पत्र भाई इदुलाल और उन मित्रो ने मुझे सौपा और भाई इदुलाल ने उसमें काम करने का भार भी अपने सिर लिया। इस मासिक को साप्ताहिक बनाया।

इस बीच 'क्रानिकल' पुनर्जीवित हुआ। इसलिए 'यग इण्डिया' फिर साप्ताहिक हुआ और मेरी सूचना से उसे अहमदाबाद ले गये। दो अखबार अलग-अलग शहरो में चले तो खर्च अधिक होता और मेरी असुविधा अधिक बढती। 'नवजीवन' तो अहमदाबाद से ही निकलता था। इसका अनुभव तो मुझे 'इण्डियन ओपिनियन' के बारे में ही हुआ था कि ऐसे अखबारो के लिए स्वतत्र छापाखाना चाहिए ही। फिर उस समय अखबारो के सम्बन्ध में नियम भी ऐसे थे कि मुझे जो विचार प्रकट करने हो, उन्हे व्यापार की दृष्टि से चलनेवाले छापेखानेवाले छापने में सकोच करते। स्वतन्त्र छापाखाना खोलने का यह भी एक प्रबल कारण था। और हालत यह थी कि यह अहमदाबाद में ही आसानी से हो सकता था। इसलिए 'यग इण्डिया' को अहमदाबाद में ले गये।

इन अखबारो के द्वारा मैंने सत्याग्रह की तालीम प्रजा को यथाशक्ति देना शुरू की। दोनो अखबारो की खपत बहुत कम थी जो बढते-बढते ४०,००० के आसपास पहुँची थी। 'नवजीवन' की बिक्री एकदम बढी, जबकि 'यग इण्डिया' की धीरे-धीरे बढी। मेरे जेल जाने के बाद उनकी बिक्री में घटी आई और आज दोनो की बिक्री आठ हजार से नीचे चली गई है।

इन अखबारो में विज्ञापन न छापने का मेरा आग्रह शुरू से ही था। मेरी मान्यता है कि इससे कुछ भी हानि नही हुई है और अखबारो की विचार स्वतत्रता को बनाये रखने में इस प्रथा ने बहुत मदद की है।

इन अखबारो के द्वारा मैं अपनी शान्ति प्राप्त कर सका। क्योकि यद्यपि मैं तुरत सविनय भग न कर सका, मगर अपने विचार छूट से प्रकट कर सका। जो मेरा मुँह जोह रहे थे, उन्हें आश्वासन दे सका और मुझे लगता है कि दोनो पत्रो ने उस कठिन प्रसग पर प्रजा की ठीक सेवा की और फौजी कानून के जुल्म को हलका करने में हिस्सा लिया।

: ३५ :

पंजाब में

पंजाब में जो कुछ हुआ, उसके लिए सर माइकेल ओडवायर ने मुझे गुनहगार ठहराया था। इधर वहां के कई नौजवान फौजी कानून के लिए भी मुझे गुनहगार ठहराने में हिचकते न थे। क्रोध के आवेश में वे यह दलील देते थे कि यदि मैंने सविनय कानून-भंग मुल्तवी न किया होता तो जलियांवाला बाग में कभी यह कत्ल न हुआ होता और न फौजी कानून ही जारी हो पाता। कुछ लोगों ने तो धमकियां भी दी थीं कि यदि अब आपने पंजाब में पैर रक्खा तो आपका खून कर डाला जायगा।

पर मैं तो मान रहा था कि मैंने जो-कुछ किया है वह इतना उचित और ठीक था कि उसमें समझदार आदमियों को गलतफहमी होने की सम्भावना ही न थी। मैं पंजाब जाने के लिए अधीर हो रहा था। इसके पहले मैंने पंजाब देखा नहीं था, पर अपनी आंखों जो कुछ देख सकूं,

उनसे भी अधिक जुल्म फौजी कानून का था। वह भी पंजाब आने का आग्रह कर रहे थे। दूसरी ओर मालवीयजी आदि के तार आरहे थे कि आपको पंजाब अवश्य पहुँच जाना चाहिए। तब मैंने फिर वाइसराय को तार दिया। उनका जवाब आया कि फलाँ तारीख को आप जा सकते हैं। अब तारीख ठीक-ठीक याद नहीं पड़ती, पर बहुत करके वह १७ अक्तूबर थी।

लाहौर पहुँचने पर मैंने जो दृश्य देखा, वह कभी भुलाया नहीं जा सकता। स्टेशन पर मुझे लिवाने के लिए ऐसी भीड़ इकट्ठी हुई थी, मानो किसी बहुत दिन के बिछुड़े प्रिय-जन से मिलने के लिए उसके सगे-सम्बन्धी आये हों। लोग हर्ष से पागल हो रहे थे। पण्डित रामभजदत्त चौधरी के यहाँ मैं ठहराया गया था। श्रीमती सरलादेवी चौधरानी से मेरा पहले का परिचय था। मेरे आतिथ्य का भार उनपर आ पड़ा था। 'आतिथ्य का भार' शब्द का प्रयोग मैं जान-बूझकर कर रहा हूँ, क्योंकि आज की तरह तब भी मैं जहाँ ठहरता, वह घर एक धर्मशाला ही हो जाता था।

पंजाब में मैंने देखा कि वहाँ के पंजाबी नेताओं के जेल में होने के कारण पण्डित मालवीयजी, पण्डित मोतीलालजी और स्वर्गीय स्वामी श्रद्धानन्दजी ने उनका स्थान ग्रहण कर लिया था। मालवीयजी और श्रद्धानन्दजी के सम्पर्क में तो मैं अच्छी तरह आ चुका था, पर पण्डित मोतीलालजी के निकट सम्पर्क में तो मैं लाहौर में ही आया। इन तथा दूसरे स्थानिक नेताओं ने, जिन्हें जेल में जाने का गौरव प्राप्त नहीं हुआ था, तुरन्त मुझे अपना बना लिया। कहीं मुझे यह न मालूम हुआ कि मैं कोई अजनबी हूँ।

हम सब लोगों ने एकमत होकर हण्टर-कमिटी के सामने गवाही न देने का निश्चय किया। इसके कारण उसी समय प्रकट कर दिये गये थे। अतएव यहाँ इनका उल्लेख छोड़ देता हूँ। वे कारण सीधे थे और आज भी मेरा यही मत है कि कमिटी का बहिष्कार, जो हमने किया, वह उचित ही था।

पर यदि हण्टर कमिटी का बहिष्कार किया जाय तो फिर लोगों की तरफ से अर्थात् राष्ट्रीय-महासभा की ओर से कोई जाँच-कमिटी नियुक्त होनी चाहिए, इस निश्चय पर हम लोग पहुँचे। पण्डित मोतीलाल नेहरू, स्व० चित्तरञ्जनदास, श्री अब्बास तैयबजी, श्री जयकर और मैं इसके सदस्य नियुक्त हुए। हम जाँच के लिए अलग-अलग स्थानों में बँट गये। इस कमिटी की व्यवस्था का बोझ सहज ही मुझपर आ पड़ा था और मेरे हिस्से में अधिक-से-अधिक गाँवों की जाँच का काम आजाने के कारण मुझे पंजाब को और पंजाब के देहात को देखने का अलभ्य लाभ मिला।

इस जाँच के दिनों में पंजाब की स्त्रियाँ तो मुझे ऐसी मालूम हुईं, मानो मैं उन्हें युगों से पहचानता होऊँ। मैं जहाँ जाता वहाँ झुण्ड-के-झुण्ड स्त्रियाँ आ जातीं और अपने कते सूत का ढेर मेरे सामने कर देतीं। इस जाँच के साथ ही मैं अनायास इस बात को भी देख सका कि पंजाब खादी का एक महान् क्षेत्र हो सकता है।

राज्य अपनी सत्ता क़ायम रखने के लिए किस हद तक जा सकता है और कैसे अमानुषिक कार्य कर सकता है। जहांतक मुझे पता है इस रिपोर्ट की एक भी बात आजतक असत्य नही साबित हुई है।

: ३६ :

खिलाफत के बदले में गोरक्षा ?

पजाब के हत्याकाण्ड को फिलहाल हम यही छोड दें। महासभा की ओर से पजाब की डायरशाही की जाँच हो रही थी कि इतने ही में एक सार्वजनिक निमत्रण मेरे हाथ में आपहुँचा। उसमें स्वर्गीय हकीम साहब और भाई आसफअली के नाम थे। यह भी लिखा था कि श्रद्धानन्दजी भी सभा में आनेवाले है। मुझे तो खयाल पडता है कि वह उपसभापति थे। देहली में खिलाफत के सम्बन्ध में विचार करने के लिए हिन्दू-मुसलमानो की सयुक्तसभा होनेवाली थी और उसमें उपस्थित रहने के लिए यह निमन्त्रण मिला था। मुझे याद आता है कि यह सभा नवम्बर में हुई थी।

इस निमत्रण-पत्र में यह भी लिखा गया था कि इसमें खिलाफत के प्रश्न की चर्चा की जायगी और साथ ही गो-रक्षा के विषय पर भी विचार किया जायगा, एव यह सुझाया गया था कि गो-रक्षा को साधने का यह बडा अच्छा अवसर है। मुझे यह वाक्य खटका। इस निमत्रण-पत्र के उत्तर में मैंने लिखा था कि आने का यत्न करूँगा और साथ ही यह भी सूचित किया था कि खिलाफत और गो-रक्षा को एक साथ मिलाकर उन्हे परस्पर बदले का सवाल न बनाना चाहिए—हरेक के महत्व का निर्णय उनके गुण-दोष को देखकर करना चाहिए।

सभा में मैं गया। उपस्थिति अच्छी थी। फिर भी ऐसा दृश्य नही था कि हजारो लोग पीछे से धक्का-मुक्की करते हो। इस सभा में श्रद्धानन्दजी उपस्थित थे। उनके साथ इस विषय पर मैंने बातचीत कर ली। उन्हे मेरी दलील पसन्द आई और उन्होने कहा कि आप इसे सभा में पेश

करें। हकीम साहब के साथ भी मशवरा कर लिया था। मेरा कहना यह था कि दोनों प्रश्नों का विचार उनके गुण-दोष के अनुसार अलग-अलग होना चाहिए। यदि खिलाफत के प्रश्न में तथ्य हो, उसमें सरकार की ओर से अन्याय होता हो, तो हिन्दुओं को मुसलमानों का साथ देना चाहिए, और इसके साथ गो-रक्षा को नहीं मिला सकते। और यदि हिन्दू ऐसी कोई शर्त रखें तो वह शोभा नहीं देगी। मुसलमान खिलाफत में मदद लेने के लिए, उसके एवज में, गोवध बन्द करें तो इसमें उनकी शोभा नहीं, पर वे पड़ोसी, फिर एक ही भूमि के रहनेवाले होने के कारण हिन्दुओं के मनोभावों का आदर करने के लिए यदि वे स्वतन्त्ररूप से गोवध बन्द करें तो यह उनके लिए शोभा की बात होगी। यह उनका कर्तव्य है, पर यह प्रश्न स्वतन्त्र है। यदि वास्तव में यह उनका कर्तव्य है, और इसे वे अपना कर्तव्य समझें भी, तो फिर हिन्दू खिलाफत में मदद करें या न करें, पर मुसलमानों का गोवध बन्द कर देना उचित है। इस तरह दोनों प्रश्नों पर स्वतन्त्र रीति से विचार होना चाहिए और इस कारण सभा में तो सिर्फ खिलाफत के विषय पर ही विचार होना उचित है। यह मेरी दलील थी, सभा को यह पसन्द आई। गो-रक्षा के सवाल पर सभा में चर्चा न हुई। फिर भी मुसलमान गो-रक्षा की बात करने से बाज न आये, और [illegible] ही जाहिर हुआ, मानो मुसलमान स्वयं ही गोवध बन्द

एव उन्होने तमाम ब्रिटिश माल का यथासभव वहिष्कार करना सुझाया। मैंने समस्त ब्रिटिश माल के वहिष्कार की अशक्यता और अनौचित्य के सबध में अपनी दलील पेश की, जोकि अब तो प्रसिद्ध हो चुकी है। अपनी अहिंसा-वृत्ति का भी प्रतिपादन मैंने किया। मैंने देखा कि सभा पर मेरी बातो का गहरा असर हुआ। हसरतमोहानी की दलीलें सुनते हुए लोग इतना हर्षनाद करते थे कि मुझे प्रतीत हुआ कि यहाँ मेरी तूती की आवाज कौन सुनेगा, पर यह समझकर कि मुझे अपने धर्म से न चूकना चाहिए, अपनी बात छिपा न रखनी चाहिए, मैं बोलने के लिए उठा। लोगो ने मेरे भाषण को खूब ध्यान से सुना। सभा-मच पर तो मेरा पूरा-पूरा समर्थन किया गया और मेरे समर्थन मे एक के बाद एक भाषण होने लगे। अग्रणी लोग जान गये कि ब्रिटिश माल के वहिष्कार के प्रस्ताव से मतलब तो कुछ भी नही सधेगा, उलटे हँसी होकर रह जायगी। सारी सभा मे शायद ही कोई ऐसा आदमी दिखाई पडता था, जिसके बदन पर कोई-न-कोई ब्रिटिश वस्तु न थी। सभा में उपस्थित रहनेवाले लोग भी जिस बात को करने में असमर्थ थे उसका प्रस्ताव करने से लाभ के बदले हानि ही होगी—इस बात को बहुतेरे लोग समझ गये।

"हमें तो आपके विदेशी वस्त्र के वहिष्कार से सन्तोष हो ही नही सकता। किस दिन हम अपने लिए सारा कपडा यहाँ बना सकेंगे, और कब विदेशी वस्त्र का वहिष्कार होगा? हम तो कोई ऐसी चीज चाहते है, जिससे ब्रिटिश लोगो पर तुरन्त असर हो। आपके वहिष्कार से हमारा झगडा नही, पर हमें तो कोई तेज और तुरन्त असर करनेवाली चीज बताइए।" इस आशय का भाषण मौलना ने किया। इस भाषण को मैं सुन रहा था। मेरे मन में विचार उठा कि विदेशी वस्त्र के वहिष्कार के साथ ही कोई और नवीन बात पेश करनी चाहिए। उस समय मुझे यह तो स्पष्ट मालूम होता था कि विदेशी वस्त्र का वहिष्कार तुरन्त नही हो सकता। सोलहो आना खादी उत्पन्न करने की शक्ति यदि हम चाहें तो हमारे अन्दर है, यह बात जो मैं आगे चलकर देख पाया सो उस समय न जान पाया था। अकेली मिलें वक्त पर दगा देंगी, यह मैं तब भी

जानता था। जिस समय मौलाना साहब ने अपना भाषण पूरा किया, उस समय मैं जवाब देने के लिए तैयार हो रहा था।

मुझे उस नई चीज के लिए उर्दू-हिन्दी शब्द न सूझा। मुसलमानों की ऐसी खास सभा में युक्ति-प्रधान भाषण करने का यह मुझे पहला ही अनुभव था। कलकत्ते में मुस्लिम लीग में मैं कुछ बोला था; पर वह तो कुछ ही मिनट के लिए और सो भी वहाँ हृदयस्पर्शी भाषण करना था। यहाँ तो मुझे ऐसे समाज को समझाना था, जो मुझसे विपरीत मत रखता था; पर मैंने एक शर्म छोड़ी थी, देहली के मुसलमानों के सामने मैं शुद्ध उर्दू में लच्छेदार भाषण न करूँगा—मैं तो अपना मत टूटी-फूटी हिन्दी में समझाने की चेष्टा करूँगा। यह काम मैं अच्छी तरह कर सका। हिन्दी-उर्दू ही राष्ट्र-भाषा हो सकती है, इसका यह सभा प्रत्यक्ष प्रमाण थी। यदि मैंने अंग्रेजी में भाषण दिया होता तो मेरी गाड़ी आगे नहीं चल सकती थी। और मौलाना साहब ने जो पुकार की उसका समय न आया होता और यदि आता तो मुझे उसका उत्तर न मिलता।

: ३७ :

अमृतसर की महासभा

फौजी कानून के अनुसार सैकडो निर्दोष पजाबियो को नाममात्र की अदालतो ने नाममात्र के लिए सबूत लेकर कम या अधिक मियाद के लिए जेलखानो में ठूंस दिया था, परन्तु पजाब सरकार इस स्थिति को कायम न रख सकी, क्योकि इस घोर अन्याय के खिलाफ देश में चारो ओर इतनी बुलन्द आवाज उठी कि सरकार इन कैदियो को अधिक समय तक जेल में न रख सकी थी। इससे महासभा के अधिवेशन के पहले ही वहुतेरे कैदी छूट गये थे, हरकिशनलाल इत्यादि सब नेता रिहा कर दिये गये थे और महासभा का अधिवेशन हो ही रहा था कि अली-भाई भी छूट कर आपहुंचे। इससे लोगो के हर्ष की सीमा न रही। मोतीलाल नेहरु जो अपनी वकालत बन्द करके पजाब में डेरा डाले वैठे थे, महासभा के अध्यक्ष थे। स्वामी श्रद्धानन्दजी स्वागत-समिति के सभापति थे।

अब तक मेरा काम इतना ही रहता था—हिन्दी में एक छोटा-सा भाषण करके हिन्दी के लिए वकालत करना और प्रवासी भारतवासियो का पक्ष उपस्थित कर देना। अमृतसर में मुझे यह पता न था कि इससे अधिक कुछ करना पड़ेगा, परन्तु अपने विषय में मुझे जैसा पहले अनुभव हुआ है उसी के अनुसार यहां भी एकाएक मुझपर जिम्मेदारी आ पडी।

सम्राट् की नवीन सुधारो के सम्बन्ध में घोषणा प्रकाशित हो चुकी थी। वह सतोषजनक नही थी। सुधारो में भी खामी थी, परन्तु उस समय मेरा यही खयाल हुआ कि हम उनको स्वीकार कर सकते है। सम्राट् के घोषणा-पत्र में मुझे लार्ड सिंह का हाथ दिखाई दिया था। उसकी भाषा में, उस समय, मेरी आंख आशा की किरणें देख रहीं थी, हालांकि अनुभवी लोकमान्य, चित्तरंजनदास इत्यादि योद्धा सिर हिला रहे थे। भारत-भूषण मालवीयजी मध्यस्थ थे।

मेरा डेरा उन्होंने अपने ही कमरे में रक्खा था। उनकी सादगी की झलक मुझे काशी में, विश्व-विद्यालय के शिलारोपण के समय हुई थी, परन्तु इस समय तो उन्होंने मुझे अपने ही कमरे में स्थान दिया था। इसलिए मैं उनकी सारी दिनचर्या देख सका और मुझे आनन्द के साथ आश्चर्य हुआ था। उनका कमरा मानो गरीब की धर्मशाला थी। उसमें कहीं भी रास्ता नहीं छूटा था, जहां-तहां लोग डेरा डाले हुए थे। न तो उसमें एकान्त मिल सकता था और न फैलाव ही हो सकता था। जो चाहता वहां आजाता और उनका मनमाना समय ले जाता। इसी कमरे के एक कोने में मेरा दरबार अर्थात् खटिया लगी हुई थी।

पर यह अध्याय मुझे मालवीयजी के रहन-सहन के वर्णन में खर्च नहीं करना है। इसलिए अपने विषय पर आता हूँ।

मालवीयजी को मैंने सुझाया कि मुझे अधिवेशन में गैरहाजिर रहने देने से सब काम सध जायेंगे और मैं महान् नेताओ के इस मतभेद से भी बच जाऊँगा ।

पर यह बात इन दोनो बुजुर्गों को न पटी । लाला हरकिशनलाल के कान पर बात आते ही उन्होंने कहा, "यह कभी नही हो सकता । पंजाबियो को इससे बड़ा आघात पहुँचेगा ।" लोकमान्य और देशबन्धु के साथ मशवरा किया । श्री जिन्ना से भी मिला । किसी तरह कोई रास्ता नही निकला । मैंने अपनी वेदना मालवीयजी के सामने रक्खी ।

"समझौते के चिन्ह मुझे नही दिखाई देते, यदि मुझे अपना प्रस्ताव पेश करना ही पड़े तो अन्त को मत तो लेने ही पड़ेंगे । मत लिये जाने की सुविधा यहाँ मुझे दिखाई नही देती । आजतक भारी सभा में हम लोग हाथ ही ऊँचे उठवाते आये है । दर्शको और सभ्यो का भेद हाथ ऊँचा करते समय नही रहता । ऐसी विशाल सभा में मत गिनने की सुविधा हमारे यहाँ नही होती, इसलिए यदि मैं अपने प्रस्ताव के सम्बन्ध में मत लिवाना चाहूँ भी तो उसका प्रबन्ध नही ।" मैंने कहा ।

लाला हरकिशनलाल ने इसको सन्तोषजनक सुविधा कर देने का बीड़ा उठाया । उन्होंने कहा कि जिस दिन मत लेना हो उस दिन प्रेक्षको को न आने देंगे, सिर्फ प्रतिनिधि ही आवेगे और मत गिना देने का जिम्मा मेरा, पर आप महासभा की बैठक में गैरहाजिर नही रह सकते ।

अन्त को मैं हारा । मैंने अपना प्रस्ताव बनाया और बड़े सकोच के साथ प्रस्ताव पेश करना स्वीकार किया । श्री जिन्ना और मालवीयजी समर्थन करनेवाले थे । भाषण हुए । मैं देख सकता था कि यद्यपि हमारे मतभेद में कही कटुता न थी, भाषण में भी दलीलो के सिवाय और कुछ न था, फिर भी सभा इतने मतभेद को सहन नही कर सकती थी, और उसे दु:ख हो रहा था । सभा एकमत चाहती थी ।

उधर भाषण हो रहे थे, पर इधर भेद मिटाने के प्रयत्न चल रहे थे । आपस में चिट्ठियाँ जा-आ रही थी । मालवीयजी तो हर तरह से समझौता करने के लिए मिहनत कर रहे थे । इतने में जयरामदास ने

अपनी सूचना मेरे हाथ में रक्खी और बड़े मधुर शब्दों में मत देने के संकट से प्रतिनिधियों को बचा लेने का अनुरोध मुझसे किया। मुझे उनकी सूचना पसन्द आई। मालवीयजी की नजर तो चारों ओर आशा की खोज में फिर रही थी। मैंने कहा कि यह संशोधन दोनों को स्वीकार हो सकता है। लोकमान्य को बताया। उन्होंने कहा, दास को पसन्द हो तो मुझे आपत्ति नहीं। देशबन्धु पिघले। उन्होंने विपिनचन्द्र पाल की ओर देखा। मालवीयजी को जब पूरी आशा बंध गई और उन्होंने चिट्ठी हाथ से छीन ली। देशबन्धु के मुँह से 'हाँ' शब्द अभी पूरा निकला ही नहीं था कि वह बोल उठे, "सज्जनो, आप यह जानकर प्रसन्न होंगे कि समझौता हो गया है।' फिर तो क्या पूछना था? तालियों की हर्ष ध्वनि से सारा मण्डप गूँज उठा और लोगों के चेहरे पर जहाँ गम्भीरता थी वहाँ खुशी चमक उठी।

यह प्रस्ताव क्या था, इसकी चर्चा करने की यहाँ जरूरत नहीं, क्योंकि यह प्रस्ताव कैसे हुआ, यही बताना मेरे इन प्रयोगों का विषय है।

समझौते ने मेरी जिम्मेदारी बढ़ा दी।

: ३८ :

महासभा में प्रवेश

बुलाया। इतना तो मैंने देखा था कि विषय-समिति का सच्चा काम ऐसी बैठकों में होता था और ऐसे मशवरों में खासकर वे लोग होते, जिनपर नेताओं का खास विश्वास या आधार होता, पर दूसरे लोग भी किसी-न-किसी बहाने घुस जाते थे।

आगामी वर्ष किये जानेवाले दो कामों में मेरी दिलचस्पी थी, क्योंकि उनमें मेरा चचुपात था।

एक था जलियाँवालाबाग के कत्ल का स्मारक। इसके लिए महासभा ने बड़ी शान के साथ प्रस्ताव पास किया था। उसके लिए कोई पाँच लाख रुपये की रकम एकत्र करनी थी। उसके रक्षकों में मेरा भी नाम था। देश के सार्वजनिक कार्यों के लिए भिक्षा माँगने की भारी सामर्थ्य जिन लोगों में है, उनमें मालवीयजी का नम्बर पहला था और है। मैं जानता था कि मेरा दर्जा उनसे बहुत घटकर न होगा। अपनी इस शक्ति का आभास मुझे दक्षिण अफ्रिका में मिला था। राजा-महाराजाओं पर जादू फेरकर लाखों रुपये पाने की सामर्थ्य मुझमें न थी, आज भी नहीं है। इस बात में उनके साथ प्रतिस्पर्धा करनेवाला मैंने किसीको नहीं देखा, पर जलियाँवालाबाग के काम में उन लोगों से द्रव्य नहीं लिया जा सकता, यह मैं जानता था। अतएव इस स्मारक के लिए धन जुटाने का मुख्य भार मुझपर पड़ेगा, यह बात मैं रक्षक का पद स्वीकार करते समय समझ गया था। और हुआ भी ऐसा ही। इस स्मारक के लिए बम्बई के उदार नागरिकों ने पेट-भर के द्रव्य दिया और आज भी लोगों के पास उसके लिए जितना चाहिए, द्रव्य है, परन्तु इस हिन्दू, मुसलमान और सिख के मिश्रित खून से पवित्र हुई भूमि पर किस तरह का स्मारक बनाया जाय, अर्थात् आये हुए धन का उपयोग किस तरह किया जाय, यह विकट प्रश्न हो गया है, क्योंकि तीनों के बीच अथवा दो के बीच दोस्ती के बदले आज दुश्मनी का भास हो रहा है।

मेरी दूसरी शक्ति मुंशी का काम करने की थी, जिसका उपयोग महासभा के लिए हो सकता था। बहुत दिनों के अनुभव से कहाँ, कैसे

और कितने कम शब्दों में अविनय-रहित भाषा में लिखना मैं जानता हूँ— यह बात नेता लोग समझ गये थे। उस समय महासभा का जो संगठन-विधान था, वह गोखले की रखी हुई पूँजी थी। उन्होंने कितने ही नियम बना रखे थे, जिनके आधार पर महासभा का काम चलता था। वे नियम किस प्रकार बने, इसका मधुर इतिहास मैंने उन्हीं के मुख से सुना था, पर अब सब यह मानते थे कि केवल उन्हीं नियमों के बल पर काम नहीं चल सकता। विधान बनाने की चर्चा भी प्रति वर्ष चला करती। महासभा के पास ऐसी व्यवस्था ही नहीं थी कि जिससे सारे वर्ष-भर उसका काम चलता रहे, अथवा कोई भविष्य में विषय में विचार करे। मन्त्री उसमें तीन रहते, पर वास्तव में तो मन्त्री एक ही रहता। वह भी ऐसा नहीं कि चौबीसों घण्टे उसमें दे सके। मंत्री दफ्तर का काम करता या भविष्य का विचार करता, या भूतकाल में ली हुई जिम्मेदारियों को चालू वर्ष में अदा करता? इसलिए यह प्रश्न इस वर्ष सबकी दृष्टि में अधिक आवश्यक हो गया। महासभा में तो हजारों की भीड़ होती है, उसमें प्रजा का कार्य कैसे चलता? प्रतिनिधियों की संख्या की हद नहीं थी। हर किसी प्रान्त से जितने चाहे प्रतिनिधि आ सकते थे। हर कोई प्रतिनिधि हो सकता था। इसलिए इसका कुछ प्रबन्ध होने की आवश्यकता सबको मालूम हुई।

इसके अनुसार काम लिया जा सके तो आज हमारा बेडा पार हो सकता है। यह तो जब कभी हो, परन्तु इस जवाबदेही को लेने के बाद ही मैंने महासभा में सचमुच प्रवेश किया, यह मेरी मान्यता है।

: ३९ :

खादी का जन्म

मुझे याद नहीं कि सन् १९०८ तक मैंने चर्खा अथवा कर्घा देखा हो। फिर भी मैंने 'हिंद-स्वराज्य' में यह माना है कि चर्खे द्वारा भारत की गरीबी मिटेगी। और जिस मार्ग से देश की भुखमरी का नाश होगा उसीसे स्वराज्य भी मिलेगा। यह तो एक ऐसी बात है कि जिसे सब कोई समझ सकते है। जब मैं सन् १९१५ में दक्षिण अफ्रिका से भारत आया, उस समय भी मैंने चर्खा के दर्शन तो नहीं ही किये थे। आश्रम खोलने पर एक कर्घा ला रक्खा। कर्घा ला रखने में भी मुझे बडी कठिनाई हुई। हम सब उसके प्रयोग से अपरिचित थे, अत कर्घा प्राप्त कर लेने भर से वह चल तो नहीं सकता था। हममें या तो कलम चलानेवाले इकट्ठे हुए थे, या व्यापार करना जाननेवाले, कारीगर कोई भी नहीं था। इसलिए कर्घा मिल जाने पर भी बुनाई का काम सिखानेवाले की जरूरत थी। काठियावाड और पालनपुर से कर्घा मिला और एक सिखानेवाला भी आगया। उसने अपना सारा हुनर नहीं बताया; लेकिन मगनलाल गांधी ऐसे नहीं थे कि हाथ में लिये हुए काम को झट छोड दें। उनके हाथ में कारीगरी तो थी, अत उन्होने बुनाई का काम पूरी तरह जान लिया और फिर एक-के-बाद-एक नये बुनकर आश्रम में तैयार हुए।

हमें तो अपने कपडे तैयार करके पहनने थे। इसलिए अब से मिल के कपडे पहनने बन्द किये, आश्रमवासियों ने हाथ के कर्घे पर देशी मिल के सूत से बुना हुआ कपडा पहनने का निर्णय किया। इससे हमें बहुत कुछ सीखने को मिला। भारत के जुलाहो के जीवन का, उनकी कमाई

का, सूत प्राप्त करने में होनेवाली उनकी कठिनाइयों का, वे उसमें किस तरह धोखा खाते थे और दिन-दिन किस तरह कर्जदार हो रहे थे, आदि बातों का हमें पता चला। ऐसी परिस्थिति तो थी नहीं कि शीघ्र ही हम अपने कपड़े आप बुन सकें। अतः बाहर के बुननेवालों से हमें अपनी जरूरत के मुताबिक कपड़ा बुनवा लेना था, क्योंकि देशी मिल के सूत से बुना हुआ कपड़ा जुलाहों के पास से या व्यापारियों से शीघ्र ही नहीं मिलता था। जुलाहे अच्छा कपड़ा तो सब-का-सब विलायती सूत का ही बुनते थे। इसका कारण यह है कि हमारी मिलें महीन सूत नहीं काततीं। आज भी महीन सूत का परिमाण कम ही होता है। बहुत महीन तो वह कात ही नहीं सकतीं। बड़े प्रयत्न के बाद कुछेक जुलाहे हाथ लगे, जिन्होंने देशी सूत का कपड़ा बुन देने की मिहरबानी की। इन जुलाहों को आश्रम की तरफ से यह वचन देना पड़ा था कि उनका बुना हुआ देशी सूत का कपड़ा खरीद लिया जायगा। इस प्रकार खास तौर पर तैयार हुआ कपड़ा हमने पहना और मित्रों में उसका प्रचार किया। हम सूत कातने वाली मिलों के बिना तनख्वाह के एजेन्ट बन गये। मिलों के परिचय में आने से उनके ढंग—उनकी लाचारी—के हाल हमें मालूम हुए। हमने देखा कि मिलों का ध्येय खुद कातकर खुद बुनने का था। वे हाथ-करघों की इच्छा-पूर्वक मदद नहीं करती थीं, बल्कि अनिच्छा-पूर्वक।

यह सब देखकर हम हाथ से कातने के लिए अधीर हो उठे। हमने देखा कि जबतक हाथ से न कातेंगे तबतक हमारी पराधीनता बनी रहेगी। हमें यह प्रतीति नहीं हुई कि मिलों के एजेन्ट बनकर हम देश-सेवा करते हैं।

लेकिन न तो चरखा था, न कोई चरखा चलानेवाला ही था। कुकड़ियाँ भरने के चरखे तो हमारे पास थे, लेकिन यह ख्याल ही न था कि उनपर कताई हो सकती है। एक बार कालीदास वकील एक स्त्री को ढूँढ़ लाये। उन्होंने कहा कि यह सूत कातकर दिखायेगी। उसके पास नई चीजों को सीखने में कुशल एक आश्रमवासी भेजे गये, लेकिन हुनर उनके हाथ न आया।

समय बीतने लगा। मैं अधीर हो उठा था। आश्रम में आनेवाले उन लोगो को, जो इस सम्बन्ध में कुछ बातें कह सकते, मैं पूछता, लेकिन कातने का इजारा तो स्त्रियो का ही था। अत. कातनेवाली स्त्री तो कही किसी स्त्री को ही मिल सकती थी।

सन् १९१७ की भडोच की शिक्षा-परिषद् में गुजराती भाई मुझे घसीट ले गये। वहाँ महासाहसी विधवा बहन गगाबाई हाथ लगी। वह बहुत पढी-लिखी नही थीं, लेकिन उनमें साहस और समझ शिक्षित बहनो में साधारणत जितनी होती है, उससे अधिक थी। उन्होने अपने जीवन में से अस्पृश्यता की जड को निकाल डाला था और वह निडर होकर अन्त्यजो मे मिलती तथा उनकी सेवा करती थी। उनके पास द्रव्य था, लेकिन उनकी अपनी आवश्यकतायें थोडी ही थी। उनका शरीर सुगठित था और चाहे जहाँ अकेले जाने में वह तनिक भी सकोच नही करती थी। वह तो घोडे की सवारी के लिए भी तैयार रहती। इस बहन से मैंने गोधरा की परिषद् में विशेष परिचय बढाया। मैंने अपनी गाथा उन्हे कह सुनाई और जिस तरह दमयन्ती नल के पीछे घूमी थी उसी तरह चर्खे की खोज में घूमने की बात स्वीकार करके उन्होने मेरा बोझ हलका किया।

: ४० :

मिल गया

गुजरात में खूब घूम चुकने के बाद गायकवाड के बीजापुर गाँव में गगा बहन को चर्खा मिला। वहाँ बहुत-से कुटुम्बों के पास चर्खा था, जिसे उन्होने टाँड पर चढाकर रख छोड़ा था, लेकिन अगर कोई उनका कता सूत ले ले और उन्हे पूनियाँ बराबर दी जायँ तो वे कातने के लिए तैयार थे। गगाबहन ने मुझे खबर दी और मेरे हर्ष का पार न रहा। पूनी पहुँचाने का काम कठिन जान पडा। स्वर्गीय भाई उमर सुबानी से बातचीत करने पर उन्होने अपनी मिल में से पूनी की नलियाँ पहुँचाने

की जिम्मेदारी अपने सिर ली। मैंने ये नालियाँ गंगाबहन के पास भेजीं। इसपर तो सूत इतनी तेजी से तैयार होने लगा कि मैं थक गया।

भाई उमर सुबानी की उदारता विशाल होते हुए भी उसकी सीमा थी। पूनियाँ खरीदकर लेने में मुझे संकोच हुआ। और मिल की पूनियाँ लेकर कताने में मुझे दोष प्रतीत हुआ। अगर मिल की पूनियाँ लेते हैं तो फिर सूत के लेने में क्या दोष है? पुरखाओं के पास मिल की पूनियाँ कहाँ थीं? वे किस तरह पूनियाँ तैयार करते होंगे? मैंने गंगाबहन को सूचना दी कि वह पूनियाँ बनानेवाले को ढूँढ़ें। उन्होंने यह काम अपने सिर लिया। पिंजारे को ढूँढ़ निकाला। उसे हर महीने ३५) या इससे भी अधिक वेतन पर नियुक्त किया। उसने बालकों को पूनी बनाना सिखलाया। मैंने रुई की भीख माँगी। भाई यशवन्तप्रसाद देसाई ने रुई की गाँठें पहुँचाने का काम अपने जिम्मे लिया। गंगाबहन ने काम बढ़ा दिया। उन्होंने बुनकरों को आबाद किया और कते हुए सूत को बुनवाना शुरू किया। बीजापुर की खादी मशहूर हुई।

दूसरी ओर अब आश्रम में भी चरखे को दाखिल करने में देर न लगी। मगनलाल गाँधी ने अपनी आविष्कार-शक्ति से चरखे में सुधार किये और चरखे तथा तकुवे आश्रम में तैयार हुए। आश्रम की खादी के पहले थान पर फी गज १७) खर्च आया। मैंने मित्रों से दाम से मोटी, कच्चे सूत की खादी में एक गज टुकड़े के १७) वसूल किये, सो उन्होंने खुशी-खुशी दिये।

मती बहन को कातना सिखाया और मेरे कमरे में चर्खा गूंज उठा। अगर मैं यह कहूँ कि इस यन्त्र ने मुझे रोगी से नीरोगी बनाने में मदद पहुँचाई, तो अत्युक्ति न होगी। यह सच है कि यह स्थिति मानसिक है। लेकिन मनुष्य को रोगी या नीरोग बनाने मे मन का हिस्सा कौन कम है ? मैंने भी चर्खे को हाथ लगाया; लेकिन इस समय मैं इससे आगे नही बढ सका था।

अब सवाल यह उठा कि यहाँ हाथ की पूनियाँ कहाँ से मिले ? श्री रेवाशकर जौहरी के पास से तांत की आवाज करता हुआ एक पिंजारा रोज निकला करता था। मैंने उसे बुलाया। वह गद्दे-गद्दियो की रुई पीजता था। उसने पूनियाँ तैयार करके देना मजूर किया; लेकिन भाव ऊँचा मांगा और मैंने दिया भी। इस तरह तैयार सूत मैंने वैष्णवो के हाथ पवित्री के लिए कीमत से बेचा। भाई शिवजी ने बम्बई में चर्खा-शाला खोली। इस प्रयोग में रुपये का खर्च ठीक हुआ। श्रद्धालु देशभक्तो ने द्रव्य दिया और मैंने उसे खर्च किया। मेरी नम्र सम्मति में यह खर्च व्यर्थ नही गया। उसमें से बहुत-कुछ सीखने को मिला, साथ ही चर्खे की मर्यादा की माप भी मिली।

अब मैं एकदम खादीमय होने के लिए अधीर हो उठा। मेरी धोती देशी मिल के कपडे की थी। बीजापुर में और आश्रम मे जो खादी बनती थी वह बहुत मोटी और ३० इच के अर्ज की होती थी। मैंने गगाबहन को चेताया कि अगर वह ४५ इच अर्ज की खादी की धोती एक महीने के भीतर न दे सकेगी तो मुझे मोटी खादी का पचा पहनकर काम चलाना पड़ेगा। गगाबहन घबराईं, उन्हे अवधि कम मालूम हुई, लेकिन हिम्मत नही हारी। उन्होने एक महीने के भीतर ही मुझे ५० इच अर्ज की धोती-जोडा ला दिया और मेरी दरिद्रता दूर की।

इसी बीच भाई लक्ष्मीदास लाठीगांव से अत्यज भाई रामजी और उनकी पत्नी गगाबहन को आश्रम में लाये और उनके द्वारा लम्बे अर्ज की खादी बुनवाई। खादी के प्रचार में इस दम्पती का हिस्सा ऐसा-वैसा नही कहा जासकता। इन्होने गुजरात में और गुजरात के बाहर हाथ-

पतले सूत को बुनने की कला दूसरों को सिखाई है। वह निरक्षर लेकिन संस्कारी बहन जब करघा चलाने बैठती है तो उसमें इतनी तल्लीन हो जाती है कि इधर-उधर देखने की या किसी के साथ बात करने की आवश्यकता तक अपने लिए महसूस नहीं करती।

: ४१ :

एक संवाद

कोई क्या कह सकता है? बंगालियो को यह अवश्य ही जान लेना चाहिए था कि उनके आन्दोलन से स्वदेशी कपडे की कीमत जरूर ही बढेगी।"

"वे तो बेचारे मेरे समान शीघ्र ही विश्वास कर लेनेवाले ठहरे, इसलिए उन्होने तो यह मान लिया था कि मिल-मालिक एकदम स्वार्थी नही बन जायेंगे, दगा तो कभी देंगे ही नही, और न कभी स्वदेशी के नाम पर विदेशी वस्त्र ही बेचेंगे।"

"मुझे यह मालूम था कि आप इस तरह का विश्वास रखते है। यही कारण है कि मैने आपको सावधान कर देने का विचार किया और यहाँ तक आने का कष्ट दिया, जिससे भोले-भाले बंगालियो की भाति आप भी भूल में न रह जायें।"

इतना कह चुकने पर सेठ ने अपने एक गुमाश्ते को नमूने लाने के लिए इशारा किया। नमूने रद्दी सूत से बने हुए कम्बल के थे। उन्हे लेकर उन्होने कहा—

"देखिए, यह नया माल हमने तैयार किया है। इसकी बाजार में अच्छी खपत है, रद्दी से बना है, इस कारण सस्ता तो पडता ही है। इस माल को हम ठेठ उत्तर तक पहुँचाते है। हमारे एजेण्ट चारो ओर फैले हुए है। इससे आप यह तो समझ सकते है कि हमें आपके सरीखे एजेण्टों की जरूरत नही रहती। सच बात तो यह है कि जहाँ आप-जैसे लोगों की आवाज तक नही पहुँचती, वहाँ हमारे एजेण्ट और हमारा माल पहुँच जाता है। हाँ, आपको तो यह भी जान लेना चाहिए कि भारत को जितने माल की जरूरत रहती है उतना तो हम बनाते भी नही। इसलिए स्वदेशी का सवाल तो खासकर उत्पत्ति का सवाल है। जब हम आवश्यक परिमाण में कपडा तैयार कर सकेंगे और जब उसकी किस्म में सुधार कर सकेंगे, तब परदेशी कपडा अपने-आप आना बन्द हो जायगा। इसलिए मेरी तो यह सलाह है कि आप जिस ढग से स्वदेशी आन्दोलन का काम कर रहे है, उस ढग से मत कीजिए और नई मिले खडी करने की तरफ अपना ध्यान लगाइए। हमारे यहाँ स्वदेशी माल को खपाने का आन्दोलन आवश्यक नही है, आवश्यकता तो स्वदेशी माल उत्पन्न करने की है।"

'अगर मैं यही काम करता होऊँ तो आप मुझे आशीर्वाद देंगे न ?" मैंने कहा।

"यह कैसे ? अगर आप मिल खड़ी करने की कोशिश करते हों तो आप धन्यवाद के पात्र हैं।"

"मैं यह तो नहीं करता हूँ। हाँ, चर्खे के उद्धार-कार्य में अवश्य लगा हुआ हूँ।

"यह कौनसा काम है ?"

मैंने चर्खे की बात सुनादी और कहा—

मैं आपके विचारों से सहमत होता जा रहा हूँ। मुझे मिलों की एजेन्सी नहीं लेनी चाहिए। उससे तो लाभ के बदले हानि ही है। मिलों का माल यों ही पड़ा नहीं रहता। मुझे तो चरखा उत्पन्न करने में और तैयार खद्दर को खपाने में लगना चाहिए। अभी तो मैं केवल खादी-उत्पादन में ही लगा हुआ हूँ। मैं स्वदेशी में विश्वास रखता हूँ; क्योंकि उसके द्वारा भारत की भूखी अधभूखी आधी बेकार स्त्रियों को काम दिया जा सकता है। वे जो सूत कातें उसे बुनवाना और इस तरह तैयार हुई खादी लोगों को पहनाना ही मेरी प्रवृत्ति है और यही मेरा आन्दोलन है। चरखे का योजना कितना सफल होगा, यह मैं नहीं कह सकता। अभी तो उसका श्रीगणेश-मात्र हुआ है, लेकिन मुझे उसमें पूरा विश्वास है। चाहे जो हो, यह तो निश्चित है कि इस आन्दोलन से कोई हानि नहीं होगी। इस आन्दोलन के कारण हिन्दुस्तान में तैयार होनेवाली खादी में जितनी वृद्धि होगी, उतना लाभ ही होगा। इसलिए इस कोशिश में आपका बताया हुआ दोष तो नहीं है।"

: ४२ :

असहयोग का प्रवाह

इसके बाद खादी की तरक्की किस तरह हुई, उसका वर्णन इन अध्यायो में नहीं किया जा सकता। यह बतला चुकने पर कि कौन-कौन चीज़ किस तरह जनता के सामने आई, उसके इतिहास में उतरना इन अध्यायो की सीमा के बाहर की बात है। ऐसा करने से तो उन-उन विषयो की एक-एक पुस्तक ही अलग तैयार हो जायगी। यहाँ मैं तो केवल यही बताना चाहता हूँ कि सत्य की शोध करते हुए किस तरह जुदी-जुदी बातें मेरे जीवन में एक-के-बाद-एक अनायास आती गईं।

इसलिए मैं मानता हूँ कि अब असहयोग के बारे में थोडी बातें कहने का समय आ गया है। खिलाफत के बारे में अली-भाइयो का जबरदस्त आन्दोलन तो चल ही रहा था। स्वर्गीय मौलाना अब्दुलबारी वगैरा उलमाओं के साथ इस विषय में खूब बहस हुई। इस बारे में खासतौर पर तरह तरह से विचार होते रहे कि मुसलमान शान्ति और अहिंसा का किस हद तक पालन कर सकते हैं और आखिर यह फैसला हुआ कि एक हद तक बतौर युक्ति से उसका पालन करने में कोई रुकावट हो नहीं सकती, और यह भी तय हुआ कि जो एक बार अहिंसा की प्रतिज्ञा ले ले, वह सचाई से उसका पालन करने के लिए बँधा हुआ रहे। आखिर असहयोग का प्रस्ताव खिलाफत-कान्फ्रेंस में पेश किया गया और लम्बी बहस के बाद वह पास हुआ। मुझे याद है कि एक बार उसके लिए इलाहाबाद में सारी रात सभा होती रही थी। शुरू-शुरू में स्व० हकीम साहब को शान्तिपूर्ण असहयोग की शक्यता के सम्बन्ध में शका थी, लेकिन उनकी शका के दूर हो जाने पर वह उसमें शामिल हुए और उनकी मदद बहुत क़ीमती साबित हुई।

इसके बाद गुजरात में राजकीय परिषद् की बैठक हुई। इस परिषद्

में मैंने असहयोग का प्रस्ताव रखा। परिषद् में प्रस्ताव का विरोध करनेवाले की पहली दलील यह थी कि जबतक महासभा असहयोग का प्रस्ताव पास नहीं करती है तबतक प्रान्तीय-परिषदों को उसे पास करने का अधिकार नहीं। मैंने जवाब में कहा कि प्रान्तीय-परिषदें पीछे पैर नहीं हटा सकतीं, लेकिन आगे कदम बढ़ाने का अधिकार तो तमाम अधीन संस्थाओं को है, यही नहीं, बल्कि अगर उनमें हिम्मत हो तो ऐसा करना उनका धर्म भी है, इससे तो प्रधान संस्था का गौरव बढ़ता है। इसके बाद प्रस्ताव के गुण-दोषों पर भी अच्छी और मीठी बहस हुई। फिर मत लिए गये और अधिक बहुमत से असहयोग का प्रस्ताव भी पास हो गया। इस प्रस्ताव के पास होने में अब्बास तैयबजी और वल्लभभाई का बड़ा हिस्सा था। अब्बास साहब अध्यक्ष थे और उनका झुकाव असहयोग के प्रस्ताव की ओर ही था।

था। उस प्रस्ताव में 'शान्तिमय' शब्द नहीं आ पाया था। प्रस्ताव तैयार कर चुकने पर ट्रेन में ही मैंने उसे मौलाना शौकतअली के हवाले कर दिया था। रात में मुझे खयाल आया कि खास शब्द 'शान्तिमय' जो प्रस्ताव के मसविदे में से छूट गया है। मैंने महादेव को उसी समय जल्दी में भेजा और कहलवाया कि छापने से पहले उसमें 'शान्तिमय' शब्द भी जोड़ दिया जाय। मुझे याद आ रहा है कि इस शब्द के जुड़ने के पहले ही प्रस्ताव छप चुका था। उसी रात को विषय-समिति की बैठक थी, इसलिए बाद में मुझे मसविदे में 'शान्तिमय' शब्द जोड़ना पड़ा। साथ ही मैंने यह भी महसूस किया कि अगर मैंने पहले से ही प्रस्ताव तैयार न किया होता तो बड़ी कठिनाई होती।

तिस पर भी मेरी हालत तो दयाजनक ही थी। मुझे इस बात का पता भी नहीं था कि कौन तो मेरे प्रस्ताव को पसन्द करेंगे और कौन उसके विरोध में बोलेंगे। मुझे इस बात का भी बिलकुल पता न था कि लालाजी का झुकाव किस तरफ है। कलकत्ते में पुराने अनुभवी योद्धागण एकत्र हुए थे। विदुषी एनीबेसेण्ट, पंडित मालवीयजी, विजयराघवाचार्य, पण्डित मोतीलालजी, देशबन्धु वगैरा नेता उनमें मुख्य थे।

मेरे प्रस्ताव में खिलाफत और पंजाब के अन्याय को लेकर ही असहयोग करने की बात कही गई थी। श्री विजयराघवाचार्य को इतने से सन्तोष न हुआ। उनका कहना था, "अगर असहयोग करना है तो फिर किसी खास अन्याय को लेकर ही क्यों किया जाय? स्वराज्य का अभाव तो बड़े-से-बड़ा अन्याय है, इसे लेकर ही असहयोग किया जाना चाहिए।" मैंने तुरन्त ही यह सूचना मंजूर कर ली और प्रस्ताव में स्वराज्य की मांग भी जोड़ दी। लम्बी, गम्भीर और कुछ तेज बहस के बाद असहयोग का प्रस्ताव पास हुआ।

सबसे पहले मोतीलालजी आन्दोलन में शामिल हुए। उस समय मेरे साथ उनकी जो मीठी बहस हुई थी, वह मुझे अबतक याद है। कहीं थोड़े शब्दों को बदल देने की बात उन्होंने कही थी और मैंने वह मंजूर कर ली थी। देशबन्धु को राजी कर लेने का बीड़ा उन्होंने उठाया था।

देशबन्धु का दिल असहयोग की तरफ था, लेकिन उनका विवेक उनसे कह रहा था कि जनता असहयोग के भार को सह नहीं सकेगी। देशबन्धु और लालाजी पूरे असहयोगी तो नागपुर में बने थे। इस विशेष अधिवेशन के अवसर पर मुझे लोकमान्य की अनुपस्थिति बहुत ज्यादा खटकी थी। आज भी मेरा यह मत है कि अगर वह जिन्दा रहते तो अवश्य ही कलकत्ते के अवसर पर मुझे आशीर्वाद देते। लेकिन अगर वह नहीं होता और वह उसका विरोध करते तो भी मैं उसे अपना सौभाग्य समझता और उससे बहुत कुछ शिक्षा ग्रहण करता। मेरा उनके साथ हमेशा मतभेद रहा करता, लेकिन वह मतभेद मधुर होता था। उन्होंने मुझे सदा यह मानने दिया था कि हमारे बीच निकट का सम्बन्ध है। ये पंक्तियाँ लिखते हुए उनकी मौत का चित्र मेरी आँखों के सामने घूम रहा है। आधी रात के समय मेरे साथी पटवर्धन ने टेलीफोन द्वारा मुझे उनकी मृत्यु की खबर दी थी। उसी समय मैंने अपने साथियों से कहा था, "मेरी ढाल मुझसे छिन गई!" उस समय असहयोग का आन्दोलन पूरे जोर पर था। मुझे उनसे आश्वासन और प्रेरणा पाने की आशा थी। आखिर जब असहयोग पूरी तरह मूर्तिमान् हुआ था तब वे किस मार्ग को अपनाते, इसे तो ईश्वर ही जाने, लेकिन इतना मुझे मालूम है कि देश के इतिहास की इस नाजुक घड़ी में उनका न होना सबको खटकता था।

: ४३ :

स्वीकार किया था। देशबन्धु ने भी थोड़ी फेरबदल करवाई थी और आखिर असहयोग का प्रस्ताव सर्व-सम्मति से पास हुआ था।

इसी बैठक में महासभा के पुनर्संगठन का प्रस्ताव भी पास करवाना था। संगठन का मसविदा तो मैंने विशेष अधिवेशन में ही रख दिया था, इसलिए वह प्रगट हो चुका था और उसपर काफी बहस भी हो चुकी थी। श्री विजयराघवाचार्य इस अधिवेशन के सभापति थे। संघटन में विषय-समिति ने एक ही महत्व का परिवर्तन किया था। मैंने प्रतिनिधियों की संख्या पन्द्रह-सौ रखी थी, उसके बदले विषय-समिति ने उसे छ हजार कर दी। मेरे विचार में यह कदम बिना विचारे बढ़ाया गया था। इतने वर्षों के अनुभव के बाद भी मेरा तो यही मत है। बहुत-से प्रतिनिधियों से अधिक अच्छा काम होता है, अथवा प्रजातन्त्र का अच्छी तरह निर्वाह होता है, इस कल्पना को मैं एकदम भ्रमपूर्ण मानता हूं। अगर पन्द्रह-सौ प्रतिनिधि उदार मन के, प्रजा के स्वत्व की रक्षा करनेवाले और प्रामाणिक हों, तो वे छ हजार स्वयं-नियुक्त प्रतिनिधियों की अपेक्षा प्रजातन्त्र की अधिक अच्छी तरह रक्षा कर सकते हैं। प्रजातंत्र को निबाहने के लिए प्रजा में स्वतन्त्रता की, स्वाभिमान की और ऐक्य के भाव की तथा अच्छे और सच्चे प्रतिनिधियों को चुनने की वृत्ति होनी चाहिए। लेकिन संख्या के मोह में पड़ी हुई विषय-समिति को तो छ हजार से भी ज्यादा प्रतिनिधि भी रखना थी। इसलिए छ हजार तो समझौते के तौर पर रक्खे गये।

इस सभा में स्वराज्य के ध्येय पर भी बहस हुई थी। संघटन की एक धारा में साम्राज्य में रहकर अथवा उससे बाहर होकर, जैसे हो सके वैसे, स्वराज्य प्राप्त करने की बात कही गई थी। महासभा में एक दल ऐसा भी था, जो साम्राज्य में रहकर ही स्वराज्य प्राप्त करना चाहता था। इस दल का पक्ष पंडित मालवीयजी और श्री जिन्ना ने लिया था, परन्तु उन्हें अधिक मत नहीं मिल सके। संघटन में तो यही बात कही गई थी कि शान्तिमय और उचित साधनों के द्वारा ही स्वराज्य प्राप्त किया जाय। इस शर्त का भी विरोध किया गया था। महासभा ने विरोध को

नामंजूर किया और सारा संघटन सुन्दर बहस के बाद पास हो गया। मेरे विचार में अगर लोगों ने इस संघटन पर प्रामाणिकता-पूर्वक और सावधानी से अमल किया होता तो उससे जनता को बहुत बड़ी शिक्षा मिलती और यह भी सम्भव था कि उसके द्वारा स्वराज्य प्राप्त हो जाता। लेकिन यहाँ इस विषय की अधिक चर्चा करना उचित नहीं है।

इसी सभा में हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य, अछूतोद्धार और खादी के सम्बन्ध में भी प्रस्ताव पास हुए थे। तभी से अस्पृश्यता के कलंक को दूर करने का भार महासभा के हिन्दू सदस्यों ने अपने जिम्मे लिया है और खादी के द्वारा महासभा ने अपना सम्बन्ध भारत के अस्थि-पंजर गरीब लोगों के साथ जोड़ा है। खिलाफत के सवाल को लेकर असहयोग करना और उसके द्वारा हिन्दू-मुस्लिम एकता साधने की कोशिश करना भी इस महासभा का एक महान् काम था।

: ४३ :

पूर्णाहुति

रहे जा सकते, इसलिए भी इन अध्यायों को फिलहाल बन्द कर देना ही मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ। अगर यह कहूँ कि मेरी लेखनी ही आगे बढ़ने से इन्कार करती है, तो भी अत्युक्ति न होगी।

पाठकों से विदा माँगते हुए मुझे दुःख होता है। मेरी दृष्टि में मेरे प्रयोग अभी बहुत कीमती हैं। मुझे पता नहीं, मैं उनका यथार्थ वर्णन कर सका हूँ या नहीं। मैंने अपनी ओर से तो ठीक-ठीक वर्णन करने में कुछ उठा नहीं रक्खा है। मैंने सत्य को जिस रूप में देखा है और जिस राह से देखा है, उसे उसी रूप में, उसी राह से, बताने की हमेशा कोशिश की है। और साथ ही पाठकों के सम्मुख उन वर्णनों को रखकर मैंने अपने चित्त में शान्ति का अनुभव किया है, क्योंकि मुझे उनसे यह आशा रही कि उनके पढ़ने से पाठकों के हृदय में सत्य और अहिंसा के प्रति अधिक श्रद्धा उत्पन्न होगी।

मैं सत्य को ही परमेश्वर मानता हूँ। अगर पाठकों को इन अध्यायों के पन्ने-पन्ने में यह प्रतीति न हुई हो कि सत्यमय बनने के लिए अहिंसा ही एक राजमार्ग है, तो मैं अपने इस प्रयत्न को व्यर्थ समझूँगा। प्रयत्न भले ही व्यर्थ हो, लेकिन सिद्धान्त तो निरर्थक नहीं है। मेरी अहिंसा सच्ची होते हुए भी कच्ची है, अपूर्ण है। इसलिए मेरी सत्य की झाँकी उस सत्य-रूपी सूर्य के तेज की एक किरण-मात्र के दर्शन के समान है, जिसके तेज का माप हजारों साधारण सूर्यों को इकट्ठा करने पर भी नहीं मिल सकता। अतः अबतक के मेरे प्रयोगों के आधार पर इतना तो मैं अवश्य कह सकता हूँ कि इस सत्य का सम्पूर्ण दर्शन सम्पूर्ण अहिंसा के अभाव में असंभव है।

ऐसे व्यापक सत्यनारायण के प्रत्यक्ष दर्शन के लिए प्राणी-मात्र के प्रति आत्मवत् (अपने समान) प्रेम की बड़ी भारी जरूरत है। इस सत्य को पाने की इच्छा करनेवाला मनुष्य जीवन के एक भी क्षेत्र से बाहर नहीं रह सकता। यही कारण है कि मेरी सत्य-पूजा मुझे राजनैतिक क्षेत्र में घसीट ले गई। जो यह कहते हैं कि राजनीति से धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं है, मैं निःसंकोच होकर कहता हूँ कि वे धर्म को नहीं जानते

और मेरा विश्वास है कि यह बात कहने में किसी तरह विनय की सीमा का लोप नहीं कर रहा हूं।

बिना आत्मशुद्धि के प्राणी-मात्र के साथ एकता का अनुभव नहीं किया जा सकता। और आत्म-शुद्धि के अभाव में अहिंसा-धर्म का पालन करना भी हर तरह नामुमकिन है। चूंकि अशुद्धात्मा परमात्मा के दर्शन करने में असमर्थ रहता है, इसलिए जीवन-पथ के सारे क्षेत्रों में शुद्धि की जरूरत रहती है। इस तरह की शुद्धि साध्य है, क्योंकि व्यक्ति और समष्टि के बीच इतना निकट का सम्बन्ध है कि एक की शुद्धि अनेकों की शुद्धि का कारण बन जाती है। और व्यक्तिगत कोशिश करने की ताकत तो सत्यनारायण ने सब किसीको जन्म ही से दी है।

सस्ता साहित्य मण्डल : सर्वोदय साहित्य माला

के प्रकाशन

पुस्तक	लेखक	
१. दिव्य-जीवन	स्वेट मार्डन	।=)
२. जीवन-साहित्य	काका कालेलकर	१।)
३. तामिल वेद	ऋषि तिरुवल्लुवर	।।।)
४. भारत में व्यसन और व्यभिचार :	वैजनाथ महोदय	।।।=)
५. सामाजिक कुरीतियाँ	[जब्त : अप्राप्य]	।।।)
६. भारत के स्त्री-रत्न [तीन भाग]	शिवप्रसाद पण्डित	३)
७ अनोखा	[अप्राप्य]	१।=)
८. ब्रह्मचर्य विज्ञान	जगन्नारायण देव शर्मा	।।।=)
९ यूरोप का इतिहास	रामकिशोर शर्मा	२)
१० समाज विज्ञान	चन्द्रराज भण्डारी	।।)
११. खद्दर का संपत्ति-शास्त्र	[अप्राप्य]	।।।=)
१२. गोरों का प्रभुत्व	"	।।।=)
१३. चीन की आवाज	"	।-)
१४. द० अ० का सत्याग्रह	महात्मा गाधी	१।)
१५. विजयी बारडोली	[अप्राप्य]	२)
१६. अनीति की राह पर	"	।।=)
१७. सीता की अग्नि-परीक्षा	कालीप्रसन्न घोष	।-)
१८ कन्या-शिक्षा	स्व० चन्द्रशेखर शास्त्री	
१९. कर्मयोग	श्री अश्विनीकुमार दत्त	।=)
२०. कलवार की करतूत	महात्मा टाल्स्टाय	=)

[illegible]

४४.	जब अंग्रेज आये	[जब्त : अप्राप्य]	१।=)
४५.	जीवन विकास	सदाशिव नारायण दातार१॥),	१॥)
४६.	किसानों का बिगुल	[जब्त : अप्राप्य]	=)
४७.	फासी	विक्टर ह्यूगो	।=)
४८.	अनासक्तियोग और गीताबोध	[अप्राप्य : दे० नवजीवन माला]	
४९.	स्वर्ण विहान	[जब्त : अप्राप्य]	।=)
५०.	मराठों का उत्थान और पतन	गोपाल दामोदर तामसकर	२॥)
५१.	भाई के पत्र	रामनाथ 'सुमन'	१)
५२.	स्वगत	हरिभाऊ उपाध्याय	।=)
५३	युगधर्म	[जब्त : अप्राप्य]	१=)
५४.	स्त्री-समस्या	मुकुटविहारी वर्मा	१॥)
५५	विदेशी कपड़े का मुकाबिला	[अप्राप्य]	॥=)
५६	चित्रपट	शान्तिप्रसाद वर्मा	।=)
५७	राष्ट्रवाणी	[अप्राप्य]	॥=)
५८	इंग्लैण्ड में महात्माजी	महादेव देसाई	॥)
५९	रोटी का सवाल	प्रिंस क्रोपाटकिन	१)
६०.	दैवी सपद्	रामगोपाल मोहता	।=)
६१.	जीवन सूत्र	थॉमस केम्पिस	॥)
६२.	हमारा कलंक	महात्मा गांधी	॥=)
६३.	बुद्बुद्	हरिभाऊ उपाध्याय	।)
६४	संघर्ष या सहयोग ?	प्रिंस क्रोपाटकिन	१॥)
६५.	गांधी विचार दोहन	किशोरलाल मशरूवाला	॥)
६६.	एशिया की क्रान्ति	[जब्त : अप्राप्य]	१॥)
६७.	हमारे राष्ट्रनिर्माता (दूसरा भाग)	रामनाथ सुमन	१॥)

,१२ ब्रह्मचर्य	महात्मा गांधी	॥)
१३. हमारे गांव और किसान	चौधरी मुख्तारसिंह	॥)

नोट :—पुस्तको की क्रम सख्या के आगे जिस पुस्तक के पहले ब्रैकट में नम्बर लगा है वह लोक साहित्य माला की है ।

'नवजीवनमाला' की पुस्तकें

१. गीताबोध—महात्मा गांधी	~)॥
२ मगलप्रभात— ,,	~)॥
३. अनासक्तियोग— ,,	=) =))
४ सर्वोदय— ,,	~)
५. नवयुवको से दो बातें—प्रिंस क्रोपाटकिन	~)
६ हिन्द-स्वराज्य—महात्मा गांधी	=)
७ विलायत की माया—श्री आनन्द कौसल्यायन	~)
८ किसानो का सवाल—डॉ० अहमद	=)
९ ग्राम-सेवा—महात्मा गांधी	=)
१० खादी और गांधी की लड़ाई—आचार्य विनोबा	=)
११. मधुमक्खी पालन—शा० मो० चिन्ने	=)
१२ गांवों का आर्थिक सवाल—श्री झवेरभाई पटेल	=)
१३. राष्ट्रीय गायन—सकलित	=)
१४ खादी का महत्व—श्री गुलजारीलाल नन्दा	~)॥

सामयिक साहित्य माला

१ कांग्रेस का इतिहास (१९२५-२९)	।~)
२ दुनिया का रंगमच (जवाहरलाल नेहरु)	=)
३ हम कहां है ? ,,	=)

आगे होनेवाले प्रकाशन

१. हमारी समस्यायें—(जवाहरलाल नेहरू)

२. विद्यार्थियों से—(महात्मा गांधी)

३ धर्म मंथन— ,,

४. सच्ची शिक्षा— ,,

५. हमारी आजादी की लड़ाई—(हरिभाऊ उपाध्याय)

६. मङ्गल विधान—([illegible])

७ संसार की शासन पद्धतियाँ ([illegible])

८ हिन्दुस्तान की गरीबी—(दादा भाई नौरोजी)

९ भारत का अंग्रेजी राज्य—

१०. कहावत-संग्रह—([illegible])

११. टाल्स्टाय की आत्म कहानी—([illegible])

१२. जीवन क्या है?— ,,

१३ यूरोप का रंगमंच

१४. एशिया का रंगमंच

१५ हमारे आर्थिक प्रश्न—([illegible])

१६. नया शासन विधान—([illegible])

१७. जीवन शोधन—([illegible])

१८. समाजवाद : पूंजी— [illegible]